* ओम् *

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इ

प्रथम भाग

लेखक—

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४ । ३१२ रामगंज, अजमेर ।

मुद्रक—

उद्देश्य

इस संस्थाके उद्देश्य—"भारतीय प्राचीन वाङ्मय का अन्वेषण, रक्षण और प्रसार" है।

कार्य-क्रम

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रतिष्ठान के कार्य-क्रम को निम्न विभागों में बांटा है—

१-भारतीय प्राचीन वाङ्मय का अनुसन्धान।

२-भारतीय प्राचीन वाङ्मय के अनुसन्धान द्वारा विभिन्न विषयों पर मौलिक ग्रन्थों तथा निबन्धों का लेखन और प्रकाशन।

३-भारतीय वाङ्मय के विविध विभागों के इतिहास तथा भारत के प्राचीन इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थों का लेखन और प्रकाशन।

४-भारतीय प्राचीन वाङ्मय का शुद्ध सम्पादन तथा प्रकाशन।

५-भारतीय प्राचीन वाङ्मय का राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में प्रामाणिक अनुवाद।

६-संस्कृत वाङ्मय तथा इतिहास सम्बन्धी गवेषणात्मक त्रैमासिक "पत्रिका" का प्रकाशन।

७-उपर्युक्त कार्य-क्रम की पूर्ति के लिए "वृहत् पुस्तकालय" का निर्माण।

८-प्राचीन वाङ्मय की रक्षा और प्रसार के लिए 'साङ्ग वेद-विद्यालय' का संचालन।

९-उद्देश्यों की पूर्ति करने हारे विशिष्ट साहित्य के प्रसार के लिए 'विक्रय-विभाग' का संचालन।

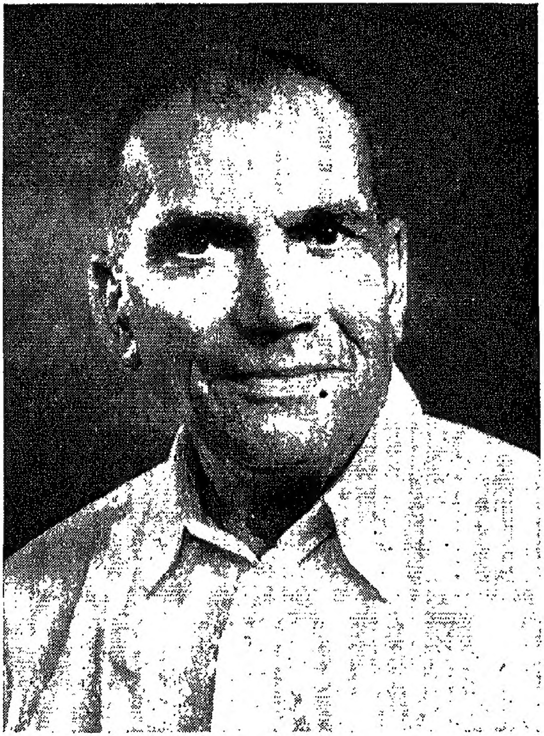
विशेष विवरण के लिए "प्रतिष्ठान की योजना, कार्य-क्रम तथा कृतकार्य विवरण" पुस्तिका विना मूल्य मंगवाइये।

संचालक—भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान

२४|३१२ रामगंज अजमेर

४६४२ रेगरपुरा, गली ४० करौल बाग, नई दिल्ली ५।

अपनी अत्यन्त कौशलमयी शल्य-चिकित्सा द्वारा
अति-विकृत वृक्क को पुनः कार्य-समर्थ बना कर
लेखक को पुनर्जीवन-प्रदान करने वाले



अप्रतिम शल्य-चिकित्सक कर्नल वी. आर. मिराजकर

शुभाशंसनम्

अनेकेषु शास्त्रेषु कृतभूरिपरिश्रमेण युधिष्ठिर-मीमांसकेन वैदिक-वाङ्मये संस्कृतव्याकरणे च चिरकालं परिश्रमय्य ये विविधाः शोधपूर्णा ग्रन्था विरचिता सम्पादिताश्च तैरस्य महानुभावस्य पाण्डित्यं शोधकार्यविषयकं प्रावीण्यं च पदे पदे परिलक्ष्यते।

अहमेतादृशस्य युधिष्ठिर-मीमांसकस्य चिरायुष्यं स्वास्थ्यं साफल्यं च भगवतो विश्वनाथात् कामये, येनैकाकिनानेन विदुषा निष्कारणं प्रारब्धस्य सुरभारत्या रक्षणात्मकं ज्ञान-सत्रं पूर्णतां भजेत्।

के. माधवकृष्ण-शर्मा
संचालक :
राजस्थान संस्कृत-शिक्षा विभाग, जयपुर

संस्कृत शुभाशंसन का अभिप्राय

अनेक शास्त्रों में कृतभूरि-परिश्रम पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने वैदिक वाङ्मय और संस्कृत व्याकरण शास्त्र में चिरकाल तक परिश्रम करके जो विविध ग्रन्थ लिखे वा सम्पादित किए, उनसे इन महानुभाव का पाण्डित्य और शोधकार्य-सम्बन्धी प्रवीणता का परिचय पद पद पर मिलता है।

मैं भगवान् विश्वनाथ से पं० युधिष्ठिर मीमांसक के चिरायुष्य, स्वास्थ्य और कार्य की सफलता की कामना करता हूँ, जिससे इस प्रकार के एकाकी असहाय विद्वान् के द्वारा निष्कारण आरम्भ किया गया संस्कृत वाङ्मय की रक्षा करने वाला ज्ञान-सत्र पूर्ण हो।

के. माधवकृष्ण शर्मा
संचालक—राजस्थान संस्कृत-शिक्षा विभाग, जयपुर

॰ युधिष्ठिरजी मीमांसक का यह ग्रन्थरत्न विद्वानों के सम्मुख उपस्थित है। कितने वर्ष, कितने मास और कितने दिन श्री पण्डितजी को इसके लिये दत्तचित्त होकर देने पड़े, इसे मैं जानता हूं। इस काल के महान् विघ्न भी मेरी आँखों से ओझल नहीं हैं।

भारतवर्ष में अंग्रेज़ों ने अपने ढङ्ग के अनेक विश्वविद्यालय स्थापित किए। उनमें उन्होंने अपने ढङ्ग के अध्यापक और महोपाध्याय रक्खे। उन्हें आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त करके अंग्रेजों ने अपना मनोरथ सिद्ध किया। भारत अब स्वतन्त्र है, पर भारत के विश्वविद्यालयों के प्रभूत-वेतन-भोगी महोपाध्याय scientific विद्यासंबन्धी और critical तर्कयुक्त लेखों के नाम पर महा अनृत और अविद्या-युक्त बातें लिखते और पढ़ाते जा रहे हैं।

ऐसे काल में अनेक आर्थिक और दूसरी कठिनाइयों को सहन करते हुए जब एक महाज्ञानवान् ब्राह्मण सत्य की पताका को उत्तोलित करता है और विद्या-विषयक एक वज्रग्रन्थ प्रस्तुत करके नामधारी विद्वानों के अनृतवादों का निराकरण करता है, तो हमारी आत्मा प्रसन्नता की पराकाष्ठा का अनुभव करती है। भारत शीघ्र जागेगा और विरोधियों के कुग्रन्थों के खण्डन में प्रवृत्त होगा।

ऐसा प्रयास मीमांसकजी का है। श्री ब्रह्मा, वायु, इन्द्र, भरद्वाज आदि महायोगियों ऋषियों के शतशः आशीः उनके लिये हैं, भगवान् उन्हें बल दें कि विद्या के क्षेत्र में वे अधिकाधिक सेवा कर सकें।

मैं इस महान् तप में अपने को सफल समझता हूं। इस ग्रन्थ से भारत की एक बड़ी त्रुटि दूर हुई है। जो काम राजवर्ग के बड़े बड़े लोग नहीं कर रहे, वह काम यह ग्रन्थ करेगा। इससे भारत का शिर ऊँचा होगा।

श्री बाबा गुरुमुखसिंहजी का भवन ❀
अमृतसर,
कार्तिक शुक्ला १५ सं० २००७ वि०

आर्यविद्या का सेवक
भगवद्दत्त

❀ **वर्तमान में**—दयानन्द सरस्वती अनुसन्धान आश्रम, १/२८ पञ्जाबी बाग, रोहतक रोड, देहली।

के प्राचीन वाङ्मय की अपेक्षा विशाल और प्राचीनतम है। अभी तक उस का जितना अन्वेषण, सम्पादन और मुद्रण हुआ है, वह उस वाङ्मय का दशमांश भी नहीं है। अतः जब तक समस्त प्राचीन वाङ्मय का सुसम्पादन और मुद्रण नहीं हो जाता, तब तक निश्चय ही उसका अनुसन्धान कार्य अधूरा रहेगा।

पाश्चात्य विद्वानो ने संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करके उसका इतिहास लिखने का प्रयास किया है, परन्तु वह इतिहास योरोपियन दृष्टिकोण के अनुसार लिखा गया है, उस में यहूदी ईसाई पक्षपात, विकासवाद और आधुनिक अधूरे भाषाविज्ञान के आधार पर अनेक मिथ्या कल्पनाएं की गई हैं।[1] भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की न केवल उपेक्षा की है, अपितु उसे सर्वथा अविश्वास्य कहने की धृष्टता भी की है। हमारे कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी प्राचीन वाङ्मय का इतिहास लिखा है, पर वह योरोपियन विद्वानों का अन्ध-अनुकरणमात्र है। इसलिये भारतीय प्राचीन वाङ्मय का भारतीय ऐतिहासिक परम्परा तथा भारतीय विचारधारा से क्रमबद्ध यथार्थ इतिहास लिखने की महती आवश्यकता है। इस क्षेत्र में सब से पहला परिश्रम तीन भागों में "वैदिक वाङ्मय का इतिहास" लिखकर श्री० माननीय पं० भगवद्दत्तजी ने किया। उसी के एक अंश की पूर्ति के लिये हमारा यह प्रयास है।

संस्कृत वाङ्मय में व्याकरण-शास्त्र अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उस का जो वाङ्मय इस समय का उपलब्ध है, वह भी बहुत विस्तृत है। इस शास्त्र का अभी तक कोई क्रमबद्ध इतिहास अंग्रेज़ी वा किसी भारतीय अपभ्रंश में प्रकाशित नहीं हुआ। चिरकाल हुआ सं० १९७२ में डा० बेल्वाल्करजी का 'सिस्टम्स् आफ दी संस्कृत ग्रामर' नामक एक छोटा सा निबन्ध अंग्रेजी भाषा में छपा था। संवत् १९९५ में बंगला भाषा में श्री पं० गुरुपद हालदार कृत 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' नामक ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। उस में मुख्यतया व्याकरण-शास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों

---

१. देखो श्री० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १ पृष्ठ ३४—६८ तक 'भारतीय इतिहास की विकृति के कारण' नामक तृतीय अध्याय।

का विवेचन है, अन्त के भाग में कुछ एक प्राचीन वैयाकरणों का वर्णन भी किया है। अतः समस्त व्याकरण-शास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास लिखने का हमारा **सर्व प्रथम प्रयास** है।

इतिहास-शास्त्र की ओर प्रवृत्ति

आर्ष ग्रन्थों के महान् वेत्ता, महावैयाकरण आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु की, भारतीय प्राचीन वाङ्मय और इतिहास के उद्भट विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी के साथ पुरानी स्निग्ध मैत्री है। आचार्यवर जब कभी श्री माननीय पण्डितजी से मिलने जाया करते थे, तब वे प्रायः मुझे भी अपने साथ ले जाते थे। आप दोनों महानुभावों का जब कभी परस्पर मिलना होता था, तभी उनकी परस्पर अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर शास्त्र-चर्चा हुआ करती थी। मुझे उस शास्त्रचर्चा के श्रवण से अत्यन्त लाभ हुआ। इस प्रकार अपने अध्ययन काल में सं० १९८६, १९८७ में श्री माननीय पण्डितजी के संसर्ग में आने पर आप के महान् पाण्डित्य का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा और भारतीय प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन तथा उनके इतिहास जानने की मेरी रुचि उत्पन्न हुई, वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई। आप की प्रेरणा से मैंने सर्व प्रथम **दशपादी-उणादि-वृत्ति** का सम्पादन किया। यह ग्रन्थ व्याकरण के वाङ्मय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्राचीन है। इस का प्रकाशन संवत् १९९९ में राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी[1] की सरस्वती भवन प्रकाशनमाला की ओर से हुआ। अध्ययन काल में व्याकरण मेरा प्रधान विषय रहा, आरम्भ से ही इस में मेरी महती रुचि थी। इसलिये श्री माननीय पण्डितजी ने संवत् १९९४ में मुझे व्याकरण-शास्त्र का इतिहास लिखने की प्रेरणा की। आप की प्रेरणानुसार कार्य प्रारम्भ कर देने पर भी कार्य की महत्ता, उस के साधनों का अभाव और अपनी अयोग्यता को देखकर अनेक वार मेरा मन उपरत हुआ, परन्तु आप मुझे इस कार्य के लिये निरन्तर प्रेरणा देते रहे और अपने संस्कृत वाङ्मय के विशाल अध्ययन से संगृहीत एतद्ग्रन्थोपयोगी विविध सामग्री प्रदान कर मुझे सदा प्रोत्साहित करते रहे। आपकी प्रेरणा और प्रोत्साहन का ही फल है कि अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी मैं इस कार्य को करने में कथंचित् समर्थ हो सका।

को विक्रम से ३०४४ वर्ष प्राचीन माना है।[1] भारतयुद्ध से प्राचीन आचार्यों के कालनिर्धारण की समस्या बड़ी जटिल है। जब तक प्राचीन युग-परिमाण का वास्तविक स्वरूप ज्ञात न हो जाए तब तक उसका काल निर्धारण करना सर्वथा असम्भव है। इतना होने पर भी हमने इस ग्रन्थ में भारतयुद्ध से प्राचीन व्यक्तियों का काल दर्शाने का प्रयास किया है। इस के लिये हमने कृत युग के ४८००, त्रेता के ३६००, द्वापर के २४०० दिव्य वर्षों को सौरवर्ष[2] मान कर काल गणना की है। इसलिये भारतयुद्ध से प्राचीन आचार्यों का इस इतिहास में जो काल दर्शाया है, वह उनके अस्तित्व की उत्तर सीमा है। वे उस काल से अधिक प्राचीन तो हो सकते हैं, परन्तु अर्वाचीन नही हो सकते, इतना पूर्ण निश्चित है।

पाश्चात्य तथा उनके अनुकरणकर्ता भारतीय ऐतिहासिकों का मत है कि भारत में आर्यों का इतिहास ईसा से २५०० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। इस की असत्यता हमारे इस इतिहास से भले प्रकार ज्ञात हो जायगी।

हमने अभी तक भारतीय प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जितना विचार किया है उसके अनुसार भारतीय आर्यों का प्राचीन क्रमबद्ध इतिहास लगभग १६००० वर्षों का निश्चित रूप से उपलब्ध होता है। उस इतिहास का आरम्भ वर्तमान चतुर्युगी के सत्ययुग से होता है। उससे पूर्व का इतिहास उपलब्ध नहीं होता। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है। हमारा विचार है कि सत्ययुग से पूर्व संसार में एक महान् जलप्लावन आया, जिस में प्रायः समस्त भारत जलमग्न हो गया था। जलप्लावन में भारत के कुछ एक महर्षि ही जीवित रहे। यह वही महान् जलप्लावन है जो भारतीय इतिहास में मनु के जलप्लावन के नाम से विख्यात है। इस भारी उथल पुथल मचा देने वाली महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख न केवल भारतीय

---

१. श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत "भारतवर्ष का इतिहास" द्वितीय संस्क० पृष्ठ २०५–२०६। तथा रावबहादुर चिन्तामणि वैद्य कृत 'महाभारत की मीमांसा' पृष्ठ ८६–१४०।

२. तुलना करो—सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले। सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्। सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम्॥ वायु पुराण अ० ९९ श्लोक ४१९। अन्यत्र बिना दिव्य विशेषण के साधारण रूप में २७०० वर्ष कहा है।

वाङ्मय में है, अपितु संसार की सभी जातियों के प्राचीन ग्रन्थों में **नूह** अथवा **नोह** का जलप्लावन आदि विभिन्न नामों से स्मृत है । अतः इस महान् जलप्लावन की ऐतिहासिकता सर्वथा सत्य है। इस जलप्लावन का संसार के अन्य देशों पर क्या प्रभाव पड़ा, यह अभी अन्वेषणीय है।

आधुनिक भाषाविज्ञान

भारतीय प्राचीन वाङ्मय के अनुसार संस्कृत भाषा विश्व की आदि भाषा है, परन्तु आधुनिक भाषाविज्ञानवादियों के मतानुसार संस्कृत भाषा विश्व की आदि भाषा नहीं है और उस में उत्तरोत्तर महान् परिवर्तन हुआ है।

संवत् २००१ में मैंने पं० बेचरदास जीवराज दोशी की "गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति" नामक पुस्तक पढ़ी। उस में दोशी महोदय ने वैदिक संस्कृत और प्राकृत की पारस्परिक महती समानता दर्शाते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत का मूल कोई प्रागैतिहासिक प्राकृत भाषा थी। यद्यपि मैं उस से पूर्व आधुनिक भाषाविज्ञान के कई ग्रन्थ देख चुका था, तथापि उक्त पुस्तक के अवलोकन से मुझे भाषाविज्ञान पर विशेष विचार करने की प्रेरणा मिली। तदनुसार मैंने दो ढाई वर्ष तक निरन्तर भाषाविज्ञान का विशेष अध्ययन और मनन किया। उस से मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि **आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रासाद अधिकतर कल्पना की भित्ति पर खड़ा किया गया है**। उसके अनेक नियम, जिनके आधार पर अपभ्रंश भाषाओं के क्रमिक विकार और पारस्परिक संबन्ध का निश्चय किया गया है, **अधूरे एकदेशी हैं**। हमारा भाषाविज्ञान पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का विचार है। उसमें हम आधुनिक भाषाविज्ञान के स्थापित किये गये नियमों की सम्यक् आलोचना करेंगे। प्रसंगवश इस ग्रन्थ में भी भाषाविज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण नियम का अधूरापन दर्शाया है।[1]

संस्कृत भाषा विश्व की आदि भाषा है वा नहीं, इस पर इस ग्रन्थ में विचार नहीं किया, परन्तु भाषाविज्ञान के गम्भीर अध्ययन के अनन्तर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि **संस्कृत भाषा में आदि (चाहे उस का**

प्रतीति का एक विशेष कारण है। और वह है—**संस्कृत भाषा का ह्रास**। संस्कृत भाषा अतिप्राचीन काल में बहुत विस्तृत थी। शनैः शनैः देश काल और परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण म्लेच्छ भाषाओं की उत्पत्ति हुई और उत्तरोत्तर उन की वृद्धि के साथ साथ संस्कृत भाषा का प्रयोगक्षेत्र सीमित होता गया। इसलिये विभिन्न देशों में प्रयुक्त होने वाले संस्कृत भाषा के विशेष शब्द संस्कृत भाषा से लुप्त हो गये। भाषाविज्ञानवादी संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन दर्शाते हैं। वह सारा इसी शब्दलोप वा संस्कृत भाषा के संकोच (=ह्रास) के कारण प्रतीत होता है। **वस्तुतः संस्कृत भाषा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ**। हमने इस विषय का विशद निरूपण इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में किया है। अपने पक्ष की सत्यता दर्शाने के लिये हमने १८ प्रमाण दिये हैं। हमें अपने विगत ३० वर्ष के संस्कृत अध्ययन तथा अध्यापन काल में **संस्कृत भाषा का एक भी ऐसा शब्द नहीं मिला, जिस के लिये कहा जा सके कि अमुक समय में संस्कृत भाषा में इस शब्द का यह रूप था और तदुत्तरकाल में इस का यह रूप हो गया**।[1] इसी प्रकार अनेक लोग संस्कृत भाषा में मुण्ड आदि भाषाओं के शब्दों का अस्तित्व मानते हैं, वह भी मिथ्या कल्पना है। वे वस्तुतः संस्कृत भाषा के अपने शब्द हैं और उस से विकृत रूप मुण्ड आदि भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं। इस विषय का संक्षिप्त निदर्शन भी हमने प्रथमाध्याय के अन्त में कराया है।

इतिहास का लेखन और मुद्रण

मैं इस ग्रन्थ के लिये उपयुक्त सामग्री का संकलन संवत् १९९९ तक लाहौर में कर चुका था, और इस की प्रारम्भिक रूपरेखा भी निर्धारित की जा चुकी थी। संवत् १९९९ के मध्य से संवत् २००२ के अन्त तक परोपकारिणी सभा, अजमेर के ग्रन्थसंशोधन कार्य के लिये अजमेर में रहा। इस काल में इस ग्रन्थ के कई प्रकरण लिखे गये और भाषाविज्ञान का

---

१. इस द्वितीय संस्करण तक ४२ वर्ष के संस्कृत अध्ययन अध्यापन काल में भी हमें एक भी ऐसा शब्द नहीं मिला, जिसका रूपान्तर हो गया हो और वह रूपान्तर भी संस्कृत भाषा का ही शब्द माना गया हो।

गम्भीर अध्ययन और मनन हुआ, इस के परिणाम स्वरूप इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय लिखा गया। कई कारणों से संवत् २००३ के प्रारम्भ में परोपकारिणी सभा, अजमेर का कार्य छोड़ना पड़ा, अतः मैं पुनः लाहौर चला गया। वहां श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट में कार्य करते हुए इस ग्रन्थ के प्रथम भाग का चार पांच वार संशोधन के अनन्तर मुद्रणार्थ अन्तिम प्रति (प्रेस कापी) तैयार की। श्री माननीय पण्डित भगवद्दत्तजी ने, जिनकी प्रेरणा और अत्यधिक सहयोग का फल यह ग्रन्थ है, अपने व्यय से इस ग्रन्थ के प्रकाशन की व्यवस्था की। संवत् २००३ के अन्त में, जब संपूर्ण पञ्जाब में साम्प्रदायिक गड़बड़ आरम्भ हो चुकी थी, इस का मुद्रण आरम्भ हुआ। साम्प्रदायिक उपद्रवों के कारण अनेक विघ्न होते हुए भी आषाढ़ संवत् २००४ तक इस ग्रन्थ के १९ फार्म अर्थात् १५२ पृष्ठ छप चुके थे। श्रावण संवत् २००४ में भारत विभाजन के कारण लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने से इस ग्रन्थ का मुद्रित भाग वहीं नष्ट हो गया। उसी समय मैं भी लाहौर से पुनः अजमेर आ गया।

उक्त देशविभाजन से श्री माननीय पण्डितजी की समस्त सम्पत्ति, जो डेढ़ लाख रुपए से भी ऊपर की थी, वहीं नष्ट हो गई। इतना होने पर भी आप किञ्चिन्मात्र हतोत्साह नहीं हुए और इस ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण के लिये बराबर प्रयत्न करते रहे। अन्त में आप और आपके मित्रों के प्रयत्न से फाल्गुन संवत् २००५ में इस ग्रन्थ का मुद्रण पुनः प्रारम्भ हुआ। मैंने इस काल में पूर्व मुद्रित अंश का, जिसकी एक कापी मेरे पास बच गई थी, और शेष हस्तलिखित प्रेस कापी का पुनः परिष्कार किया। इस नये परिष्कार से ग्रन्थ का स्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ बना और ग्रन्थ भी पूर्वापेक्षया ड्योढ़ा हो गया।

इस प्रकार अनिर्वचनीय विघ्न-बाधाओं के होने पर भी श्री माननीय पण्डितजी के निरन्तर सहयोग और महान् प्रयत्न से यह प्रथम भाग छपकर सज्जित हुआ है। इस के लिये मैं आप का अत्यन्त कृतज्ञ हूं, अन्यथा इस ग्रन्थ का मुद्रण होना सर्वथा असम्भव था। इस ग्रन्थ का दूसरा भाग भी यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित होगा', जिसमें शेष १३ अध्याय होंगे।

स्वल्प त्रुटि

विद्या की दृष्टि से अजमेर एक अत्यन्त पिछड़ा हुआ नगर है। यहां कोई ऐसा पुस्तकालय नहीं, जिस के साहाय्य से कोई व्यक्ति अन्वेषण कार्य

उनके शुद्धाशुद्ध पाठों का निर्णय न कर सका। अतः सम्भव है कुछ स्थलों पर पाठ तथा पते आदि के निर्देश में कुछ भूल हो गई हो। किन्हीं कारणों से इस भाग में कई आवश्यक अनुक्रमणियां देनी रह गई हैं, उन्हें हम अगले भाग के अन्त में देंगे।

कृतज्ञता-प्रकाश

आर्ष ग्रन्थों के महाध्यापक, पदवाक्यप्रमाणज्ञ, महावैयाकरण आचार्यवर श्री पूज्य पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु को, जिनके चरणों में बैठकर १४ वर्ष निरन्तर आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया, भारतीय, वाङ्मय और इतिहास के अद्वितीय विद्वान् श्री माननीय पं० भगवद्दत्तजी को, जिन से मैंने भारतीय प्राचीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया तथा जिन की अहर्निश प्रेरणा, उत्साहवर्धन और महती सहायता से इस ग्रन्थ के लेखन में कथंचित् समर्थ हो सका तथा अन्य सभी पूज्य गुरुजनों को, जिनसे अनेक विषयों का मैंने अध्ययन किया है, अनेकधा भक्तिपुरःसर नमस्कार करता हूं।

इस ग्रन्थ के लिखने में सांख्य-योग के महापण्डित श्री उदयवीरजी शास्त्री, दर्शन तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् श्री पं० ईश्वरचन्द्रजी, पुरातत्त्वज्ञ श्री पं० सत्यश्रवाःजी एम० ए०, श्री पं० इन्द्रदेवजी आचार्य, श्री पं० ज्योतिः-स्वरूपजी और श्री पं० वाचस्पतिजी विभु (बुलन्दशहर निवासी) आदि अनेक महानुभावों से समय समय पर बहुविध सहायता मिली। मित्रवर श्री पं० महेन्द्रजी शास्त्री (भूतपूर्व संशोधक वैदिक यन्त्रालय, अजमेर) ने इस ग्रन्थ के प्रूफसंशोधन में आदि से ४२ फार्म तक महती सहायता प्रदान की। उक्त सहयोग के लिये मैं इन सब महानुभावों का अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

मैंने इस ग्रन्थ की रचना में शतशः ग्रन्थों का उपयोग किया, जिनकी सहायता के विना इस ग्रन्थ की रचना सर्वथा असम्भव थी। इसलिये मैं उन सब ग्रन्थकारों का, विशेष कर श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी का, जिनके "जैन साहित्य और इतिहास ग्रन्थ' के आधार पर आचार्य देवनन्दी और पाल्यकीर्ति का प्रकरण लिखा, अत्यन्त आभारी हूँ।

संवत् २००४ के देशविभाजन के अनन्तर लाहौर से अजमेर जाने पर आर्य साहित्य मण्डल अजमेर के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्री माननीय बाबू

में किसी अवस्था में भी भुला नहीं सकता। इस के अतिरिक्त आपने मण्डल के 'फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस' में इस ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण की व्यवस्था की, उसके लिये भी मैं आप का विशेष कृतज्ञ हूं।

स्वाध्याय सब से महान् "**सत्र**" है। अन्य सत्रों की समाप्ति जरावस्था में हो जाती है,[1] परन्तु इस सत्र की समाप्ति मृत्यु से ही होती है। मैंने इस का व्रत अध्ययन काल में लिया था। प्रभु की कृपा से गृहस्थ होने पर भी वह सत्र अभी तक निरन्तर प्रवृत्त है। यह अनुसन्धान कार्य उसी का फल है। मेरे लिये इस प्रकार का अनुसन्धान कार्य करना सर्वथा असंभव होता, यदि मेरी पत्नी **यशोदादेवी** इस महान् सत्र में अपना पूरा सहयोग न देती। उसने आजकल के महार्घकाल में अत्यल्प आय में सन्तोष, त्याग और तपस्या से गृहभार संभाल कर वास्तविक रूप में सहधर्मिणीत्व निभाया, अन्यथा मुझे सारा समय अधिक द्रव्योपार्जन की चिन्ता में लगाकर इस प्रारब्ध सत्र को मध्य में ही छोड़ना पड़ता।

क्षमा-याचना

बहुत प्रयत्न करने पर भी मानुष सुलभ प्रमाद तथा दृष्टिदोष आदि के कारणों से ग्रन्थ में मुद्रण सम्बन्धी कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। अन्त के १६ फार्मों में ऐसी अशुद्धियां अपेक्षाकृत कुछ अधिक रही हैं, क्योंकि ये फार्म मेरे काशी आने के बाद छपे हैं। छपते छपते अनेक स्थानों पर मात्राओं और अक्षरों के टूट जाने से भी कुछ अशुद्धियां हो गई हैं। आशा है पाठक महानुभाव इस के लिये क्षमा करेंगे।

ऐतिह्यप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
मोती झील—काशी
मार्गशीर्ष—सं० २००७

विदुषां वशंवदः
युधिष्ठिर मीमांसकः

---

१. द्र०—जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया ह वा एतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा। शत० १२।४।१।१॥

मेरे 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का प्रथम भाग सं० २००७ में प्रथम वार छपा था। इसका द्वितीय भाग अनेकविध विघ्न-बाधाओं के कारण लगभग १२ वर्ष पश्चात् गत वर्ष प्रकाशित हुआ।

प्रथम भाग पर अनुकूल प्रतिकूल विचार—प्रथम भाग के प्रथम वार प्रकाशित होने के अनन्तर इन १२-१३ वर्षों के सुदीर्घ काल में विद्वानों ने इसके विषय में अनेकविध विचार उपस्थित किए। उन सब की यहां चर्चा करना व्यर्थ है। यतः मेरा ग्रन्थ अपने विषय का एक मात्र प्रथम ग्रन्थ है (अन्य भाषाओं में भी इस विषय पर इतना विशद ग्रन्थ नहीं लिखा गया)। अतः भारतीय विचार-धारा और भारतीय ऐतिहासिक कालक्रम को अशुद्ध मानने वाले लेखकों को इस का अध्ययन करना पड़ा। दूसरे शब्दों में प्रत्येक प्रकार की विचार-धारा रखने वाले व्यक्ति को इस विषय के परिज्ञान के लिए मेरे ग्रन्थ को अपनाना पड़ा।

इन १२-१३ वर्षों में अनेक लेखकों ने मेरे ग्रन्थ से प्रत्यक्ष वा परोक्षरूप में बहुविध सहायता ली। अनेक उदारमना महानुभावों ने 'उदारता-पूर्वक' मेरे ग्रन्थ का वा मेरे नाम का निर्देश किया। अनेक ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने मेरे ग्रन्थ से न केवल साहाय्य लिया, अपितु पूरे पूरे प्रकरण को अपने शब्दों में ढाल कर अपने लेख वा ग्रन्थों के विशिष्ट प्रकरण लिखे, परन्तु कहीं पर भी मेरा वा इस ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं किया। कुछ भी हो, इस ग्रन्थ के प्रथम वार प्रकाशित होने के पश्चात् इस ग्रन्थ से विविध लेखकों ने जो साहाय्य लिया है, उस से इसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है। इतने से ही मैं अपने परिश्रम को सफल समझता हूं।

ग्रन्थ का सम्मान—उत्तर प्रदेश राज्य ने प्रथम भाग पर सन् १९५१ में ६००) रु० पुरस्कार प्रदान किया। आगरा और पञ्जाब (चण्डीगढ़) के विश्वविद्यालयों ने संस्कृत एम. ए. के पाठ्यक्रम में इसे स्वीकार किया। इतना ही नहीं, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय काशी (वर्तमान में—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) ने अपने व्याकरणाचार्य परीक्षा के स्वशास्त्रीय इतिहास विषयक पत्र के लिए यद्यपि उदार-हृदय अथवा सहृदयता से इसे पाठ्य ग्रन्थ में अथवा सहायक ग्रन्थों के रूप में स्वीकार नहीं किया, तथापि उक्त पत्र के लिए प्रत्येक छात्र को इसी ग्रन्थ का आश्रय लेना पड़ता है।

अन्य ग्रन्थों का सम्मान—'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के प्रथम भाग के प्रकाशन के पश्चात् मैंने **वैदिक-स्वर-मीमांसा** और **वैदिक-छन्दो-मीमांसा** नाम के दो ग्रन्थ लिखे। ये भी अपने विषय के प्रथम ही ग्रन्थ हैं। इन विषयों का इतना सूक्ष्म और विशद विवेचन संसार की समृद्धतम मानी जाने वाली अंग्रेजी भाषा में भी एकत्र नहीं मिलता। इन दोनों ग्रन्थों पर भी उत्तर प्रदेश राज्य ने क्रमशः सन् १६५६ तथा १६६१ में सात सात सौ रुपया पुरस्कार दिया।

पुनर्मुद्रण की व्यवस्था—प्रथम भाग के प्रथम संस्करण को समाप्त हुए लगभग ३-४ वर्ष हो चुके हैं। इस के पुनर्मुद्रण की व्यवस्था संवत् २०१८ के आरम्भ में की थी। उसके लिए कागज मुद्रणालय में पहुंच चुका था, परन्तु दैवी संयोग ऐसा उपस्थित हुआ कि उस कागज पर प्रथम भाग मुद्रित न होकर द्वितीय भाग छपा। प्रथम भाग के प्रकाशन के लिए गत वर्ष के आरम्भ में पुनः व्यवस्था की और यह उसी का फल है कि प्रथम भाग का द्वितीय परिबृंहित संस्करण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

संशोधन और परिवर्धन—प्रथम संस्करण को प्रकाशित हुए लगभग १२ वर्ष बीत चुके। इस सुदीर्घ काल में अनेकविध नवीन गवेषणाएं प्रकाश में आईं, अनेक नवीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए और अनेक प्राचीन ग्रन्थ प्रथम बार मुद्रित हुए। इन सब के प्रकाश में इस ग्रन्थ का पुनः संस्करण करना आवश्यक था। अतः हमने इस संस्करण में सभी नवीन विषयों का संग्रह यथास्थान किया है। इस परिबृंहण से यह भाग पूर्व संस्करण की अपेक्षा लगभग एक तिहाई (१५० पृष्ठ) बढ़ गया है। आशा ही नहीं, पूरा विश्वास है कि यह परिबृंहित संस्करण पूर्व मुद्रण की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

तृतीय भाग की आवश्यकता—द्वितीय भाग को प्रकाशित हुए लगभग १ वर्ष हो गया है। इस काल में उस भाग में निर्दिष्ट कतिपय विषयों पर नई सामग्री उपलब्ध हुई है। इसी प्रकार प्रथम भाग के इस संस्करण के मुद्रण काल में ही इसके अनेक प्रकरणों पर नया प्रकाश पड़ा है। उन सब का सन्निवेश तो ग्रन्थ में तभी हो सकता है, जब इन भागों का पुनर्मुद्रण हो, परन्तु उसके लिए अभी कई वर्षों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिए हमने यह उचित समझा है कि इस ग्रन्थ का तृतीय भाग भी प्रकाशित किया जाए और उसमें दोनों भागों से संबन्ध रखने वाली सभी नवीन सामग्री दे दी जाए। इसके साथ ही आधुनिक ... मे प्रत्येक

अनुमान है कि यह भाग भी न्यूनातिन्यून २५० पृष्ठों से अधिक का होगा। इस में किन किन परिशिष्टों का सन्निवेश किया जाएगा, यह अन्त के पृष्ठ ५८४ पर हमने दे दिया है।

इस प्रकार यह 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ ६१५+४२५+२५०= १२९० लगभग १३०० पृष्ठों के तीन भागों में पूर्ण होगा। केवल संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के इतिहास की इतनी विपुल सामग्री का संकलन (वह भी सूत्ररूप संक्षिप्त भाषा में) संसार की किसी भी भाषा के किसी भी लेखक ने प्रस्तुत नहीं किया। इस का प्रथम श्रेय भारत के ही एक लेखक और भारत की राष्ट्रभाषा (हिन्दी) को ही है।

उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पुरस्कार

मैंने संस्कृत वाङ्मय, विशेषतया वेद और व्याकरण के विषय में जितना भी शोध कार्य किया है, वह सम्पूर्णात्मना मौलिक है। मैंने जो भी ग्रन्थ लिखे अथवा विशिष्ट शोधपूर्ण निबन्ध लिखे, वे सभी अपने विषय के प्रथम और मौलिक हैं। इसलिए सं० २०१८ से पूर्व प्रकाशित मेरे सभी ग्रन्थों पर उत्तर प्रदेश राज्य ने पुरस्कार प्रदान किया। जो इस प्रकार है—

१–**संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास** पर ६००–०० सन् १९५१ में।
२–**वैदिक-स्वर-मीमांसा** पर ७००–०० सन् १९५९ में।
३–**वैदिक-छन्दोमीमांसा** पर ५००–०० सन् १९६१ में।

राजस्थान राज्य द्वारा पुरस्कार

राजस्थान राज्य के संस्कृत शिक्षा विभाग ने इसी वर्ष संस्कृत वाङ्मय के वेद और व्याकरण विषयक अद्य यावत् किए शोध कार्य पर मुझे ३०००) तीन सहस्र रुपयों का प्रथम पुरस्कार प्रदान किया है। इस गुणग्राहिता के लिये संस्कृत शिक्षा विभाग राजस्थान (जयपुर) के संचालक और पुरस्कार-निर्णायक-समिति के सदस्यों का मैं बहुत आभारी हूँ।

विचित्र-संयोग—इस पुरस्कार परम्परा में यह भी एक विचित्र संयोग है कि उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा जब मुझे तीन पुरस्कार प्राप्त हुए, तब संमाननीय श्री डा० सम्पूर्णानन्दजी उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री थे और राजस्थान राज्य से जब पुरस्कार प्राप्त हुआ, तब आप इस वीरसू-भूमि (राजस्थान) को राज्यपाल रूप

कार्य की योजना—लगभग दो ढाई वर्ष हुए मैंने यह विचार किया था कि भारतीय प्राचीन वाङ्मय के भारतीय दृष्टिकोण से अन्वेषण, रक्षण और प्रचार के लिए कोई विशिष्ट योजना बनानी चाहिए, क्योंकि इस दिशा में जो भी संस्थाएं कार्य कर रही हैं, उन में से कतिपय के दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित हैं और अधिकतर संस्थाएं पाश्चात्य दृष्टिकोण से कार्य कर रही हैं। इसलिए जिस दृष्टिकोण से मैं कार्य करना चाहता हूं उस का किसी के साथ समन्वय नहीं हो सकता। इसलिए स्वयं ही इस कार्य के लिए प्रयास करने का निश्चय किया। मैंने इस विषय पर कतिपय मित्रों से विचार किया। मेरे प्रायः सभी मित्रों ने इस निश्चय का स्वागत किया और इस कार्य में सहयोग देने का वचन दिया।

कार्य का प्रारम्भ—मैं अकिञ्चन ब्राह्मण हूं। मेरे पास ऐसे साधन नहीं कि जिनके आधार पर इतने महान् कार्य को आरम्भ कर सकूं, पुनरपि मित्रों के सहयोग और प्रभु-विश्वास पर मैंने १ वैशाख सं० २०१८ (१३ अप्रेल १९६१) के दिन **भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान** के रूप में इस महान् कार्य का शुभारम्भ कर दिया।

दो वर्ष का कार्य विवरण—इस दो वर्ष के अत्यल्प काल में मित्रों के साहाय्य से निम्न कार्य किया गया है—

१—संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि—यह मेरे मित्र डा० कपिलदेव साहित्याचार्य एम. ए. प्राध्यापक कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के पीएच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत "गणपाठों का तुलनात्मक अध्ययन, पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण तथा आलोचनात्मक टिप्पणियां" निबन्ध का 'गणपाठों का तुलनात्मक अध्ययन' रूपी भाग है।

२—संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास—द्वितीय भाग।

३—भागवत खण्डनम्—स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह वह प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसे उन्होंने सं० १९२४ के कुम्भ पर सहस्रों की संख्या में बांटा था। तभी से यह अप्राप्य था। लगभग ९५ वर्ष पश्चात् इसका पुनः प्रकाशन द्वारा पुनरुद्धार किया गया। इस बार भाषानुवाद भी दिया है।

४—दयानन्द-जीवनी-साहित्य—(आनुषङ्गिक पुस्तिका) लेखक श्री पं० विश्वनाथजी शास्त्री एम. ए. सहायक पुस्तकाध्यक्ष, सागर विश्वविद्यालय।

पाणिनीय धातुपाठ विषयक अद्भुत ग्रन्थ।

६—**संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास**—प्रथम भाग । इस व पूर्व संस्करण की अपेक्षा एक तिहाई भाग (१५० पृष्ठ) बढ़ गया है।

मित्रों का सहयोग—मेरे प्रायः सभी मित्रों ने इस कार्य में अपने सामर्थ्य के अनुसार सहयोग दिया है। लगभग ४० महानुभावों ने इस की १०१) रुपये वाली सदस्यता स्वीकार की (कुछ का सदस्यता का अंश अभी अवशिष्ट है). श्री पं० भीमसेनजी शास्त्री वैद्य (डेरा इस्माईलखां वालों) ने ग्रन्थ संख्या २ तथा ६ के मुद्रण के लिए ५००+५०० (=एक सहस्र) रुपया कुछ समय के लिए सहायता रूप में दिये हैं। इसी प्रकार श्री डा० कपिलदेवजी ने अपने ग्रन्थ के मुद्रण के लिए ८००–०० दिए हैं।

इस छोटी सी राशि से इस महान् कार्य का आरम्भ हुआ है। सर्वथा अपर्याप्त साधन और केवल दो वर्ष के स्वल्प काल में प्रतिष्ठान ने जो प्रकाशन कार्य किया है, वह किसी भी साधन-सम्पन्न संस्था के कार्य से कहीं बढ़कर है, यह कहना अत्युक्ति नहीं है।

भावी कार्य

मेरी इच्छा शोध-पूर्ण मौलिक ग्रन्थों के निर्माण और संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन आर्ष वा आर्षकल्प अत्युपयोगी ग्रन्थों के सम्पादन के साथ साथ ब्राह्मण ग्रन्थों के राष्ट्रभाषा में अनुवाद और व्याख्या लिखने की है। इसकी रूपरेखा मैंने बना ली है। सभी उपलब्ध ब्राह्मण आरण्यक और प्रामाणिक उपनिषदों का इस कार्य में समावेश होगा। यह महान् कार्य ८००–८०० सौ पृष्ठों के २५ भागों में पूरा होगा और इसमें न्यूनातिन्यून १५ वर्ष लगेंगे।

अपने सम्बन्ध में

इस महान् कार्य के लिए आवश्यक है कि इस कार्य में अधिक से अधिक समय देने के लिए मैं सब कार्यों से मुक्त हो जाऊं। इसलिए म० द० स्मारक द्वारा के वेदानुसन्धान-विभाग के अध्यक्ष पद से त्याग-पत्र देकर मैं १ मार्च सन् १९६३ से उक्त कार्य से मुक्त हो गया हूं। अब मुझे प्रधानतया यही कार्य करना है।

आवश्यकता—इस महान् कार्य के लिए सब से महती आवश्यकता धन की बिना धन की सहायता के य महान् कार्य मुझ जैसे अकिञ्चन व्यक्ति से होना

असम्भव है। साथ ही इस कार्य के लिए न्यूनातिन्यून एक सहायक पण्डित आवश्यकता है। उस के निर्वाहार्थ दक्षिणा के लिए भी धन चाहिए।

आशा है वैदिक वाङ्मय के सभी प्रेमी महानुभाव इस कार्य में तन मन यथाशक्ति पूरा सहयोग अवश्य देंगे, जिससे यह महान् कार्य पूर्ण हो सके।

कृतज्ञता प्रकाशन

इस ग्रन्थ के पुनः संस्करण और प्रकाशन में जिन जिन महानुभावों ने स प्रदान किया है, मैं उन सब का आभारी हूं। तथापि

१—**श्री पं० रामशङ्कर भट्टाचार्य,** व्याकरणाचार्य एम. ए. पीएच काशी।

२. **श्री पं० राम अवध पाण्डेय,** व्याकरणाचार्य, एम० ए० काशी।

३—**श्री पं० वी. एच. पद्मनाभ राव,** आत्मकूर (आन्ध्र)।

४—**श्री पं० यन्. सी. यस्. वेङ्कटाचार्य,** 'शतावधानी' सिकन्दर (आन्ध्र)।

इन चारों महानुभावों ने इस ग्रन्थ के मुद्रणकाल में जो अनेकविध अत्याव सूचनाएं दीं, उनसे इस ग्रन्थ के पुनः संस्करण में पर्याप्त सहायता मिली है। कार्य के लिए मैं इन चारों महानुभावों का विशेष आभारी हूं।

५—**श्री डा० बहादुरचन्दजी छाबड़ा,** एम. ए., एम. ओ. एल., पीए डी., डी. एफ. ए. एस. संयुक्त प्रधान निर्देशक भारतीय पुरातत्त्व विभाग, देहल

आप जुलाई सन् ५८ से निरन्तर २५ रुपए मासिक की सात्त्विक सहा कर रहे हैं। इस निष्काम सहयोग के लिए मैं आप का अत्यन्त आभारी हूं।

६—**श्री पं० भगवद्दत्तजी** दयानन्द अनुसंधान आश्रम १।२८ पञ्जाबी देहली।

मेरे प्रत्येक शोध कार्य में आप का भारी सहयोग सदा से ही रहता आया है आप के सहयोग के विना इस कण्टकाकीर्ण मार्ग में एक पद चलना भी लिए कठिन है। इतना ही नहीं, इस भाग के प्रथम संस्करण के प्रकाशन की व्यवस्था आपने उस काल में की थी, जब देश-विभाजन के कारण आप की सम्पू सम्पत्ति लाहौर में छूट गई थी और देहली में आकर स्वयं महती कठिनाई में थे

ा हूं, केवल मौन-रूप से श्रद्धा के पत्र-पुष्प ही अर्पित कर सकता हूं।

अन्त में वैदिक यन्त्रालय अजमेर के मुख्य प्रबन्धक **श्री पं० भगवान् ःपजी** 'न्यायभूषण', स० प्रबन्धक **श्री जवाहरलालजी**, संशोधक **ःष्णजी असावा** तथा यन्त्रालय के अन्य सभी कार्यकर्त्ताओं का मैं अत्यन्त री हूं, जिनकी कृपा और सहयोग से इस ग्रन्थ के मुद्रण में अनेकविध पूरा ग प्राप्त हुआ।

विशिष्ट-निवेदन

ःष्टिदोष से तथा मुद्रण काल में भी नई परिज्ञात सामग्री के सन्निवेश के लोभ ापय विशिष्ट अशुद्धियां हो गई हैं, उन्हें संशोधन-पत्र के अनुसार शोध कर ाा कष्ट करें।

ान्त में पुनः उन सभी महानुभावों को धन्यवाद देता हूं, जिन के प्रत्यक्ष वा सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हुआ है।

ाय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
४/३१२ रामगंज अजमेर

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

सं० २०२० (सन् १९६३) का भावी प्रकाशन

१. छन्दःशास्त्र का इतिहास

२. निरुक्त-शास्त्र का इतिहास

३. वैदिक-स्वर-मीमांसा (परिवर्धित संस्करण)

४. भागवृत्ति-संङ्कलनम्

५. निरुक्त-समुच्चयः (वररुचि-कृत)

६. आपिशल-शिक्षा (भाषानुवाद सहित)

७. पाणिनीय-शिक्षा (विस्तृत भूमिका तथा भाषानुवाद सहित)

अगला प्रकाशन

१ पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण

२. गणपाठ पर तुलनात्मक टिप्पण

३. बृहद्देवता का हिन्दी अनुवाद

४. वेदार्थ-मीमांसा अर्थात् वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन

विशेष योजना

ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों के अनुवाद तथा व्याख्या की विशेष योजना बनाई है। जो शीघ्र कार्यान्वित होगी।

प्राच्य-विद्या

अनुसन्धान कार्य को प्रसारित करने के लिए "प्राच्यविद्या" नाम्नी उच्च कोटि की त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन शीघ्र ही नियमित रूप से आरम्भ होगा। इसका वार्षिक चन्दा ८) रु० होगा। प्रतिष्ठान के सभी प्रकार के सदस्यों को यह बिना मूल्य दी जायगी। सदस्यता के नियम मंगवाइये।

संक्षिप्त विषय-सूची

(प्रथम भाग)

(द्वितीय भाग की संक्षिप्त विषय सूची अगले पृष्ठ पर देखिए)

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

संक्षिप्त विषय-सूची

(द्वितीय भाग)

(तृतीय भाग)

[illegible] प्रतिलिपियों के रूप में शीघ्र प्रकाशित होगा।

विस्तृत विषय-सूची

१. यह संकलन पृथक् छप रहा है।

इतिहास-प्रदीपेन मोहावरण-घातिना ।

लोकगर्भं गृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम् ॥

कृष्णद्वैपायनस्यैव व्यासस्य वचनं यथा ।

(महा० आदि० १ । ८७)

पहला अध्याय

संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति, विकास और ह्रास[1]

समस्त प्राचीन भारतीय वैदिक ऋषि-मुनि तथा आचार्य इस विषय में सहमत हैं कि वेद अपौरुषेय तथा नित्य हैं, परम कृपालु भगवान् प्रति कल्प के आरम्भ में ऋषियों को जिस का आदि और निधन (=अन्त) नहीं है ऐसी नित्या वाग्=वेद का ज्ञान देता है और उसी वैदिक ज्ञान से लोक का समस्त व्यवहार प्रचलित होता है। भारतीय इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता परम ब्रह्मिष्ठ कृष्ण द्वैपायन व्यास ने लिखा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥[2]

पाश्चात्य तथा तदनुगामी कतिपय एतद्देशीय विद्वान् इस भारतीय ऐतिह्यसिद्ध सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है—'मनुष्य प्रारम्भ में साधारण पशु के समान था। शनैः शनैः उसके ज्ञान का विकास हुआ, और सहस्रों वर्षों के पश्चात् वह इस समुन्नत अवस्था तक पहुँचा।'

---

१. इस अध्याय में अति संक्षेप से लिखे गए विषय के विस्तार के लिए हमारा 'संस्कृत भाषा का इतिहास' ग्रन्थ देखिए। यह शीघ्र प्रकाशित होगा।

२. द्रष्टव्य—'अनादीति श्लोकस्य "आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः" इति शेयम्, क्वचिददर्शनेऽपि शारीरकसूत्रभाष्यादौ पुस्तकान्तरेषु च दर्शनात्' इति नीलकण्ठः। महाभारत टीका शान्तिपर्व २३२। २४ (चित्रशाला प्रेस पूना संस्क० शकाब्द १८५४)। राय श्री प्रतापचन्द्र (कलकत्ता) के शकाब्द १८११ के संस्क० में शान्ति० २३१।५६ पर मिलता है। वेदान्त शाङ्करभाष्य १।३।२८ में उद्धृत है।

परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य के स्वाभाविक ज्ञान में नैमित्ति
ज्ञान के सहयोग के विना कोई उन्नति नहीं होती। इसका प्रत्यक्ष प्रम
संसार की अवनति को प्राप्त वे जङ्गली जातियां हैं, जिनका बाह्य समुः
जातियों से देर से संसर्ग नहीं हुआ। वे आज भी ठीक वैसा ही पशु-जी
बिता रही हैं, जैसा सैकड़ों वर्ष पूर्व था। बहु-विध परीक्षणों से विकासव
का मन्तव्य अब अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। अनेक पाश्चात्य विद्वान्
शनैः शनैः इस मन्तव्य को छोड़ रहे हैं, और प्रारम्भ में किसी नैमित्ति
ज्ञान की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। अतः यहां विकासवाद
विशेष विवेचना करने की आवश्यकता नहीं हैं।[1]

लौकिक संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति

आरम्भ में भाषा की प्रवृत्ति और उस का विकास लोक में किस प्रक
हुआ, इसका विकासवादियों के पास कोई सन्तोषजनक समाधान नहीं है
भारतीय वाङ्मय के अनुसार लौकिकभाषा का विकास वेद से हुआ
स्वयम्भुव मनु ने भारतयुद्ध से सहस्रों वर्ष पूर्व[3] लिखा—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥[4]

---

१. विकासवाद और उसकी आलोचना के लिए पं० रघुनन्दन शर्मा कृ
'वैदिक सम्पत्ति' पृष्ठ १४६–२३३ (संस्क० २, सं० १९९६) देखिए।

२. द्र० पं० भगवद्दत्त कृत 'भाषा का इतिहास' पृष्ठ २-४ (संस्क० २)।
पाश्चात्य भाषाविदों को विकासवाद के मतानुसार जब भाषा की उत्पत्ति क
परिज्ञान न हुआ, तब उन्होंने कहना आरम्भ कर दिया कि 'भाषा की उत्पत्ति क
समस्या का भाषाविज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है' (द्र० जे. वैण्ड्रिएस कृ
'लैंग्वेज' ग्रन्थ, पृष्ठ ५, सन् १९५२)।

३. प्रक्षिप्तांश छोड़ कर वर्त्तमान मनुस्मृति निश्चय ही भारत-युद्धकाल से बहुत
पूर्व की है। जो लोग इसे विक्रम की द्वितीय शताब्दी की रचना मानते हैं, उन्हों
इस पर सर्वाङ्गरूप से विचार नहीं किया।

४. मनु १।२१॥ तुलना करो—महाभारत शान्ति० २३२। २५, २६ ॥ मन

अर्थात्—ब्रह्मा ने सृष्टि के आरम्भ में सब [illegible]
पृथक् पृथक् विभिन्न कर्म=अर्थ[1] और शब्दों की संस्था[2]=रचनाविशेष=सब विभक्ति वचनों के रूप, ये सब वेद के शब्दों से निर्धारित किये।[3]

वेद में शतशः शब्दों की निरुक्तियों[4] और पदान्तरों के सान्निध्य से बहुविध अर्थों का निर्देश उपलब्ध होता है। उन्हीं के आधार पर लोक में पदार्थों की संज्ञाएं रक्खी गईं।[5] यद्यपि वेद में समस्त नाम और धातुओं के प्रयोग उपलब्ध नहीं होते और न उनके सब विभक्तिवचनों में रूप मिलते हैं, तथापि कचित् प्रयुक्त नाम और आख्यात पदों से मूलभूत शब्दों[6]

---

१. निरुक्त में कर्म-शब्द अर्थ का वाचक है। यथा—"एतावन्तः समानकर्माणो धातवः" (१ । २०) इत्यादि।

२. मनुस्मृति के टीकाकार कर्म और संस्था शब्द की व्याख्या विभिन्न प्रकार से करते हैं। कुल्लूकभट्ट—"कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि, क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि, ...पृथक् संस्थाश्चेति कुलालस्य घटनिर्माणं कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिविभागेन।" मेधातिथि—"कर्माणि च निर्ममे, धर्माधर्माख्यानि अदृष्टार्थानि अग्निहोत्रादीनि च,......संस्था व्यवस्थाश्चकार, इदं कर्म ब्राह्मणेनैव कर्तव्यम्, अमुष्मै फलाय च......॥" टीकाकारों की व्याख्या परस्पर विरुद्ध है। श्लोक के उपक्रम और उपसंहार की दृष्टि से हमारा अर्थ युक्त है।

३. यहूदी=पुरानी बाइबल में आदम को प्राणियों, पक्षियों और अन्य वस्तुओं का नाम रखने वाला कहा है। उसके बहुत काल पश्चात् नोह का जलप्लावन वर्णित है। यहूदी लोगों ने ब्रह्मा को आदम (=आदिम, स्वामी दयानन्द सरस्वती का १२-७-१८७५ का पूना का पांचवां व्याख्यान) कहा है और उन का नोह वैवस्वत मनु है।

४. देखो इस ग्रन्थ के द्वितीयाध्याय का आरम्भ।

५. पाणिनीय अष्टाध्यायी की रचना व्यावहारिक संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति के बहुत अनन्तर हुई है। पाणिनीय व्याकरण मुख्यतया लौकिक भाषा का व्याकरण है। उस में सर्वत्र वैदिक पदों का अन्वाख्यान लौकिक पदों के अन्वाख्यान के पश्चात् किया गया है। इसीलिये भट्ट कुमारिल ने लिखा है—'पाणिनीयादिषु हि वेदस्वरूप-वर्जितानि पदान्येव संस्कृत्योत्सृज्यन्ते।' तन्त्रवार्तिक १ । ३ । ८, पृष्ठ २६२, पूना संस्क०।

६. आरम्भ में समस्त शब्द एकविध ही थे उन्हीं का नाम-विभक्तियों से

की कल्पना करके समस्त व्यवहारोपयोगी नाम आख्यात पदों की सृष्टि की गई। शब्दान्तरों में क्वचित् प्रयुक्त विभक्तिवचनों के अनुसार प्रत्येक नाम और धातु के तत्तद् विभक्तिवचनों के रूप निर्धारित किये गये। इस प्रकार ऋषियों ने आरम्भ में ही वेद के आधार पर सर्वव्यवहारोपयोगी अतिविस्तृत भाषा का उपदेश किया। वही भाषा संसार की आदि व्यावहारिक भाषा हुई। वेद स्वयं कहता है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।[1]

अर्थात्—देवलोग जिस दिव्य वाणी को प्रकट करते हैं, साधारण जन[2] उसी को बोलते हैं।

लौकिक वैदिक शब्दों का अभेद

इस सिद्धान्त के अनुसार अतिविस्तृत प्रारम्भिक लौकिक भाषा में वेद के वे समस्त शब्द विद्यमान थे, जो इस समय केवल वैदिक माने जाते हैं। अर्थात् प्रारम्भ में '**ये लौकिक शब्द हैं, ये वैदिक**' इस प्रकार का विभाग नहीं था।

(क) इसीलिए तलवकार संहिता, आरण्यक और पूर्वमीमांसा के प्रवक्ता महर्षि जैमिनि (३००० वि० पू०) ने लिखा है—

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्। मी० १। ३। ३०॥

अर्थात्—प्रयोग=यागादि कर्म की चोदना=विधायक वाक्य के श्रुति में उपलब्ध होने से (लौकिक वैदिक) पदों का अर्थ एक ही है। अविभागात्=लौकिक वैदिक पदों के विभाग न होने से (एक होने से)।

इस सूत्र की व्याख्या में शबरस्वामी लिखता है—

जाते थे (तुलना करो—वर्तमान कण्ड्वादिगणस्थ शब्दों के साथ)। किसी भी विभक्ति का योग न होने पर वे अव्यय बन जाते थे। इस विषय पर विशेष विचार इसी ग्रन्थ के १९ वें अध्याय में किया है।

१. ऋ० ८। १००। ११॥

य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्थाः ।[1]

अर्थात्—जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक हैं, और वेही उनके अर्थ हैं ।

अतिविस्तृत प्रारम्भिक लोकभाषा कालान्तर में शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से शनैः शनैः संकुचित होने लगी, और वर्तमान में वह अत्यन्त संकुचित हो गई । इसलिए मीमांसा का उपर्युक्त सिद्धान्त यद्यपि इस समय अयुक्त सा प्रतीत होता है, तथापि पूर्वाचार्यों का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य था, यह हम अनुपद प्रमाणित करेंगे ।

(ख) शब्दार्थ-सम्बन्ध के परम ज्ञाता यास्क मुनि (३००० वि० पू०) भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । निरुक्त १।२ में लिखा है—

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके । तत्र मनुष्यवद्देवताभिधानम् । पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्म-सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ।

अर्थात्—शब्द के व्यापक और लघुभूत होने से लोक में व्यवहार के लिये शब्दों से संज्ञाएं रक्खी गईं । देवता = वेदमन्त्रों[2] में अभिधान = अर्थ मनुष्यों में प्रयुक्त अर्थों के सदृश हैं । पुरुष की विद्या अनित्य होने से कर्म की संपूर्त्ति कराने वाले मन्त्र वेद में हैं ।

इस लेख में यास्क ने लोक और वेद में शब्दार्थ की समानता तथा वेद का अपौरुषेयत्व स्वीकार किया है । लोक वेद में शब्दार्थ की समानता स्वीकार कर लेने पर उभयविध पदों का ऐक्य सुतरां सिद्ध है ।

यास्क पुनः (१ । १६) लिखता है—

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् ।

---

१. श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की शिक्षा-प्रकाश टीका में इस वचन को महाभाष्य के नाम से उद्धृत किया है । पृष्ठ २४, मनोमोहन घोष सम्पादित कलकत्ता वि० वि० का संस्क०, सन् १९३८ । पञ्जिका-टीका में भाष्यकार के नाम से उद्धृत किया है । पृष्ठ ८, वही संस्क० । स्कन्दस्वामी ने निरुक्त टीका (भाग १ पृष्ठ १८) में इसे न्याय कहा है ।

२. स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार

(ग) वाजसनेय प्रातिशाख्य में कात्यायन मुनि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। यथा—

न, समत्वात्।[1]

अर्थात्—वैदिक शब्दों का स्वरसंस्कारनियम अभ्युदय का हेतु है यह ठीक नहीं, लौकिक और वैदिक शब्दों के समान होने से।

इस सूत्र की व्याख्या में उवट और अनन्तदेव दोनों लिखते हैं—

य एव वैदिकास्त एव लौकिकास्त एव तेषामर्थाः (त एव चामीषामर्थाः—अनन्त)।

मीमांसा के लोकवेदाधिकरण[2] में इस पर विस्तृत विचार किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि शब्द-अर्थ-सम्बन्ध के परम ज्ञाता जैमिनि, यास्क और कात्यायन तीनों महान् आचार्य एक ही बात कहते हैं।

गत २, ३ सहस्र वर्ष के अनेक विद्वान् लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद मानते हैं। अपने पक्ष की सिद्धि में निम्नलिखित तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) महाभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

केषां शब्दानां लौकिकानां वैदिकानां च।

(ख) भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में लिखा है—

शब्दा ये लोकवेदसंसिद्धाः।[3]

(ग) निरुक्त १३। ६ में लिखा है—

अथापि ब्राह्मणं भवति—सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि [तुरीयाणि], पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे। यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु। ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति, या च देवानां या च मनुष्याणाम् इति।

---

१. वा० प्रा० १। ३॥ २. १। ६

[illegible] उद्धृत पाठ काठक ब्राह्मण[1] का है। मैत्रायणी संहिता [illegible]
और काठक संहिता १४।५ में इस से मिलता जुलता पाठ उपलब्ध होता है। वह इस प्रकार है—

मैत्रायणी संहिता	काठक संहिता
सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्, एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्, या पृथिव्यां साऽग्नौ सा रथन्तरे, यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये, या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ, अथ पशुषु, ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः, तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति यश्च वेद यश्च न। या बृहद्रथन्तरयोर्यज्ञादेनं तया गच्छति। या पशुषु तय ऋते यज्ञं.........।	**सा वाग्सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्, एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि, पशुषु तुरीयम्, या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ, यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये, या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे, या पशुषु, तस्या यदत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्यदधुः, तस्मात् ब्राह्मण उभे वाचौ वदति। दैवीं च मानुषीं[2] च करोति...... या बृहद्रथन्तरयोस्तयैनं यज्ञ आगच्छति या पशुषु तयर्ते यज्ञमाह।**

इन उद्धरणों के अन्तिम पाठ से व्यक्त है कि यहां "दैवी" शब्द से बृहद्-रथन्तर आदि में गीयमान वैदिक ऋचाएं अभिप्रेत हैं। अन्त में स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण दैवी वाक् से यज्ञ में और पशुओं=मनुष्यों[3] की वाणी से यज्ञ से अन्यत्र व्यवहार करता है। अतः महाभाष्य और निरुक्तादि के उपर्युक्त उद्धरणों में दैवी या वैदिक शब्द से आनुपूर्वी विशिष्ट मन्त्रों का ग्रहण है।

अथर्व संहिता ६।६१।२ में दैवी और मानुषी वाक् का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है—

---

१. द्र० काठक ब्राह्मण संकलन।

२. तुलना करो–यदि वाचं प्रदास्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। रामा० सुन्दर ३०।१७॥

३. देखो पृष्ठ ४, टिप्पणी २।

अहं सत्यमनृतं यद् वदामि, अहं दैवीं परि वाचं विशश्च ।

अर्थात्—मैं सत्य और अनृत जो बोलता हूं, मैं दैवी और परि=सर्वतः व्याप्त वाणी को विशों (=मनुष्यों) की।

इस मन्त्र में दैवी वाक् को सत्य कहा है, क्योंकि वह नियतानुपूर्वी होने से सदा सर्वत्र समान रूप से रहती है और मानुषी वाक् को अनृत कहा है क्योंकि वह वक्ता के अभिप्रायानुसार प्रयुक्त होती है उस में वर्णानुपूर्वी का नियम नहीं होता।[1]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लौकिक और वैदिक वाक् में पदों का भेद नहीं है, केवल वर्णानुपूर्वी के नियतत्व और अनियतत्त्व का ही भेद है।

संस्कृत भाषा की व्यापकता

संस्कृत वाङ्मय में यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि प्रत्येक विद्या का प्रथम प्रवक्ता आदि विद्वान् ब्रह्मा था।[2] यद्यपि उत्तर काल में ब्रह्मा पद चतुर्वेदविद् व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता रहा, तथापि आदिम ब्रह्मा निस्सन्देह एक विशेष ऐतिह्य-सिद्ध व्यक्ति था। संस्कृत वाङ्मय के अवलोकन से विदित होता है कि आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र आदि प्रत्येक विषय के आदिम ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत थे। अतः संस्कृत वाङ्मय के समस्त विभागों में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक तथा सर्वव्यवहारोपयोगी साधारण शब्दों का स्वरूप उस समय निर्धारित हो चुका था।

---

१. संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते। तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति—पात्रमाहर, आहर पात्रं वा। महाभाष्य १।१।१॥

२. आयुर्वेद—"प्रजापतिरश्विभ्याम्, प्रजापतये ब्रह्मा।" चरक चिकित्सा० १।४॥ व्याकरण—"ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच।" ऋक्तन्त्र, प्रथम प्रपाठक के अन्त में॥ ज्योतिष—"तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा।" नारद संहिता १।७॥ उपनिषद्—"तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच।" छान्दोग्य ८।१५॥ "कावषेयः प्रजापतेः, प्रजापतिर्ब्रह्मणः।" बृह० ६।५।४॥ शिल्प—काश्यप संहिता के आरम्भ में, आनन्दाश्रम संस्क०॥ राजनीति—महाभारत शान्तिपर्व ५।८।६॥ धनुर्वेद—"ब्राह्ममस्त्रमुदैरयत्।" रामा० युद्धकाण्ड २५।५॥ धर्मशास्त्र—महाभारत शान्तिपर्व [illegible]

उत्तरोत्तर यथाक्रम मनुष्यों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के ह्रास के कारण प्राचीन, अतिविस्तृत ग्रन्थ शनैः शनैः संक्षिप्त होने लगे।[1] वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ तत्तद्विषयों के अत्यन्त संक्षिप्त संस्करण हैं।[2] अतः यह आपाततः मानना होगा कि वर्तमान काल की अपेक्षा प्राचीन, प्राचीनतर और प्राचीनतम काल में संस्कृतभाषा विस्तृत, विस्तृततर और विस्तृततम थी। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—प्राचीन काल के आरम्भ में शब्दभण्डार बहुत था।[3] शब्दशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य पतञ्जलि (२५०० वि० पू०) ने संस्कृतभाषा के प्रयोगविषय का उल्लेख करते हुए लिखा है—

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरे प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा[4] सामवेदः, एकविंशतिधा

---

१. आयुर्वेद—"श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान्……ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वञ्चावलोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्।" सुश्रुत सूत्रस्थान १।३॥ अर्थशास्त्र—"एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः। संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च।" इत्यादि, महाभारत शान्ति० ५९। ८१–८६॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र १।१॥ नीतिशास्त्र—"शतलक्षश्लोकमितं नीतिशास्त्रमथोक्तवान्। अल्पायुर्भूभृदाद्यर्थं संक्षिप्तं तर्कविस्तृतम्।" शुक्रनीति १।२, ४। व्याकरण—"यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्। पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे।" देवबोध, महाभारतटीकारम्भ। कामशास्त्र—वात्स्यायन कामसूत्र १।१५–१९॥ मीमांसाभाष्य—प्रपञ्चहृदय, ट्रिवेण्ड्रम संस्क०, पृष्ठ ३९॥

२. भारतीय वाङ्मय के उपलभ्यमान संक्षिप्त ग्रन्थों को देखकर ही पाश्चात्य विद्वानों को आश्चर्य होता है। आज यदि संस्कृत वाङ्मय के अति प्राचीन विस्तृत ग्रन्थ उपलब्ध होते तो पाश्चात्य विद्वानों की अनेक भ्रमपूर्ण मिथ्या-कल्पनाओं का निराकरण अनायास होजाता। पाणिनीय व्याकरण के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की क्या धारणा है, इसका उल्लेख हम पाणिनि के प्रकरण (अ० ५) में करेंगे॥

३. ह्यूनसांग, भाग प्रथम, वाटर्स का अनुवाद, पृष्ठ २२१॥

४. पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्तालोचन पृष्ठ [illegible] में 'सहस्रवर्त्मा' का अर्थ

बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणम् इत्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः।[1]

पतञ्जलि से प्राचीन आचार्य यास्क ने लिखा है—

शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।[2]...... विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रमुदीच्येषु।[3]

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि किसी समय संस्कृतभाषा का प्रयोगक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। यदि संसार की समस्त भाषाओं के नवीन और प्राचीन स्वरूपों की तुलना की जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि संसार की सब भाषाओं का आदि मूल संस्कृत भाषा है।[4] इन भाषाओं के नये स्वरूप की अपेक्षा इन का प्राचीन स्वरूप संस्कृत भाषा के अधिक समीप था।

यह उन की भूल है। भाष्यपाठ में ऋग् और अथर्व के साथ प्रकारार्थक 'धा' प्रत्यय का प्रयोग है। यजुः के साथ शाखा शब्द प्रयुक्त है। उपक्रम में स्पष्ट 'बहुधा भिन्नाः' कहा है। अतः 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' का अर्थ "सहस्र प्रकार का सामवेद" करना चाहिये। अन्यथा वाक्य का सामञ्जस्य ठीक नहीं बनेगा। महाभारत (शान्तिपर्व ३४२।९७) में सामवेद की सहस्र शाखाएं स्पष्ट लिखी हैं—"सहस्रशाखं यत्साम।" कूर्म पुराण में भी लिखा है–सामवेदं सहस्रेण शाखानां प्रबिभेद सः। पू० ५२।२०॥

१. महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १।

२. कम्बोज की आधुनिक बोलियों में 'शवति' के 'शुद-सुत-शुई' आदि विभिन्न अपभ्रंश गति अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। द्र० भारतीय इतिहास की रूपरेखा, द्वि० सं०, भाग १, पृष्ठ ५२३।

३. निरुक्त २।२॥ तुलना करो–"एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमगधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।" महाभाष्य १।१।१॥

नागेश ने इस वचन की व्याख्या में 'दातिः' को क्तिन्नन्त अथवा क्तिजन्त लिखा है। यह अशुद्ध है। प्रकरणानुसार 'दाति' शब्द धातुनिर्देशक 'श्तिप्' प्रत्ययान्त है। निरुक्त और महाभाष्य के पाठ में धातु और उस से निष्पन्न शब्दों का विभिन्न प्रदेशों में प्रयोग दर्शाया है।

४. वैदिक सम्पत्ति (संस्क० २) पृष्ठ २६६–३०३॥ वेदवाणी (वाराणसी) का सं० २०१७ का वेदाङ्क (वर्ष १३ अङ्क १-२) पृष्ठ ५०–५८ 'भाषा विज्ञान

अब हम प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त सिद्धान्त (संस्कृत का प्रयोग-क्षेत्र सप्तद्वीपा वसुमती था) की पुष्टि में चार प्रमाण देते हैं—

१. पाणिनीय व्याकरण में "**कानीन**" शब्द की व्युत्पत्ति कन्या शब्द से की है और कन्या को कनीन आदेश कहा है।[१] वस्तुतः कानीन की मूल प्रकृति कन्या **नहीं** है, **कनीना** है। कुमारार्थक 'कनीन' प्रातिपदिक का प्रयोग वेद में बहुधा मिलता है।[२] पारसियों की धर्म-पुस्तक अवेस्ता में कन्या के लिये "**कइनीन**" शब्द का व्यवहार मिलता है।[३] यह स्पष्टतया वैदिक कनीना का अपभ्रंश है। इससे स्पष्ट होता है कि कभी ईरान में कन्या अर्थ में 'कनीना' शब्द का प्रयोग होता था और उसी का अपभ्रंश 'कइनीन' बना।

२. फारसी भाषा में तारा अर्थ में **सितारा** शब्द का प्रयोग होता है अंग्रेजी में **स्टार** और गाथिक में **स्टेयर्नो**[४]। इन दोनों का संबन्ध लौकिक संस्कृत में प्रयुज्यमान 'तारा' शब्द से नहीं है। वेद में इनकी मूल प्रकृति का प्रयोग मिलता है, वह है "**स्तृ**" शब्द। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर तृतीया बहुवचनान्त "**स्तृभिः**" पद का व्यवहार तारा अर्थ में मिलता है।[५] जैसे '**पेतर**' (लैटिन), '**पातेर**' (ग्रीक) '**फादेर**' (गाथिक), '**फादर**' (अंग्रेजी) का मूल 'पितृ' शब्द का बहुवचनान्त 'पितरः' पद है, उसी प्रकार सितारा, स्टार और स्टेयर्नो का मूल 'स्तृ' शब्द का प्रथमा का बहुवचन "**स्तारः**" पद है।

---

१. कन्यायाः कनीन च। अष्टा० ४। १। ११६॥

२. ऋ० ३। ४८। १॥ ८। ६६। १४॥ द्र० 'कनीनकेव विद्रधे' (ऋ० ४। ३२। २३) 'कनीनके कन्यके' (निरु० ४। १५), जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् (ऋ० १। ६६। ४) आदि में प्रयुक्त 'कनी' स्वतन्त्र शब्द है। इस का लौकिक संस्कृत में भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—'वासुकेः पुत्री दिव्यरूपा कनी वसुदत्तिर्नाम'। प्रबन्धकोश, पृष्ठ ८६।

३. ह ओ मा तास्-चित् या कइनीनो (संस्कृत छाया—सोमः ताश्चित् याः कनीनाः) ह ओम यश्त ६। २३॥ लाहौर संस्क० पृष्ठ ५८।

३. बहिन के लिये फारसी में "हमशीरा" शब्द प्रयुक्त होता है और अंग्रेजी में सिस्टर। संस्कृत में इन दोनों के मूल दो पृथक् शब्द हैं। "हमशीरा" का मूल "समक्षीरा" है। संस्कृत के सकार को फारसी में हकार होता है। यथा—सप्त=हफ्त, सप्ताह=हफ्ताह। क्ष के आदि ककार का लोप हो गया और षकार को शकार। इसी प्रकार सिस्टर का सम्बन्ध स्वसृ पद से है।

४. ऊंट को फारसी में "शुतर" कहते हैं और अंग्रेजी में "कैमल"। स्पष्ट ही इन दोनों के मूल पृथक् पृथक् हैं। संस्कृत में ऊंट को उष्ट्र और क्रमेल[1] दोनों कहते हैं। उष्ट्र के उ और ष का विपर्यास होकर शुतर शब्द बनता है। इसी प्रकार कैमल का सम्बन्ध क्रमेल शब्द से है।[2] वर्तमान मिश्री भाषा में प्रयुक्त "गमल" कुरानी अरबी में प्रयुक्त "जमल"[3] का सम्बन्ध भी संस्कृत के क्रमेल शब्द से ही है।

इस प्रकार वेद के आधार पर अति विस्तार को प्राप्त हुई संस्कृत भाषा मनुष्यों के विस्तार के साथ साथ देश काल और परिस्थितियों के विपर्यास तथा आर्यों के मूलप्रदेश=केन्द्र से दूरता की वृद्धि होने से शनैः शनैः विपरिणाम को प्राप्त होने लगी। संसार में ज्यों ज्यों म्लेच्छता की वृद्धि होती गई त्यों त्यों संस्कृत भाषा का प्रयोग-क्षेत्र संकुचित होता गया। उसी के साथ साथ देश देशान्तरों में व्यवस्थित[4] संस्कृत भाषा के शब्दों का लोप होता गया। इस से संस्कृत भाषा अत्यन्त संकुचित हो गई। संस्कृत भाषा में किस प्रकार शब्दों का संकोच हुआ इस का सोपपत्तिक निरूपण हम आगे करेंगे।

---

१. मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोश में संस्कृत 'क्रमेल' शब्द को यूनान से उधार लिया माना है। वह सर्वथा गप्प है। भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तानुसार उत्तरोत्तर अपभ्रंश भाषाओं में ऊपर नीचे के रेफ की निवृत्ति ही होती है, नए रेफ का संयोग नहीं होता। यदि क्रमेल शब्द कैमल-गमल-जमल से अथवा इसकी किसी रेफ-रहित प्रकृति से निष्पन्न होता तो उसमें रेफ का संयोग न होता। अतः क्रमेल की मूल धातु 'क्रमु पादविक्षेपे' ही है।

२. अन्तिम तीन उदाहरण पं० राजाराम विरचित स्वाध्याय-कुसुमाञ्जलि से लिये हैं।

आधुनिक भाषामत और संस्कृत भाषा

प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्र के पारङ्गत महामुनि पतञ्जलि, यास्क और स्वायम्भुव मनु के भाषाविषयक मत हम पूर्व दर्शा चुके। आधुनिक पाश्चात्य तथा योरोपीय शिक्षादीक्षित कतिपय भारतीय भाषाशास्त्री इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने विकासवाद के मतानुसार संसार की कुछ भाषाओं की तुलना कर के नूतन भाषाशास्त्र की कल्पना की है। उस के अनुसार उन्होंने संस्कृत को प्राचीन मानते हुए भी उसे संसार की आदिम भाषा नहीं माना। उन का मत है—"प्रागैतिहासिक काल में संस्कृत से पूर्व कोई इतर भाषा (=इण्डोयोरोपियन भाषा) बोली जाती थी। उसी में परिवर्तन हो कर संस्कृत भाषा की उत्पत्ति हुई। उत्तरोत्तर काल में संस्कृत भाषा मे भी अनेक परिवर्तन हुए। संस्कृत भाषा को भविष्यत् में परिवर्तनों से बचाने के लिये पाणिनि ने अपने महान् व्याकरण की रचना की। उस के द्वारा भाषा को इतना बांध दिया कि पाणिनि से लेकर आज तक उस मे कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ।" अध्यापक बेचरदास जीवराज दोशी ने अपनी 'गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति' नामक व्याख्यान-माला में प्राकृत से वैदिक भाषा की उत्पत्ति मानी है। उन का लेख इस प्रकार है—

उक्त प्रकारे बतावेलां अनेक उदाहरणो द्वारा हम सिद्ध करी शकाय एवुं छे के व्यापक प्राकृतना प्रवाहनो सीधो संबन्ध वेदोनी जीवती मूल भाषा साथेज छे, न हीं के जेनु स्वरूप पाणिनि प्रभृति वैयाकरणोए निश्चित कर्युं छे एवी लौकिक संस्कृत साथे।[1]

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों का अपने ढंग से तुलनात्मक अध्ययन करके स्वकल्पित भाषाशास्त्र के अनुसार उनका कालक्रम निर्धारित किया है। उस में मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, उपनिषत्काल, सूत्रकाल और साहित्यकाल आदि अनेक काल्पनिक कालविभाग किये हैं। उनके द्वारा उन्होंने संस्कृत भाषा में यथाक्रम परिवर्तन दर्शाने का विफल प्रयास किया है। आधुनिक भाषाशास्त्रियों के द्वारा संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन बताया जाता है, वह उस के ह्रास=सङ्कोच के कारण प्रतीत होता है। संस्कृत भाषा में वस्तुतः कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ, यह हम

नूतन भाषामत की आलोचना

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों ने संस्कृत भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में जो मत निर्धारित किये हैं, वे काल्पनिक हैं। भारतीय वाङ्मय से उनकी किञ्चिन्मात्र पुष्टि नहीं होती। ग्रीक, लैटिन, और हिटेटि आदि भाषाओं के जिस साहित्य के आधार पर वे भाषामतों के नियमों की कल्पना करते हैं, वह साहित्य पुरातन संस्कृत साहित्य की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन काल का है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य विद्वान् जिस प्रागैतिहासिक काल की प्राकृत (=इण्डोयोरोपियन) भाषा से संस्कृत की उत्पत्ति मानते हैं, उसका कोई पूर्व व्यवहृत स्वरूप उन्होंने अभी तक उपस्थित नहीं किया। अतः इन आधुनिक भाषाशास्त्रियों ने भाषाविज्ञान के जो नियम निर्धारित किये हैं, वे सर्वथा काल्पनिक और अधूरे हैं। अतः उन के द्वारा कल्पित भाषाविज्ञान विज्ञान की कोटि से बहिर्भूत है।

आधुनिक भाषाशास्त्र की आलोचना एक स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण विषय है। अतः उसकी विशेष आलोचना के लिये पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का हमारा विचार है। यहां हम उसके नियमों के अधूरेपन को दर्शाने के लिये एक उदाहरण उपस्थित करते हैं।

नूतन भाषाविज्ञान का एक नियम है—वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण के स्थान में 'ह्' का उच्चारण होता है, परन्तु 'ह्' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण नहीं होता।[1]

यह नियम औत्सर्गिक माना जा सकता है, एकान्त सत्य नहीं। कुछ अल्पप्रयोग ऐसे भी हैं जिन में 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

१—आधुनिक बोल चाल की भाषा में संस्कृत के 'गुहा' के अपभ्रंश 'गुफा' का प्रयोग होता है।

२. पंजाबी में संस्कृत के 'सिंह' का उच्चारण 'सिंघ' होता है और गुरुमुखी लिपि में 'सिंघ' ही लिखा जाता है।

३. पंजाबी भाषा में भैंस के लिये प्रयुक्त 'मझ' शब्द संस्कृत के '**मही**'[2] शब्द का अपभ्रंश है।

---

१. [illegible]

बाहु की प्रकृति में दोघ और नहुष की पाली में नघुष प्रयोग मिलता है। 'दाह' से मत्वर्थक 'र' प्रत्यय होकर 'दाहर' शब्द बनता है। इसी का अपभ्रंश मारवाड़ी भाषा में 'दाफड़' (=जलने वाला फोड़ा) रूप में प्रयुक्त होता है।

५—संस्कृत के 'इह' शब्द के स्थान में प्राकृत में 'इध' का प्रयोग होता है।

६ चीनी भाषा में 'होम' के अर्थ में 'घोम' शब्द का व्यवहार होता है।

७—भारत की 'माही' नदी ग्रीक भाषा में 'मोफिस' बन गई है।[1]

८—संस्कृत का 'अहि' फारसी में 'अफि' बन जाता है। अफीम शब्द भी संस्कृत के 'अहिफेन' का अपभ्रंश है।

९—बृहस्पतिवार के लिए उर्दू में प्रयुक्त 'वीफे' शब्द बृहस्पति के एक देश 'बृहः' का अपभ्रंश है।

१०—हिन्दी का 'जीभ' शब्द जिह्वा=जीह[2]=जीभ क्रम से निष्पन्न हुआ है।

११—संस्कृत की नह (णह बन्धने) धातु से हिन्दी का 'नाधना' (=बांधना) शब्द बना है।

१२—'दुहितृ' के आद्यन्त का लोप होकर अवशिष्ट 'हि' भाग से पंजाबी का पुत्री वाचक 'धी' शब्द बना है और फारसी में प्रयुक्त 'दुख्तर' शब्द भी संस्कृत के 'दुहितृ' का ही अपभ्रंश है।

---

१. टालेमी कृत भूगोल, पृष्ठ ३८। इस ग्रन्थ के सम्पादक सुरेन्द्रनाथ मजुमदार शास्त्री ने पृष्ठ ३४३ पर अपने टिप्पण में लिखा है कि ग्रीक शब्द से अनुमान होता है कि इस का पुराना नाम 'माफी' था। यह योरोपीय मिथ्या भाषाविज्ञान का फल है। 'मही' शब्द टालेमी से ३३०० वर्ष पूर्ववर्ती जैमिनि ब्राह्मण में प्रयुक्त है। द्र० पं० भगवद्दत्त कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ ४७ (प्र० सं०)।

२. एक जीह गुण कवन बखाने सहस फणी सेस अन्त न जाने। गुरु ग्रन्थ

१२—संस्कृत के कथनार्थक 'आह् धातु' (द्र० अष्टा० ३।४।८४) से पञ्जाबी में व्यवहृत 'आख' क्रिया बनी है।[2]

ये कुछ उदाहरण दिये हैं। इन में पाश्चात्य भाषाविज्ञान के नियमों का अधूरापन स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः ऐसे अधूरे नियमों के आधार पर किसी बात का निर्णय करना अपने आप को धोखे में डालना है। भारतीय शब्दशास्त्री पाणिनि और यास्क अनेक शब्दों में 'ह' को घ, ढ, ध, भ आदेश मानते हैं। अष्टाध्यायी ८।४।६२ के अनुसार सन्धि में झय् से उत्तर हकार को घ, झ, ढ, ध और भ आदेश होते हैं।

संसार में भाषा की प्रवृत्ति कैसे हुई इस विषय में आधुनिक भाषा-विज्ञान सर्वथा मौन है, उसकी इस में कोई गति नहीं। परन्तु भारतीय इतिहास स्पष्ट शब्दों में कहता है—लोक में भाषा की प्रवृत्ति वेद से हुई है और संस्कृत ही सब भाषाओं की आदि-जननी तथा आदिम भाषा है।[3] आधुनिक भाषाशास्त्री अपने अधूरे काल्पनिक भाषाशास्त्र के अनुसार इस तथ्य को स्वीकार न करें तो इस में इतिहास का क्या दोष? इतिहास सत्य विद्या है और कल्पना कल्पना ही है।

क्या संस्कृत प्राकृत से उत्पन्न हुई है?

अनेक प्राकृत भाषा के पक्षपाती देववाणी के लिये संस्कृत शब्द का व्यवहार देख कर कल्पना करते हैं कि संस्कृत भाषा किसी प्राकृत भाषा से संस्कृत की हुई है। इसीलिये प्राकृत के प्रतिपक्ष में इनका नाम संस्कृत हुआ। यह कल्पना नितान्त अशुद्ध है। इस में निम्न हेतु हैं—

---

१. वैयाकरणों द्वारा आदेश रूप में विहित धातुएं किसी समय में मूल धातुएं थीं। लोपागमवर्णविकार आदि से निष्पन्न धातु अथवा नाम रूप अति प्राचीन काल में स्वतन्त्ररूप में प्रयुक्त होते थे। द्र० ऋषि दयानन्द की पदप्रयोग शैली, पृष्ठ ६-१७

२. चक्षुवाचक 'आंख' शब्द का सम्बन्ध भी कथनार्थक आह=आख रूप से प्रतीत होता है। यथा चक्ष—चक्षुः। कई लोग अक्षि पर्याय अक्ष से इसका सम्बन्ध मानते हैं—अक्ष=अक्ख=आंख।

३. मनु का पृष्ठ २ में उद्धृत "सर्वेषां तु स नामानि……" वचन। दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः। वाक्यपदीय १।१५५॥ वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है। सत्यार्थप्रकाश समग्र समुल्लास, शताब्दी संस्क० भाग १

१—संस्कृत से प्राग्भावी किसी प्राकृत भाषा की सत्ता इतिहास से सिद्ध नहीं होती, जिस से संस्कृत की निष्पत्ति मानी जावे।

२—प्राकृत भाषा की महत्ता को स्वीकार करने वाले आचार्य हेमचन्द्र सदृश विद्वानों ने भी प्राकृत भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से मानी है।[1]

३—भाषा का स्वभावतः विकास नहीं होता, विकार होता है। अत एव पूर्वाचार्यों ने प्राकृत का सामान्य 'अपभ्रंश' शब्द से व्यवहार किया है।

४—भाषा-विकार के निम्न दो नियम सर्वसम्मत हैं—

(क) भाषा का विकार प्रायः क्लिष्ट उच्चारण से सुगम उच्चारण की ओर होता है।

(ख) भाषा का विकार प्रायः संश्लेषणात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर होता है।

यदि इन नियमों को ध्यान में रख कर संस्कृत और प्राकृत की तुलना की जाय तो प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा का उच्चारण अधिक क्लिष्ट तथा संश्लेषणात्मक है, तथा प्राकृत का उच्चारण संस्कृत की अपेक्षा सरल और विश्लेषणात्मक है। अतः सरल उच्चारण और विश्लेषणात्मक प्राकृत भाषा से क्लिष्ट उच्चारण तथा संश्लेषणात्मक संस्कृत भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। हां, क्लिष्ट और संश्लेषणात्मक संस्कृत से सरल और विश्लेषणात्मक प्राकृत की उत्पत्ति हो सकती है। अत एव अतिप्राचीन भरत मुनि ने लिखा है—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥[2]

शब्द-शास्त्र के प्रामाणिक आचार्य भर्तृहरि ने भी लिखा है—

दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः।[3]

---

१. प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्। हैम प्राकृत व्याकरण की स्वोपज्ञ व्याख्या १।१।१॥

तुलना करो—प्रकृतौ भवं प्राकृतम्, साधूनां शब्दानां……। वाक्यपदीय स्वोपज्ञवृत्ति १।१५५, पृष्ठ १३७ लाहौर सं०।

२. अ० १८ श्लो० २॥ भरतनाट्यशास्त्र अतिप्राचीन आर्षकाल का ग्रन्थ है।

संस्कृत नाम का कारण

भारतीय इतिहास के अनुसार देववाणी का संस्कृत नाम इस कारण हुआ—

प्राचीन काल में देववाणी अव्याकृत अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि के विभाग से रहित थी। इसका उपदेश प्रतिपद पाठ द्वारा किया जाता था। इस प्रकार उसके ज्ञान में अत्यन्त परिश्रम तथा अत्यधिक कालक्षय होता था। अतः देवों ने उस समय के महान् शाब्दिक आचार्य इन्द्र से प्रार्थना की—आप शब्दोपदेश की कोई ऐसी सरल प्रक्रिया बतावें जिससे अल्प परिश्रम और अल्प काल में शब्द-बोध हो जावे। देवों की प्रार्थना पर इन्द्र ने देवभाषा के प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त कर प्रकृतिप्रत्यय-विभाग द्वारा शब्दोपदेश की प्रक्रिया आरम्भ की। इसी प्रकृतिप्रत्यय-विभाग रूपी संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का दूसरा नाम संस्कृत हुआ।[1]

अत एव दण्डी अपने काव्यादर्श में लिखता है—

संस्कृतं नाम दैवी वाग् अन्वाख्याता महर्षिभिः । १ । ३ ॥

भारतीय आर्षवाङ्मय में देववाणी के लिये संस्कृत शब्द का व्यवहार वाल्मीकीय रामायण[2] और भरतनाट्यशास्त्र[3] में मिलता है। रामायण में

---

१. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १।

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति··· तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तै० सं० ६ । ४ । ७ ॥

तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्। सायण ऋग्भाष्य उपोद्घात, पूना संस्क० भाग १, पृष्ठ २६।

संस्कृते प्रकृतिप्रत्ययादिविभागैः संस्कारमापादिते······। शिक्षाप्रकाश, शिक्षा-संग्रह, पृष्ठ ३८७।

२. वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। सुन्दरकाण्ड ३० । १७ ॥

३. अ० १८ । १, २५ ॥

अवश्य होता है। पाश्चात्य विद्वान् अपने अधूरे भाषाविज्ञान के आधार पर इस सत्य नियम की अवहेलना करके संस्कृत वाङ्मय के रचनाकालों का निर्धारण करते हैं। वे उनके लिये मन्त्रकाल ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि अनेक कालविभागों की कल्पना करते हैं। संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रदर्शित काल-विभाग कदापि नहीं रहा। पाश्चात्य विद्वानों ने विकासवाद के असत्य सिद्धान्त को मानकर अनेक ऐतिह्य-विरुद्ध कल्पनाएं की हैं। हम अपने मन्तव्य की पुष्टि में तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं।

शाखा, ब्राह्मण, कल्पसूत्र और आयुर्वेदसंहिताएं समान कालिक

भारतीय इतिहास-परम्परा के अनुसार वेद की शाखाएं, ब्राह्मण-ग्रन्थ, कल्पसूत्र (=श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र) और आयुर्वेद की संहिताएं आदि ग्रन्थ समानकालिक हैं। अर्थात् जिन ऋषियों ने शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन किया, उन्होंने ही कल्पसूत्र और आयुर्वेद की संहिताएं रचीं। भारतीय प्राचीन इतिहास के परम विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने

---

१. काठक संहिता १४। ५ में भी दैवी वाक् के प्रतिपक्षरूप में लौकिक संस्कृत के लिए 'मानुषी' पद का व्यवहार मिलता है—

'तस्माद् ब्राह्मण उभयीं वाचं वदति। दैवीं च मानुषीं च करोति।'

२. इवेति भाषायाम्। निरुक्त १। ४॥ विभाषा भाषायाम्। अष्टा० ६। १। १७६॥

३. विस्तार के लिए देखिए पं० भगवद्दत्त कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ २६-४०, संस्क० २। तथा हमारा 'संस्कृत भाषा का इतिहास' ग्रन्थ।

सर्वप्रथम इस सत्य सिद्धान्त की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १ पृष्ठ २५१ (द्वि० सं० पृष्ठ ३५६) पर न्याय वात्स्यायनभाष्य के निम्न दो प्रमाण उपस्थित किये हैं।

भारतीय वाङ्मय का प्रमाणिक आचार्य वात्स्यायन[1] अपने न्यायभाष्य २। १। ६८ में लिखता है—

(क) **द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्—य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्।**

अर्थात् जो आप्त-ऋषि वेदार्थ के द्रष्टा और प्रवक्ता थे वे ही आयुर्वेद के द्रष्टा और प्रवक्ता थे।

पुनः न्यायभाष्य ४। १। ६२ में लिखा है—

(ख) **द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः। य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति।**

अर्थात् जो ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा और ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता थे वे ही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के प्रवक्ता थे।

इस सिद्धान्त की पुष्टि आयुर्वेदीय चरक संहिता प्रथमाध्याय से भी होती है। उसमें आयुर्वेद की उन्नति और प्रचार के परामर्श के लिए एकत्रित होने वाले कुछ ऋषियों के नाम लिखे हैं। अन्त में उन सब का विशेषण "**ब्रह्मज्ञानस्य निधयः**"[2] दिया है। उन में से अनेक ऋषि शाखा, ब्राह्मण और धर्मशास्त्र आदि के रचियता थे। आयुर्वेद की हारीत संहिता के प्रवक्ता महर्षि हारीत[3] का धर्मशास्त्र इस समय उपलब्ध है। वेद की हारीत संहिता

१. वात्स्यायन आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य का ही नामान्तर है। यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। इस विषय का एक सर्वथा नवीन प्रमाण हमने स्वसम्पादित दशपादी-उणादिवृत्ति के उपोद्घात में दिया है। आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य का काल भारतीय पौराणिक-कालगणनानुसार, जो सत्य सिद्ध हो रही है विक्रम से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है। पाश्चात्य ऐतिहासिक विक्रम से लगभग २५० वर्ष पूर्व मानते हैं।

को उससे अनेक वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। अतः आचार्य वात्स्यायन का उपर्युक्त लेख अत्यन्त प्रामाणिक है।

अब हम इसी प्राचीन ऐतिह्य-सिद्ध सिद्धान्त की पुष्टि में न्यायभाष्य से पौर्वकालिक एक नया प्रमाण उपस्थित करते हैं। कुछ दिन हुए[2] मीमांमा शाबर भाष्य पढ़ाते हुए जैमिनि के निम्नसूत्र की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ।

(ग) जैमिनि शाखा और उस के ब्राह्मण के प्रवक्ता भारतयुद्धकालीन महामुनि जैमिनि ने पूर्वमीमांसा के कल्पसूत्र-प्रामाण्याधिकरण में लिखा है—

अपि वा कर्तृसामान्यात् तत्प्रमाणमनुमानं स्यात् । १ । ३ । २ ॥

अर्थात्—कल्पसूत्रों=श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों की जिन विधियों का मूल आम्नाय में नहीं मिलता वे अप्रमाण नहीं हैं। आम्नाय और कल्पसूत्रों के रचयिता समान होने से अम्नाय में अनुक्त कल्पसूत्र की विधियों का भी प्रामाण्य है। अर्थात् जिन ऋषियों ने आम्नाय=वेद की शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन किया, उन्होंने ही कल्पसूत्रों की भी रचना की। अतः यदि उन का वचन एक ग्रन्थ में प्रमाण है तो दूसरे में क्यों नहीं ?

शबर आदि नवीन मीमांसक शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्द सब को अपौरुषेय तथा वेद मानते हैं। अतः उन्होंने '**कर्तृसामान्यात्**' पद का अर्थ 'श्रौतकर्म के अनुष्ठाता और स्मृति के कर्ता' किया है। परन्तु जैमिनि वेद और आम्नाय में भेद मानता है।[3] वात्स्यायनमुनि ने '**द्रष्टृप्रवक्तृसामा-**

---

१. तै० प्रा० १४ । १८ ॥ इस पर भाष्यकार माहिषेय लिखता है—हारीत-स्याचार्यस्य शाखिनः······ ।

२. वैशाख वि० सं० २००३, अप्रेल सन् १९४६ ।

३. जैमिनि ने "वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या" १।१।२७ के प्रकरण में वेद के अनित्यत्वदोष का ३१ वें सूत्र से समाधान करके द्वितीय पाद के आरम्भ में "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते" के प्रकरण में आम्नाय के अनित्यत्व दोष और उस के समाधन का निरूपण किया है। यदि वेद और आम्नाय एक हो तो 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' सूत्र में आम्नाय ग्रहण करना व्यर्थ होगा, क्योंकि वेद का प्रकरण अव्यवहित पूर्व विद्यमान है, और अनित्यत्व दोष का समाधान भी पुनरुक्त होगा।

जैमिनि भी 'अपि वा कर्तृसामान्यात् तत्प्रमाणमनुमानं स्यात्' सूत्र द्वारा स्मृतियों का प्रामाण्य सिद्ध करता है। दोनों के प्रकरण तथा विषय-प्रतिपादन-शैली की समानता से स्पष्ट है कि जैमिनि के '**कर्तृसामान्यात्**' पद का अर्थ 'आम्नाय और स्मृतियों के समान रचयिता' ही है।

(घ) भगवान् पाणिनि का एक प्रसिद्ध सूत्र है—

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु । ४ । ३ । १०५ ॥

इस सूत्र में पाणिनि ने ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्प सूत्रों के दो विभाग दर्शाए हैं।[१] एक पुराण प्रोक्त, दूसरे अर्वाक् प्रोक्त। इन दो विभागों के लिए कोई सीमा अवश्य निर्धारित करनी होगी।[२] जो सीमा ब्राह्मण ग्रन्थों को पुराण और नवीन विभाग में बांटेगी, वही सीमा कल्प सूत्रों के भी पुराण और नवीन विभाग करेगी। पाणिनि के इस सूत्र से इतना स्पष्ट है कि अनेक कल्प सूत्र नवीन ब्राह्मणों की अपेक्षा पुराण प्रोक्त हैं।

ऐसी अवस्था में शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्प सूत्र और आयुर्वेद की आर्ष संहिताओं के प्रवचनकर्ता समान थे, और इनका एक काल में प्रवचन हुआ था, यही मानना होगा। अत एव पाश्चात्य विद्वानों की कालविभाग की कल्पना सर्वथा प्रमाणशून्य है।

संस्कृत भाषा का विकास

पूर्व लिख चुके हैं कि सृष्टि के आरम्भ में वेद के आधार पर लौकिक भाषा का विकास हुआ। वह भाषा आरम्भ में अत्यन्त विस्तृत थी। वेद के वे समस्त शब्द जिन्हें सम्प्रति 'छान्दस' मानते हैं, उस भाषा में साधारण रूप मे प्रयुक्त थे,[३] अर्थात् उस समय लौकिक वैदिक पदों का भेद नहीं था। पाणिनि से प्राचीन वेद की शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र, रामायण,

---

१. तुलना करो—पुराणं ताण्डम्। लाट्या० श्रौत ७। १०। ७॥ इस सूत्र में ताण्ड ब्राह्मण का पुराण विशेष स्पष्ट करता है कि लाट्यायन श्रौत के प्रवचन काल में पुराण और नवीन दो प्रकार का ताण्ड ब्राह्मण था।

२. भारतीय ऐतिह्यानुसार यह सीमा है कृष्ण द्वैपायन व्यास का काल। कृष्ण द्वैपायन व्यास के शिष्य प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प नवीन माने जाते हैं और कृष्ण द्वैपायन से पूर्ववर्ती ऐतरेय आदि द्वारा प्रोक्त प्राचीन कहे जाते हैं।

पाणिनीय सूत्रों में भी बहुत्र छान्दस कार्य माना है। निरुक्तकार यास्क मुनि ने स्पष्ट लिखा है—'कई लौकिक शब्दों की मूल प्रकृति=धातु का प्रयोग वेद में ही उपलब्ध होता है। इसी प्रकार अनेक वैदिक शब्द विशुद्ध लौकिक धातु से निष्पन्न होते हैं।'[1] इस संमिश्रण से स्पष्ट है कि जिन लौकिक शब्दों की मूल प्रकृति का प्रयोग केवल वेद में मिलता है उन का प्रयोग भाषा में कभी अवश्य रहा था। अन्यथा वैदिक धातु से निष्पन्न शब्दों का प्रयोग लोक में कैसे हो सकता है? और लौकिक धातुओं से वैदिक शब्दों की निष्पत्ति कैसे हो सकती है? इतना ही नहीं, प्राकृत भाषा में शतशः ऐसे प्रयोग विद्यमान हैं जिन का सीधा सम्बन्ध वैदिक माने जाने वाले शब्दों के साथ है। यदि उन वैदिक शब्दों का लोक में प्रयोग न माना जाय तो उन से अपभ्रंश शब्दों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अपभ्रंशों की उत्पत्ति लोकप्रयुक्त पदों से ही होती है।[2] इस से यह भी मानना होगा कि अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति का आरम्भ उस समय हुआ, जब संस्कृत भाषा में वैदिक माने जाने वाले पदों का व्यवहार विद्यमान था। उस समय संस्कृत भाषा इतनी संकुचित नहीं थी, जितनी सम्प्रति है। अतिपुरा काल में केवल दो भाषाएं थीं। मनु ने उन्हें आर्य भाषा और म्लेच्छ भाषा कहा है।[3] हमारा विचार है कि अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति त्रेता युग के आरम्भ में हुई।

पं० बेचरदास जीवराज दोसी ने 'गुजराती भाषा नी उत्क्रान्ति' पुस्तक में पृष्ठ ५२–७४ तक प्राकृत और वैदिक पदों की तुलनात्मक कुछ सूचियां दी हैं। उन्होंने उन से जो परिणाम निकाला है उस से यद्यपि हम सहमत नहीं, तथापि प्रकृत विचार के लिये उन का कुछ अंश उद्धृत करते हैं। इस से पाठक हमारे मन्तव्य को भले प्रकार समझ जायेंगे।

---

१. अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते। दमूनाः क्षेत्रसाधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः उष्णम्, घृतमिति। २। २॥ तुलना करो—घरतिरस्मा अविशेषणोपदिष्टः। स घृतं घृणा घर्म इत्येवं विषयः। महाभाष्य ७। १। ९६॥

२. पारम्पर्यादपभ्रंशो विगुणेष्वभिधातृषु। वाक्यपदीय १। १५४॥

३. म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः। १०। ४५॥

लौकिक	वैदिक	प्राकृत	लौकिक	वैदिक	प्राकृत
हन्ति	हनति	हणइ	अप्रगल्भ	अपगल्भ	अपगब्भ
भिनत्ति	भेदति	भेदइ	पत्या	पतिना	पइणा
म्रियते	मरति	मरइ	गवाम्	गोनाम्	गुन्नम्
ददाति	दाति	दाइ	अस्मभ्यम्	अस्मे	अह्मे
दधाति	धाति	धाइ	यूयम्	युष्मे	तुह्मे
इच्छति	इच्छते	इच्छए	त्रयाणाम्	त्रीणाम्	तिण्हम्
ईष्टे	ईशे	ईसए	देवैः	देवेभिः	देवेहि
अमथ्नात्	मथीत्	मथीअ	नेतुम्	[नेतवे]	नेतवे
अभूत्	भूत	भवीअ	इतरत्	इतरं	इतरं

	लौकिक	वैदिक	संस्कृत	प्राकृत
सलोप—	स्पृशान्य	पृशान्य	स्पृहा	पिहा
ह को ध—	सह	सध	इह	इध
ऋ को र—	ऋजिष्ठम्	रजिष्ठम्	ऋजु	रजु
अनुस्वारसे पूर्व ह्रस्व–	युवां	युवं	देवानां	देवानं

संस्कृत भाषा का ह्रास

पूर्व लिखा जा चुका है कि संस्कृत भाषा प्रारम्भ में अतिविस्तृत थी। संसार की समस्त विद्याओं के पारिभाषिक तथा सर्वव्यवहारोपयोगी शब्द इसमें वर्तमान थे। कोई भी छान्दस वा आर्ष प्रयोग इस से बाहर न था। सहस्त्रों वर्षों तक यह संसार की एकमात्र बोलचाल की भाषा रही। उस अतिविस्तृत मूल भाषा में देश, काल और परिस्थिति की भिन्नता तथा आर्य-संस्कृति के केन्द्र से दूरता के कारण शनैः शनैः परिवर्तन होने लगा, उसी परिवर्तन से संसार की समस्त अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति हुई। यद्यपि इस परिवर्तन को प्रारम्भ हुए सहस्त्रों वर्ष बीत गये, और उन अपभ्रंश भाषाओं में भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक परिवर्तन हो गया, तथापि संस्कृत भाषा के साथ उनकी तुलना करने पर पारस्परिक प्रकृति विकृति भाव आज भी स्पष्ट प्रतीत होता है। इन अपभ्रंश भाषाओं के वर्तमान स्वरूप की अपेक्षा प्राचीन स्वरूप संस्कृत भाषा के अधिक निकट था।

यथा—आर्यावर्तदेशवासी गमन अर्थ में **'गम्लृ'** धातु का प्रयोग करते थे, सुराष्ट्रवासी **'हम्म'**[1] का, प्राच्य तथा मध्यदेशवासी 'रंह' का और काम्बोज **'शव'** का। आर्यों में **'शव'** धातु के आख्यात का प्रयोग नहीं होता, वे लोग उसके निष्पन्न केवल 'शव' शब्द का प्रयोग करते हैं। लवन=काटना अर्थ में "दा" धातु के 'दाति' आदि आख्यात पदों का प्रयोग प्राग्देश में होता था, और ष्ट्रन्-प्रत्ययान्त "दात्र" शब्द उदीच्य देश में बोला जाता था।[2] आजकल भी पञ्जाबी भाषा में 'दात्र' का स्त्रीलिङ्ग **'दात्री'** शब्द का व्यवहार होता है। अत एव यास्क ने लिखा है—इस प्रकार देशभेद से बंटे हुए प्रयोगों को ध्यान में रख कर शब्दों का निर्वचन करना चाहिये।[3] अर्थात् किसी देश में प्रयुक्त शब्द की व्युत्पत्ति उसी प्रदेश में प्रयुक्त असम्बद्ध धातु से करने की चेष्टा न करके देशान्तर में प्रयुक्त मूल धातु से करनी चाहिए।

इस लेख से यह सुस्पष्ट है कि संस्कृत भाषा के विभिन्न शब्दों का प्रयोग विभिन्न देशों में बंटा हुआ था। अतः उन देशों में ज्यों ज्यों म्लेच्छता की वृद्धि होती गई त्यों त्यों वहां से संस्कृत भाषा का लोप होता गया, और उन उन देशों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के विशिष्ट प्रयोग लुप्त हो गये। इस प्रकार संस्कृत भाषा के प्रचार-क्षेत्र के संकोच के साथ साथ भाषा का भी महान् संकोच हो गया। यदि आज भी संसार की समस्त भाषाओं का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो संस्कृत भाषा के शतशः लुप्त प्रयोगों का पुनरुद्धार हो सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि भाषा के संकोच और विकार के इस सिद्धान्त से भले प्रकार विज्ञ था। वह लिखता है—

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा

---

१. पहम्मतीति पाठे हम्मतिः कम्बोजेषु प्रसिद्धः इति। गरुडवाह टीका पृष्ठ २४५। महाभाष्य से विरुद्ध होने के कारण टीकाकार का लेख अशुद्ध है।

२. अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते।.........विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। निरुक्त २।२॥ तथा पृष्ठ १० टिप्पणी ३ में महाभाष्य का उद्धरण

वसुमती……। **एतस्मिंश्चातिमहति प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते।**[1]

यद्यपि महाभाष्यकार के समय में संस्कृत भाषा का प्रचार समस्त भूमण्डल में नहीं था, तथापि वह पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध होने वाले शब्दों का प्रयोगक्षेत्र **सप्तद्वीपा वसुमती** लिखता है, और उनकी उपलब्धि के लिये प्रेरणा करता है। इससे स्पष्ट है कि वह अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत से मानता है, और उनके द्वारा संस्कृत भाषा से लुप्त हुए प्रयोगों की उपलब्धि के लिये प्रेरणा करता है।

संस्कृत भाषा से शब्दों का लोप तथा भाषा का संकोच किस प्रकार हुआ इसका अति संक्षिप्त सप्रमाण निदर्शन आगे कराते हैं—

१—भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने ६।१।७७ की वृत्ति में एक वार्त्तिक लिखा है—**इकां यणिभर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्**। तदनुसार व्याडि और गालव आचार्यों के मत में 'दध्यत्र मध्वत्र' प्रयोग विषय में '**दधियत्र मधुवत्र**' प्रयोग भी होते थे। पुरुषोत्तमदेव से प्राचीन जैनेन्द्र व्याकरण के व्याख्याता अभयनन्दी ने संग्रह के नाम से इस मत का उल्लेख किया है।[2] हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति[3] और पाल्यकीर्त्ति ने स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति[4] में यण्-व्यवधान पक्ष का निर्देश किया है। अतः यण्-व्यवधान पक्ष में 'दधियत्र मधुवत्र' आदि प्रयोग भी कभी लोक में साधु माने जाते थे, यह निर्विवाद है। तैत्तिरीय आदि शाखाओं में इस प्रकार के

---

१. महाभाष्य। अ० १। पा० १। आ० १॥

२. इकां यणिभर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहः। जैनेन्द्र महावृत्ति।१।२।१॥
पं० क्षितीशचन्द्र चटर्जी ने 'टेकनीकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर' के पृष्ठ ७१ के टिप्पण में निम्न पाठ उद्धृत किया है—

भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते। व्यवधानमिको यणिभर्वायुवम्बरयोरिव॥

३. केचित्त्विवर्णादिभ्यः परान् यरलवानिच्छन्ति। दधियत्र, तिरियङ्, मधुवत्र भूवादयः। हैम व्याक० १।२।२१॥

का प्रयोग मिलता है।[1] ... उपनिषद् १।१२ में '**स्त्रियन्नपानादि-विचित्रभोगैः**'[3] प्रयोग में यण्व्यवधान देखा जाता है। प्रतीत होता है कालान्तर में लोकभाषा में से यण्व्यवधान वाले प्रयोगों का लोप होजाने से पाणिनि ने यण्व्यवधान पक्ष का साक्षात् निर्देश नहीं किया, परन्तु '**भूवादयो धातवः**'[4] सूत्र में वकार-व्यवधान का प्रयोग करते हुए यण्व्यवधान पक्ष को स्वीकार अवश्य किया है।

कात्यायन के समय में यण्व्यवधान वाले प्रयोगों का लोक में प्रायः अप्रयोग हो गया था, केवल प्राचीन वैदिक साहित्य में उनका प्रयोग सीमित रह गया था। अतः उसने वैदिक प्रयोगों का साधुत्व दर्शाने के लिये '**इयङादिप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्**'[5] वार्त्तिक बनाया, और उनमें इयङ् उवङ् की कल्पना की। परन्तु इससे '**भूवादयः**' पद की निष्पत्ति नहीं हुई। अतः महाभाष्यकार को यहां अन्य क्लिष्ट कल्पनाएं करनी पड़ीं।[6]

२—'न्यङ्कु'[7] शब्द से विकार वा अवयव अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय करने पर पाणिनि के मत में '**नैयङ्कवम्**' प्रयोग होता है, परन्तु आपिशलि के मत में '**न्याङ्कवम्**' बनता है।[8] वस्तुतः इन दोनों तद्धितप्रत्ययान्त प्रयोगों की मूल प्रकृति एक न्यङ्कु शब्द नहीं हो सकता। न्यङ्कु शब्द 'नि+अङ्कु' से

---

१. जैमिनि ब्राह्मण १। ११२ का पाठ है—'प्राण इति द्वे अक्षरे, अपान इति त्रीणि, व्यान इति त्रीणि, तदष्टौ संपद्यन्ते'। यहां मुद्रित पाठ 'व्यान' अशुद्ध है 'वियान' चाहिये। 'वियान' पाठ होने पर ही तीन अक्षर बनते हैं।

२. त्रियहे पर्यवेतेऽथ। बौ० गृह्यशेष ५। २॥ पृष्ठ ३६२।

३. स्त्रियन्नपानादि० पाठान्तर। इस में इयङ् हुआ है।

४. अष्टा० १। ३। १॥ ५. महाभाष्य ६। ४। ७७॥

६. भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते। महाभाष्य १। ३। १॥ अभयनन्दी ने पूर्वोक्त (पृष्ठ २६, टि० २) संग्रह का वचन उद्धृत करके 'मङ्गलार्थः' के स्थान में 'लक्षणार्थः' पढ़ा है। जैनेन्द्र व्या० महावृत्ति १। २। १।

७. कुरङ्गसदृशो विकटबहुविषाणः [मृगविशेषः]। अष्टाङ्गहृदय हेमाद्रिटीका सूत्रस्थान ३। ५०॥

८. आपिशलिस्तु—न्यङ्कोर्नैच्भावं शास्ति, न्याङ्कवं चर्म। उज्ज्व० उणादिवृत्ति पृष्ठ ११॥ तुलना करो—न्यङ्कोस्तु पूर्वं अकृतैजागमस्याभ्युदयाङ्गतां स्मरन्ति। यथाहुः—

'न्याङ्कवम्' प्रयोग उपपन्न होंगे। अर्थात् दोनों तद्धित-प्रत्ययान्तों की दो विभिन्न प्रकृतियां किसी समय भाषा में विद्यमान थीं। उन में से यण्व्यवधान वाली 'नियङ्कु' प्रकृति का भाषा से उच्छेद हो जाने पर उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने दोनों तद्धित-प्रत्ययान्तों का सम्बन्ध एक न्यङ्कु शब्द से जोड़ दिया।

पाणिनि ने **पदान्तस्यान्यतरस्याम्** (७।३।६) सूत्र द्वारा श्वापद शब्द के **श्वापदम् शौवापदम्** जो दो रूप दर्शाए हैं उनकी भी यही गति समझनी चाहिए।

३—गोपथ ब्राह्मण २।१।२५ में '**त्रैयम्बक**' पद का प्रयोग मिलता है। वैयाकरण इस की निष्पत्ति 'त्र्यम्बक' शब्द से मानते हैं।[2] यहां भी 'त्रि+अम्बक' में पूर्वोक्त नियमानुसार सन्धि होने से 'त्रियम्बक' और 'त्र्यम्बक' दो शब्द निष्पन्न होते हैं। अतः त्रैयम्बक पद की निष्पत्ति 'त्रियम्बक' शब्द से माननी चाहिये। महाभाष्यकार ने '**इयङादिप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्**'[3] वार्तिक पर निम्न वैदिक उदाहरण दिये हैं—

तन्वं पुषेम, तनुवं पुषेम। विष्वं पश्य, विषुवं पश्य। स्वर्गं लोकम्, सुवर्गं लोकम्। त्र्यम्बकं यजामहे, त्रियम्बकं यजामहे।

महाभाष्यकार ने यहां स्पष्टतया **त्र्यम्बक** और **त्रियम्बक** दोनों पदों का पृथक् पृथक् प्रयोग दर्शाया है। वैदिक वाङ्मय के उपलभ्यमान ग्रन्थों में कठ कपिष्ठल संहिता[4] और बौधायन गृह्यसूत्र[5] में त्रियम्बक पद का

न्यङ्कोः प्रतिषेधान्न्याङ्कवम् इति। वाक्यपदीय वृषभदेवटीका पृष्ठ ५५। न्यङ्कोर्वेति केचित्, न्याङ्कवम्, नैयङ्कवम्। प्रक्रिया-कौमुदी भाग १, पृष्ठ ८१५। प्रक्रियासर्वस्व तद्धित प्रकरण पृष्ठ ७२। देखो सरस्वतीकण्ठाभरण का "न्यङ्कोश्च" (७।१।२३) सूत्र।

१. नावञ्चेः। पञ्चपादी उणादि १।१७; दशपादी उणादि १।१०२॥

२. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्। अष्टा० ७।३।३॥

३. महाभाष्य ६।४।७७॥ ४. अव देवं त्रियम्बकम्, त्रियम्बकं यजामहे। कपिष्ठल ७।१०॥ सम्पादक ने हस्तलेख के मूल 'त्रियम्बक' पाठ को बदलकर 'त्र्यम्बक' छापा है। देखो पृष्ठ ८७, टि० १, २।

५. बौ० गृह्यशेष सूत्र ३।१२, पृष्ठ २६६।

प्रयोग मिलता है। महाभारत में भी त्रियम्बक पद का प्रयोग उपलब्ध होता है।[1] कालिदास ने कुमारसम्भव में त्रियम्बक और त्र्यम्बक दोनों पदों का प्रयोग किया है।[2] शिवपुराण ६। ४। ७७ में भी त्रियम्बक पद प्रयुक्त है। इस प्रकार वैदिक तथा लौकिक उभयविध वाङ्मय में 'त्रियम्बक' पद का निर्बाध प्रयोग उपलब्ध होता है।[3] इससे स्पष्ट है कि '**त्रैयम्बक**' की मूल प्रकृति '**त्रियम्बक**' है, त्र्यम्बक नहीं।

इसी प्रकार पाणिनीय गणपाठ ७। ३। ४ में पठित '**स्वर्**' शब्द के उदाहरण काशिकावृत्ति में "**स्वर्भवः सौवः। अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिकः**" दिये हैं। तैत्तिरीय संहिता में '**स्वर्**' के स्थान में सर्वत्र '**सुवर्**' शब्द का प्रयोग मिलता है, अतः '**सौवः**'[4] का सम्बन्ध '**सुवर्**' और 'सौवर्गमनिकः' का 'सुवर्गमन' से मानना अधिक युक्त है।

हमारा विचार है पाणिनीय व्याकरण में जहां जहां ऐच् आगम का विधान किया है वहां सर्वत्र इस प्रकार की उपपत्ति हो सकती है। हमारे इस विचार का पोषक एक प्राचीन वचन भी उपलब्ध होता है। भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य १। ४। २ में पूर्वाचार्यों का एक सूत्र उद्धृत किया है—'**य्वोरचि वृद्धिप्रसङ्गे इयुवौ भवतः**'। इस का अभिप्राय यह है कि पूर्वाचार्य '**वि+आकरण+अण्**' और '**सु+अश्व+अण्**' इस अवस्था में वृद्धि की प्राप्ति में यणादेश को बाधकर '**इय्**' '**उव्**' आदेश करते थे। अर्थात् वृद्धि करने से पूर्व '**वियाकरण**' और '**सुवश्व**' प्रकृति बना लेते थे और तत्पश्चात् वृद्धि करते थे।

प्रतीत होता है जब यण्व्यवधान वाले पदों का भाषा से उच्छेद हो

---

१. येन देवस्त्रियम्बकः। शान्तिपर्व ६६। ३३॥ कुम्भघोण संस्क०। त्रियम्बको विश्वरूपः। सभापर्व १०।२१ पूना संस्क०।

२. त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श। ३। ४४॥ व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले। ३। ६१॥ कुमारसंभव ३। ४४ पर अरुणागिरिनाथ लिखता है—'छन्दोविच्चितिकारैः इयङ् उवङ् आदेशस्योक्तत्वात्। नारायण ने इस पद पर 'त्रियम्बकं नान्यमुपस्थितासौ—इति भर्तृहरिप्रयोगात्' पाठ उद्धृत किया है।

३. पञ्चवक्त्रास्त्रियम्बकाः। रसार्णव तन्त्र २। ६ ॥

गया, तब वैयाकरणों ने उन से निष्पन्न तद्धितप्रत्ययान्त प्रयोगों का सम्बन्ध तत्समानार्थक यणादेश वाले शब्दान्तरों के साथ कर दिया।

४—पाणिनि ने प्राचीन परम्परा के अनुसार एक सूत्र पढ़ा है—**लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्**[1] तदनुसार 'लोहितादिगण पठित 'नील हरित' आदि शब्दों से '**वा क्यषः**'[2] सूत्र से नीलायति नीलायते, हरितायति हरितायते' दो दो प्रयोग बनते हैं। इस सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन ने लिखा है[3]—**लोहितडाज्भ्यः क्यष् वचनम्, भृशादिष्वितराणि**। अर्थात् लोहितादिगण पठित शब्दों में से केवल लोहित शब्द से क्यष् कहना चाहिये, शेष नील हरित आदि शब्द भृशादिगण मे पढ़ने चाहिये।

भृशादिगण में पढ़ने से नील लोहित आदि से क्यङ् प्रत्यय होकर केवल 'नीलायते लोहितायते' एक रूप ही निष्पन्न होगा। प्रतीत होता है पाणिनि ने प्राचीन व्याकरणों के अनुसार नील हरित आदि शब्दों के दो दो प्रकार के प्रयोगों का साधुत्व दर्शाया है, परन्तु वार्तिककार[4] के समय इन के परस्मैपद के प्रयोग नष्ट हो गये। अत एव उसने लोहितादिगण में नील लोहित आदि शब्दों का पाठ व्यर्थ समझ कर भृशादि में पढ़ने का अनुरोध किया। यदि ऐसा न माना जाय तो पाणिनि का लोहितादि गण का पाठ प्रमत्तपाठ होगा।

५—महाभाष्य में अनेक स्थानों पर '**अविरविकन्याय**' का उल्लेख करते हुए लिखा है—'**अवेर्मांसम्**' इस विग्रह में अवि शब्द से तद्धितोत्पत्ति न होकर '**अविक**' शब्द से तद्धित प्रत्यय होता है, और '**आविक**' प्रयोग बनता है।[5] यहां स्पष्ट आविक की मूल प्रकृति अविक मानी है। परन्तु वैयाकरण उसका विग्रह '**अविकस्य मांसम्**' नहीं करते, '**अवेर्मांसम्**' ऐसा ही करते हैं। यदि इसके मूल कारण पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट

---

१. अष्टा० ३ । १ । १३ ॥ २. अष्टा० १ । ३ । ९० ॥

३. अधिक सम्भव है यह महाभाष्यकार का वचन हो।

४. भाष्यवचन पक्ष में पतञ्जलि के समय।

५. तत्र द्वयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहोऽपरस्मादुत्पत्तिर्भविष्यत्यविरविकन्यायेन। तद्यथा—अवेर्मांसमिति विग्रह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकमिति। ४ । १ । ८८ ॥

होगा कि लोक में आविक की मूल प्रकृति 'अविक' का प्रयोग न रहने पर उसका विग्रह 'अविकस्य मांसम्' करना छोड़ दिया, और अवि शब्द से उसका सम्बन्ध जोड़ दिया। स्त्रीलिङ्ग अविका शब्द का प्रयोग ऋग्वेद १। १२६। ७; अथर्व २०। १२९। १७ और ऋग्वेद खिल ५। १५। ५ में मिलता है। अतः अविक शब्द की सत्ता में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

६—कानीन पद की सिद्धि के लिये पाणिनि ने सूत्र रचा है—**कन्यायाः कनीन च**।[1] इसका अर्थ है—कन्या से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और कन्या को कनीन आदेश हो जाता है।

वेद में बालक अर्थ में 'कनीन' शब्द का प्रयोग असकृत् उपलब्ध होता है।[2] अवेस्ता में कन्या अर्थ में कनीना का अपभ्रंश **'कइनीन'** का प्रयोग मिलता है।[3] इस से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार 'शवति' मूल प्रकृति का आर्यावर्तीय भाषा में प्रयोग न होने पर भी उस से निष्पन्न 'शव' शब्द का प्रयोग यहां की भाषा में उपलब्ध होता है[4] उसी प्रकार कानीन की मूल प्रकृति कनीना का प्रयोग भी आर्यावर्तीय भाषा में न रहा हो, किन्तु उस से निष्पन्न कानीन का व्यवहार आर्यावर्तीय संस्कृत भाषा में होता है। अवेस्ता में 'कइनीन' का व्यवहार बता रहा है कि ईरानियों की प्राचीन भाषा में **'कनीना'** पद का प्रयोग होता था। पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने यहां की भाषा में कनीना का व्यवहार न होने से उस से निष्पन्न कानीन का सम्बन्ध तत्समानार्थक कन्या शब्द से जोड़ दिया। तदनुसार उत्तरकालीन वैयाकरण कानीन का विग्रह **"कनीनाया अपत्यम्"** न करके **"कन्याया अपत्यम्"** करने लगे और कानीन की मूल प्रकृति कनीना को सर्वथा भूल गये। इस विवेचन से स्पष्ट है कि कानीन की वास्तविक मूल प्रकृति कनीना है, कन्या नहीं।

७—निरुक्त ६। २८ में लिखा है—**धामानि त्रयाणि[5] भवन्ति। स्थानानि, नामानि, जन्मानीति।** अनेक वैयाकरण निरुक्तकार के "त्रयाणि" पद को असाधु मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। त्रि शब्द

---

१. अष्टा० ४। १। ११६॥ २. पूर्व पृष्ठ ११, टि० २।

३. पूर्व पृष्ठ ११, टि० ३। ४. पूर्व पृष्ठ १०।

५. [illegible] स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत

का समानार्थक 'त्रय' स्वतन्त्र शब्द है।[१] वैदिक ग्रन्थों में इसका प्रयोग बहुधा मिलता है।[२] लौकिक संस्कृत में त्रि शब्द के षष्ठी के बहुवचन में "त्रयाणाम्" प्रयोग होता है। पाणिनि ने त्रय आदेश का विधान किया है।[३] वेद में "त्रीणाम्, त्रयाणाम्" दोनों प्रयोग होते हैं।[४] इन में स्पष्टतया "त्रीणाम्" त्रि शब्द के षष्ठी विभक्ति का बहुवचन है और "त्रयाणाम्" त्रय शब्द का। त्रि और त्रय दोनों समानार्थक हैं। प्रतीत होता है त्रि शब्द के षष्ठी का बहुवचन "त्रीणाम्" का प्रयोग लोक में लुप्त हो गया, उसके स्थान में तत्समानार्थक त्रय का "त्रयाणाम्" प्रयोग व्यवहृत होने लगा और त्रय की अन्य विभक्तियों के प्रयोग नष्ट हो गये। संस्कृत से लुप्त हुए 'त्रीणाम्' पद का अपभ्रंश 'तिण्हम्' प्राकृत में प्रयुक्त होता है। भाषा में 'तीन्हों का' प्रयोग में 'तीन्हों' प्राकृत के 'तिण्हम्' का अपभ्रंश है।

८—पाणिनि ने षष्ठ्यन्त से तृच् और अक प्रत्ययान्त के समास का निषेध किया है।[५] परन्तु स्वयं '**जनिकर्तुः प्रकृतिः**'[६] '**तत्प्रयोजको हेतुश्च**'[७] आदि में समास का प्रयोग किया है।[८] इस विषय में दो कल्पनाएं हो सकती हैं। प्रथम—पाणिनि ने सूत्रों में जो तृच् और अक प्रत्ययान्त के समास का प्रयोग किया है वह अशुद्ध है।[९] दूसरा—तृच् और अक प्रत्ययान्त का षष्ठ्यन्त के साथ समास ठीक है, परन्तु पाणिनि ने अल्प प्रयोग होने से उस का समास पक्ष नहीं दर्शाया। इन में द्वितीय पक्ष ही युक्त हो सकता है।

---

१. हेमचन्द्र ने उणादि ३६७ में अकारान्त 'त्रय' शब्द का साधुत्व दर्शाया है।

२. ऋग्वेद १०। ४५। २; यजुर्वेद १२। १६॥ ऋ० ६। २। ७ में प्रयुक्त 'त्रयय्याय्यः' में भी पूर्वपद 'त्रय' अकारान्त है।

३. त्रेस्त्रयः। अष्टा० ७। १। ५३॥

४. काशिका ७। १। ५३—त्रीणामित्यपि भवति।

५. काशिका २। २। १६॥

६. अष्टा० १। ४। ३०॥

७. अष्टा० १। ४। ५५॥

८. देखो भामह का अलङ्कार ३। ३६, ३७॥ कात्यायन भी ३। १। २६ के "स्वतन्त्रप्रयोजकत्वात्" इत्यादि वार्तिक में समस्त निर्देश करता है।

९. सूत्रवार्तिकभाष्येषु दृश्यते चापशब्दनम्..................। तन्त्रवार्तिक, शाबरभाष्य पूना संस्क० भाग १, पृष्ठ २६०। सर्वदर्शनसंग्रह में पाणिनि दर्शन

क्योंकि पाणिनीय सूत्रों में अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनीय शब्दानुशासन से सिद्ध नहीं होते हैं।[1] पाणिनि जैसा शब्दशास्त्र का प्रामाणिक आचार्य अपशब्दों का प्रयोग करेगा, यह कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती। वस्तुतः ऐसे शब्द प्राचीन भाषा में प्रयुक्त थे। रामायण महाभारत आदि में तृच् और अक प्रत्ययान्तों के साथ षष्ठी का समास प्रायः देखा जाता है। अष्टाध्यायी में अनेक आपवादिक नियम छोड़ दिये हैं। अत एव महाभाष्य-कार ने लिखा है—**नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति**।[2]

९—पाणिनीय व्याकरणानुसार '**वध**' धातु का प्रयोग आशिषि लिङ्,[3] लुङ्,[4] और क्वुन्[5] प्रत्यय के अतिरिक्त नहीं होता। नागेश महाभाष्य २।४।४३ के विवरण में स्वतन्त्र वध धातु की सत्ता का प्रतिषेध करता है।[6] परन्तु वैशेषिक दर्शन में '**वधति**'[7] और आपस्तम्ब

---

१. यथा—पुराण ४।३।१०५, सर्वनाम १।१।२७, ग्रन्थवाची-ब्राह्मण शब्द ४।३।१०५, इत्यादि। वैयाकरण इन्हें निपातन (पाणिनीय-व्यवहार) से साधु मानते हैं। यदि ये प्रयोग साधु हैं, तो पाणिनि के 'तिर्यचि' (३।४।६०) 'अन्वचि' (३।४।६४) आदि प्रयोग साधु=लोक व्यवहार्य क्यों नहीं ?

२. महाभाष्य ७।१।६६ ॥ तुलना करो—नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। महाभाष्य १।१।१२,४१॥ ३।१।६७॥ भर्तृहरि ने लिखा है—"संज्ञा और परिभाषा सूत्र एक प्रयोजन के लिये नहीं बनाये जाते, प्रयोगसाधकसूत्र एक प्रयोजन के लिये भी रचे जाते हैं।" (भाष्यटीका १।१।४१) यह कथन सर्वांश में ठीक नहीं। महाभाष्य ७।१।६६ के उपर्युक्त पाठ से स्पष्ट है कि एक उदाहरण के लिये प्रयोग-साधक सूत्र रचा ही जावे, यह आवश्यक नहीं है। तुलना करो—नैकमुदाहरणं ह्रस्वग्रहणं प्रयोजयति। महाभाष्य ६।४।३ ॥ नव्य व्याख्याकार "नैकमुदाहरणं सामान्यसूत्रं प्रयोजयति, यथा 'अग्नेर्ढक्' (४।२।३३) स्थाने न 'इकारान्ताड्ढक्' इत्येवं पठ्यते" ऐसा कहते हैं।

३. हनो वध लिङि। अष्टा० २।४।४२ ॥

४. लुङि च, आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्। अष्टा० २।४।४३, ४४ ॥

५. हनो वध च। उणा० २।३८। ६. स्वतन्त्रो वधधातुस्तु नास्त्येव ॥

यज्ञपरिभाषा में '**बध्यन्ते**'[1] प्रयोग उपलब्ध होता है। काशिका ७। ३। ३५ में वामन स्वतन्त्र वध धातु की सत्ता स्वीकार करता है।[2] हैम न्याय संग्रह की स्वोपज्ञ टीका में हेमहंसगणि 'वध' का निर्देश करता है।[3] इससे स्पष्ट है कि कभी वध धातु के प्रयोग सब लकारों तथा सब प्रक्रियाओं में होते थे।

१०—**भट्टोजि दीक्षित** ने शब्दकौस्तुभ १।१।२७ में लिखा है—चाक्रवर्मण आचार्य के मत में '**द्वय**' शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती थी।[4] तदनुसार '**द्वये**, द्वयस्मै, द्वयस्मात्, द्वयेषाम्, द्वयस्मिन्' प्रयोग भी साधु थे। परन्तु पाणिनि के व्याकरणानुसार 'द्वय' शब्द की केवल प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।[5] माघ कवि ने शिशुपालवध में '**द्वयेषाम्**' पद का प्रयोग किया।[6]

११—प्राकृत भाषा में देव आदि अकारान्त पुंलिङ्ग शब्द के तृतीया

---

१. प्रकरणेन विधयो बध्यन्ते। १। २। २७॥ तुलना करो—बध्यन्ते यास्तु वाहयन्। मनु० ३। ६८॥

२. वधिः प्रकृत्यन्तरं व्यञ्जनान्तोऽस्ति। तुलना करो—वधिः प्रकृत्यन्तरम्। जैन शाकटायन लघुवृत्ति ४। २। १२२॥   ३. वध हिंसायम्। वधति। पृष्ठ १४३।

४. यत्तु कश्चिदाह चाक्रवर्मणव्याकरणे द्वयपदस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात् ......।

भट्टोजि दीक्षित चाक्रवर्मण के मत का निर्देश करके भी उसके मत का निराकरण करता है। नवीन वैयाकरणों का 'यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्' मत व्याकरण-शास्त्र-विरुद्ध है। क्वचित् मतभेद से दो प्रकार के रूप निष्पन्न होने पर दोनों ही प्रयोगार्ह होते हैं। महाभाष्यकार ने लिखा है—'इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते, तदिहापि साध्यम्' (१। १। ३)। पाणिनि के मतानुसार 'मृजन्ति' रूप ही होना चाहिए। परन्तु भाष्यकार ने यहां अन्य वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट रूपान्तरों को भी 'साध्य' कहा है। अतः 'यथोत्तरमुनीनां' मत सर्वथा चिन्त्य है।

५. अष्टा० १।१।३३॥   ६. [illegible] द्वयेषामपि मेदिनी[illegible]। २।१२३॥

त्ति के बहुवचन में '**देवेहि**' आदि प्रयोग होते हैं।[1] अर्थात् '**भिस्**' '**ऐस्**' नहीं होता। प्राकृत के नियमानुसार '**भिस्**' के **भकार** को **ार** होता है, और सकार का लोप हो जाता है। अपभ्रंश शब्दों की त्ति लोक प्रयुक्त शब्दों से होती है, अतः प्राकृत के 'देवेहि' आदि प्रयोगों सिद्ध है कि कभी लौकिक संस्कृत में 'देवेभिः' आदि शब्दों का प्रयोग ा था, वेद में '**देवेभिः, कर्णेभिः**' आदि प्रयोग प्रसिद्ध हैं। पाणिनीय करणानुसार लोक में '**देवेभिः**' आदि प्रयोग नहीं बनते। कातन्त्र करण केवल लौकिक भाषा का व्याकरण है, परन्तु उसमें '**भिस् ऐस्** सूत्र उपलब्ध होता है।[2] इस के अनुसार लोक में '**देवेभिः, देवैः**' दि दोनों प्रकार के प्रयोग सिद्ध होते हैं। बौधायन धर्मसूत्र १६। ३२ में प्राचीन श्लोक उद्धृत है। उस में '**तैभिः**' और '**तैः**' दोनों पद एक ा प्रयुक्त हैं।[3] कातन्त्र के टीकाकारों ने इस बात को न समझ कर **स् ऐस् वा**' सूत्र के अर्थ में जो क्लिष्ट कल्पना की है, वह चिन्त्य है। न्त्र किसी अत्यन्त प्राचीन व्याकरण का संक्षिप्त संस्करण है, यह हम ी कातन्त्र के प्रकरण में सप्रमाण दर्शाएंगे। अतः उस में कुछ प्राचीन ा का विद्यमान रहना स्वाभाविक है। वस्तुतः ऐस्त्व का विकल्प मानना युक्त है। इसी से महाभारत (आदि० १२९। २३) तथा आयुर्वेदीय संहिता का **इमैः**[4] प्रयोग उपपन्न हो जाता है।

१२—कातन्त्र व्याकरण के '**अर् ङौ**' सूत्र[5] की वृत्ति में दुर्गसिंह लिखता **—योगविभागात् पितरस्तर्पयामः**। अर्थात्—'अर्' का योग-विभाग करने शस् परे रहने पर ऋकारान्त शब्द को 'अर्' आदेश होता है। यथा— **रस्तर्पयामः**। वैदिक ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं, परन्तु किक भाषा के व्याकरणानुसार ऐसे प्रयोगों का साधुत्व दर्शाना अत्यन्त

---

१. भिसो हि। वाररुच प्राकृतप्रकाश ५।५॥ यथा—सिद्धेहि णाणाविधेह, हिड् द्धेहि इत्यादि। भास नाटक चक्र पृष्ठ १६५॥ पालि में 'देवेहि देवेभि' दोनों ग होते हैं।

२. २। १। १८॥

३. मृगैः सह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च। तैरेव सदृशी वृत्तिः प्रत्यक्षं ीलक्षणम्॥

पालि में द्वितीया के बहुवचन में 'पितरो, पितरे' रूप भी होते हैं। ये प्रयोग कातन्त्र निर्दिष्ट मत को सुदृढ़ करते हैं।

१३—पाणिनि जिन प्रयोगों को केवल छान्दस मानता है उन के लिये सूत्र में 'छन्दसि, निगमे' आदि शब्दों का प्रयोग करता है। अतः जिन सूत्रों में पाणिनि ने विशेष निर्देश नहीं किया, उन से निष्पन्न शब्द अवश्य लोक भाषा में प्रयुक्त थे, ऐसा मानना होगा। पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में चार सूत्र पढ़ता है—

अर्वणस्त्रसावनञः।[1] **मघवा बहुलम्।**[2]

दीधीवेवीटाम्।[3] **इन्धिभवतिभ्यां च।**[4]

प्रथम दो सूत्रों से '**अर्वन्तौ अर्वन्तः, मघवन्तौ मघवन्तः**' आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं। पतञ्जलि इन सूत्रों को छान्दस मानता है।[5] कातन्त्र-व्याकरण में उपर्युक्त प्रयोगों के साधक '**अर्वन्नर्वन्तिरसावनञ्**,[6] **सौ च मघवान् मघवा**'[7] सूत्र उपलब्ध होते हैं। कातन्त्र केवल लौकिक संस्कृत का व्याकरण है और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त। अतः उस में इन सूत्रों के विद्यमान होने और पाणिनीय सूत्रों में '**छन्दसि**' पद का प्रयोग न होने से स्पष्ट है कि 'अर्वन्तौ' आदि प्रयोग कभी लौकिक संस्कृत में विद्यमान थे। अत एव कातन्त्र की वृत्तिटीका में दुर्गसिंह लिखता है—

छन्दस्येतौ योगाविति भाष्यकारो भाषते। शर्ववर्मणो वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। तथा च—मघवद्वृत्रलज्जानिदाने श्लथीकृत-प्रग्रहमर्वतां व्रज इति दृश्यते।[8]

---

१. अष्टा० ६।४।१२७॥ २. अष्टा० ६।४।१२८॥

३. अष्टा० १।१।६॥ ४. अष्टा० १।२।६॥

५. अर्वणस्तृ मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्। महाभाष्य ६।४।१२७,१२८।

६. कातन्त्र २।३।२२॥ ७. कातन्त्र २।३।२३॥

८. कान्तत्रवृत्ति परिशिष्ट, पृष्ठ ४६३। भाषावृत्ति ६।४।१२८ में उपरि निर्दिष्ट उद्धरणों का पाठ इस प्रकार है—कथं 'श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजम्' इति माघः,

अर्थात्—महाभाष्यकार इन सूत्रों को छान्दस मानता है, परन्तु शर्ववर्मा के वचन से इन शब्दों का प्रयोग भाषा में भी निश्चित होता है। जैसा कि 'मघववृत्र' आदि श्लोक में इन का प्रयोग उपलब्ध होता है।

पाणिनि के अन्तिम दो सूत्रों में दीधीङ् वेवीङ् और इन्धी धातुओं का निर्देश है। महाभाष्यकार इन्हें छान्दस मानता है।[1] कातन्त्र के **'दीधीवेव्योश्च,'**[2] **परोक्षायामिन्धिश्रन्थिग्रन्थिदम्भीनामगुणे'**[3] सूत्रों में इन धातुओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम सूत्र की वृत्ति में दुर्गसिंह ने लिखा है—**छान्दसावेतौ धातू इत्येके।**[4] इस पर त्रिलोचनदास लिखता है—

छान्दसाविति। शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। नह्ययं छान्दसान् शब्दान् व्युत्पादयतीति।[5]

अर्थात्—भाष्यकार के मत में दीधीङ् वेवीङ् छान्दस धातुएं हैं, परन्तु शर्ववर्मा के वचन से इन का लौकिक संस्कृत में भी प्रयोग निश्चित होता है, क्योंकि शर्ववर्मा छान्दस शब्दों का व्युत्पादन नहीं करता है।[6]

आचार्य चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण के लौकिक भाग[7] में **'लिटी-**

---

१. दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वात्। महाभाष्य १।१।६॥ इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद्। महाभाष्य १।२।६॥ हरदत्त भाषा में भी इन्धी का प्रयोग मानता है। वह लिखता है—एवं तर्हि ज्ञापनार्थमिन्धिग्रहणं–एतज्ज्ञापयति इन्धेर्भाषायामप्यनित्य आमिति। समीधे समीधांचक्रे इति भाषायामपि भवति। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ १५३।

२. कातन्त्र ३।५।१५॥ ३. कातन्त्र ३।६।३॥

४. कातन्त्रवृत्ति ३।५।१५॥ ५. कातन्त्रवृत्ति-परिशिष्ट पृष्ठ ५३०।

६. स्वादिगण के अन्त में पठित अह दघ चमु ऋक्षि आदि धातुओं को पाणिनि ने छान्दस माना है। काशकृत्स्न और उसके अनुयायी कातन्त्रकार तथा चन्द्र ने इन्हें छान्दस नहीं माना। द्र० क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ २३१ टि० २ का उत्तरार्ध (हमारा संस्करण)।

७. चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रक्रिया भी थी। इसके अनेक प्रमाण उसकी स्वोपज्ञवृत्ति (१।१।२३, १०५, १०८ इत्यादि) में उपलब्ध होते हैं। स्वोपज्ञवृत्ति १।१।१३४ में स्वरविषयक "अनो वसः" सूत्र भी उद्धृत है। इन स्वरविषक प्रमाणों की उपलब्धि से अनुमान हो है न्द्र ने वैदिक प्रक्रिया पर भी सूत्र अवश्य

न्धिश्रन्थिग्रन्थाम् सूत्र में इन्धी धातु का निर्देश किया है और स्वोपज्ञ वृत्ति में '**समीधे**' आदि प्रयोग दर्शाए है। अतः उस के मत में 'इन्धी' का प्रयोग भाषा में अवश्य होता है।

पाल्यकीर्ति विरचित जैन शकटायन व्याकरण केवल लौकिक संस्कृत का है, परन्तु उसमें भी इन्धी से विकल्प से आम् का विधान किया।[2]

इसी प्रकार महाभाष्यकार द्वारा छान्दस मानी गई **वश कान्तौ** धातु का भी लोक में व्यवहार देखा जाता है।[3]

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि संस्कृत भाषा में अनेक शब्द ऐसे हैं जिन का पहले लोक में निर्बाध प्रयोग होता था, परन्तु कालान्तर में उन का लोक भाषा से उच्छेद हो गया और केवल प्राचीन आर्ष वाङ्मय में उनका प्रयोग सीमित रह गया, अतः उत्तरवर्ती वैयाकरण उन्हें केवल छान्दस मानने लग गये।

१४—पाणिनि के उत्तरवर्ती महाकवि भास के नाटकों में पचासों ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि-व्याकरण-सम्मत नहीं हैं।[4] उन्हें सहसा अपशब्द नहीं कह सकते। अवश्य वे प्रयोग किसी प्राचीन व्याकरणानुसार साधु रहे होंगे। यहां हम उसके केवल दो प्रयोगों का निर्देश करते हैं—

राजन्-उत्तरपद के नकरान्त के प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के अनुसार साधु नहीं हैं। उनसे अष्टाध्यायी ५।४।९१ के नियम से **टच्** प्रत्यय हो कर वे अकारान्त बन जाते हैं। यथा **काशीराजः महाराजः**। परन्तु भास के नाटकों की संस्कृत और प्राकृत दोनों में नकारान्त उत्तरपद के प्रयोग मिलते हैं। यथा—

व्याकरण-प्रकरण और हमारे द्वारा सम्पादित चान्द्र-व्याकरण का उपोद्घात। यह संस्करण शीघ्र छपेगा।

१. चान्द्र व्या० ५।३।२५।

२. जागुषसमिन्धे वा।१।४।८४॥

३. 'वष्टि भागुरिरल्लोपम्' में तथा यजुर्भाष्य ७।८ के अन्वय में 'त्वां चाहं वश्मि' (स्वामी दयानन्द सरस्वती)।

काशिराज्ञ ।[1] **सर्वराज्ञः** ।[2] **महाराजानम्** ।[3] **महाराराणा** (= **महाराज्ञा**) ।[4]

ये प्रयोग निस्सन्देह प्राचीन हैं। वैदिक साहित्य में तो इन का प्रयोग होता ही है,[5] परन्तु महाभारत आदि में भी ऐसे अनेक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—**सर्वराज्ञाम्**—आदिपर्व १।१०२॥ सभापर्व ४२।१२॥ **नागराज्ञा**-आदिपर्व १६ । १३ ॥ **मत्स्यराज्ञा**—आदिपर्व १ । ११५ ॥

वस्तुतः **राजन्** नकारान्त और **राज** अकारान्त दो स्वतन्त्र शब्द हैं। जब समास के विना अकारान्त राज के और तत्पुरुष समास में नकारान्त राजन् उत्तरपद के प्रयोग विरल हो गए तब वैयाकरणों ने **नष्टाश्वदग्धरथ न्याय**[6] से दोनों को परस्पर में सम्बद्ध कर दिया। अकारान्त **राज** शब्द का प्रयोग महाभारत में उपलब्ध भी होता है।[7] इसी प्रकार अकारान्त **ऊध** शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। पाणिनि द्वारा **ऊधसोऽनङ्** सूत्र[8] से अनङ् आदेश कर के निष्पन्न किया गया नकारान्त **ऊधन्** (कुण्डोघ्नी घटोघ्नी) शब्द के वेद में बहुधा स्वतन्त्र प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

ऊधन् (ऋ० १ । १५२ । ६), **ऊधनि** (ऋ० १ । ५२ । ३), **ऊधभिः** (ऋ० ८ । ९ । १९) **ऊध्नः** (ऋ० ४ । २२, ६)।

हमारा तो मन्तव्य है कि पाणिनि ने जहां जहां लोप आगम वर्णविकार द्वारा रूपान्तर का प्रतिपादन किया है वे रूप प्राचीन काल में संस्कृतभाषा में स्वतन्त्र रूप से लब्धप्रचार थे। उनका लोक में अप्रयोग हो जाने पर पाणिनि आदि ने उनसे निष्पन्न व्यावहारिक भाषा में अवशिष्ट शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिए लोप आगम वर्णविकार आदि की कल्पना की है।[9]

---

१. भासनाटकचक्र पृष्ठ १८७। २. भासनाटकचक्र पृष्ठ ४४५।

३. यज्ञफलनाटक पृष्ठ २८, ६६। ४. यज्ञफलनाटक पृष्ठ ५०।

५. यानि देवराज्ञां सामानि······यानि मनुष्यराज्ञाम्··· । ताण्ड्य ब्रा० १८ । १० । ५ ॥

६. तवाश्वो नष्टः, ममापि रथं दग्धम्, इत्युभौ संप्रयुज्यावहे । महाभाष्य १।१।५०।

७ राजाय प्रयंतमाङ्गे । आदि ६४ । ४४ ॥

८. अष्टा० ५ । ४ । १३१ ॥

९. इस प्रकार की व्याख्या के लिए देखिए 'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम

भास के अभिषेक नाटक में **'विंशति'** के अर्थ में **'विंशत्'** शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[1] यह पाणिनीय व्याकरणानुसार असाधु है। पुराणों में अनेक स्थानों पर 'विंशत्' शब्द का प्रयोग मिलता है। यथा—

ऐक्ष्वाकवश्चतुर्विंशत् पाञ्चालाः सप्तविंशतिः।

काशेयास्तु चतुर्विंशद् अष्टाविंशतिर्हैहयः॥[2]

नारद मनुस्मृति में भी **'चतुर्विंशद्'** शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[3] त्रिगर्त की एक प्राचीन वंशावली का पाठ है—**लक्ष्मीचन्द्रपूर्वतोऽभूत् पञ्चविंशत्तमो नृपः।** यह वंशावली श्री पं० भगवद्दत्तजी को ज्वालामुखी से प्राप्त हुई थी।[4]

वस्तुतः प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में **विंशति-विंशत्, त्रिंशति-त्रिंशत्, चत्वारिंशति-चत्वारिंशत्** आदि दो दो प्रकार के शब्द थे। **त्रिंशति** और **चत्वारिंशति** के निम्न प्रयोग दर्शनीय हैं।

द्वात्रिंशतिः। पार्जिटर द्वारा सं० कलिराजवंश, पृष्ठ १६, ३२।

रागाः षट्त्रिंशतिः। पञ्चतन्त्र ५। ५३। काशी संस्करण।

वर्णाः षट्त्रिंशतिः। पञ्चतन्त्र ५। ४१, पूर्णभद्रपाठ।[5]

वैमानिकगतिवैचित्र्याद्द्वात्रिंशतिक्रियायोगे ...... स्फोटायनाचार्यः। भारद्वाजीय विमानशास्त्र।[6]

शैली' पृष्ठ ४–१७। हम समस्त पाणिनीय तन्त्र की इस प्रकार की सोदाहरण वैज्ञानिक व्याख्या लिख रहे हैं।

१. विश्वलोकविजयविख्यातविंशद्बाहुशालिनि। नाटकचक्र पृष्ठ ३५६।

२. पार्जिटर सम्पादित कलिराजवंश पृष्ठ २३। पूना संस्करण का पाठ इस प्रकार है—कालकास्तु चतुर्विंशच्चतुर्विंशत्तु हैहयः। ६६। ३२२॥

३. चतुर्विंशत् समाख्यातं भूमेस्तु परिकल्पनम्। दिव्य प्रकरण श्लोक १३, पृष्ठ १६५।

४. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ १२० (द्वि० सं०)।

५. हार्वर्ड ओरियण्टल सीरिज में प्रकाशित।

६. शिल्प संसार १६ फरवरी १९५५ के अङ्क में पृष्ठ १२२ पर। अब इस

षट्त्रिंशति त्रयाणाम् । वराहगृह्य ६ । २९, लाहौर संस्क० ।

चत्वारिंशति सर्वेषाम् । वराहगृह्य ६ । २९ लाहौर संस्क० ।

संस्कृत भाषा के इन द्विविध प्रयोगों में से त्रिंशति चत्वारिंशति आदि 'ति' अन्त वाले शब्दों के अपभ्रंश अंग्रेजी आदि भाषाओं में **थर्टि फोर्टि फिफ्टि** आदि रूपों में व्यवहृत होते हैं ।

महाकवि भास के नाटकों को देखने से विदित होता है कि उसने पाणिनीय व्याकरण के नियमों का पूर्ण अनुसरण नहीं किया । अत एव महाराजाधिराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित[1] में भास के विषय में लिखा है—

अयं च नान्वयात् पूर्णं दाक्षिपुत्रपदक्रमम् ॥ ६ ॥

सम्भव है, भास अतिप्राचीन कवि हो और उसके समय में ये शब्द लोकभाषा में प्रयुक्त होते हों, अथवा उसने किसी प्राचीन व्याकरण के अनुसार इनका प्रयोग किया हो ।

१५—लौकिक संस्कृत के ऐसे अनेक प्रयोग हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध होते हैं, परन्तु पतञ्जलि के काल में उनका भाषा से प्रयोग लुप्त हो गया था । यथा—

प्रियाण्णौ प्रियाण्णः[2], **एनच्छ्रितकः**,[3] **कीः**[4] **ऊः**,[5] **कर्तृचा**

---

१. इस ग्रन्थ का कुछ अंश उपलब्ध हुआ है । वह गोंडल (काठियावाड़) में छपा है । इस ग्रन्थ से पाश्चात्य मतानुयायियों की अनेक कल्पनाओं का उन्मूलन हो जाता है । कई विद्वान् इसे जाल रचना बतलाते हैं । पं० भगवद्दत्तजी ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता भले प्रकार दर्शाई है । देखो, भारतवर्ष का इतिहास द्वितीय संस्क० पृष्ठ ३५३ । भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३४६ ।

२. महाभाष्य १ । १ । २४ ॥ प्रियाण्णौ, प्रियाण्णानौ; प्रियाण्णः, प्रियाण्णानः (उभयथापि दृश्यते) । हैम बृहद्वृत्ति २।१।७॥

३. महाभाष्य २।४।३४ ॥

४. महाभाष्य ६ । १ । ६८ ॥ हैम बृहद्वृत्ति २ । १ । ६० के कनकप्रभसूरि कृत न्याससार (लघुन्यास) तथा अमरचन्द्र विरचित अवचूर्णि में महाभाष्य

कर्तृ च, उत्पुट्, पर्यासिष्ठः, ह्रः ।

इन प्रयोगों के विषय में पतञ्जलि कहता है—**यथालक्षणमप्रयुक्ते** ।[5] यदि इस वचन का यह अर्थ माना जाय कि ये शब्द भाषा में कभी प्रयुक्त नहीं रहे, तो महाभाष्यकार के पूर्वोद्धृत '**सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते**' वचन से विरोध होगा। यदि ये शब्द महाभाष्यकार की दृष्टि में सर्वथा अप्रयुक्त होते तो पतञ्जलि यथालक्षण प्रयोगसिद्धि का विधान न करके '**अनभिधानान्न भवति**' कहता।[6]

१६—महाभारत आदि प्राचीन आर्ष वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं जो पाणिनीय व्याकरणानुसारी नहीं हैं। अर्वाचीन वैयाकरण '**छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति, छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति, आर्षत्वात् साधु**,' आदि कह कर प्रकारान्तर से उन्हें अपशब्द कहने की धृष्टता करते हैं,[7] यह उनका मिथ्या ज्ञान है। शब्दप्रयोग का विषय अत्यन्त महान्

---

१. महाभाष्य ६ । ४ । २ ॥ २. महाभाष्य ६ । ४ । १६ ॥

३. महाभाष्य ६ । ४ । १६३ ॥ ४. महाभाष्य ७ । २ । १०६ ॥

५. महाभाष्य १ । १ । २४ ॥ २ । ४ । ३४ ॥ ६ । १ । ६८, ८६ ॥ ६ । ४ । २, ११, १६३ ॥ ७ । २ । १०६ ॥

६. नहि यन्न दृश्यते तेन न भवितव्यम् । अन्यथा हि यथालक्षणमप्रयुक्तेऽवित्येतद् वचनमप्रयुज्यमानं स्यात् । कैयट भी कहता है—यस्य प्रयोगो नोपलभ्यते तल्लक्षणानुसारेण संस्कर्तव्यम् । प्रदीप २ । ४ । ३४ ॥

७. सखिना, पतिना, पतौ । अत्र हरदत्तः—छन्दोवदृषयः कुर्वन्तीति । अस्यायमाशयः—असाधव एवैते त्रिशङ्कुयाज्ययाजनादिवत् तपोमाहात्म्यशालिनां मुनिनामसाधुप्रयोगोऽपि नातीव बाधते । शब्दकौस्तुभ १ । ४ । ७ ॥ इतिहासपुराणेषु अपशब्दा अपि संभवन्ति । पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७ ॥ निरङ्कुशा हि कवयः पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४६० । स्वच्छन्दमनुवर्तन्ते न शास्त्रमृषयः । पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ६६८ । कथं भाषायां वैन्यो राजेति ? छान्दस एवायं प्रमादात् कविभिः प्रयुक्तः । काशिका ४।१।१५१॥ निरुक्त १।१६ में पठित 'पारोवर्यवित्' शब्द को कैयट, हरदत्त और भट्टोजि दीक्षित प्रभृति सभी नवीन वैयाकरण असाधु=अपशब्द कहते हैं। द्रष्टव्य अष्टा० ५।२।१० का महाभाष्य-प्रदीप, पदमञ्जरी, सि० कौमुदी । वेदप्रस्थानाभ्यासेन हि वल्मीकिद्वैपायनप्रभृतिभिः तथैव स्ववाक्यानि प्रणीतानि ।

है, अतः किसी प्रयोग को केवल अपाणिनीयता की वर्तमान परिभाषा के अनुसार अपशब्द नहीं कह सकते। महाभारत में प्रयुक्त अपाणिनीय प्रयोगों के विषय में १२ वीं शताब्दी से पूर्वभावी देवबोध महाभारत की ज्ञानदीपिका टीका के आरम्भ में लिखता है—

न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।

अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं न हि विद्यते॥ ७॥

यान्युज्जहार माहेन्द्राद्[1] व्यासो व्याकरणार्णवात्।

पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥ ८॥

भगवान् वेदव्यास का संस्कृतभाषा का ज्ञान अत्यन्त विस्तृत था। वायुपुराण १। १८ में लिखा है—**भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी।**

सोलहवीं शताब्दी के प्रक्रियासर्वस्व के कर्ता नारायण भट्ट ने अपनी 'अपाणिनीयप्रामाणिकता' नामक पुस्तक में इस विषय पर भले प्रकार विचार किया है। यह पुस्तक ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित हुई है।[2]

१७—हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसके विपरीत पाश्चात्य भाषामतवादियों का कहना है कि पाणिनि के पश्चात् संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन हुए उन को दर्शाने के लिये कात्यायन ने अपना वार्तिकपाठ रचा और तदनन्तरभावी परिवर्तनों का निर्देश पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में किया है। हम पाश्चात्य विद्वानों के इस कथन की निस्सारता दर्शाने के लिये यहां एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

पाणिनि का एक सूत्र है—**चक्षिङः ख्याञ्।**[3] इस पर कात्यायन ने वार्तिक पढ़ा है—**चक्षिङः क्शाङ्ख्याञौ।**[4] अर्थात् ख्याञ् के साथ

---

१. कई लोग इस श्लोक में 'माहेन्द्रात्' के स्थान में 'माहेशात्' पद पढ़ते हैं। यह श्लोक देवबोधविरचित है, और उस का पाठ 'माहेन्द्रात्' ही है। माहेश पाठ और माहेश व्याकरण के लिये 'मञ्जूषा' पत्रिका (कलकत्ता) वर्ष ५ अङ्क ८ द्रष्टव्य है। पुरुषोत्तमदेव ने परिभाषावृत्ति में 'समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे' इत्यादि श्लोकान्तर उद्धृत किया है। द्र० पृष्ठ १२६, वारेन्द्ररिसर्च सोसाइटी संस्क०।

२. इस का हम नया संस्करण शीघ्र प्रकाशित करेंगे।

होता था, परन्तु कात्यायन के समय क्शाञ् का भी प्रयोग होने लग गया, अत एव उस ने ख्याञ् के साथ क्शाञ् आदेश का भी विधान किया।

हमें पाश्चात्य विद्वानों की ऐसी ऊटपटांग, प्रमाणशून्य कल्पनाओं पर हंसी आती है। उपर्युक्त वार्तिक के आधार पर क्शाञ् को पाणिनि के पश्चात् प्रयुक्त हुआ मानना सर्वथा मिथ्या है। पाणिनि द्वारा स्मृत आचार्य गार्ग्य क्शाञ् के प्रयोग से अभिज्ञ था। वर्णरत्नदीपिका शिक्षा का रचयिता अमरेश लिखा है—

ख्याधातोः खययोः स्यातां कशौ गार्ग्यमते यथा।

चिक्श्याऽऽक्शाताम् इत्येतत्..............॥[1]

इस गार्ग्यमत का निर्देश आचार्य कात्यायन ने वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।१६७ के "**ख्यातेः खयौ, कशौ गार्ग्यः, सकख्योकख्यमुक्ख्यवर्जम्**" सूत्र में किया है। आचार्य शौनक ने भी ऋक्प्रातिशाख्य ६।५५,५६ में 'क्शा' धातु के 'क-श' के स्थान पर कई आचार्यों के मत में 'ख्य' का विधान किया है।[2]

इतना ही नहीं, पाणिनि से पूर्व प्रोक्त और अद्य यावत् वर्तमान मैत्रायणीय संहिता में "**ख्या**" धातु के प्रसङ्ग में सर्वत्र "**क्शा**" के प्रयोग मिलते हैं।[3] काठक संहिता में भी कहीं कहीं "**क्शा**" के प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[4] शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य का भाष्यकार उव्वट स्पष्ट लिखता है—**ख्यातेः क्सापत्तिरुक्ता, एते चरकाणाम्**।[5] ऐसी अवस्था में यह कहना कि पाणिनि के समय क्शा का प्रयोग विद्यमान नहीं था, अपना अज्ञान प्रदर्शित करना है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि क्शा धातु का प्रयोग पाणिनि के समय विद्यमान था, तो उसने उसका निर्देश क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह

---

१. श्लोक १६५। शिक्षासंग्रह काशी संस्क०।

२. क्शा।तौ खकारयकारा उ एके। तावेव ख्यातिसदृशेषु नामसु।

३, अन्वग्निरुषसामग्रमक्शत्। मै० सं० १।८।६ इत्यादि।

४. नक्तमग्निरुपस्थेयः पशूनामनुक्शात्यै। काठक सं० ७।१०॥

५. वाज० प्राति० ४।१६७॥

है कि पाणिनि ने प्राचीन विस्तृत व्याकरणशास्त्र का संक्षेप किया है यह हम पूर्व कह चुके हैं। इसलिये उसे कई नियम छोड़ने पड़े।[1] दूसरा कारण यह है कि पाणिनि उत्तरदेश का निवासी था। अतः उसके व्याकरण में वहीं के शब्दों का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। **कशाङ्** का प्रयोग दक्षिणापथ में होता था। मैत्रायणीय संहिता का प्रचारक्षेत्र आज भी वही है। वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य था।[2] वह कशाङ् के प्रयोग से विशेष परिचित था। इसलिये उसने पाणिनि से छोड़े गये कशाङ् धातु का सन्निवेश और कर दिया। हमारी इस विवेचना से स्पष्ट है कि कशाङ् का प्रयोग पाणिनि से पूर्व विद्यमान था। अतः कात्यायनीय वार्तिकों वा पातञ्जल महाभाष्य के किन्हीं वचनों के आधार पर यह कल्पना करना कि पाणिनि के समय यह प्रयोग नहीं होता था, पीछे से परिवर्तित होकर इस प्रकार प्रयुक्त होने लगा, सर्वथा मिथ्या है।

१८—पूर्वमीमांसा (१।३।१०) के पिकनेमाधिकरण में विचार किया है कि वैदिक ग्रन्थों में कुछ शब्द ऐसे प्रयुक्त हैं जिन का आर्य लोग प्रयोग नहीं करते, किन्तु म्लेच्छभाषा में उनका प्रयोग होता है। ऐसे शब्दों का म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ स्वीकार करना चाहिये अथवा निरुक्त व्याकरण आदि से उन के अर्थों की कल्पना करनी चाहिये। इस विषय में सिद्धान्त कहा है—**वैदिक ग्रन्थों में उपलभ्यमान शब्दों का यदि आर्यों में प्रयोग न हो तो उनका म्लेच्छप्रसिद्ध अर्थ स्वीकार कर लेना चाहिये।**

मीमांसा के इस अधिकरण से स्पष्ट है कि वैदिक ग्रन्थों में अनेक पद ऐसे प्रयुक्त हैं जिनका प्रयोग जैमिनि के काल में लौकिक संस्कृत से लुप्त हो गया था, परन्तु म्लेच्छभाषा में उनका प्रयोग विद्यमान था। शबरस्वामी ने इस अधिकरण में 'पिक, नेम, अर्ध, तामरस' शब्द उदाहरण माने हैं। शबरस्वामी इन शब्दों के जिन अर्थों को म्लेच्छप्रसिद्ध मानता है उन्हीं अर्थों में इनका प्रयोग उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता हैं। अतः प्रतीत होता है कि कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्राचीन काल में आर्यभाषा में प्रयोग होता था, कालान्तर में उनका आर्यभाषा से उच्छेद

१· देखो पूर्व पृष्ठ ३२, ३३, सन्दर्भ ८।

२. प्रियतद्धिता द दाक्षिणात्याः—यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिक-

आपिशलि **'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु च्छन्दसि'**[1] सूत्र में **'छन्दः'** ग्रहण करता है, अतः उसके काल में **'तवीति'** आदि पद लोक में प्रयुक्त नहीं थे। परन्तु उससे उत्तरवर्ती पाणिनि 'छन्द' ग्रहण नहीं करता। इससे स्पष्ट है कि उस के काल में इन पदों का लोकभाषा में प्रयोग होता था।[2]

मीमांसा के इस अधिकरण के आधार पर पाश्चात्य तथा तदनुयायी कतिपय भारतीय विद्वान् लिखते हैं कि वेद में विदेशी भाषाओं के अनेक शब्द सम्मिलित हैं। उन का यह कथन सर्वथा कल्पना-प्रसूत है। यह हमारे अगले विवेचन से भले प्रकार स्पष्ट हो जायगा।

लौकिक संस्कृत ग्रन्थों में अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों का वर्तमान भाषाओं में प्रयोग

आज कल लोक में अनेक शब्द ऐसे व्यवहृत होते हैं जो शब्द और अर्थ की दृष्टि से विशुद्ध संस्कृत भाषा के हैं, परन्तु उनका संस्कृत भाषा में प्रयोग उपलब्ध न होने से अपभ्रंश भाषाओं के समझे जाते हैं। यथा—

१—फारसी भाषा में पवित्र अर्थ में **'पाक'** शब्द का व्यवहार होता है। परन्तु उसका पवित्र अर्थ में प्रयोग वेद के **'यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः'**[3] आदि अनेक मन्त्रों में मिलता है।[4]

२—हिन्दी में प्रयुक्त 'घर' शब्द संस्कृत गृहशब्द का अपभ्रंश माना जाता है, परन्तु है यह विशुद्ध संस्कृत शब्द। दशापादी-उणादि में इस के

---

१. काशिका ७।३।९५॥

२. काशकृत्स्न के 'ब्रूञादेरी तिसिमिपु' सूत्रानुसार 'ब्रवीति' के समान 'स्तवीति' 'ऊर्णोति' आदि प्रयोग भी लोक व्यवहृत हैं। द्रष्टव्य 'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र' पुस्तिका, अथवा 'साहित्य' (पटना) का वर्ष १०, अङ्क २, पृष्ठ २६, सूत्र संख्या ७१।

३. ऋग्वेद ७।१०४।८; अथर्व ८।४।८॥

४. योऽस्मत्पाकतर इत्यत्राल्पे, तं मा पाकेन मनसाऽपश्यन् इति यो मा पाकेन मनसा चरन्तम् इति च प्रशंसायाम्। गार्ग्यनारायण आश्व० गृह्य १।२॥ प्रशंसा अर्थ लाक्षणिक है। मूल अर्थ पवित्र ही है।

भास के नाटकों की प्राकृत में भी इसका प्रयोग मिलता है।[3]

संस्कृत के 'घर' शब्द का रूपान्तर प्राकृत में 'हर' होता है। यथा **'पईहर-पइहर'** (द्र० हैम प्रा० व्या० १।१।४ वृत्ति)। इसी प्रकार मारवाड़ी के **'पीहर'** शब्द का मूल भी **'पितृघर'** है ('तृ' लोप होकर)। इन रूपों में गृह का हर रूपान्तर मानना चिन्त्य है, क्योंकि भाषाविज्ञान के उत्सर्ग नियम के अनुसार 'घ' का 'ह' होना सरल है, **गृह** का घर अथवा **हर** रूपान्तर अतिक्लिष्ट कल्पना है।

३—युद्ध अर्थ में प्रयुक्त फारसी का **'जङ्ग'** शब्द संस्कृत की **'जजि युद्धे'** धातु का घञ्-प्रत्ययान्त रूप है। यह **'चजोः कुः घिण्ण्यतोः'**[4] सूत्र से कुत्व होकर निष्पन्न होता है। यथा भज् से भाग। मैत्रेयरक्षित-विरचित धातुप्रदीप पृष्ठ २५ में इस शब्द का साक्षात् निर्देश मिलता है।

४—फारसी में प्रयुक्त **वाज** शब्द **वज व्रज गतौ** धातु का अण्-प्रत्ययान्त रूप है। **बवयोरभेदः** यह प्रसिद्धि भारतीय शास्त्रज्ञों में भी विद्यमान है। तदनुसार **वाज=बाज** दोनों एक ही हैं।

५—पञ्जाबी भाषा में बरात अर्थ में व्यवहृत **'जञ्ज'** शब्द भी पूर्वोक्त 'जजि' धातु का घञन्तरूप है। प्राचीन काल में स्वयंवर के अवसर पर प्रायः युद्ध होते थे, अतः जञ्ज शब्द में मूल युद्ध अर्थ निहित है। इस शब्द में निपातन से कुत्व नहीं होता। यह पाणिनि के उञ्छादिगण[5] में पठित है। भट्ट यज्ञेश्वर ने गणरत्नावली में जञ्ज का अर्थ युद्ध किया है।[6] उसमें थोड़ी भूल है। वस्तुतः जङ्ग और जञ्ज शब्द क्रमशः युद्ध और बरात के वाचक हैं। संस्कृत **गर गल, ग्रह ग्लह** आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो समान धातु और समान प्रत्यय से निष्पन्न होने पर भी वर्णमात्र के भेद से अर्थान्तर के वाचक होते हैं।

६—हिन्दी में **'गुड़ का क्या भाव है'** इत्यादि में प्रयुक्त **'भाव'** शब्द शुद्ध संस्कृत का है। यह **'भू प्राप्तावात्मनेपदी'** चौरादिक धातु से अच्

---

१. हन्तेः रन् घ च। द० उणा० ८।१०४॥ क्षीरतरङ्गिणी १०।६८ में दुर्ग के मत में 'घर' स्वतन्त्र धातु मानी है।

२. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृष्ठ १३. ३२॥

३. यज्ञफलनाटक पृष्ठ १६३॥

४. अष्टा० ७।३।५२॥

[illegible] ६. ६।१।१६०। हमारा स्तलेख पृष्ठ ३५५॥

(पक्षान्तर में घञ्) प्रत्यय से निष्पन्न होता है। सत्तार्थक भाव शब्द इससे पृथक् है, वह '**भू सत्तायाम्**' धातु से बनता है।

७—हिन्दी में प्रयुक्त '**मानता है**' क्रिया की '**मान**' धातु का प्रयोग जैन संस्कृत ग्रन्थों में बहुधा उपलब्ध होता है।[१]

८ हिन्दी की '**ढूंढना**' क्रिया का मूल धातु **ढुढि अन्वेषणे-ढुण्ढति** काशकृत्स्न धातुपाठ में उपलब्ध होता है।[२] स्कन्द पुराण काशीखण्ड में भी यह धातु स्मृत है।[३]

इसी प्रकार कई धातुएं ऐसी हैं जिन का लौकिक संस्कृत भाषा में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता, परन्तु अपभ्रंश भाषाओं में उपलब्ध होता है। यथा—

९ - संस्कृत भाषा में सार्वधातुक प्रत्ययों में 'गच्छ' और आर्धधातुक प्रत्ययों में '**गम**' का प्रयोग मिलता है। वैयाकरण गम के मकार को सार्वधातुक प्रत्यय परे रहने पर छकारादेश का विधान करते हैं।[४] वस्तुतः यह ठीक नहीं है। गच्छ और गम दोनों स्वतन्त्र धातुएं हैं। यद्यपि लौकिक संस्कृत में गच्छ के आर्धधातुप्रत्ययपरक प्रयोग नहीं मिलते। तथापि पालि भाषा में '**गच्छिस्सन्ति**' आदि, मण्डीराज्य (पूर्वी पञ्जाब) की पहाड़ी भाषा में '**कुदर गच्छणा**' तथा पश्चिमी पञ्जाब की झेहलम के आस पास की बोली में "**कुद्र गच्छणा वोय**" और "**इदुर आगच्छणा वोय**" प्रयोग होता है। ये संस्कृत के **गच्छिष्यन्ति** तथा '**कुत्र गच्छनम्**' का अपभ्रंश हैं, **गमिष्यन्ति** और '**कुत्र गमनम्**' का नहीं। इसी प्रकार गम धातु के सार्व-धातुक प्रत्यय परे रहने पर '**गमति**' आदि प्रयोग वेद में बहुधा उपलब्ध होते हैं। पाणिनि ने जहां-जहां **पा घ्रा** आदि के स्थान में **पिब जिघ्र** आदि का आदेश किया है वहां-वहां सर्वत्र उन्हें स्वतन्त्र धातु समझना चाहिये। समानार्थक दो धातुओं में से एक का सार्वधातुक में प्रयोग नष्ट हो गया, दूसरी का आर्धधातुक में। वैयाकरणों ने नष्टाश्वदग्धरथन्याय से दोनों को एक साथ जोड़ दिया।

---

१. पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृष्ठ १३, ३०, ५१, १०३ इत्यादि। प्रबन्धकोश

हैं। हम स्पष्टीकरण के लिए कतिपय प्रयोग उपस्थित करते हैं। यथा—

क—**घ्रा** धातु के सार्वधातुक प्रत्यय से परे आदेशरूप में विहित **जिघ्र** के आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग—

मूर्धन्यभिजिघ्रणम्। गोभिल गृह्य २।८।२४॥[1]

वर्चसे हुम् इति अभिजिघ्रन्य। हिरण्य० गृह्य २।४।२७॥[2]

ख—**घ्रा** का सार्वधातुक प्रत्ययों में प्रयोग—

न पश्यति न चाघ्राति। महा० शान्ति १८७।१७॥ एवं बहुत्र।

ग—**ध्मा** स्थानीय **धम** के आर्धधातुक में प्रयोग—

विधमिष्यामि जीमूतान्। रामा० सुन्दर ६७।१२॥

धान्तो धातुः पावकस्यैव राशिः।[3]

घ—**ब्रूञ्** धातु के आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग—

ब्राह्मणो ब्रवणात्। निरुक्त १।६।[4]

ङ—**यज** के कित् ङित् प्रत्ययों में सम्प्रसारण द्वारा विहित **इज्** रूप का **इज्यन्ति** प्रयोग महा० शान्ति २६३।२९ में॥

---

१. 'अभिजिघ्राणम्' पाठान्तर। गृह्यकारेण 'मूर्धन्यभिघ्राणम्' इति वक्तव्ये 'मूर्धन्यभिजिघ्राणम्' इत्यविषयेऽपि जिघ्रादेशः प्रयुक्तः। तन्त्रवार्तिक १।३, अधि० ८, पृष्ठ २५८, पूना संस्क०।

२. अभिघ्रायेति वाच्ये अभिजिघ्रयेति वचनं······प्रमादपाठो वा। हि० गृह्य टीकाकार मातृदत्त।

३. क्षीरतरङ्गिणी १।६५६, दशपादी वृत्ति ३।५, हैमोणादिवृत्ति ३३ में उद्धृत (कुछ पाठान्तर हैं)। धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके। क्षीरतरङ्गिणी १।६५६॥

४. निरुक्त का वर्तमान पाठ 'ब्राह्मणा···ब्रुवाणाः' है। उपर्युक्त पाठ कुमारिल द्वारा उद्धृत है। यथा—कार्त्स्न्येऽपि व्याकरणस्य निरुक्ते हीनलक्षणा यद्वा यद्-ब्राह्मणो ब्रवणादिति।······ब्रुवो वचिरिति वच्यादेशमकृत्वैव ब्रवणादित्युक्तम्। तन्त्र-वा० १।३, अधि० ८, पृष्ठ २५८, पूना।

इसी प्रकार **वस** के उष रूप का उष्य प्रयोग महा० ग्रन्थ० में बहुत मिलता है।

च—**ग्रह** का सम्प्रसारण और भकारादेश होकर निष्पन्न **गृभ** का **गर्भो गृभेः** निरुक्त १० । १३ में प्रयोग है ॥

छ—**वच** को लुङ् में **उम्** आगम होकर निष्पन्न **वोच** के **वोचति** आदि रूप वेद में बहुधा मिलते हैं।

१०—विक्रम की १३ वीं शताब्दी से पूर्वभावी वैयाकरण '**कृञ्**' धातु को भ्वादि में पढ़ते हैं,[1] किन्तु इसके भौवादिक प्रयोग लौकिक संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। प्राकृत भाषा में प्रायः प्रयुक्त होते हैं।[2] हिन्दी में भी उसका अपभ्रंश 'करता' शब्द का प्रयोग होता है।

११—धातुपाठ में '**हन**' धातु का अर्थ गति और हिंसा लिखा है। लौकिक संस्कृत वाङ्मय में इसका गत्यर्थ में प्रयोग नहीं मिलता।[3] किन्तु हिसार जिले की ग्रामीण भाषा के '**कठे हणसे**' आदि वाक्यों में इस के अपभ्रंश का प्रयोग पाया जाता है।

---

१. क्षीरतरङ्गिणी १ । ६३६ पृष्ठ १३०, हैमधातुपारायण, शाकटायन धातुपाठ संख्या ५७७, दैवपुरुषकार पृष्ठ २८, दशपादी-उणादिवृत्ति पृष्ठ १७, ५२ इत्यादि। भ्वादिगण से कृञ् धातु का पाठ सायण ने हटाया है। वह लिखता है "अनेन प्रकारेणास्माभिर्धातुवृत्तावयं धातुर्निराकृतः।" ऋग्वेदभाष्य १ । ८२ । १ ॥ तथा धातुवृत्ति पृष्ठ १६३। भट्टोजि दीक्षित ने सायण का ही अनुसरण किया है। सायण ऋग्वेदभाष्य में अन्यत्र कृञ् को भ्वादि में मानता है—"कृञ् करणे भौवादिकः।" १ । २३ । ६ ॥ पाणिनि ने कृञ् धातु भ्वादिगण में पढ़ा था। तनादिगण में कृञ् का पाठ अपाणिनीय है। 'उ'-प्रत्यय अष्टाध्यायी ३ । १ । ६६ के विशेष विधान से होता है। इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्भाष्य ३ । ५८ में लिखा है—'डुकृञ् करणे इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गतपाठात् शब्विकरणोऽत्र गृह्यते, तनादिभिः सहपाठाद् उविकरणोऽपि'। विशेष द्रष्टव्य अस्मत्सम्पादित क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ १३०, २६३।

२. अणुकरेदि (अनुकरति), भासनाटकचक्र पृष्ठ २१८। करअन्तो (करन्तः =कुर्वन्तः) भासनाटकचक्र पृष्ठ ३३६।

३. धातुप्रदीप के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने गत्यर्थ हन धातु का एक प्रयोग

में नहीं मिलता। प्राकृत में इस के अपभ्रंश 'रक्ख' धातु का प्रयोग प्रायः उपलब्ध होता है। हिन्दी की 'रख' क्रिया प्राकृत की 'रक्ख' का अपभ्रंश है। अतः संस्कृत की 'रक्ष' धातु का मूल अर्थ 'रक्षा करना' और 'रखना' दोनों हैं।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा किसी समय अत्यन्त विस्तृत थी। उसका प्रभाव संसार की समस्त भाषाओं पर पड़ा। बहुत से शब्द अपभ्रंश भाषाओं में अभी तक मूल रूप और मूल अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कुछ अल्प विकार को प्राप्त हो गये, कुछ इतने अधिक विकृत हुए कि उनके मूल स्वरूप का निर्धारण करना भी इस समय असम्भव होगया। अतः अपभ्रंश भाषाओं में प्रयुक्त वा तत्सम शब्द का संस्कृत के किसी प्राचीन ग्रन्थ में व्यवहार देख कर यह कल्पना करना नितान्त अनुचित है कि यह शब्द किसी अपभ्रंश भाषा से लिया गया है। यदि संसार की मुख्य मुख्य भाषाओं का इस दृष्टि से अध्ययन और आलोडन किया जाय तो उनसे संस्कृत के सहस्रों लुप्त शब्दों का ज्ञान हो सकता है और उससे सब भाषाओं का संस्कृत से सम्बन्ध भी स्पष्ट ज्ञात हो सकता है।

नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत की संस्कृत छाया

यदि उपर्युक्त दृष्टि से संस्कृतनाटकान्तर्गत प्राकृत का अध्ययन किया जाय तो उससे निम्न दो बातें अत्यन्त स्पष्ट होती हैं—

१—प्राकृत के आधार पर संस्कृत के शतशः विलुप्त शब्दों का पुनरुद्धार हो सकता है।

स्वर्गं हन्तासि सुव्रत ॥" धातुप्रदीप पृष्ठ ७६, टि० २। सम्भव है यहां 'हन्तासि' के स्थान में 'गन्तासि' पाठ हो। साहित्य-विशारदों ने गत्यर्थक हन्ति के प्रयोग को दोष माना है। "तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्ति गतिवाचिनम्" । भामहालङ्कार ६। २४ ॥ तथा—"कुञ्जं हन्ति कृशोदरी। अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम्।" साहित्य-दर्पण परि० ७, पृष्ठ ३६६ निर्णयसा० संस्क०; काव्यप्रकाश उल्लास ७। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में लिखा है—"गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते"। इससे स्पष्ट है कि बहुत काल से आर्य गम के अतिरिक्त अन्य गत्यर्थक धातु का प्रयोग नहीं करते।

२—नाटकान्तर्गत प्राकृत की जो संस्कृत छाया इस समय उपलब्ध होती है वह अनेक स्थानों में प्राकृत से अति दूर है। आधुनिक पण्डित प्राकृत से प्रतीयमान संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने में हिचकिचाते हैं, अतः उन स्थानों में प्राकृत से असम्बद्ध संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं। हम उदाहरणार्थ भास के नाटकों से कुछ प्रयोग उपस्थित करते हैं—

प्राकृत	मुद्रित संस्कृत	मूल संस्कृत	नाटकचक्र पृष्ठ
अणुकरेदि	अनुकरोति	अनुकरति	२१८
करअन्तः	कुर्वन्तः	करन्तः	३३६
पेक्खामि	पश्यामि	प्रेक्षामि	३३६
पेक्खन्ती	पश्यन्ती	प्रेक्षन्ती	३५७
रोदामि	रोदिमि	रोदामि	१६८
चञ्चलाअन्ति विअ मे अक्खीणि	चञ्चलायेते इव मेऽक्षिणी	चञ्चलायन्ति इव मेऽक्षीणि	१९२

इस प्रकार हमने इस अध्याय में भारतीय इतिहास के अनुसार संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति और उसके विकास तथा ह्रास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। आधुनिक कल्पित भाषाशास्त्र का अधूरापन और उस से उत्पन्न होने वाली भ्रान्तियों का भी कुछ दिग्दर्शन कराया है। आधुनिक भाषाशास्त्र की समीक्षा[1] एक महान् कार्य है, उसके लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। अतः हमने यहां उसकी विस्तार से विवेचना नहीं की। इसी प्रकार संस्कृत भाषा समस्त भाषाओं की प्रकृति है, उसी से समस्त अपभ्रंश भाषाएं प्रवृत्त हुई हैं। इसकी विवेचना करना भी एक स्वतन्त्र विषय है।

हमारे इस प्रकरण को लिखने का मुख्य प्रयोजन यह दर्शाना है कि संस्कृत भाषा में आदि से लेकर आज तक कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। आधुनिक पाश्चात्य भाषाशास्त्री संस्कृत भाषा में जो परिवर्तन दर्शाते हैं, वह परिवर्तन नहीं है। वह केवल प्राचीन अतिविस्तृत संस्कृत भाषा में उत्तरोत्तर शब्दों के संकोच=ह्रास के कारण प्रतीत होता है। वस्तुतः उसमें

परिवर्तन कुछ भी नहीं हुआ। इसी प्रकार आधुनिक भाषाशास्त्र के आधार पर की गई संस्कृत वाङ्मय के कालविभाग की कल्पना भी सर्वथा प्रमाण-शून्य है। भारतीय इतिहास में अनेक ऋषि ऐसे हैं जिन्होंने वेदों की शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, आयुर्वेद और व्याकरण आदि अनेक विषयों का प्रवचन किया। इन ग्रन्थों में जो भाषाभेद आपाततः प्रतीत होता है वह रचनाशैली और विषय की विभिन्नता के कारण है। यह बात प्रत्यात्मवेदनीय है। अतः संस्कृत वाङ्मय में कालविभाग और संस्कृत भाषा में परिवर्तन ये दोनों ही पक्ष उपपन्न नहीं हो सकते।

अब हम अगले अध्याय में संस्कृत भाषा के व्याकरण की उत्पत्ति और इसकी प्राचीनता पर लिखेंगे।

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति और प्राचीनता

ब्रह्मा से लेकर दयानन्द सरस्वती[1] पर्यन्त समस्त भारतीय विद्व
का मत रहा है कि संसार में जितना ज्ञान प्रवृत्त हुआ उस सब का अ
मूल वेद है। अत एव स्वायंभुव मनु ने वेद को **सर्वज्ञानमय** कहा है
मनु आदि महर्षि उसी ज्ञान से संसार को प्रकाश दे रहे थे, अतः वे
क्यों न कहते।

व्याकरण का आदिमूल

इस सिद्धान्तानुसार व्याकरणशास्त्र का आदि मूल भी वेद है। वै
मन्त्रों में अनेक पदों की व्युत्पत्तियां उपलब्ध होती हैं। वे इस सिद्ध
की पोषक हैं। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त[3] देवाः । ऋ० १ । १६४ । ५० ॥
ये सहांसि सहसा सहन्ते[4] । ऋ० ६ । ६६ । ९ ॥
पूर्वीरश्नन्तावश्विना[5] । ऋ० ८ । ५ । ३१ ॥
स्तोतृभ्यो मंहते मघम्[6] । ऋ० १ । ११ । ३ ॥
धान्यमसि धिनुहि[7] देवान् । यजु० १ । २० ॥

---

1. We may divide the whole of Sanskrit lite
ture, beginning with the Rig-Veda ending with Da
ananda's Introduction to his edition of the Rig-Ve

India what can it teach us, Lecture III of M
mular.

२. सर्वज्ञानमयो हि सः । मनु० २ । ७ । मेधातिथि की टीका ॥

३. यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः । निरु० ३ । १
यजयाच्यतविच्छप्रच्छरक्षोऽनङ् । अष्टा० ३ । ३ । ९० ॥

४. सहधातोः 'असुन्' (द० उ० ९ । ४९ ॥ पं० उ० ४।१९४) इत्यु

५. अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वम् । निरु० १२ । १ ।

६. मघमिति धननामधेयम्, मंहतेर्दानकर्मणः । निरु० १ । ७ ॥

७. धिनोतेर्धान्यम् । महाभाष्य ५ । २ । ४ ॥

केतपूः केतं नः पुनातु[1]। यजु० ११।७॥

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते[2] सदा। साम० उ०

तीर्थैस्तरन्ति[3]। अथर्व० १८।४।७॥

यददः संप्रयतीरहावनदता[4] हते। तस्मादा नद्यो नाम स्थ।
अथर्व० ३।१३।१॥

तदाप्नो[5]दिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठन। अथर्व० ३।१३।२॥

शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य पतञ्जलि मुनि ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का वर्णन करते हुए चत्वारि शृङ्गा,[6] चत्वारि वाक्,[7] उत त्वः,[8] सक्तुमिव,[9] सुदेवोऽसि[10] ये पांच मन्त्र उद्धृत किये हैं,[11] और उनकी व्याख्या व्याकरण-शास्त्रपरक की है। पतञ्जलि से बहुत प्राचीन यास्क ने भी चत्वारि वाक्[12] मन्त्र की व्याख्या व्याकरण-शास्त्रपरक लिखी है।[13] व्याकरण पद जिस धातु से निष्पन्न होता है उसका मूल-अर्थ में प्रयोग यजुर्वेद १९। ७७ में उपलब्धहोता है।[14]

व्याकरण-शास्त्र की उत्पत्ति

व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति कब हुई इसका उत्तर अत्यन्त दुष्कर है। हां, इतना कहा जा सकता है कि उपलब्ध वैदिक पदपाठों (३२०० वि० पू०) की रचना से पूर्व व्याकरण-शास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। प्रकृति-

---

१. केतूपपदात् पुनातेः 'क्विब्वचि' च' (अष्टा० ३।२।७६) इति क्विप्।

२. पवित्रं पुनातेः। निरु० ५।६॥ पुनाते ष्ट्रन्। द्र० अष्टा० ३।२।१८५, १८६॥

३. पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्। पं० उणादि २.७॥

४. नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः। निरु० २।२४॥

५. आप आप्नोतेः। निरु० ६।२६। आप्नोतेर्ह्रस्वश्च। पं० उ० २।५८॥

६. ऋ० ४।५८।३॥ ७. ऋ० १।१६४।४५॥

८. ऋ० १०।७१।४॥ ९. ऋ० १०।७१।२॥

१०. ऋ० ८।६९।१२॥ ११. माहाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥

१२. ऋ० १।१६४।४५॥

१३. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। निरु० १३।२।

अव्यय,[1] धातु-उपसर्ग,[2] और समासघटित पूर्वोत्तरपदों[3] का विभाग पूर्णतया निर्धारित हो चुका था। वाल्मीकीय रामायण से विदत होता है कि महाराज राम के काल में व्याकरणशास्त्र का सुव्यवस्थित पठनपाठन होता था।[4] भारत-युद्ध के समकालिक यास्कीय निरुक्त में व्याकरणप्रवक्ता अनेक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है।[5] समस्त[6] नाम शब्दों की धातुओं से निष्पत्ति दर्शाने वाला मूर्धाभिषिक्त शाकटायन व्याकरण भी यास्क से पूर्व बन चुका था।[7] महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के लेखानुसार अत्यन्त पुराकाल में व्याकरण-शास्त्र का पठनपाठन प्रचलित था।[8] इन प्रमाणों से इतना सुव्यक्त है कि व्याकरणशास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में हो गई थी। हमारा विचार है त्रेता युग के आरम्भ में व्याकरणशास्त्र ग्रन्थ रूप में सुव्यवस्थित हो चुका था।

व्याकरण शब्द की प्राचीनता

शब्दशास्त्र के लिये व्याकरण शब्द का प्रयोग रामायण,[9] गोपथ

---

१. वाजिनीऽवती। ऋ० पद० १। ३। १०॥ अस्तऽभिः। ऋ० पद० १। ८। ४। महिऽत्वम्। ऋ० पद० १। ८। ५॥

२. सम्ऽजग्मानः। ऋ० पद० १। ६। ७॥ प्रऽतिरन्ते। ऋ० पद० १। ११३। १६। प्रतिऽहर्यते। ऋ० पद ८। ४३। २॥

३. रुद्रवर्तनी इति रुद्रऽवर्तनी। ऋ० पद० १। ३। ३। पतिऽलोकम्। ऋ० पद० १०। ८५। ४३॥

४. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किञ्चिद-पभाषितम्॥ किष्किन्धा० ३। २६॥ हनुमान् का इतना वाक्पटु होना युक्त ही था, क्योंकि हनुमान् का पिता वायु शब्दशास्त्र विशारद था (वायु पुराण २।४४।)

५. न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरु० १। १२॥

६. अनुशाकटायनं वैयाकरणाः, उपशाकटायनं वैयाकरणाः। काशिका १।४। ८६, ८७।

७. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरु० १। १२॥

८. पुराकल्प एतदासीत्, संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। म० भाष्य अ० १, पा० १, आ० १।

ण,[1] मुण्डकोपनिषद्[2] और महाभारत[3] आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

षडङ्ग शब्द से व्याकरण का निर्देश

शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, कल्प और ज्योतिष इन ६ वेदाङ्गों का ङ्ग शब्द से निर्देश गोपथ ब्राह्मण[4], बौधायन आदि धर्मशास्त्र[5] और यण[6] आदि में प्रायः मिलता है। पतञ्जलि मुनि ने भी **ब्राह्मणेन ारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च** यह आगमवचन[7] उद्धृत है।[8] सम्प्रति उपलभ्यमान ब्राह्मणों से भी अति प्राचीन देवल ने रण की षडङ्गों में गणना की है।[9] ब्राह्मण ग्रन्थों में षडङ्ग शब्द से आत्मा का भी ग्रहण होता है।[10]

व्याकरणान्तर्गत कतिपय संज्ञाओं की प्राचीनता

इस प्रकार न केवल व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता सिद्ध होती है, अपितु नीयतन्त्र में स्मृत अनेक अन्वर्थ संज्ञाएं भी अति प्राचीन प्रतीत होती उन में से कुछ संज्ञाओं का निर्देश गोपथ ब्राह्मण में मिलता है। यथा—

ओङ्कारं पृच्छामः, को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातम्, लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वर उपसर्गो

---

१. गो० ब्रा० पू० १ । २४ ॥ २. मुण्डको० १ । १ ॥

३. सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते । तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति । महाभारत उद्योग० ४३ । ६१ ॥

. षडङ्गविदस्तत् तथाधीमहे । गो० ब्रा० पू० १ । २७ ॥

५. बौधा० धर्म० २ । १४ । २ ॥ गौतम धर्म० १५ । २८ ॥

६. नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नाबहुश्रुतः । रामा० बाल० ७ । १५ ॥

७. आगमो वेद इति वैयाकरणाः । शिवरामेन्द्रकृत महाभाष्यटीका पत्रा ५, तीभवन काशी का हस्तलेख । स्मृतिरिति मीमांसकाः । तन्त्रवार्तिक पूना पृष्ठ २६५ पं० १२ । न्यायसुधा पृष्ठ २८४ पं० ६ ।

८. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १ ॥

९. देवलः—शिक्षाव्याकरणनिरुक्तछन्दकल्पज्योतिषाणि । वीरमित्रोदय, परिप्रकाश, पृष्ठ २० पर उद्धृत ।

१०. षडङ्गो वै पुरुषः षडङ्गः । ऐ० ब्रा० २ । ३६ ॥ षडङ्गोऽयमात्मा

निपातः, किं वै व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्...।[1]

मैत्रायणी संहिता १ । ७ । ३ में वैयाकरण-प्रसिद्ध विभक्ति संज्ञा का उल्लेख मिलता है।[2]

ऐतरेय ब्राह्मण ७ । ७ में विभक्ति रूप से सप्तधा विभक्त वाणी का उल्लेख है।[3]

व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि मूलवेदातिरिक्त जितना भारतीय वैदिक वाङ्मय सम्प्रति उपलब्ध है। उस में व्याकरणशास्त्र का उल्लेख मिलता है। अतः यह सुव्यक्त है कि वर्तमान में उपलब्ध समस्त आर्ष वैदिक वाङ्मय की रचना से पूर्व व्याकरणशास्त्र पूर्णतया सुव्यवस्थित बन चुका था, और वह पठन पाठन में व्यवहृत होने लग गया था।

व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता—ब्रह्मा

भारतीय ऐतिह्य में सब विद्याओं का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा कहा गया है। यह एक निश्चित सत्य तथ्य है। तदनुसार व्याकरणशास्त्र का आदि प्रवक्ता भी ब्रह्मा है। ऋक्तन्त्रकार ने लिखा है—

ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः । १ । ४ ॥

इस वचनानुसार व्याकरण के एकदेश अक्षरसमाम्नाय का सर्व प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मा है। भारतीय ऐतिह्यानुसार ब्रह्मा इस कल्प के विगत जल-प्लावन के पश्चात् हुआ था। यद्यपि उत्तर काल में यह नाम उपाधिरूप में अनेक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुआ, तथापि सर्वविद्याओं का आदि प्रवक्ता प्रथम ब्रह्मा ही है और वह निश्चित ऐतिहासिक व्यक्ति है।

---

१. गो० ब्रा० पू० १ । २४ ॥ २. तस्मात् षड् विभक्तयः। यह षड्-विध विभक्तियों का उल्लेख पुनराधेय प्रकरण गत प्रयाजों के सविभक्तिकरण संबन्धी है। प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः। महाभाष्य १।१।१ में उद्धृत वचन।

३. सप्तधा वै वागवदत्। सप्त विभक्तय इति भट्टभास्करः। तुलना करो

ब्रह्मा का शास्त्र-प्रवचन

समस्त भारतीय प्राचीन ऐतिहासिकों का सुनिश्चित मत है कि लोक में जितनी भी विद्याओं का प्रकाश हुआ उन विद्याओं का प्रवचन ब्रह्माजी ने ही किया था। यह प्रवचन अति विस्तृत था। यह आदि प्रवचन ही **शास्त्र** अथवा **शासन** नाम से प्रसिद्ध हुआ। उत्तरवर्ती समस्त प्रवचन ब्रह्माजी के आदि प्रवचन के अनुसार हुआ और वह भी उत्तरोत्तर संक्षिप्त। अतः उत्तरवर्ती प्रवचन मुख्यतया **अनुशास्त्र अनुतन्त्र** अथवा **अनुशासन**[1] कहाते हैं। इन के लिए शास्त्र अथवा तन्त्र शब्द का प्रयोग गौणी वृत्ति से किया जाता है।[2]

पं० भगवद्दत्तजी ने 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' ग्रन्थ के द्वितीय भाग (अ० ४) में ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त जिन २२ शास्त्रों का सप्रमाण उल्लेख किया है, उन के नाम इस प्रकार हैं—

१—वेदज्ञान
२—ब्रह्मज्ञान
३—योगविद्या
४—आयुर्वेद
५—हस्त्यायुर्वेद
६—रसतन्त्र
७—धनुर्वेद
८—पदार्थविज्ञान
९—धर्मशास्त्र
१०—अर्थशास्त्र
११—कामशास्त्र
१२—व्याकरण
१३—लिपि ज्ञान
१४—ज्योतिषशास्त्र
१५—गणितशास्त्र
१६—वास्तुशास्त्र
१७—शिल्पशास्त्र
१८—अश्वशास्त्र
१९—नाट्यवेद
२०—इतिहास-पुराण
२१—मीमांसाशास्त्र
२२—शिवस्तव अथवा स्तव-शास्त्र

द्वितीय प्रवक्ता—बृहस्पति

ऋक्तन्त्र के उपर्युक्त वचन के अनुसार व्याकरणशास्त्र का द्वितीय प्रवक्ता बृहस्पति है। अङ्गिरा का पुत्र होने से यह आङ्गिरस नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे देवों का पुरोहित लिखा है।[3] कोश ग्रन्थों में इसे

---

१. अनुशासन आदि में प्रयुक्त 'अनु' निपात अनुक्रम और हीन दोनों अर्थों का द्योतक है। उत्तरवर्ती तन्त्र संक्षिप्त होने से पूर्व तन्त्रों की अपेक्षा हीन हुए। 'अनुशाकटायनं वैयाकरणाः' में 'अनु' शब्द हीन अर्थ का द्योतक है।

सुराचार्य भी कहा है। मत्स्य पुराण २३।४ में यह वाक्पति पद से स्मृत है।[1]

बृहस्पति का शास्त्र—प्रवचन

देवगुरु बृहस्पति ने अनेक शास्त्रों का प्रवचन किया था। उन में से जिन कतिपय शास्त्रों का उल्लेख प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध होता है, वे इस प्रकार हैं—

१—**सामगान**—छान्दोग्य उपनिषद् २।२२।१ में बृहस्पति के सामगान का उल्लेख मिलता है।

२—**अर्थशास्त्र**—बृहस्पति ने एक अर्थशास्त्र रचा था। महाभारत में इस शास्त्र का विस्तार तीन सहस्र अध्याय बताया है।[2] इस अर्थशास्त्र के मत और वचन कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार और याज्ञवल्क्य स्मृति की बालक्रीडा टीका प्रभृति ग्रन्थों में बहुधा उद्धृत हैं।

३—**इतिहास-पुराण**—वायु पुराण १०३।५९ के अनुसार बृहस्पति ने इतिहास-पुराण का प्रवचन किया था।[3]

४-९—**वेदाङ्ग**—महाभारत में बृहस्पति को समस्त वेदाङ्गों का प्रवक्ता कहा है।[4]

व्याकरण—वेदाङ्गों के अन्तर्गत व्याकरण शास्त्र के प्रवचन का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। महाभाष्य के अनुसार बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य (=सौर?) सहस्र वर्ष तक प्रतिपद व्याकरण का उपदेश किया था।[5]

व्याकरण—ग्रन्थनाम-शब्दपारायण—महाभाष्यकार ने **शब्दपारायणं प्रोवाच** लिखा है। भर्तृहरि ने महाभाष्य की व्याख्या में लिखा है—

शब्दपारायणं—रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य। पृष्ठ २१। इस से प्रतीत होता है कि बृहस्पति के व्याकरण शास्त्र का नाम शब्दपारायण था।

---

१. भार्यामर्पय वाक्पतेस्त्वम्।

२. अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः। शान्ति० ५९।८४॥

३. बृहस्पतिस्तु प्रोवाच सवित्रे तदनन्तरम्।

४. वेदाङ्गानि बृहस्पतिः। शान्ति० अ०। ११२ श्लोक ३२ कुम्भघोण संस्करण।

व्याकरण मरणान्त व्याधि—न्यायमञ्जरी में जयन्त ने बृहस्पति का एक वचन उद्धृत किया है, तदनुसार औशनसों (उशना प्रोक्त शास्त्र के अध्येताओं) के मत में व्याकरण 'मरणान्त व्याधि' कहा गया है।[1]

ज्योतिष—वेदाङ्गान्तर्गत ज्योतिष शास्त्र के प्रवचन का निर्देश प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।[2]

११—**वास्तुशास्त्र**—मत्स्य पुराण में बृहस्पति को वास्तुशास्त्र का प्रवर्तक लिखा है।[3]

१२—**अगदतन्त्र**—बृहस्पति ने किसी अगदतन्त्र का भी प्रवचन किया था।[2]

व्याकरण का आदि संस्कर्ता—इन्द्र

पातञ्जल महाभाष्य से विदित होता है कि बृहस्पति[3] ने इन्द्र के लिये प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था।[4] उस समय तक लक्षणों का निर्माण

१. तथा च बृहस्पतिः—प्रतिपदमशक्यत्वाल्लक्षणस्याप्यव्यवस्थितत्वात् तत्रापि स्खलितदर्शनाद् अनवस्थाप्रसंगाच्च मरणान्तो व्याधिर्व्याकरणमिति औशनसा इति। न्यायमञ्जरी पृष्ठ ४१८।

२. चेद् बृहस्पतिमतं प्रमाणम्। प्रबन्धचिन्तामणि पृष्ठ १०६।

२. तथा शुक्रबृहस्पती......अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः। २५१। ३-४॥

३. यही बृहस्पति देवों का पुरोहित था। इसने अर्थशास्त्र की रचना की थी। यह चक्रवर्ती मरुत्त से पहले हुआ था। द्र० महाभारत शान्ति० ७५। ६॥

४. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १॥ तुलना करो—दिव्यं वर्षसहस्रमिन्द्रो बृहस्पतेः सकाशात् प्रतिपदपाठेन शब्दान् पठन् नान्तं जगामेति। प्रक्रियाकौमुदी भाग १, पृष्ठ ७। सम्भवतः यह पाठ महाभाष्य से भिन्न किसी ग्रन्थ से उद्धृत किया है।

द्र०—स [प्रजापतिः] भूम्यां शिरः कृत्वा दिव्यं वर्षसहस्रं तपोऽतप्यत। काठ ब्रा० संकलन, अग्न्याधेय ब्रा०, पृष्ठ १७॥ दिव्यं वर्षसहस्रं वर्षाणाम्। चरक चि०

नहीं हुआ था। प्रथमतः इन्द्र ने शब्दोपदेश की प्रतिपदपाठ-रूपी प्रक्रिया की दुःहता को समझा, और उसने पदों के प्रकृति प्रत्यय आदि विभाग द्वारा शब्दोपदेश प्रक्रिया की कल्पना की। इसका साक्ष्य तैत्तिरीय संहिता ६।४।७ में मिलता है—

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति·········तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।[1]

इस की व्याख्या करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—

तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।[2]

अर्थात्—वाणी पुराकाल में अव्याकृत (=व्याकरण सम्बन्धी प्रकृति, प्रत्ययादि संस्कार से रहित अखण्ड पदरूप) बोली जाती थी। देवों ने [अपने राजा] इन्द्र से कहा इस वाणी को व्याकृत (=प्रकृतिप्रत्ययादि-संस्कार से युक्त) करो।·········इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़ कर व्याकृत (=प्रकृतिप्रत्ययादिसंस्कार से युक्त) किया।

माहेश्वर सम्प्रदाय

व्याकरणशास्त्र में दो मार्ग अथवा सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। एक ऐन्द्र और दूसरा माहेश्वर अथवा शैव। वर्तमान प्रसिद्धि के अनुसार कातन्त्र व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का है और पाणिनीय व्याकरण शैव सम्प्रदाय का।

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत शिवसहस्रनाम में लिखा है—

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य। २८३।९२॥

इस से स्पष्ट है कि बृहस्पति के समान शिव ने भी षडङ्गों का प्रवचन किया था। निरुक्त १।२० के

बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च।

वचन में बहुवचन निर्देश भी इस बात का संकेत करता है कि वेदाङ्गों के आद्य प्रवचन कर्ता अनेक व्यक्ति थे।

माहेश्वर तन्त्र के विषय में अगले अध्याय में विस्तार से लिखेंगे।

---

१. तुलना करो—मै० सं० ४।५।८॥ का० सं० २७।३॥ कपि० सं० ४२।३॥

व्याकरण का बहुविध प्रवचन

पूर्व लेख से विस्पष्ट है कि व्याकरण वाङ्मय में ऐन्द्र तन्त्र सब से प्राचीन है। तदनन्तर अनेक वैयाकरणों ने व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया। उन के प्रवचनभेद से अनेक व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई।

पाणिनि से प्राचीन ८५ व्याकरण-प्रवक्ता

इन्द्र से लेकर आज तक कितने व्याकरण बने, यह अज्ञात है। पाणिनि ने अपने शास्त्र में १० प्राचीन आचार्यों का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया है[1]। इन के अतिरिक्त पाणिनि से प्राचीन १५ आचार्यों का उल्लेख विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। १० प्रातिशाख्य और ७ अन्य वैदिक व्याकरण उपलब्ध या ज्ञात हैं। इन प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में ५९ प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि किन्हीं प्रातिशाख्यों में शिक्षा तथा छन्द का समावेश उपलब्ध होता है, तथापि प्रातिशाख्यों को वैदिक व्याकरण कहा जा सकता है। अतः प्रातिशाख्यग्रन्थों में स्मृत आचार्य भी अवश्य ही व्याकरणप्रवक्ता रहे होंगे। उनकी व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों में गणना करने पर पुनरुक्त नामों को छोड़कर लगभग ८५ पिच्यासी प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों के नाम हमें ज्ञात हैं। परन्तु इस ग्रन्थ में हम केवल उन्हीं आचार्यों का उल्लेख करेंगे जो पाणिनीय अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट हैं, तथा जिन के व्याकरणप्रवक्ता होने में अन्य सुदृढ़ प्रमाण मिलते हैं। प्रातिशाख्यों में निर्दिष्ट आचार्यों का केवल नामोल्लेख रहेगा, विशेष वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायगा।

आठ व्याकरण-प्रवक्ता

अर्वाचीन ग्रन्थकार प्रधानतया आठ शाब्दिकों का उल्लेख करते हैं।[2] हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में पृष्ठ ३ पर निम्न आठ व्याकरणों का उल्लेख है—

---

१. आपिशलि (अ० ६।१।९२), काश्यप (अ० १।२।२५), गार्ग्य (अ० ८।३।२०), गालव (अ० ७।१।७४), चाक्रवर्मण (अ० ६।१।१३०), भारद्वाज (अ० ७।२।६३), शाकटायन (अ० ३।४।१११), शाकल्य (अ० १।१।१६), सेनक (अ० ५।४।११२), स्फोटायन (अ० ६।१।१२३)।

२. व्याकरणमष्टप्रभेदम्। दुर्ग निरुक्तवृत्ति (आनन्दाश्रम सं०) पृष्ठ ७४।

ऋग्वेद-कल्पद्रुम मे यामलाष्टक तन्त्र निर्दिष्ट निम्न आठ व्याकरण उद्धृत हैं[1]—

ब्राह्म, चान्द्र, याम्य, रौद्र, वायव्य, वारुण, सौम्य, वैष्णव ।

बोपदेव ने अपने कविकल्पद्रुम ग्रन्थ के आरम्भ में निम्न आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

इन में शाकटायन पद से आर्वाचीन जैन शाकटायन अभिप्रेत है वा प्राचीन वैदिक शाकटायन, यह अस्पष्ट है। भोजविरचित सरस्वतीकण्ठाभरण की एक टीका में भी 'अष्ट व्याकरण' का उल्लेख है।[2] भास्कराचार्य-प्रणीत लीलावती के किसी किसी हस्तलेख के अन्त में आठ व्याकरण पढ़ने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[3] विक्रम की षष्ठ-शताब्दी वा उससे पूर्वभावी निरुक्तवृत्तिकार दुर्गाचार्य "व्याकरणमष्टप्रभेदम्"[4] इतना ही संकेत करता है। उसके मत में ये आठ व्याकरण कौन से थे यह अज्ञात है। पूर्वोक्त इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, पाणिनि, अमर और जैनेन्द्र=पूज्यपाद=देवनन्दी विरचित ये सात व्याकरण उसके मत में भी माने जा सकते हैं।[5] आठवां यदि शाकटायन को मानें तो निश्चय ही वह

---

१. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ११४ ।

२. सरस्वतीकण्ठाभरण दूजा प्रकरण प्रारम्भ·········सा च पाणिन्यादि अष्ट-व्याकरणोदित·········। भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक १. पृष्ठ २३२ में उद्धृत ।

३. अष्टौ व्याकरणानि षट् च भिषजां व्याचष्ट ताः संहिताः·········।

४. आनन्दाश्रम संस्क० पृष्ठ ७४ ।

५. पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे ने शतपथ भाष्यकार हरिस्वामी को वैक्रमाब्द प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालिक सिद्ध किया है। देखो ग्वालियर से प्रकाशित विक्रम-द्विसहस्राब्दी स्मारक ग्रन्थ। तद-

पाणिनि से पूर्वभावी वैदिक शाकटायन होगा, क्योंकि अर्वाचीन जैन शाकटायन का काल विक्रम की ९ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है।[1]

अमर शब्द से सम्भवतः नामलिङ्गानुशासन का कर्ता अमरसिंह अभिप्रेत है। अमरसिंहकृत शब्दानुशासन का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। लौकिकी किंवदन्ती से इतना ज्ञात होता है कि अमरसिंह महाभाष्य का प्रकाण्ड पण्डित था।[2] कुछ वर्ष हुए पञ्जाब प्रान्तीय जैन पुस्तकभण्डारों का एक सूचीपत्र पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर से प्रकाशित हुआ है। उसके भाग १ पृष्ठ १३ पर अमरसिंहकृत उणादिवृत्ति का उल्लेख है। यह अमरसिंह नामलिंगानुशासनकार है वा भिन्न व्यक्ति, यह अभी अज्ञात है।

नव व्याकरण

रामायण उत्तरकाण्ड ३६। ४७ में नव व्याकरण का उल्लेख है।[3] महाराज राम के काल में अनेक व्याकरण विद्यमान थे. इसका निर्देश रामायण किष्किन्धा काण्ड ३। २९ में मिलता है।[4] भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के संग्रह में गीतासार नामक ग्रन्थ का एक हस्तलेख है, उसमें भी नव व्याकरण का उल्लेख है।[5] इस ग्रन्थ का काल अज्ञात है। श्रीतत्त्व-विधि नामक वैष्णव ग्रन्थ में निम्न नौ व्याकरणों का उल्लेख मिलता है—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्॥

नुसार आचार्य दुर्ग को विक्रम पूर्व मानना होगा। क्योंकि हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्तटीका के प्रारम्भ में दुर्गाचार्य का आदरपूर्वक स्मरण किया है। ऐसी अवस्था में दुर्गाचार्य ने किन आठ व्याकरणों की ओर संकेत किया है, यह बताना कठिन है।

१. जैन साहित्य और इतिहास, प्र० सं० पृष्ठ १६०, द्वि० सं० पृष्ठ १६६।

२. अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत्।

३. सोऽयं नवव्याकरणार्थवेत्ता। मद्रास ला जर्नल् प्रेस १९३३ का संस्क०।

४. देखो पूर्व पृष्ठ ५६ टिप्पणी ४।

५. गीतासारमिदं शास्त्रं गीतासारसमुद्भवम्। अत्र स्थितं ब्रह्मज्ञानं वेदशास्त्र-

पांच व्याकरण

काशिका वृत्ति ४।२।६० में पांच व्याकरणों का उल्लेख मिलता है[2] परन्तु उसमें अथवा उसकी टीकाओं में नाम निर्दिष्ट नहीं हैं। सम्भवतः ये ऐन्द्र, चान्द्र, पाणिनीय, काशकृत्स्न और आपिशल होंगे।[3]

व्याकरण-शास्त्रों के तीन विभाग

आज तक जितने व्याकरणशास्त्र बने हैं, उनको हम तीन विभागों में बांट सकते हैं। यथा—

१. छान्दसमात्र—प्रातिशाख्यादि।

२. लौकिकमात्र—कातन्त्रादि।

३. लौकिक वैदिक उभयविध—आपिशल, पाणिनीयादि।

इन में लौकिक व्याकरण के जितने ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे सब पाणिनि से अर्वाचीन हैं।

व्याकरण-प्रवक्ताओं के दो विभाग

इस समय हमें जितने व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों का ज्ञान है, उन्हें हम दो भागों में बांट सकते हैं।

१. पाणिनि से प्राचीन। २. पाणिनि से अर्वाचीन।

पाणिनि से प्राचीन आचार्य

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन इन दश शाब्दिकों का उल्लेख किया है।[4] इन से अतिरिक्त शिव=महेश्वर, बृहस्पति इन्द्र, वायु, भरद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, काशकृत्स्न, रौढि, चारायण, माध्यन्दिनि, वैयाघ्रपद्य, शौनकि, गौतम और व्याडि, इन पन्द्रह आचार्यों का उल्लेख अन्यत्र मिलता है।

---

१. व्याक० द० इ० पृष्ठ ४३७। २. पञ्चव्याकरणः।

३. कुछ लोग पञ्च व्याकरण का अर्थ सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन समझते हैं। तथा अन्य—पदच्छेद, समास, अनुवृत्ति, वृत्ति और उदाहरण।

४. देखो पूर्व

प्रातिशाख्य—यद्यपि प्रातिशाख्य तत् तत् चरणों के व्याकरण हैं[2] तथापि उन में मन्त्रों के संहिता पाठ में होने वाले विकारों का प्रधानतया उल्लेख है। प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा पदसाधुत्व का अनुशासन उन में नहीं है। अतः उनकी गणना प्रधानतया शब्दानुशासन ग्रन्थों में नहीं की जासकती। इस समय निम्न प्रातिशाख्य ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्प्रातिशाख्य—शौनककृत।

२. वाजसनेयप्रातिशाख्य—कात्यायनकृत।

३. सामप्रातिशाख्य (पुष्प या फुल्ल सूत्र)—वररुचिकृत[3] ?

४. अथर्वप्रातिशाख्य—……।

५. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य—।……।

६. मैत्रायणीयप्रातिशाख्य—……।

इन के अतिरिक्त चार प्रातिशाख्यों के नाम प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं—

७. आश्वलायनप्रातिशाख्य[4]……।

८. वाष्कलप्रातिशाख्य[5]……।

९. शांखायनप्रातिशाख्य[6]……।

१०. चारायणप्रातिशाख्य[7] ……।

ऋक्प्रातिशाख्य निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है, अन्य प्रातिशाख्यों के विषय में हम अभी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते।

---

१. प्रातिशाख्य आदि के विषय में इस ग्रन्थ के २८ वें अध्याय में (भाग २, पृष्ठ २८४–३४१ तक) विस्तार से लिखा है, वहां देखना चाहिए।

२. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरु० १। १७॥

३. वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धेः पारदृश्वनम्। पोतो विनिर्मितो येन फुल्लसूत्रशतैरलम्। हरदत्तविरचित सामवेदसर्वानुक्रमणी, ऋक्तन्त्र के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ ७।

४. यह प्रातिशाख्य अप्राप्य है। नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धम्। वाज० प्रा० अनन्तभाष्य, मद्रास संस्क० पृष्ठ ४।

५. उपद्रुतो नाम सन्धिर्वाष्कलादीनां प्रसिद्धस्तस्योदाहरणम्……। शांखायन श्रौतभाष्य १२। १३। ५॥

६. अलवर राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र ग्रन्थ संख्या १७।

७. यह प्रातिशाख्य अप्राप्य है। देवपालविरचित लौगाक्षिगृह्यभाष्य में यह

निम्नानिष्ट वैदिक व्याकरण उपलब्ध होते हैं—

१. ऋक्तन्त्र[1]—शाकटायन या औदव्रजि प्रणीत ।[2]

२. लघु ऋक्तन्त्र ……।

३. अथर्वचतुरध्यायी—शौनक अथवा कौत्स प्रणीत ।[3]

४. प्रतिज्ञासूत्र—कात्यायनकृत ।

५. भाषिकसूत्र—कात्यायनकृत ।

६. सामतन्त्र—औदव्रजि या गार्ग्य कृत[4] ?

७. अक्षरतन्त्र—आपिशलि कृत ।

इन में से प्रथम पांच ग्रन्थों में प्रातिशाख्यवत् प्रायः वैदिक स्वरादि

कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छ् परतः । पुरु छदनं पुच्छम्, कृतस्य छमिति" । ५ । १ ॥ पृष्ठ १०१, १०२ ।

१. ऋक्तन्त्र का संबन्ध सामवेदीय राणायनीय शाखा से है "राणायनीयानामृक्तन्त्रे प्रसिद्धा विसर्जनीयस्य अभिनिष्ठानाख्या इति । गोभिलगृह्य भट्ट नारायणभाष्य २।८.१४॥

२. ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि–इदमक्षरं छन्दो…। नागेश, लघुशब्देन्दुशेखर, भाग १, पृष्ठ ७ । ऋचां तन्त्रव्याकरणे पञ्च संख्याप्रपाठकम् । शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशत् खण्डकाः स्मृताः । हरदत्तकृत सामसर्वानुक्रमणी, ऋक्तन्त्र के अन्त में मुद्रित, पृष्ठ ३ । तथा ऋक्तन्त्र व्याकरणस्य छान्दोग्यलक्षणस्य प्रणेता औदव्रजिरप्यसूत्रयत् …। शब्दकौस्तुभ १।१।८॥ अनन्तसंयोगमध्ये यमः पूर्वगुणः (ऋक्तन्त्र १। २) इत्यौदव्रजिरपि । पाणिनीय शिक्षा की शिक्षाप्रकाश टीका, शिक्षासंग्रह पृष्ठ ३८८ इत्यादि ।

३. ह्विटनी के हस्तलेख के अन्त में शौनक का नाम है । बालशास्त्री गदरे ग्वालियर के संग्रह मे प्राप्त चतुरध्यायी के हस्तलेख के प्रत्येक अध्याय के अन्त में—"इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां……" पाठ उपलब्ध होता है । यह हस्तलेख अब ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी उज्जैन में सुरक्षित है । देखो–न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, सितम्बर १९३८ में पं० सदाशिव एल० कात्रे का लेख ।

४. सामतन्त्रं प्रवक्ष्यामि सुखार्थं सामवेदिनाम् । औदव्रजिकृतं सूक्ष्मं सामगानां सुखावहम् ॥ हरदत्तविरचित सामवेदसर्वानुक्रमणी पृष्ठ ४ । सामतन्त्रं तु गार्ग्येणेत्येवं

कार्यों का उल्लेख है। अन्तिम दो ग्रन्थों में सामगान के नियमों का वर्णन है। अतः इन्हें भी मुख्यतया व्याकरण ग्रन्थ नहीं कह सकते।

प्रातिशाख्य आदि में उद्धृत आचार्य

इन प्रातिशाख्य आदि वैदिक ग्रन्थों में निम्न आचार्यों का उल्लेख मिलता है—

१. अग्निवेश्य[१]—तै० प्रा० ९।४॥ मै० प्रा० ९।४॥
२. अग्निवेश्यायन[१]—तै० प्रा० १४।३२॥ मै० प्रा० २।२।३२॥
३. अन्यतरेय[२]—ऋ० प्रा० ३।२२॥
४. आगस्त्य[३]—ऋ० प्रा० वर्ग १।२॥
५. आत्रेय—तै० प्रा० ५।३१॥१७।८॥ मै० प्रा० ५।३३॥ २।५॥ ६।८॥
६. इन्द्र—ऋक्तन्त्र १।४॥
७. उख्य—तै० प्रा० ८।२२॥ १०।२०॥ १६।२३॥ मै० प्रा० ८।२१॥ १०।२१॥ २।४।२५॥
८. उत्तमोत्तरीय—तै० प्रा० ८।२०॥
९. औदव्रजि[४]—ऋक्तन्त्र २।६।१०॥
१०. औपशवि—वाज० प्रा० ३।१३१॥ भाषिकसूत्र २।२०,२२॥
११. काण्डमायन—तै० प्रा० ६।१॥ १५।७॥ मै० प्रा० ९।१॥ २।३।७॥
१२. कात्यायन—वाज० प्रा० ८।५३॥
१३. काण्व—वाज० प्रा० १।१२३, १४९॥
१४. काश्यप—वाज० प्रा० ४।५॥ ८।५०॥
१५. कौण्डिन्य[५]—तै० प्रा० ५।३८॥ १८।३॥ १९।२॥ मै० प्रा० ५।४०॥ २।५।४॥ २।६।३॥ २।६।९॥
१६. कौहलीपुत्र—तै० प्रा० १७।२॥ मै० प्रा० २।५।२॥

---

१. प्रातिशाख्य की टीकाओं में कहीं कहीं 'आग्निवेश्य' और 'आग्निवेश्यायन' नाम भी मिलता है। अग्निवेश्य का गृह्यसूत्र छप गया है।

२. चतुरध्यायी ३। ७४ में 'आन्यतरेय' पाठ है।

३. शां० आरण्यक ७। २ में भी निर्दिष्ट है।

४. [illegible]

१७. गार्ग्य—ऋ० प्रा० ११५॥ ६।३६॥ ११।१७, २६॥ १३।३१॥ वाज० प्रा० ४।१६७॥

१८. गौतम—तै० प्रा० ५।३८॥ मै० प्रा० ५।४०॥

१९. जातूकर्ण्य—वाज० प्रा० ४।१२५, १६०॥ ५।२२॥

२०. तैत्तिरीयक—तै० प्रा० २३।१७॥ तैत्तिरीय, तै० प्रा० २३।१८॥

२१. दाल्भ्य—वाज० प्रा० ४।१६॥

२२. नैगी—ऋक्तन्त्र २।६।९॥ ४।३।२॥

२३. पञ्चाल—ऋ० प्रा० २।३३॥

२४. पाणिनि—लघु ऋक्तन्त्र, पृष्ठ ४६॥

२५. पौष्करसादि—तै० प्रा० ५।३७, ३८॥ १३।१६॥ १४।२॥ १७।६॥ मै० प्रा० ५।३९, ४०॥ २।१।१६॥ २।५।६॥

२६. प्राच्य पञ्चाल—ऋ० प्रा० २।३३, ८१॥

२७. प्लाक्षायण—तै० प्रा० ९।६॥ १४।११, १७॥ १८।५॥ मै० प्रा० ९।६॥ २।६।२, ३॥

२८. प्लाक्षि—तै० प्रा० ५।३८॥ ९।६॥ १४।१०, १७॥ १८।५॥ मै० प्रा० ५।४०॥ ९।६॥ २।६॥

२९. बाभ्रव्य[1]—ऋ० प्रा० ११।६५॥

३०. बृहस्पति—ऋक्तन्त्र १।४॥

३१. ब्रह्मा—ऋक्तन्त्र १।४॥

३२. भरद्वाज—ऋक्तन्त्र १।४॥

३३. भारद्वाज—तै० प्रा० १७।३॥ मै० प्रा० २।५।२॥ भाषिकसूत्र २।१९॥ ३।९॥

३४. माक्षव्य[2]—ऋ० प्रा० वर्ग १।२॥

३५. माचाकीय—तै० प्रा० १०।२२॥

३६. माण्डूकेय[3]—ऋ० प्रा० वर्ग १।२॥ ३।१४॥

३७. माध्यन्दिन—वा० प्रा० ८।३५॥

---

१. बाभ्रव्य-शालङ्कायनों का विरोध, काशिका ४।२।११५; ६।२।३७॥ शां० श्रा० ७।१६ में बाभ्रव्य को पाञ्चाल चण्ड नाम से स्मरण किया है।

३८. मीमांसक—तै० प्रा० ५।४१॥

३९. यास्क—ऋ० प्रा० १७।४२॥

४०. वाडवी (भी) कर—तै० प्रा० १४।१३॥

४१. वात्सप्र—तै० प्रा० १०।२३॥ मै० प्रा० १०।२३॥

४२. वाल्मीकि—तै० प्रा० ५।३६॥ १८।६॥ मै० प्रा० ५।३८॥
२।६॥ २।३०॥ ९।४॥

४३. वेदमित्र—ऋ० प्रा० १।५१॥

४४. व्याडि—ऋ० प्रा० ३।२३, २८॥ ६।४३॥ १३।३१, ३७॥

४५. शाकटायन—ऋ० प्रा० १।१६॥ १३।३९॥ वाज० प्रा० ३।९,
१२, ८८॥ ४।५, १२९, १९१॥ शौ० च० २।२४॥ ऋक्तन्त्र १।१॥

४६. शाकल (= शाकल्य के अनुयायी)—ऋ० प्रा० १ । ६४ ॥
११ । १९, ६२ ॥

४७. शाकल्य[1]—ऋ० प्रा० ३ । १३; २२ ॥ ४ । १३ ॥ १३ । ३१ ॥
वाज० प्रा० ३ । १० ॥

४८. शाकल्यपिता—ऋ० प्रा० ४ । ४ ॥

४९. शांखमित्रि—शौ० च० २ । ७४ ॥

५०. शांखायन—तै० प्रा० १५ । ७ ॥ मै० प्रा० २ । ३ । ७ ॥

५१. शूरवीर—ऋ० प्रा० वर्ग १ । ३ ॥

५२. शूरवीर-सुत[2]—ऋ० प्रा० वर्ग १।३॥

५३. शैत्यायन—तै० प्रा० ५।४०॥ १७।१, ८॥ १८।२॥ मै० प्रा० २।५।
१॥ २ । ५ । ६ ॥ २ । ६ । २, ३ ॥

५४. शौनक—ऋ० प्रा० वर्ग १।१॥ वा० प्रा० ४।१२२॥ अथ० प्रा०
१।२॥ शौ० च० १।८॥ २।२४॥

५५. स्थविर कौण्डिन्य—तै० प्रा० १७।४॥[3]

५६. स्थविर शाकल्य[4]—ऋ० प्रा० २।८१॥

---

१. स्थविर शाकल्य, ऋ० प्रा० २ । ८१; ऐ० ब्रा० ३ । २ । ६; शां० ब्रा० ७ । १७; ८ । १, ११ ॥ २. शौरवीर माण्डूकेय, शां० ब्रा० ७ । २ ॥

३. तै० प्रा० ५ । ४० के परिशिष्ट भाग में भी यह नाम आता है।

५७. सांकृत्य—तै० प्रा० ८।२०॥ १०।२१॥ १५।१६॥ मै० प्रा० ८।२०॥ १०।२०॥ २।४।१७॥

५८. हारीत—तै० प्रा० १४।१८॥

५९. नकुलमुख—ऋक्तन्त्र ३।४।१० की टीका में स्मृत ॥

इन ५९ आचार्यों में अनेक आचार्य व्याकरण शास्त्र के प्रवक्ता रहे होंगे। इस ग्रन्थ में इन में से केवल १०. आचार्यों का उल्लेख किया है। शेष आचार्यों के विषय में अन्य सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध न होने से कुछ नहीं लिखा।

पाणिनि से अर्वाचीन आचार्य

पाणिनि से अर्वाचीन अनेक आचार्यों ने व्याकरणसूत्र रचे हैं। उन में से निम्न आचार्य प्रधान हैं—

१. ………	कातन्त्र	(२००० वि० पू०)
२. चन्द्रगोमी	चान्द्र	(१००० वि० पू०)
३. क्षपणक	क्षपणक	(वि० प्रथम शताब्दी)
४. देवनन्दी (दिग्वस्त्र)	जैनेन्द्र	(सं० ५०० से पूर्व)
५. वामन	विश्रान्तविद्याधर	(सं० ४००-६००)
६. पाल्यकीर्ति	जैन शाकटायन	(सं० ८७१-९२४)
७. शिवस्वामी	… …	(सं० ९१४-९४०)
८. भोजदेव	सरस्वतीकण्ठाभरण	(सं० १०७५-१११०)
९. बुद्धिसागर	बुद्धिसागर	(सं० १०८०)
१०. हेमचन्द्र	हैमव्याकरण	(सं० ११४५-१२२०)
११. भद्रेश्वरसूरि	दीपक	(सं० १२०० से पूर्व)
१२. अनुभूतिस्वरूप	सारस्वत	(सं० १३००)
१३. बोपदेव	मुग्धबोध	(सं० १३००-१३५०)
१४. क्रमदीश्वर	जौमर	(वि० १३ वीं शताब्दी)
१५. पद्मनाभ	सुपद्म	(वि० १४ वीं शताब्दी)

इन से अतिरिक्त भी कुछ अति अर्वाचीन व्याकरणकर्ता हुए हैं, उन के ग्रन्थ अप्रसिद्ध हैं। अतः उनका वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायगा।

अब अगले अध्याय में पाणिनीय-तन्त्र में अनुल्लिखित तथा पाणिनि

पाणिनीयाष्टक में अनुल्लिखित प्राचीन आचार्य

इस अध्याय में उन प्राचीन व्याकरण प्रवक्ता आचार्यों का वर्णन करेंगे न का उल्लेख पाणिनीय अष्टक में नहीं मिलता, परन्तु वे पाणिनि से भावी हैं तथा जिनका व्याकरण-प्रवक्तृत्व निर्विवाद है।

१—शिव=महेश्वर

शिव अपर नाम महेश्वर प्रोक्त व्याकरण का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में लता है। यथा—

१—महाभारत शान्तिपर्व के शिवसहस्रनाम में शिव को षडङ्ग का र्तक कहा है—

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य। २८४। ९२॥

षडङ्ग के अन्तर्गत व्याकरण प्रधान अङ्ग है। अतः शिव ने व्याकरण त्र का प्रवचन किया था, यह महाभारत के वचन से सुतरां सिद्ध है।

२.—श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षा के अन्त में लिखा है—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥

इसी श्लोक के आधार पर चतुर्दश प्रत्याहार माहेश्वर-सूत्र अथवा शिव- कहे जाते हैं।

३—हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में पृष्ठ ३ पर लिखा है—

ब्राह्ममैशानमैन्द्रञ्च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्।
त्वाष्ट्रमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्॥

इसमें ऐशान अर्थात् ईशान=महादेव प्रोक्त व्याकरण का स्पष्ट उल्लेख है।

४—ऋग्वेदकल्पद्रुम के कर्त्ता केशव ने यामलाष्टक तन्त्र के उपशास्त्र- शक कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं। वे इस प्रकार हैं—

यस्मिन् व्याकरणान्यष्टौ निरूप्यन्ते महान्ति च॥ १०॥

तत्राद्यं ब्राह्ममुदितं द्वितीयं चान्द्रमुच्यते।

तृतीयं याम्यमाख्यातं चतुर्थं रौद्रमुच्यते ॥ ११ ॥
वायव्यं पञ्चमं प्रोक्तं षष्ठं वारुणमुच्यते ।
सप्तमं सौम्यमाख्यातमष्टमं वैष्णवं तथा ॥ १२ ॥

इस में भी रौद्र=रुद्र=शिवप्रोक्त व्याकरण का निर्देश है।

५—सारस्वतभाष्य में भी लिखा है—

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ ।
तद्भागभागाच्च गतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ॥

इस श्लोक से माहेश्वर व्याकरण की विशालता अत्यन्त स्पष्ट है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शिव ने किसी व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया था।

परिचय

वंश—ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार शिव की माता का नाम **सुरभि** और पिता का नाम **प्रजापति कश्यप** था। शिव के १० सहोदर भाई थे। ये भारतीय इतिहास में **एकादश रुद्र** कहाते हैं। सम्भवतः शिव इन में ज्येष्ठ था।

शिव के नाम—महाभारत अनुशासन पर्व अ० १७ में **शिवसहस्रनाम-स्तव** है। इस में शिव के १००८ नाम वर्णित हैं। शान्तिपर्व अ० २८४ में भी **शिवसहस्रनाम-स्तव** है। इस में छः सौ से कुछ ऊपर नाम गिनाए हैं।[1]

नाम-स्तव का महत्त्व—भारतीय वाङ्मय में शिवसहस्रनाम, विष्णुसहस्र-नाम, कार्तिकेयस्तव[2], याज्ञवल्क्य अष्टोत्तरशतनाम आदि अनेक स्तव अथवा स्तोत्र उपलब्ध होते हैं। ये नाम-स्तव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस से स्तोतव्य व्यक्ति के जीवनवृत्त पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। नामस्तव भी संक्षिप्त इतिहास अथवा चरित लेखन की एक प्राचीन शैली है। साम्प्रतिक इतिहास-लेखकों ने इन नामस्तवों का कुछ भी मूल्याङ्कन नहीं किया। अतएव उन्होंने इतिहासलेखन में इन नामस्तवों का कुछ भी उपयोग नहीं किया।

---

१. तत्र नामपाठे किञ्चिदधिकानि षट् शतनामान्युपलभ्यन्ते। ७३ वें श्लोक की नीलकण्ठ की व्याख्या।

हमें भी इन नामस्तवों का उपर्युक्त महत्त्व कुछ समय पूर्व ही समझ में आया है। यद्यपि शिव और विष्णु के सहस्रनामस्तवों में ऐतिहासिक अंश के साथ आधिदैविक अंश का भी संमिश्रण हो गया है, तथापि इन में ऐतिहासिक अंश अधिक है। इन स्तवों से विदित होने वाले अनेक जीवनवृत्तों की वैदिक लौकिक अभयविध ग्रन्थों से भी पुष्टि होती है। हम महाभारतीय शिवसहस्र-नामस्तव से विदित होने वाले वृत्त में से कतिपय महत्त्वपूर्ण अंशों का उल्लेख आगे करेंगे।

प्रधान नाम—शिव के शिव, शर्व, भव, शंकर, शम्भु, पिनाकी, शूलपाणी, महेश्वर, महादेव, स्थाणु, गिरीश, विशालाक्ष और त्र्यम्बक प्रभृति प्रधान और प्रसिद्धतम नाम हैं।

शर्व-भव—शतपथ १।७।३।८ में लिखा है कि प्राच्यदेशवासी शिव के लिए शर्व शब्द का व्यवहार करते हैं और बाहीक[1] भव का।[2]

महादेव—महाभारत कर्णपर्व ३४। १३ के अनुसार त्रिपुरदाह रूपी महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण शिव का महादेव नाम प्रसिद्ध हुआ।

स्थाणु—महाभारत अनुशासन पर्व अ० ८४ श्लोक ६०-७२ के अनुसार शिव ने देवों की हित की कामना से उनकी प्रार्थना पर अविप्लुतब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। इसीलिए शिव को ब्रह्मचारी,[3] ऊर्ध्वरेता,[4] ऊर्ध्वलिङ्ग,[4] और ऊर्ध्वशायी[4] (=उत्तानशायी) भी कहते हैं। यतः शिव ने पार्वती में किसी वंशकर (=पुत्र) को उत्पन्न नहीं किया, इस कारण शिव का एक नाम स्थाणु भी प्रसिद्ध हुआ।[4] लोक में भी फलशाखा-विहीन शुष्क वृक्ष (ठूंठ) के लिए स्थाणु शब्द का व्यवहार होता है।

विशालाक्ष—महाभारत अनुशासन पर्व १७। २७ में विशालाक्ष नाम

---

१. सतलज से सिधुनद पर्यन्त का देश। पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामनन्तरं ये समाश्रिताः। बाहीका नाम ते देशाः। महा० कर्ण० ४४।७॥

२. शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते, भव इति यथा बाहीकाः।

३. महा० अनु० १७। ७५॥ ३. महा० अनु० १७। ३७॥

ऊर्ध्वरेताः—अविप्लुतब्रह्मचर्यः। ऊर्ध्वलिङ्गः—अधोलिङ्गो हि रेतः सिंचति, न तूर्ध्वलिङ्गः। ऊर्ध्वशायी—उत्तानशायी—इति नीलकण्ठः।

पड़ा है। यह नाम शिव की राजनीति-विषयक दीर्घदृष्टि को प्रकट करता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विशालाक्ष नाम से शिव के अर्थशास्त्र के अनेक मत उद्धृत किए हैं।

शिव परमयोगी थे, परन्तु देवों की प्रार्थना पर उन्होंने तात्कालिक देवासुर संग्रामों में अनेक बार महत्त्वपूर्ण भाग लिया। उनमें **त्रिपुरदाह** एक विशेष घटना है। यह एक ऐसा महान् कार्य था, जिसे अन्य कोई भी देव करने में असमर्थ था। अतएव त्रिपुरदाह के कारण शिव देव से महादेव बने।[1] समुद्रमन्थन के समय लोककल्याण के लिए शिव का विषपान करना और योगज-शक्ति से उसे जीर्ण कर देना भी एक आश्चर्यमयी घटना थी। इसी प्रकार दक्ष प्रजापति के यज्ञ का ध्वंस भी एक विशेष घटना थी। इसी में इन्द्र के भ्राता पूषा का दन्तभग्न हुआ था।[2]

गुरु—हेमचन्द्र कृत अभिधानचिन्तामणि कोष की स्वोपज्ञ टीका में शेष के कोष का एक वचन उद्धृत है। उस में शिव का नाम **गुह्यगुरु** लिखा है। उससे विदित होता है कि शिव जन्म से ही परम ज्ञानी थे। उन्होंने किसी से विद्याध्ययन नहीं किया था अर्थात् वे साक्षात्कृतधर्मा थे।

शिव का शास्त्रज्ञान—भारतीय वाङ्मय में ब्रह्मा के साथ साथ शिव को भी अनेक विद्याओं का प्रवर्तक माना गया है। महाभारत शान्तिपर्व अ० १४२।४७ (कुम्भघोण संस्क०) में सात महान् वेदपारगों में शिव की गणना भी की है। महाभारत के इसी पर्व के अ० २८४ में लिखा है—

सांख्याय सांख्यमुख्याय सांख्ययोगप्रवर्तिने ॥ ११९ ॥

गीतवादित्रतत्त्वज्ञो गीतवादनकप्रियः ॥ १४२ ॥

शिल्पिकः शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः ॥ १४८ ॥

अर्थात्—शिव सांख्ययोग ज्ञान का प्रवर्तक, गीत वादित्र का तत्त्वज्ञ, शिल्पियों में श्रेष्ठ तथा सर्वविध शिल्पों का प्रवर्तक था।

महाभारत शान्ति पर्व २८४। ९२ में शिव को वेदाङ्गों का भी प्रवर्तक कहा है—

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य।

आयुर्वेद के रसतन्त्रों में शिव को रसविद्या का परम ज्ञाता कहा है। आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों में शिव के अनेक योग उद्धृत हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र मे **स्थान स्थान** पर विशालाक्ष के मतों का निरूपण उपलब्ध होता है। महाभारत शान्तिपर्व ५९।८१,८२ के अनुसार विशालाक्ष ने दश सहस्र अध्यायों में अर्थशास्त्र का संक्षेप किया था।

शिष्य—शिव ने अनेक शास्त्रों का प्रवचन किया था। इसलिए उनके शिष्य भी अनेक रहे होंगे। परन्तु उन के नामादि ज्ञात नहीं हैं।

यादवप्रकाश कृत पिङ्गल छन्दःशास्त्र की टीका के अन्त में जो श्लोक मिलते हैं उन में प्रथम के अनुसार शिव ने बृहस्पति को छन्दःशास्त्र का उपदेश किया था। द्वितीय श्लोक के अनुसार गुह को और तृतीय श्लोक के अनुसार पार्वती और नन्दी को छन्दःशास्त्र का प्रवचन किया था। नन्दी शिव का प्रियतम शिष्य और उसका अनुचर है।

काल—शिव का काल सतयुग के तृतीय चरण का अन्त अथवा चतुर्थ चरण है।

दीर्घजीवी—असाधारण योगज शक्ति और रसायन के सेवन से शिव ने मृत्यु को जीत लिया था। वे असाधारण दीर्घजीवी थे। इसी कारण उन्हें मृत्युञ्जय भी कहा जाता है।

शिव-प्रोक्त अन्य शास्त्र—श्री कविराज सूरमचन्द जी ने अपने 'आयुर्वेद का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ ८६–८९ तक शिवप्रोक्त १२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इन में अधिकतर आयुर्वेदसंबन्धी हैं। अन्य ग्रन्थों में वैशालाक्ष अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, वास्तुशास्त्र, नाट्यशास्त्र और छन्दःशास्त्र प्रमुख हैं।

२—बृहस्पति

बृहस्पति के शब्दशास्त्र-प्रवक्तृत्व का वर्णन पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि, यामलाष्टक तन्त्र और सारस्वतभाष्य के जो उद्धरण शिव के प्रकरण में दिए हैं, उन में भी बृहस्पति के शब्दशास्त्र-प्रवचन का स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है।

बृहस्पति के परिचय आदि के विषय में जो कुछ भी वक्तव्य था, वह पूर्व अध्याय में (पृष्ठ ५९–६१) बृहस्पति के प्रसङ्ग में लिख चुके।

बार्हस्पत्य तन्त्र का प्रवचन प्रकार

महाभाष्य का पूर्व पृष्ठ ६१ (टि० ४) पर जो उद्धरण दिया है उस से विदित होता है कि बृहस्पति ने शब्दों का प्रतिपदपाठ द्वारा उपदेश किया था। इस की पुष्टि न्यायमञ्जरी में उद्धृत औशनस (=उशना के) वचन से भी होती है। यथा—

तथा च बृहस्पतिः—'प्रतिपदमशक्यत्वाल्लक्षणस्याप्यव्यवस्थानात् तत्रापि स्खलितदर्शनाद् अनवस्थाप्रसंगाच्च मरणान्तो व्याधिर्व्याकरणमिति औशनसाः' इति।[1]

यह प्रतिपदपाठ भी किस प्रकार का था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पुनरपि हमारा अनुमान है कि बार्हस्पत्य शब्दपारायण ग्रन्थ में शब्दों के रूपसादृश्य के आधार पर शब्दों का संग्रह रहा होगा। इस संभावना में निम्न हेतु हैं—

१—पाणिनि आदि समस्त वैयाकरण धातुओं का संग्रह विशेष उनके रूपसादृश्य के आधार पर ही करते हैं अर्थात् शप् आदि विभिन्न विकरणों अथवा उसके अभाव के आधार पर १० गणों (काशकृत्स्न और कातन्त्र ९ गणों) में विभक्त करते हैं।

इसी प्रकार बृहस्पति ने धातु और नामों (=प्रातिपदिकों) का प्रवचन भी रूपसादृश्य के आधार पर किया होगा।

२—पाणिनि ने दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों की **नदी** संज्ञा कही है। पाणिनीय तन्त्र में सम्पूर्ण महती (एकाक्षर से अधिक) संज्ञाएं प्राचीन आचार्यों की हैं। महती संज्ञाएं अन्वर्थ मानी गई हैं। परन्तु एकमात्र नदी संज्ञा ऐसी है जो महती होती हुई भी अन्वर्थ नहीं है। इस से विदित होता है कि यह नदी संज्ञा उस तन्त्रान्तर से संगृहीत है जिस में नामों के रूपसादृश्य के आधार पर शब्दसमूहों का पाठ था और उस दीर्घ ईकारान्त शब्दसमूह के आदि में नदी शब्द प्रयुक्त होने से वह सारा समुदाय नदी शब्द से व्यवहृत होता था। आज भी हम तत्तद् गणों का उस उस गण के आदि में पठित शब्द के साथ आदि शब्द का प्रयोग करके सर्वादि स्वरादि के रूप में करते हैं।

उकारान्त की **अग्नि** संज्ञा और दीर्घ आकारान्त की **श्रद्धा** संज्ञा का उल्लेख मिलता है।[1]

कातन्त्र व्याकरण ऐन्द्र सम्प्रदाय का है। बृहस्पति इन्द्र का गुरु है। अतः कातन्त्र की **अग्नि श्रद्धा** और **नदी** संज्ञाओं में यही ध्वनित होता है कि ये शब्द किसी समय तत्तद् समानरूप वाले समूहों के आद्य शब्द थे। उन्हें ही उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने संज्ञारूप से स्वीकार कर लिया।

पाणिनि का विशेष सूत्र—पाणिनि का एक सूत्र है—**गोतो णित्** (७।१।९०)। इस सूत्र में **गो** शब्द से पञ्चम्यर्थक तसिल् का निर्देश है। सम्पूर्ण पाणिनीय तन्त्र में कहीं पर भी शब्दविशेष से **तसिल्** का निर्देश नहीं किया गया। कुछ वैयाकरण इसे तपरनिर्देश मानते हैं वह युक्त नहीं, क्योंकि तपरनिर्देश वर्ण के साथ किया जाता है न कि नाम शब्द के साथ। इतना ही नहीं, इस सूत्र में केवल 'गो' शब्द का निर्देश मानने पर **द्यो** शब्द का उपसंख्यान भी करना पड़ता है। ये सब कठिनाइयां तभी उपस्थित होती हैं जब इस सूत्र में 'गो' शब्द का निर्देश स्वीकार किया जाता है। यदि कातन्त्र की अग्नि-श्रद्धा-नदी और पाणिनि की नदी संज्ञा के समान इस **गो** शब्द को भी शब्दपारायणान्तर्गत ओकारान्त शब्दों का आद्य शब्द मान कर संज्ञावाची शब्द मान लिया जाए तो कोई आपत्ति नहीं आती। तसिल् से निर्देश अञ्जसा उपपन्न हो जाता। ऐसी अवस्था में इस सूत्र के **ओतो णित्** पाठान्तर और **गोतो णित्** पाठ में मूलतः कोई अन्तर नहीं पड़ता और ना ही 'द्यो' शब्द के उपसंख्यान की आवश्यकता रहती है।

बृहस्पति के शास्त्र का नाम—बृहस्पति ने इन्द्र के लिए जिस शब्द-शास्त्र का प्रवचन किया था उस का नाम **शब्दपारायण** था, ऐसा महाभाष्य के व्याख्याता भर्तृहरि और कैयट का मत है।[2]

बृहस्पति के **शब्दपारायण ग्रन्थ** में किए गए प्रतिपद पाठ के प्रकार के विषय में हमने जो विचार उपस्थित किए हैं वे अभी और अधिक प्रमाणों की अपेक्षा रखते हैं।

---

१. कातन्त्र २।१।८, १०॥ २. शब्दपारायणं रूढि शब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य। भर्तृ० महाभाष्य दीपिका पृष्ठ २१॥ शब्दपारायणशब्दो योगरूढः

२—इन्द्र (८५०० वि० पू०)

तैत्तिरीय संहिता ६ । ४ । ७ के प्रमाण से हम पूर्व लिख चुके हैं[1] कि देवों की प्रार्थना पर देवराज इन्द्र ने सर्व प्रथम व्याकरणशास्त्र की रचना की । उस से पूर्व संस्कृत भाषा अव्याकृत=व्याकरण संबन्ध-रहित थी । इन्द्र ने सर्व प्रथम प्रतिपद प्रकृति-प्रत्यय-विभाग का विचार करके शब्दोपदेश की प्रक्रिया प्रचलित की ।

परिचय

वंश—इन्द्र के पिता का नाम कश्यप प्रजापति था और माता का नाम अदिति । अदिति दक्ष प्रजापति की कन्या थी । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र १ । ८ में बाहुदन्ती-पुत्र का मत उद्धृत किया है । प्राचीन टीकाकारों के मतानुसार बाहुदन्ती-पुत्र का अर्थ इन्द्र है । क्या अदिति का नामान्तर बाहुदन्ती भी था ? महाभारत शान्ति पर्व अ० ५९ में बाहुदन्तक शास्त्र का उल्लेख है ।

भ्राता—महाभारत[2] तथा पुराणों[3] में इन्द्र के ग्यारह सहोदर कहे हैं । वे सब अदिति की सन्तान होने से आदित्य कहाते हैं । उनके नाम हैं—धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश (अंशुमान्), भग, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा और विष्णु ।[4] इनमें विष्णु सब से कनिष्ठ है ।[5] अग्नि और सोम भी इन्द्र के भाई हैं,[6] परन्तु सहोदर नहीं ।

आचार्य—इन्द्र के न्यूनातिन्यून पांच आचार्य थे—प्रजापति, बृहस्पति, अश्विनीकुमार, मृत्यु अर्थात् यम और कौशिक विश्वामित्र । छान्दोग्य उपनिषद् ८ । ७—११ में लिखा है कि इन्द्र ने प्रजापति से आत्मज्ञान सीखा था । श्लोकवार्तिक के टीकाकार पार्थसारथिमिश्र द्वारा उद्धृत पुरातन वचन के अनुसार इन्द्र ने प्रजापति से मीमांसाशास्त्र पढ़ा था ।[7] गोपथ ब्राह्मण १।१।२५ में इन्द्र और प्रजापति का संवाद है । इन तीनों स्थानों में उल्लिखित प्रजापति कौन

---

१. पूर्व पृष्ठ ६१। २. आदिपर्व ६६।१५, १६।। ३. भविष्य, ब्रा० प० ७८.५३।।

४. इन में से आठ आदित्यों के नाम ताण्ड्य ब्राह्मण २४।१२।२४ में लिखे हैं।

५. प्रजापतिरिन्द्रमसृजातानुजमवरं देवानाम् । तै० ब्रा० २ । २ । १० ॥

६. स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरावब्रवीत् । शत० ११ । १ । ६ । १९ ॥

७ तद्यथा ब्रह्मा प्रजापतये प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यादित्याय पृष्ठ ८,

इन्द्र ने प्रजापति से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था। बार्हस्पत्य अर्थ-सूत्रों में बृहस्पति से नीतिशास्त्र पढ़ने का उल्लेख है।[2] पिङ्गल छन्द के टीकाकार यादवप्रकाश के मत में दुश्च्यवन=इन्द्र ने बृहस्पति से छन्दःशास्त्र का अध्ययन किया था।[3] चरक और सुश्रुत में लिखा है कि इन्द्र ने अश्विनी-कुमारों से आयुर्वेद पढ़ा था।[4] वायुपुराण १०३। ६० के अनुसार मृत्यु=यम ने इन्द्र के लिये पुराण का प्रवचन किया था।[5] जैमिनीय ब्रा० २।६९ के अनुसार इन्द्र देवासुर संग्राम में चिर काल पर्यन्त व्यापृत रहने से वेदों को भूल गया था, उसने पुनः [अपने शिष्य] कौशिक विश्वामित्र से वेदों का अध्ययन किया।[6]

शिष्य—शांखायन आरण्यक के वंश ब्राह्मण के अनुसार विश्वामित्र ने इन्द्र से यज्ञ और अध्यात्म विद्या पढ़ी थी।[7] ऋक्तन्त्र के पूर्वोद्धृत उद्धरण में लिखा है कि भरद्वाज ने इन्द्र से शब्दशास्त्र का अध्ययन किया था। चरक में कहा है—भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद पढ़ा था[8] और आत्रेय पुनर्वसु ने भरद्वाज से[9], परन्तु वाग्भट ने आत्रेय पुनर्वसु को इन्द्र का साक्षात् शिष्य लिखा है।[10] यह भरद्वाज सुराचार्य बृहस्पति आङ्गिरस का पुत्र है। इस का वर्णन हम अनुपद करेंगे। सुश्रुत के अनुसार धन्वतरि ने इन्द्र से शल्यचिकित्सा सीखी थी।[11] आयुर्वेद की काश्यप संहिता में लिखा है—इन्द्र ने कश्यप,

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ५८, ब्रह्मा के प्रकरण में उद्धृत।

२. बृहस्पतिरथाचार्य इन्द्राय नीतिसर्वस्वमुपदिशति। ग्रन्थ के प्रारम्भ में। प्राचीन बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र इस से भिन्न था।

३. ······लेभे सुराणां गुरुः। तस्माद् दुश्च्यवन···। छन्दःटीका के अन्त में। उद्धृत वै० वा० इतिहास, ब्राह्मण और आरण्यक भाग।

४. अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः। चरक सूत्र० १। ५।। अश्विभ्यामिन्द्रः। सुश्रुत सू० १। २०।।

५. मृत्युश्चेन्द्राय वै पुनः।

६. यद्ध वा असुरैर्महासंग्रामं संयेते तद्ध वेदान् निराचकार। तान् ह विश्वामित्रादधि जगे।।

७. विश्वामित्र इन्द्रात्। १५। १।।

८. ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्। चरक सूत्र० १। ५।।

९. चरक सूत्र० १।२७-३०।।

१०. सोऽश्विनौ, तौ सहस्राक्षं, सोऽत्रिपुत्रादि ान मुनीन्। अष्टाङ्गहृदय सूत्र० १।३

११. इन्द्रादहम्। सूत्र० १।२०।।

वसिष्ठ, अत्रि और भृगु को आयुर्वेद पढ़ाया था।[1] वायुपुराण १०३। ६० में लिखा है इन्द्र ने वसिष्ठ को पुराणोपदेश किया था।[2] पिङ्गलछन्द के टीकाकार यादवप्रकाश के मत में इन्द्र ने असुर-गुरु=शुक्राचार्य को छन्दःशास्त्र पढ़ाया था।[3] पार्थसारथि मिश्र द्वारा उद्धृत प्राचीन वचनानुसार इन्द्र ने आदित्य को मीमांसाशास्त्र पढ़ाया था।[4] यह आदित्य कौन है ? यह अज्ञात है।

देश—पुरा काल में भारतवर्ष के उत्तर हिमवत् पार्श्व में निवास करने वाली आर्यजाति "देव" कहाती थी। देवराज इन्द्र उस का अधिपति था।

विशेष घटनाएं—छान्दोग्य उपनिषद् ८।७—११ में लिखा है कि इन्द्र ने अध्यात्मज्ञान के लिये प्रजापति के समीप (३२+३२+३२+५=) १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन किया था। पुराकाल में अनेक देवासुर संग्राम हुए। वायुपुराण ९७। ७२—७६ में इन की संख्या १२ लिखी है। ये सब संग्राम इन्द्र की अध्यक्षता में हुए थे। इनका काल न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष के लगभग है। इस सुदीर्घ देवासुर संग्राम काल में इन्द्र वेदों से विमुख हो गया। देवासुर संग्रामों के समाप्त होने पर अपने शिष्य विश्वामित्र से पुनः वेदों का अध्ययन किया (जै० ब्रा० २।७९)। इस प्रकार इन्द्र कौशिक बना। मै० सं० ४।६।८ तथा काठक संहिता २८।३ के अनुसार इन्द्र ने वृत्र का वध करके महेन्द्र नाम प्राप्त किया।[5]

इन्द्र की मन्त्रिपरिषद्—कौटिल्य अर्थशास्त्र १। १५ के अनुसार इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में एक सहस्र ऋषि थे। इसी कारण वह सहस्राक्ष कहाता था।[6]

---

१. इन्द्र ऋषिभ्यश्चतुर्भ्यः कश्यप-वसिष्ठ-अत्रि-भृगुभ्यः। पृष्ठ ४२।

२. इन्द्रश्चापि वसिष्ठाय।

३. तस्माद् दुश्च्यवनस्ततोऽसुरगुरुः……। छन्दःटीका के अन्त में।

४. पूर्व पृष्ठ ८०, टि० ७।

५. इन्द्रो वै वृत्रमहन् सोऽन्यान् देवान् अत्यमन्यत। स महेन्द्रोऽभवत्। मै० सं० इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा स महेन्द्रोऽभवत्।

बन गया।[1]

दीर्घजीवी—इन्द्र बहुत दीर्घजीवी था। उसने केवल अध्यात्मज्ञान के लिये १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ में लिखा है कि इन्द्र ने अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को तृतीय पुरुषायुष की समाप्ति पर वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।[2] तदनुसार इन्द्र न्यूनातिन्यून ६००-७०० वर्ष अवश्य जीवित रहा होगा। चरक चिकित्सा स्थान अ० १ में इन्द्रोक्त कई ऐसी रसायनों का उल्लेख है जिन के सेवन से एक सहस्र वर्ष की आयु होती है। इन रसायनों का सेवन करके इन्द्र स्वयं भी दीर्घायु हुआ और अपने प्रिय शिष्य भरद्वाज को भी दीर्घायुष्य प्राप्त कराया।

काल

इन्द्र का निश्चित काल निर्णय करना कठिन है। भारतीय प्राचीन वाङ्मय में जो वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि यह इन्द्र कृतयुग के अन्त में अर्थात् विक्रम से ९५०० साढ़े नौ सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। हमने इस इतिहास में प्राचीन काल-गणना कृत, त्रेता और द्वापर युगों की दिव्यवर्ष संख्या को सौर वर्ष मान कर की है। हमारा विचार है दिव्य वर्ष शब्द सौर वर्ष का पर्याय है। तदनुसार कृत युग का ४८००, त्रेता का ३६०० और द्वापर का २४०० वर्ष परिमाण है। इसी प्रकार भारत युद्ध को विक्रम से ३०४५ वर्ष पूर्व माना है। इस पर विशेष विचार इसी ग्रन्थ में अन्यत्र किया जायगा। अतः ऊपर दिया हुआ इन्द्र काल न्यूनातिन्यून है। वह इस से अधिक प्राचीन हो सकता है, न्यून नहीं। इन्द्र बहुत दीर्घजीवी था यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

ऐन्द्र व्याकरण

ऐन्द्र व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु इस का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। जैन शाकटायन व्याकरण १।२।३७ में

१. इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः कर्मणा क्षत्रियोऽभवत्। महा० शान्ति० २२। ११ कुम्भ० सं० ॥

२. भरद्वाजो ह त्रीभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं जीर्णिं स्थविरं शयानमिन्द्र

सोमेश्वरसूरि विरचित यशस्तिलक चम्पू में ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश उपलब्ध होता है।[3] हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में ऐन्द्र व्याकरण का संकेत मिलता है।[4] प्रसिद्ध मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने अपनी भारतयात्रा वर्णन में ऐन्द्र तन्त्र का उल्लेख किया है।[5] देवबोध ने महाभारतटीका के प्रारम्भ में 'माहेन्द्र' नाम से ऐन्द्र व्याकरण का निर्देश किया है।[6] वोपदेव ने कविकल्पद्रुम के प्रारम्भ में आठ वैयाकरणों में इन्द्र का नाम लिखा है।[7] कवीन्द्राचार्य सरस्वती के पुस्तकालय का जो सूचीपत्र उपलब्ध हुआ है, उसमें व्याकरण की पुस्तकों में ऐन्द्र व्याकरण का उल्लेख है।[8] कथासरित्सागर के अनुसार ऐन्द्र तन्त्र पुराकाल में ही नष्ट हो गया था,[9] अतः कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में निर्दिष्ट ऐन्द्र व्याकरण कदाचित् अर्वाचीन ग्रन्थ होगा।

पण्डित कृष्णमाचार्य की भूल—पं० कृष्णमाचार्य ने अपने "क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर" ग्रन्थ के पृष्ठ ८११ पर लिखा है कि भरत के नाट्यशास्त्र में ऐन्द्र व्याकरण और यास्क का उल्लेख है। हमने भरत-नाट्यशास्त्र का भले प्रकार अनुशीलन किया है और नाट्यशास्त्र का एक पारायण हमने केवल पं० कृष्णमाचार्य के लेख की सत्यता जांचने के लिये किया, परन्तु हमें ऐन्द्र व्याकरण और यास्क का उल्लेख नाट्यशास्त्र में कहीं नहीं मिला। हां, नाट्यशास्त्र के पन्द्रहवें अध्याय में व्याकरण का कुछ विषय निर्दिष्ट है और वह कातन्त्र व्याकरण से बहुत समानता रखता है। इस विषय में हम कातन्त्र के प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे।

डा० वेलवेल्कर की भूल—डाक्टर वेलवेल्कर का मत है—कातन्त्र ही प्राचीन ऐन्द्र तन्त्र है। उनका मत अत्यन्त भ्रमपूर्ण है, यह हम अनुपद

---

१. जराया इसीन्द्रस्याचि। २. इन्द्रोऽपि महामते अनेकशास्त्रविदग्धबुद्धिः स्वशास्त्रप्रणेता........। टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर पृष्ठ २८० पर उद्धृत। ३. प्रथम आश्वास, पृष्ठ ६०।

४. ऐन्द्रेशानादिषु व्याकरणेषु चाज्झलादिरूपस्यासिद्धेः। पृष्ठ १०।

५, अल्बेरूनी का भारत, भाग २, पृष्ठ ४०।

६. पूर्व पृष्ठ ४३ पर उद्धृत 'यान्युज्जहार......' श्लोक।

७. पूर्व पृष्ठ ६४ पर उद्धृत 'इन्द्रश्चन्द्रः...' श्लोक।

ऐन्द्र तन्त्र और तमिल व्याकरण

अगस्त्य के १२ शिष्यों में एक पणंपारणार था। उस ने तमिल व्याकरण लिखा। उसके ग्रन्थ का आधार ऐन्द्र व्याकरण था। तोलकाप्पियं पर इसी पणंपारणार का भूमिकात्मक वचन है।[1] यह तोलकाप्पियं ईसा से बहुत पूर्व का ग्रन्थ है। इस में श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के श्लोकों का अनुवाद है।[1]

ऐन्द्र तन्त्र का परिमाण

हम पूर्व लिख चुके हैं कि प्रत्येक विषय के आदिम ग्रन्थ अत्यन्त विस्तृत थे।[2] उत्तरोत्तर मनुष्यों की आयु के ह्रास और मति के मन्द होने के कारण सब ग्रन्थ क्रमशः संक्षिप्त किये गये।[2] ऐन्द्र व्याकरण अपने विषय का प्रथम ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ भी अत्यन्त विस्तृत था। १२ वीं शताब्दी से पूर्वभावी महाभारत का टीकाकार देवबोध लिखता है--

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥

इस वचन से ऐन्द्र तन्त्र के विस्तार की कल्पना सहज में की जा सकती है। तिब्बतीय ग्रन्थों के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण का परिमाण २५ सहस्र श्लोक था।[3] पाणिनीय व्याकरण का परिमाण लगभग एक सहस्र श्लोक है। तदनुसार ऐन्द्र तन्त्र पाणिनीय व्याकरण से लगभग २५ गुना बड़ा रहा होगा

कई व्यक्ति उपर्युक्त श्लोक में "**माहेन्द्रात्**" के स्थान में "**माहेशात्**" पढ़ते हैं।[4] यह ठीक नहीं है। यह श्लोक देवबोध का स्वरचित है। इस में "माहेन्द्रात्" इस रूप का कोई पाठभेद उपलब्ध नहीं होता।

---

१. देखो, पी. ऐल. सुब्रह्मण्य शास्त्री, एम. ए. पी. एच. डी. का लेख जर्नल ओरियण्टल रिसर्च मद्रास, सन् १९३१, पृष्ठ १८३। २. पूर्व पृष्ठ ६।

३. जर्नल गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग १, संख्या ४, पृष्ठ ४१०, सन् १९४४। ४. श्री गुरुपद हालदार कृत व्याकरण दर्शनेर इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४६५। बंगल विश्वकोश—महेश्वर शब्द।

अति प्राचीन वैदिक ग्रन्थकारों के मतानुसार इन्द्र ने बृहस्पति से शब्द-शास्त्र का अध्ययन किया था, महावीर स्वामी से नहीं। महावीर स्वामी तथागत बुद्ध के समकालीन हैं, इन्द्र उन से कई सहस्र वर्ष पूर्व अपना व्याकरण लिख चुका था। जैनेन्द्र व्याकरण आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दी विरचित है। यह हम "पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरणकार" प्रकरण में लिखेंगे।

अन्य कृतियां

१, **आयुर्वेद**—चरक में लिखा है इन्द्र ने भरद्वाज को आयुर्वेद पढ़ाया था।[1] इन्द्र ने भरद्वाज को सम्पूर्ण आयुर्वेद=आठों तन्त्र पढ़ाए थे वा केवल कायतन्त्र, यह अज्ञात है। वायुपुराण ९२।२२ में लिखा है कि भरद्वाज ने आयुर्वेद संहिता की रचना की और उसके आठ विभाग करके शिष्यों को पढ़ाया।[2] इस से प्रतीत होता है कि इन्द्र ने भरद्वाज के लिये सम्पूर्ण आयुर्वेद (आठों तन्त्रों) का प्रवचन किया था।

सुश्रुत के प्रारम्भ में आचार्य-परम्परा का निर्देश करते हुए लिखा है कि भगवान् धन्वन्तरि ने इन्द्र से शल्यतन्त्र का अध्ययन किया था।[3]

२. **अर्थशास्त्र**—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बाहुदन्ती-पुत्र का मत उद्धृत किया है।[4] प्राचीन टीकाकारों के अनुसार बाहुदन्ती-पुत्र इन्द्र है। महाभारत शान्ति पर्व अ० ५९ में बाहुदन्तक अर्थशास्त्र का उल्लेख मिलता है।

३. **मीमांसाशास्त्र**—श्लोकवार्तिक की टीका में पार्थसारथि मिश्र किसी पुरातन ग्रन्थ का एक वचन उद्धृत करता है। उस में इन्द्र को मीमांसाशास्त्र का प्रवक्ता कहा है।[5]

४. **छन्दःशास्त्र**—इन्द्र प्रोक्त छन्दःशास्त्र का उल्लेख यादवप्रकाश ने पिङ्गल छन्दःशास्त्र की टीका के अन्त में किया है।[6]

---

१. पूर्व पृष्ठ ८१, टि० ८। २. आयुर्वेदं भरद्वाजश्चकार सभिषक्क्रियम्। तमष्टधा पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत्॥ ३. पूर्व पृष्ठ ८१, टि० ११।

४. नेति बाहुदन्तीपुत्रः—शास्त्रविदहृष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत्। अभिजनप्रज्ञा-

६. **गाथाएं**—महाभारत वनपर्व ८८ । ५ में इन्द्रगीत गाथाओं का उल्लेख मिलता है।

४—वायु (८५०० वि० पू०)

तैत्तिरीय संहिता ६।४।७ में लिखा है इन्द्र ने वाणी को व्याकृत करने में वायु से सहायता ली थी।[१] तैत्तिरीय संहिता का यह स्थल विशुद्ध ऐतिहासिक है, आलङ्कारिक नहीं है। अतः स्पष्ट है कि इन्द्र को व्याकरण की रचना में सहयोग देने वाला वायु भी निस्सन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति है। इन्द्र और वायु के सहयोग से देववाणी के व्याकरण की सर्वप्रथम रचना हुई। इसीलिये कई स्थानों में वाणी के लिये "**वाग् वा ऐन्द्रवायवः**" आदि प्रयोग मिलते हैं।[२] वायु पुराण २।४४ में वायु को "**शब्दशास्त्र-विशारद**" कहा है। यामलाष्टक तन्त्र में आठ व्याकरणों में **वायव्य** व्याकरण का भी उल्लेख किया।[३] कवीन्द्राचार्य के सूचीपत्र में एक 'वायु व्याकरण' का उल्लेख है।[४] हमें उसकी प्राचीनता में सन्देह है।

भार्या—वायु की भार्या का नाम अञ्जनी था।

पुत्र—वायु का पुत्र लोकविश्रुत हनुमान् था। इस की माता अञ्जनी थी।[५] हनुमान् भी अपने पिता के समान शब्दशास्त्र का महान् वेत्ता था।[६]

आचार्य—वायु पुराण १०३। ५८ के अनुसार ब्रह्मा ने मातरिश्वा=वायु के लिये पुराण का प्रवचन किया था।[७]

शिष्य—वायु पुराण १०३। ५९ में लिखा है, वायु से उशना कवि ने पुराणज्ञान प्राप्त किया था।[८]

---

१. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽब्रवीद्वरं वृणै, मह्यं चैव वायवे च सह गृह्याता इति।

२. मै० सं० ४।५।८॥ कपि० ४२।३॥ ३. ऋग्वेद कल्पद्रुम की भूमिका में उद्धृत। पृष्ठ ११४, हमारा हस्तलेख। ४. सूचीपत्र पृष्ठ ३।

५. अञ्जनीगर्भसम्भूतः। वायु पुराण ६०। ७३॥

६. पृष्ठ ५६ टि० ४ द्रष्टव्य। ७. ब्रह्मा ददौ शास्त्रमिदं पुराणं मातरिश्वने।

८. तस्माच्चोशनसा प्राप्तम्।

महान् योद्धा था। वायु पुराण ५९। ११८ मे वायु को ब्रह्मवादी कहा है।

वायुपुर—वायु पुराण ६०। ६८ में वायु के नगर का नाम वायुपुर लिखा है।

पुराण—वायु पुराण १। ४७ के अनुसार मातरिश्वा=वायु ने वायु पुराण का प्रवचन किया था।[1] महाभारत वन पर्व १९१। १६ से वायुप्रोक्त पुराण का निर्देश मिलता है।[2]

गाथाएं—मनुस्मृति ९। ४२ में वायुगीत गाथाओं का उल्लेख है।[3] महाभारत शान्तिपर्व ७२ में ऐल पुरुरवा और मातरिश्वा का संवाद मिलता है।

५—भरद्वाज (९३०० वि० पू०)

व्याकरणशास्त्र का तृतीय आचार्य बार्हस्पत्य भरद्वाज है। यद्यपि भरद्वाजतन्त्र इस समय उपलब्ध नहीं है तथापि ऋक्तन्त्र के पूर्वोक्त[4] प्रमाण से स्पष्ट है कि भरद्वाज व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता था।

परिचय

वंश—भरद्वाज बृहस्पति का पुत्र है। ब्राह्मण ग्रन्थों में बृहस्पति को देवों का पुरोहित कहा है।[5] कोशग्रन्थों में बृहस्पति का पर्याय 'सुराचार्य' लिखा है।[6] यह बृहस्पति अङ्गिरा का पुत्र है।

सन्तति—काशिका वृत्ति २। १। १९ तथा २। ४। ८४ में भरद्वाज के २१ अपत्यों का निर्देश है।[7] ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में भरद्वाज के ऋजिष्वा, गर्ग, नर, पायु, वसु, शास, शिरिम्बिठ, शुनहोत्र, सप्रथ और सुहोत्र इन दश मन्त्रद्रष्टा पुत्रों और रात्रि नाम्नी मन्त्रद्रष्ट्री पुत्री का उल्लेख मिलता है। यजुःसर्वानुक्रमणी में यजुर्वेद ३४। ३२ की ऋषिका कशिपा भरद्वाजदुहिता लिखी है। महाभारत आदिपर्व की दूसरी वंशावली

---

१. पुराणं संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना।

२. वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम्। ३. अत्र गाथा वायुगीताः।

४. पूर्व पृष्ठ ५८ पर उद्धृत।

५. बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः। ऐ० ब्रा० ८। २६॥

६. अमरकोश १। २। २५॥ ७. एकविंशति भरद्वाजम्। यह उदाहरण

भुमन्यु (भुवमन्यु) के पुत्र हैं। ये दोनों ब्राह्मण हो गये थे। इसी गर्ग के कुल में किसी गार्ग्य ने व्याकरण, निरुक्त, सामवेदीय पदपाठ और उपनिदान सूत्र का प्रवचन किया था। इनका उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी और यास्कीय निरुक्त में मिलता है।

आचार्य—ऋक्तन्त्र के अनुसार भरद्वाज ने इन्द्र से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[1] ऐतरेय आरण्यक २।२।४ में लिखा है—इन्द्र ने भरद्वाज के लिये घोषवत् और ऊष्म वर्णों का उपदेश किया था।[2] चरक संहिता सूत्रस्थान १।२३ से विदित होता है कि भरद्वाज ने इन्द्र से आयुर्वेद पढ़ा था।[3] वायु पुराण १०३।६३ के अनुसार तृणंजय ने भरद्वाज के लिये पुराण का प्रवचन किया था।[4] महाभारत शान्तिपर्व १८२।५ के अनुसार भृगु ने भरद्वाज को धर्मशास्त्र का उपदेश किया था।[5]

शिष्य—ऋक्तन्त्र के अनुसार भरद्वाज ने अनेक ऋषियों को व्याकरण पढ़ाया था।[6] चरक सूत्रस्थान में अनेक ऋषियों को आयुर्वेद पढ़ाने का उल्लेख है। उन में से एक आत्रेय पुनर्वसु है।[7] वायु पुराण १०३।६३ में लिखा है कि भरद्वाज ने गौतम को पुराण पढ़ाया था।[8] कौटिल्य अर्थशास्त्र १२।१ के अनुसार भरद्वाज ने किसी अर्थशास्त्र का भी प्रवचन किया था।[9]

देश—रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४ के अनुसार भरद्वाज का आश्रम प्रयाग के निकट गंगा यमुना के संगम पर था।

मन्त्रद्रष्टा—ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में बार्हस्पत्य भरद्वाज को अनेक सूक्तों का द्रष्टा लिखा है।

दीर्घजीवी—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ के अनुसार इन्द्र ने तृतीय-

---

१. इन्द्रो भरद्वाजाय। १।४॥ २. तस्य यानि व्यञ्जनानि तच्छरीरम्, यो घोषः स आत्मा, य ऊष्माणः स प्राणः······एतदु हैवेन्द्रो भरद्वाजाय प्रोवाच।

३. तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः। ४. तृणञ्जयो भरद्वाजाय।

५. भृगुणाऽभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते। ६. भरद्वाज ऋषिभ्यः।१।४॥

७. ऋषयश्च भरद्वाजात्·····। अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः।१।२७,३०॥

८. गौतमाय भरद्वाजः।

९. इन्द्रस्य हि स प्रणमति यो बलीयसो नमतीति भरद्वाजः।

पुरुषायुष की समाप्ति पर भरद्वाज को वेद की अनन्तता का उपदेश किया था।[1] चरक संहिता के प्रारम्भ में भरद्वाज को अमितायु कहा है।[2] ऐतरेय आरण्यक १।२।२ में भरद्वाज को अनूचानतम और दीर्घजीवितम लिखा है।[3] ताण्ड्य ब्राह्मण १५।३।१७ के अनुसार यह काशिराज दिवोदास का पुरोहित था।[4] मैत्रायणी संहिता ३।३।७ और गोपथ ब्राह्मण २।१।१८ में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का पुरोहित कहा है।[5] जैमिनीय ब्राह्मण ३।२।४४ में दिवादास के पौत्र क्षत्र का पुरोहित लिखा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११ से व्यक्त है कि दीर्घजीवी भरद्वाज के साथ इन्द्र का विशेष संबन्ध था। अतः यही दीर्घजीवी भरद्वाज व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता है, यह निश्चित है।

विशिष्ट घटना—मनुस्मृति १०।१०७ के अनुसार किसी महान् दुर्भिक्ष के समय क्षुधार्त भरद्वाज ने बृवु तक्षु से बहुत सी गौएं का प्रतिग्रह किया था।

काल

हम ऊपर कह चुके हैं कि भरद्वाज काशिपति दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का पुरोहित था। रामायण उत्तरकाण्ड ३८।१५ के अनुसार काशिपति प्रतर्दन दाशरथि राम का समकालिक था।[6] रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग ५४ के अनुसार राम आदि वन जाते हुए भरद्वाज के आश्रम में ठहरे थे। सीता-स्वयंवर के अनन्तर दाशरथि राम का जामदग्न्य राम से साक्षात्कार हुआ था। महाभारत के अनुसार जामदग्न्य राम त्रेता और द्वापर की सन्धि में हुआ था।[7] इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि दीर्घजीवी भरद्वाज मर्यादापुरुषोत्तम

---

१ भरद्वाजो ह वा त्रीभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं जीर्णिं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम किं तेन कुर्याः……।

२. तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितः। सूत्र० १।२६॥ अपरिमितशब्दः सर्वत्रोक्तात् प्रमाणादधिकविषयः इति न्यायविदः। कात्यायनश्चाह अपरिमितश्च प्रमाणाद् भूयः। आप० श्रौत २।१।१ रुद्रवृत्ति में उद्धृत।

३. भरद्वाजो ह वा ऋषीणामनूचानतमो दीर्घजीवितमस्तपस्वितम आस। तुलना करो—भरद्वाजो ह वै कृशो दीर्घः पलित आस। ऐ० ब्रा० १५।५॥

४. दिवोदासं वै भरद्वाजपुरोहितं नाना जनाः पर्ययन्त।

५. एतेन वै भरद्वाजः प्रतर्दनं दैवोदासिं समनह्यत्। मै० सं०। एतेन ह वै भरद्वाजः प्रतर्दनं समनह्यत। गो० ब्रा०।   ६. तं विसृज्य ततो रामो वयस्यमकुतो-

राम के समय विद्यमान था। दाशरथि राम का काल त्रेता के सन्ध्यंश का अन्तिम चरण है। अतः भरद्वाज का काल विक्रम से न्यूनाति न्यून ९३०० से ७५०० वर्ष पूर्व है। महाभारत में लिखा है कि भरद्वाज ने महाराज भरत की सुनन्दा रानी में नियोग से सन्तान उत्पन्न किया था।[1] शौनक-संस्कृत ऐतरेय ब्राह्मण १५।५ में प्रयुक्त "आस" क्रिया[2] से व्यक्त होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के शौनक के परिष्कार से बहुत पूर्व भरद्वाज की मृत्यु हो चुकी थी। भारत युद्ध के समय द्रोण ४०० वर्ष का था। उस से न्यूनाति न्यून २०० वर्ष पूर्व द्रुपद उत्पन्न हुआ था। महाभारत में द्रुपद को **राज्ञां वृद्धतमः** कहा है। भरद्वाज के सखा महाराज पृषत्[3] के स्वर्गवास के पश्चात् द्रुपद राजगद्दी पर बैठा। इसी समय भरद्वाज स्वर्गामी हुआ।[4] इस घटना से यही प्रतीत होता है कि भरद्वाज भारत युद्ध से लगभग ४०० वर्ष पूर्व तक जीवित रहा। भरद्वाज भारतीय इतिहास में वर्णित उन कतिपय दीर्घजीवितम ऋषियों में से एक है जिनकी आयु लगभग एक सहस्र वर्ष से भी अधिक थी। चरक चिकित्सास्थान अध्याय १ में लिखा है कि भरद्वाज ने रसायन द्वारा दीर्घायुष्ट्व प्राप्त किया था।[5] चरक के इसी प्रकरण में सहस्रवार्षिक कई रसायनों का उल्लेख है, जिन के प्रयोग से अनेक महर्षियों ने इतना सुदीर्घ आयुष्य प्राप्त किया था, जिस की कल्पना भी आज के अल्पायुष्य काल में असम्भव प्रतीत होती है।

व्याकरण का स्वरूप

भरद्वाज का व्याकरण अनुपलब्ध है। उसका एक भी वचन वा मत हमें किसी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हुआ। कात्यायन ने यजुःप्राति-

---

१. आदि पर्व, द्वितीय वंशावली। २. पूर्व पृष्ठ ६२ पर, टि० ३।

३. भरद्वाजस्य सखा पृषतो नाम पार्थिवः। आदि पर्व १६६।६॥

४. ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।·······भरद्वाजोऽपि हि भगवान् आरुरोह दिवं तदा। आदि पर्व १३०।४४, ४५॥

५. एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः। जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च

कि भरद्वाज ने अपने व्याकरण में आख्यात पर विशेष रूप से लिखा था। इस से अधिक हम इस विषय में कुछ नहीं जानते।

अन्य कृतियां

इस अनूचानतम और दीर्घजीवितम भरद्वाज ने अपने सुदीर्घ जीवन में किन-किन विषयों का प्रवचन किया यह अज्ञात है। प्राचीन ग्रन्थों में इस भरद्वाज को निम्न विषयों का प्रवक्ता वा शास्त्रकर्त्ता कहा है—

आयुर्वेद—वायु पुराण ९२।२२ में लिखा है—भरद्वाज ने आयुर्वेद की संहिता रची थी।[२] चरक सूत्र स्थान १।२६-२८ के अनुसार भरद्वाज ने आत्रेय पुनर्वसु प्रभृति शिष्यों को कायचिकित्सा पढ़ाई थी। भारद्वाजीय आयुर्वेद संहिता का एक उद्धरण अष्टाङ्ग संग्रह सूत्रस्थान पृष्ठ २७० की इन्दु की टीका में मिलता है।

धनुर्वेद—महाभारत शान्ति पर्व २१०।२१ के अनुसार भरद्वाज ने धनुर्वेद का प्रवचन किया था।[३]

राजशास्त्र—महाभारत शान्ति पर्व ५८।३ में लिखा है—भरद्वाज ने राजशास्त्र का प्रणयन किया था।[४]

अर्थशास्त्र—कौटिल्य अर्थशास्त्र में भरद्वाज का एक वचन उद्धृत है।[५] उससे विदित होता है कि भरद्वाज ने अर्थशास्त्र की रचना की थी। इस अर्थ-शास्त्र के दो श्लोक यशस्तिलकचम्पू के पृष्ठ १०० पर उद्धृत हैं। इनमें से पहले का अर्धभाग कौटिल्य अर्थशास्त्र ७। ५ में उपलब्ध होता है।[६] भरद्वाज के पिता बृहस्पति का अर्थशास्त्र प्रसिद्ध है।

---

१. भारद्वाजकमाख्यातम्। अ० ८ पृष्ठ, ३२७ मद्रास संस्क०। उवट—भरद्वाजेन दृष्टमाख्यातम्। सम्पादक ने भ्रम से इस प्रकरण के अनेक सूत्र टीका में मिला दिये हैं।

२. पूर्व पृष्ठ ८८, टि० २॥

३. भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्।

४. भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः। राजशास्त्रप्रणेतारो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः॥

५. इन्द्रस्य हि स प्रणमति यो बलीयसे नमतीति भरद्वाजः। अधि० १२, अ० १। तुलना करो—इन्द्रमेव प्रणमते यद्राजानमिति श्रुतिः। महाभारत शान्ति० ६४।४॥

यन्त्रसर्वस्व—महर्षि भरद्वाज ने "यन्त्रसर्वस्व" नामक कला-कौशल का बृहद् ग्रन्थ लिखा था। उसका कुछ भाग बड़ोदा के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसका विमान विषय से सम्बद्ध उपलब्ध स्वल्पतम भाग श्री पं० प्रियरत्नजी आर्य (स्वामी ब्रह्ममुनिजी) ने विमानशास्त्र के नाम कई वर्ष पूर्व प्रकाशित किया था।[1] अब आपने उसका पर्याप्त भाग उपलब्ध करके आर्यभाषानुवाद सहित प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ के अन्वेषण का श्रेय इन्हीं को है।

पुराण—वायु पुराण १०३। ६३ में भरद्वाज को पुराण का प्रवक्ता कहा है।[2]

धर्मशास्त्र—संस्कार भास्कर पत्रा २ में हेमाद्रि में निर्दिष्ट भरद्वाज का एक लम्बा उद्धरण उद्धृत है। उससे विदित होता है कि भरद्वाज ने किसी धर्मशास्त्र का भी प्रवचन किया था।

शिक्षा—भण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूना से एक भारद्वाज-शिक्षा प्रकाशित हुई है। उसके अन्तिम श्लोक तथा[3] टीकाकार नागेश्वर भट्ट[4] के मतानुसार यह शिक्षा भरद्वाजप्रणीत है। हमारे विचार में यह शिक्षा अर्वाचीन है। हां, हो सकता है कि इस का कोई मूल ग्रन्थ भरद्वाज-प्रणीत रहा हो। विशेष शिक्षाशास्त्र के इतिहास ग्रन्थ में देखें।

उपलेख—बड़ोदा प्राच्यविद्यामन्दिर के सूचीपत्र भाग १, सन् १९४२ ग्रन्थाङ्क ५४२, पृष्ठ ३८ पर उपलेख का एक सभाष्य हस्तलेख निर्दिष्ट है। उसका मूल भरद्वाज कृत कहा गया है।

६—भागुरि (४००० वि० पू०)

यद्यपि आचार्य भागुरि का उल्लेख पाणिनीय अष्टक में उपलब्ध नहीं होता, तथापि भागुरि-व्याकरणविषयक मतप्रदर्शक निम्न श्लोक वैयाकरण-निकाय में अत्यन्त प्रसिद्ध है—

---

१. यह भाग 'विमानशास्त्र' के नाम से आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा देहली से प्रकाशित हुआ है।

२. गौतमाय भरद्वाज।

आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥[1]

अर्थात्—भागुरि आचार्य के मत में "अव" और "अपि" उपसर्ग के अकार का लोप होता है। यथा-अवगाह=वगाह, अपिधान=पिधान तथा हलन्त शब्दों से आप् (टाप्) प्रत्यय होता है। यथा-वाक्=वाचा, निश्=निशा, दिश्=दिशा।

पातञ्जल महाभाष्य ४।१।१ से भी विदित होता है कि कई आचार्य हलन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय मानते थे।[2] पाणिनि ने अजादिगण में कुञ्चा उष्णिहा देवविशा शब्द पढ़े हैं। काशिकाकार ने इनमें हलन्तों से टाप् माना है।

भागुरि के व्याकरणविषयक कुछ वचन जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में उद्धृत किये हैं। उन्हें हम आगे लिखेंगे।

परिचय

भागुरि में श्रूयमाण तद्धितप्रत्यय के अनुसार भागुरि के पिता का नाम **'भगुर'** प्रतीत होता है। महाभाष्य ७।३।४५ में किसी **भागुरी** का नामोल्लेख है। संभव है यह भागुरी की स्वसा हो। इस पण्डिता देवी ने किसी लोकायत शास्त्र की व्याख्या की थी।[3] यह लोकायत शास्त्र अर्थशास्त्रवत् कोई अर्थप्रधान ग्रन्थ प्रतीत होता है।[4]

---

१. न्यास ६।२।३७, पृष्ठ ३४६। धातुवृत्ति, इण् धातु, पृष्ठ २४७। प्रक्रियाकौमुदी भाग १, पृष्ठ १८२। अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ ५३ में इस प्रकार पाठभेद है—टापं चापि हलन्तानां दिशा वाचा गिरा क्षुधा। वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।

२. यस्तर्ह्यनकारान्तात् क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा इति।

३. वर्णिका भागुरी लोकायतस्य। वर्तिका भागुरी लोकायतस्य। कैयट के मत में भागुरी टीका ग्रन्थ का नाम है—वर्णिकेति व्याख्यानीत्यर्थः, भागुरी टीकाविशेषः।

४. वात्स्यायन के 'अर्थश्च राज्ञः, तन्मूलत्वाल्लोकयात्रायाः' (१।२।१५) तथा 'वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण इति लौकायतिकाः' (१।२।२८) इन दोनों सूत्रों को मिलाकर पढ़ने से प्रतीत होता है कि लोकायत शास्त्र भी अर्थशास्त्र के समान कोई अर्थप्रधान शास्त्र था। हमारे मित्र श्री पं० ईश्वरचन्द्रजी ने (लोकायत

था। भागुरि का मरु-परिणाम विषयक मत वायु पुराण २४। ६२ में उपलब्ध होता है।[1]

काल

हम आगे प्रतिपादन करेंगे कि भागुरि आचार्य ने सामवेद की संहिता शाखा और ब्राह्मण का प्रवचन किया था। कृष्ण द्वैपायन तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा शाखाओं का प्रवचन भारतयुद्ध से पूर्व हो चुका था। अतः भागुरि का काल विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्ववर्ती है। संक्षिप्तसार के **अयाज्ञवल्क्यादेर्ब्राह्मणे** सूत्र (तद्धित ४५४) की टीका में शाटचायनी ऐतरेयी के साथ भागुरी ब्राह्मण भी स्मृत है। तदनुसार पाणिनि के मत में भागुरि प्रोक्त ब्राह्मण ऐतरेय के समान पुराण प्रोक्त सिद्ध होता है। पाणिनि द्वारा स्मृत पुराण प्रोक्त ब्राह्मण कृष्ण द्वैपायन और उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त ब्राह्मणों से पूर्वकालिक हैं। अतः भागुरि का काल विक्रम से ४००० वर्ष पूर्व अवश्य होना चाहिए।

भागुरि का व्याकरण

भागुरि के व्याकरणसंबन्धी जितने वचन या मत उद्धृत मिलते हैं उन से प्रतीत होता है कि भागुरि का व्याकरण भले प्रकार परिष्कृत था और वह पाणिनीय व्याकरण से कुछ विस्तृत था। यदि जगदीश तर्कालङ्कार द्वारा उद्धृत श्लोक इसी रूप में भागुरि के हों तो सम्भव है भागुरि का व्याकरण श्लोकबद्ध हो।

भागुरि-व्याकरण के उद्धरण

भागुरि आचार्य प्रोक्त व्याकरण के निम्न मत या वचन उपलब्ध होते हैं—

भाषावृत्ति ४। १। १० में भागुरि का मत।

१. नसेति भागुरिः।

जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में भागुरि के निम्न मत वा वचन उद्धृत किये हैं—

न्यायशास्त्रं ब्रह्मगार्ग्योक्तम्' (गणपति शास्त्री कृत अर्थशास्त्र टीका, भाग १, पृष्ठ २५) पाठ की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। अतः प्राचीन लोकायत शास्त्र नास्तिकतापरक

वक्तीत्यर्थे च सत्यादेरङ्गादेस्तौ भवेत् स्यात् ॥ इति भागुरिस्मृतेः ।[1]

३. तूस्ताद्विघाते संछादेर्वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा ।
उत्प्रेक्षादौ कर्मणो णिस्तद्व्ययपूर्वतः ॥ इति भागुरिस्मृतेः ।[2]

४. वीणात उपगाने स्याद्धस्तितोऽतिक्रमे तथा ।
सेनातश्चाभियाने णिः श्लोकादेरप्युपस्तुतौ ॥ इति भागुरिस्मृतेः ।[3]

५. गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः कमेस्तु णिङ् ।
ऋतेरियङ् चतुर्लेषु नित्यं स्वार्थे परत्र वा ॥ इति भागुरिस्मृतेः ।[4]

६. गुपो वधेश्च निन्दायां क्षमायां तथा तिजः ।
प्रतीकाराद्यर्थकाच्च कितः स्वार्थे सनो विधिः ॥ इति भागुरिस्मृतेः ।[5]

७. अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम् ।
कर्तुश्चान्योऽन्यसंदेहे परमेकं प्रवर्तते ॥ इति भागुरिवचनमेव शरणम् ।[6]

हमारा विचार है ये छः श्लोक भागुरि के स्ववचन हैं । सम्भव है भागुरि ने ऋक्प्रातिशाख्यवत् छन्दोबद्ध सूत्र रचना की हो ।

भागुरि के व्याकरणविषयक मतनिदर्शक निम्न दो वचन उपलब्ध होते हैं ।

८. वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥[7]

९. हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम् ।
चतुर्थीं बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः ॥[8]

---

१. पृष्ठ ४४४, काशी संस्क० । २. पृष्ठ ४४५ । ३. पृष्ठ ४४६ । ४. पृष्ठ ४४७ । ५. पृष्ठ ४४७ । ६. भाष्यव्याख्याप्रपञ्च, पृष्ठ १२६ । पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषा वृत्ति, राजशाही संस्क० ।

७. देखो पूर्व पृष्ठ ६६, टि० १ । भट्टिटीका में उत्तरार्ध इस प्रकार है—'धाञ्कृञोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वेन शौनकिः' निर्णयसागर, पृष्ठ ६६ ॥

८. शब्दशक्तिप्रकाशिका पृष्ठ ३६६ में इसे भर्तृहरि का वचन लिखा है । यह ठीक नहीं । वाक्यपदीय के कारक प्रकरण में यह वच नहीं मिलता । भर्तृहरि

गोभिलगृह्यप्रकाशिका आदि अनेक ग्रन्थों से विदित होता है कि आचार्य भागुरि ने किसी सामशाखा का प्रवचन किया था।[२] कश्मीर के छपे लौगाक्षि गृह्य की अंग्रेजी भाषानिबद्ध भूमिका में अगस्त्य के श्लोकतर्पण का एक वचन उद्धृत है, उसके[३] अनुसार भागुरि याजुष आचार्य है। संभव है भागुरि ने साम और यजुः दोनों की शाखाओं का प्रवचन किया हो।

२. **ब्राह्मण**—संक्षिप्तसार के "**अयाज्ञवल्क्यादेर्ब्राह्मणे**"[४] सूत्र की टीका में औत्थासनिक गोयीचन्द्र उदाहरण देता है—

शाट्यायनी, भागुरी, ऐतरेयी

इस से प्रतीत होता है कि भागुरि ने किसी ब्राह्मण का भी प्रवचन किया था। वह साम संहिता का था।

३. **अलङ्कार-शास्त्र**—सोमेश्वर कवि ने अपने साहित्यकल्पद्रुम ग्रन्थ के यथासंख्यालङ्कार प्रकरण में भागुरि का निम्न मत उद्धृत किया है—

भागुरिस्तु प्रथमं निर्दिष्टानां प्रश्नपूर्वकाणामर्थान्तरविषये निषेधोऽप्यनुनिर्दिष्टश्चेत् सोऽपि यथासंख्यालङ्कार इति।[५]

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचना टीका में भागुरी का निम्न मत उद्धृत किया है—

वाग्भट्ट से प्राचीन है, यह हम भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका के प्रकरण में लिखेंगे। इस श्लोक में वाग्भट का निर्देश है।

१. मल्लवादि कृत द्वादशारनयचक्र की सिंहसूरिगणि कृत टीका, बड़ोदा संस्क० भाग १, पृष्ठ ४१।

२. देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ ३०८–३१० द्वि० सं०। ३. लौगाक्षिश्च तथा काण्वस्तथा भागुरिरेव च। एते···। पृष्ठ ६। ४. तद्धित ४५४। ५. मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग १, खण्ड १ A, पृष्ठ २८६५, ग्रन्थाङ्क २१२६।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भागुरि का कोई अलङ्कारशास्त्र भी था।[1]

४. कोष—अमरकोष आदि की टीकाओं में भागुरिकृत कोष के अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं।[2] सायण ने धातुवृत्ति में भागुरि के कोष का एक श्लोक उद्धृत किया है।[3] पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति, सृष्टिधरकृत भाषावृत्तिटीका और प्रभावृत्ति से विदित होता है कि भागुरि कृत कोष का नाम "त्रिकाण्ड" था।[4] अमरकोष की सर्वानन्दविरचित टीकासर्वस्व में त्रिकाण्ड के अनेक वचन उद्धृत हैं।

५. सांख्यदर्शनभाष्य—विक्रम की बीसवीं शताब्दी पूर्वार्ध के महाविद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (सं० १९३२ वि०) में लिखा है—"उस के पीछे सांख्यदर्शन जो कि कपिल मुनि के किये सूत्र उन ऊपर भागुरि मुनि का किया भाष्य, इस को १ मास में पढ़ लेगा।[5] संस्कारविधि के संशोधित अर्थात् द्वितीय संस्करण (सं०

---

१. तृतीय उद्योत, पृष्ठ ३८६। २. अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ १११, १२५, १६३ इत्यादि। अमर-क्षीरटीका, पृष्ठ ५, ६, १२ इत्यादि। हैम अभिधानचिन्तामणि स्वोपज्ञटीका।

३. तथा भागुरिरपि ह्रस्वान्तं मन्यते। यथाह च—भार्या भेकस्य वर्षाभ्वी शृङ्गी स्यान्मद्गुरस्य च। शिलीं गण्डूपदस्यापि कच्छपस्य डुलिः स्मृता॥ धातुवृत्ति, भूधातु, पृष्ठ ३०॥ यह श्लोक अमरटीकसर्वस्व भाग १ पृष्ठ १६१ में भी उद्धृत है।

४. भाषावृत्ति—शिवतातिः शंतातिः अरिष्टतातिः, अमी शब्दाश्छान्दसा अपि कदाचिद् भाषायां प्रयुज्यन्ते इति त्रिकाण्डे भागुरिनिबन्धनाद्वाऽव्युत्पन्नसंज्ञाशब्दत्वाद्वा सर्वथा भाषायां साधु॥ ४।४।१४३॥

भाषावृत्तिटीका—त्रिकाण्डे कोशविशेषे भागुरेरेवाचार्यस्य यदेषां निबन्धनं तस्माच्च। ४।४।१४३॥ प्रभावृत्ति—एभिर्नवभिः सूत्रैर्निष्पन्नाश्छान्दसा अपि शब्दा भाषायां साधवो भवन्ति······त्रिकाण्डे भागुरिनिबन्धनात्। पं० गुरुपद हालदार कृत व्याकरणदर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४६६ में उद्धृत।

५. पृष्ठ ७८, सन् १८७५ का छपा। सत्यार्थप्रकाश के संशोधित द्वितीय संस्करण में भी भागुरिकृत भाष्य का उल्लेख है। द्र० शताब्दी संस्क० भाग १ पृष्ठ १६०।

(१९९२ वि०) में भी सांख्यदर्शन भागुरिकृत भाष्य सहित पढ़ने का विधान किया है।[1]

६. **दैवत ग्रन्थ**—गृहपति शौनक ने बृहद्देवता में भागुरि आचार्य के देवता विषयक अनेक मत उद्धृत किये हैं।[2] इन से प्रतीत होता है कि भागुरि ने कोई वेदसंबधी अनुक्रमणिका ग्रन्थ भी अवश्य लिखा था।

७. **मनुस्मृतिभाष्य**—भागुरि ने मनुस्मृति पर एक भाष्य लिखा था। मनु० ८। १९८ में प्रयुक्त अनपसर शब्द का भागुरि प्रदर्शित अर्थ कल्पतरुकार लक्ष्मीधर ने उद्धृत किया है।[3]

८. **राजनीतिशास्त्र**—नीतिवाक्यामृत की टीका में भागुरि के राजनीति परक श्लोक उद्धृत हैं।

व्याकरण, संहिता, ब्राह्मण, अलङ्कार, कोष, सांख्यभाष्य और अनुक्रमणिका आदि सब ग्रन्थों का प्रवक्ता एक ही भागुरि है वा भिन्न भिन्न, यह अज्ञात है।

७—पौष्करसादि (३१०० वि० पू०)

पौष्करसादि आचार्य का नाम पाणिनीय सूत्रपाठ में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य ८। ४। ४८ के एक वार्तिक में इस का उल्लेख है।[4] तैत्तिरीय और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में पौष्करसादि के अनेक मत उद्धृत हैं।[5] काशकृत्स्न धातुपाठ की चन्नवीर कविकृत कन्नड टीका के आरम्भ में इन्द्र-चन्द्र, आपिशलि, गार्ग्य, गालव के साथ पौष्कर स्मृत है।[6] यह नामैकदेश न्याय से पौष्करसादि ही है। इन से पौष्करसादि आचार्य का व्याकरणप्रवक्तृत्व विस्पष्ट है।

परिचय

वंश—पौष्करसादि में श्रूयमाण तद्धित प्रत्यय के अनुसार इसके पिता

---

१. संस्कारविधि, वेदारम्भसंस्कार।

२. बृहद्देवता ३। १० ॥ ५। ४० ॥ ६। ६६, १०७ ॥

३. द्र० शाश्वतवाणी समाजशास्त्र विशेषाङ्क (सन् १९६२) पृष्ठ ६१ पर।

४. चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः। ५. तै० प्रा० ५। ३७, ३८॥ १३। १६॥ १४। २॥ १७। ६॥ मै० प्रा० ५। ३६, ४०॥ २। १। १६॥ २। ५। ६॥ ६. मद्रिः=इन्द्र-

का नाम "पुष्करसत्" था। जयादित्य प्रभृति वैयाकरणों का भी यही मत है।[1]

सन्तति—पौष्करसादि के अपत्य पौष्करसादायन कहाते हैं। पाणिनि ने तौल्वल्यादि[2] गण में पौष्करसादि पद पढ़ कर उससे उत्पन्न युवार्थक फक् (आयन) प्रत्यय के अलुक् का विधान किया है।

देश—हरदत्त के मत में पौष्करसादि आचार्य प्राग्देशवासी है। वह लिखता है—**पुष्करसदः प्राच्यत्वात्**।[3] पाणिनीय व्याकरण से भी यही प्रतीत होता है। पौष्करसादायन में "**इञः प्राचाम्**"[4] सूत्र से युवार्थक प्रत्यय का लुक् प्राप्त होता है, उस का निषेध करने के लिये पाणिनि ने "**तौल्वल्यादि**" गण में पौष्करसादि पद पढ़ा है। बौद्ध जातकों में पोक्खरसदों का उल्लेख मिलता है, वे प्राग्देशीय हैं।

यज्ञेश्वर भट्ट ने अपनी गणरत्नावली में पौष्करसादि पद का निर्वचन इस प्रकार किया है—

पुष्करे तीर्थविशेषे सीदतीति पुष्करसत्, तस्यापत्यं पौष्करसादिः।[5]

इस निर्वचन के अनुसार पुष्करसत् अजमेर समीपवर्ती पुष्कर क्षेत्रवासी प्रतीत होता है। पाणिनि के साथ विरोध होने से यज्ञेश्वर भट्ट की व्युत्पत्ति को केवल अर्थप्रदर्शनपरक समझना चाहिये। अथवा सम्भव है प्राग्देश में भी कोई पुष्कर क्षेत्र हो। वहां की साम्प्रतिक भाषा में ताला बकों "**पोक्खर**" कहते हैं।

अन्यत्र उल्लेख

पौष्करसादि आचार्य के मत महाभाष्य के एक वार्तिक और तैत्तिरीय तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य में उद्धृत हैं, यह हम पूर्व कह चुके। इसका एक मत शांखायन आरण्यक ७। ८ में मिलता है। हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र तथा अग्निवेश्य गृह्यसूत्र में पुष्करसादि के मत निर्दिष्ट हैं।[6] आपस्तम्ब

---

१. पुष्करसच्छब्दाद् बाह्वादित्वादिञ्, अनुशतिकादीनां च (अष्टा० ७।३।२०) इत्युभयपदवृद्धिः। काशिका २।४।६३॥ बालमनोरमा, भा० २ पृष्ठ २८७॥

२. अष्टा० २।४।६१॥ ३. पदमञ्जरी, भाग १, पृष्ठ ४०६।

४. अष्टा० २।४।६०॥

धर्मसूत्र में भी दो बार "पुष्करसादि" आचार्य का उल्लेख है।[1] हरदत्त इसे पौष्करसादि आचार्य का निर्देश मानता है और आदिवृद्धि का अभाव छान्दस है[2] ऐसा कहता है। वस्तुतः यहां **एकानुबन्धकृतमनित्यम्**[3] इस परिभाषा से **सोमेन्द्रश्चरुः** के समान वृद्धयभाव मानना चाहिए।[4]

काल

पौष्करसादि पद तौल्वल्यादि[5] गण में पढ़ा है। पुष्करसत् पद का पाठ यस्कादि[6] बाह्वादि[7] और अनुशतिकादि[8] गण में मिलता है। कात्यायन और पतञ्जलि दोनों ने पुष्करसत् का पाठ अनुशतिकादि गण में माना है।[9] इस से स्पष्ट है कि पाणिनीय गणपाठ में इसका प्रक्षेप नहीं हुआ। तौल्वल्यादिगण में पौष्करसादि पद के पाठ से सिद्ध है कि पाणिनि न केवल पौष्करसादि से परिचित था अपितु उसके अपत्य पौष्करसादायन को भी जानता था। अतः पौष्करसादि आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती है यह निर्विवाद है।

पौष्करसादि-शाखा—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५। ४० के माहिषेय भाष्य के अनुसार पौष्करसादि ने कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा का प्रवचन किया था।[10] शांखायन आरण्यक के उद्धरण से भी यही आभासित होता है। शाखा प्रवक्ता ऋषि प्रायः कृष्ण द्वैपायन के समकालीन थे। अतः पौष्करसादि का काल भारतयुद्ध के आसपास ३१०० वि० पूर्व है।

---

१. शुद्धा भिक्षा भोक्तव्यैककुणिकौ काण्वकुत्सौ तथा पुष्करसादिः ।१।१६।७॥ यथा कथा च परपरिग्रहणमभिमन्यते स्तेनो ह भवतीति कौत्सहारीतौ तथा कण्वपुष्करसादी। १। २८। १॥

२. पौष्करसादिरेव पुष्करसादिः, वृद्ध्यभावश्छान्दसः। १। १६। ७॥

३. द्र० म० म० काशीनाथ अभ्यंकर सम्पादित परिभाषा-संग्रह, पृष्ठ २२।

४. J.R.A.S. अप्रेल १६२८ में 'पौष्करसादि' पर छपा लेख द्रष्टव्य है।

५. अष्टा० २। ४। ६१॥ ६. अष्टा० २। ४। ६३॥

७. अष्टा० ४।१। ६६॥ ८. अष्टा० ७। ३। २०॥

६. पुष्करसद्ग्रहणाद् वा। अथवा यदयमनुशतिकादिषु पुष्करसच्छब्दं पठति। महाभाष्य ।२।१७॥

६—चारायण (३१०० वि० पू०)

आचार्य चारायण ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था, इस का स्पष्ट निर्देशक कोई वचन उपलब्ध नहीं हुआ। लौगाक्षि-गृह्य के व्याख्याता देवपाल ने ५। १ की टीका में चारायण अपरनाम[1] चारायणि का एक सूत्र और उसकी व्याख्या उद्धृत की है। वह इस प्रकार है—

तथा च चारायणिसूत्रम्—"पुरुकृते च्छच्छ्वोः" इति। "पुरु शब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छ्वे परतः। पुरुच्छदनं पुच्छम्, कृतस्य छदनं विनाशनं कृच्छ्रम्" इति।

यदि यह सूत्र चारायणीय प्रातिशाख्य का न हो जिस की अधिक संभावना है, तो निश्चय ही उसके व्याकरण का होगा। महाभाष्य १। १। ७३ में चारायण को वैयाकरण पाणिनि और रौढ़ि के साथ स्मरण किया है।[2] अतः चारायण भी अवश्य व्याकरणप्रवक्ता रहा होगा।

परिचय

वंश—चारायण पद अपत्यप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस के पिता का नाम "**चर**" है। पाणिनि ने नडादिगण[3] में इसका साक्षात् निर्देश किया है। उसी से अत इञ् से इञ् होकर चारायणि भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।[4]

अन्यत्र उल्लेख

महाभाष्य १।१।७३ में उदाहरण दिये हैं—**कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः**। वामन ने काशिकावृत्ति ६।२।६९ तथा यक्षवर्मा ने शाकटायन वृत्ति २।४।२ में "**कम्बलचारायणीयाः**" उदाहरण दिया है।

कैयट की भूल—कैयट ने महाभाष्य १। १। ७३ के उदाहरण की व्याख्या करते हुए लिखा है—**कम्बलप्रियस्य चारायणस्य शिष्याः इत्यर्थः**।

यह व्याख्या अशुद्ध है। इस का अर्थ "**कम्बलप्रधानश्चारायणः कम्बलचारायणः, तस्य छात्राः**" करना चाहिये। अर्थात् आचार्य चारायण के पास कम्बलों का बाहुल्य था, वह अपने प्रत्येक छात्र को कम्बल प्रदान करता था। वामन काशिका ६। २। ६९ में इसी उदाहरण को क्षेप अर्थ में उद्धृत करता है। उसका अभिप्राय भी यही है कि जो छात्र चारायण प्रोक्त ग्रन्थ

में रख कर केवल कम्बल के लोभ से चारायण प्रोक्त ग्रन्थ को पढ़ते हैं वे "**कम्बलचारायणीयाः**" कहाते हैं।

किसी चारायण का मत वात्स्यायन कामसूत्र में तीन स्थानों पर उद्धृत है।[1] चारायण का एक मत कौटिल्य अर्थशास्त्र में दिया है—**तृणमतिदीर्घमिति चारायणः।**[2]

शाम शास्त्री सम्पादित मूल अर्थशास्त्र तृतीय संस्करण में 'नारायणः' पाठ है। अर्थशास्त्र के प्राचीन टीकाकार के मत में यह दीर्घचारायण मगध के बाल (=बालक-प्रद्योत) नामक राजा का आचार्य था। अर्थशास्त्र संकेतित कथा का निर्देश नन्दिसूत्र आदि जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। देखो शाम शास्त्री सम्पादित मूल अर्थशास्त्र की भूमिका पृष्ठ २०। दीर्घचारायण का निर्देश चान्द्रवृत्ति २।२।१८[3] तथा कातन्त्र दुर्गवृत्ति २।५।५ में भी मिलता है। यह चारायण शाखा प्रवक्ता चारायण से भिन्न और अर्वाचीन है।

काल

चारायण कृष्ण यजुर्वेद की चारायणीय शाखा का प्रवक्ता है।[4] यह शाखा इस समय अप्राप्य है, परन्तु इसका "**चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय**" सम्प्रति मिलता है। यह दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज लाहौर से प्रकाशित हुआ है। वैदिक शाखाओं का अन्तिम प्रवचन भारतयुद्ध के समीप हुआ था। अतः इसका समय विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व है।

अन्य ग्रन्थ

चारायणीय संहिता—यह कृष्ण यजुर्वेद की शाखा थी। इसका विशेष वर्णन श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ २९४, २९५ (द्वि० सं०) पर देखो।

चारायणी शिक्षा—यह शिक्षा कश्मीर से प्राप्त हुई थी। उसका उल्लेख इण्डियन एण्टीक्वेरी जुलाई १८७६ में डाक्टर कीलहार्न ने किया है।

---

१. १।१।१२॥ १।४।१४॥ १।५।२२॥

२. अधि० ५ अ० ५।

३. दीर्घश्चारायणः।

४. इस शाखा का वर्णन देखो श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत वैदिक वाङ्मय का

साहित्यिक ग्रन्थ नाटकलक्षणरत्नकोश के रचयिता सागरनन्दी ने चारायण के किसी साहित्यसंबन्धी ग्रन्थ से एक उद्धरण उद्धृत किया है।[1]

९—काशकृत्स्न (३१०० वि० पू०)

यद्यपि पाणिनीय शब्दानुशासन में आचार्य काशकृत्स्न का वैयाकरण रूप में उल्लेख नहीं मिलता, पुनरपि वैयाकरण निकाय में काशकृत्स्न का व्याकरण प्रवक्तृत्व अत्यन्त प्रसिद्ध है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में आपिशल और पाणिनीय शब्दानुशासनों के साथ काशकृत्स्न शब्दानुशासन का उल्लेख मिलता है।[2] वोपदेव ने प्रसिद्ध आठ शाब्दिकों में काशकृत्स्न का उल्लेख किया है।[3] क्षीरस्वामी ने काशकृत्स्नीय मत का निर्देश किया है।[4] काशकृत्स्न व्याकरण के अनेक सूत्र प्राचीन वैयाकरण वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं।[5] अब तो काशकृत्स्न का धातुपाठ भी कन्नड टीका सहित प्रकाश में आ गया है। कन्नड टीका में काशकृत्स्न व्याकरण के लगभग १३५ सूत्र भी उपलब्ध होगए हैं।[6]

परिचय

पर्याय—काशिका ५ । १ । ५८ में एक उदाहरण है—**त्रिकं काशकृत्स्नम्**। जैन शाकटायन की अमोघा वृत्ति ३ । २ । १६१ में इस का पाठ है—**त्रिकं काशकृत्स्नीयम्**। इन दोनों उदाहरणों की तुलना से इतना स्पष्ट है कि उक्त दोनों उदाहरणों मे निश्चयपूर्वक किसी एक ही ग्रन्थ का संकेत है। परन्तु, काशकृत्स्न और काशकृत्स्नीय पदों में श्रूयमाण तद्धित-प्रत्यय

---

१. आह चारायणः—'प्रकरणनाटकयोर्विष्कम्भः' इति । नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ १६ । २. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम् इति ।

३. द्र० पूर्व पृष्ठ ६४ । ४. काशकृत्स्ना अस्य निष्ठायामनिट्त्वमाहुः—आश्वस्तः, विश्वस्तः । क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १८५ । ५. कैयट-विरचित महाभाष्य प्रदीप २ । १ । ५०; ५ । १ । २१ । भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय स्वोपज्ञ टीका, काण्ड १, पृष्ठ ४०, उस पर वृषभदेव की टीका पृष्ठ ४१ ।

६. काशकृत्स्न व्याकरण के विस्तृत परिचय और उसके उपलब्ध समस्त सूत्रों की व्याख्या के लिए देखिए हमारा "काशकृत्स्न व्याकरण और उस के उपलब्ध

से विदित होता है कि एक काशकृत्स्नि-प्रोक्त है और दूसरा काशकृत्स्न-प्रोक्त। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिका के ४।३।१०१ के उदाहरण की व्याख्या में लिखता है—**आपिशलं काशकृत्स्नमिति—आपिशलिकाशकृत्स्निशब्दाभ्याम् इञश्च (४।२।११२) इत्यण्**[1]। अर्थात्, आपिशल और काशकृत्स्न में (अपत्यार्थक इञ्प्रत्ययान्त) आपिशलि और काशकृत्स्नि शब्दों से प्रोक्त अर्थ में **इञश्च** सूत्र से अण् प्रत्यय होता है तथा काशकृत्स्नीय पद में अपत्यार्थक अण् प्रत्ययान्त काशकृत्स्न शब्द से प्रोक्त अर्थ में **वृद्धाच्छः** (४।२।११४) से छ (=ईय) प्रत्यय होता है।

काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न का एकत्व—यद्यपि काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न नामों में अपत्य-प्रत्यय का भेद है, तथापि दोनों नाम एक ही आचार्य के हैं। अकारान्त काशकृत्स्न शब्द से अपत्य अर्थ में **अत इञ्** (अष्टा० ४।१।९५) से इञ् होकर काशकृत्स्नि शब्द निष्पन्न होता है और उसी काशकृत्स्न से अपत्यार्थ में सामान्य विधायक **तस्यापत्यम्** (अष्टा० ४।१।९२) से अण् होकर काशकृत्स्न शब्द बनता है। यद्यपि **अत इञ्** सूत्र **तस्यापत्यम्** का अपवाद है, तथापि **क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गोऽभिनिविशते**[2] (कहीं-कहीं अपवाद=विशेष विधायक सूत्र के विषय में उत्सर्ग=सामान्य सूत्र की भी प्रवृत्ति हो जाती है) नियम से सामान्य अण् प्रत्यय भी हो जाता है। इसी नियम के अनुसार भगवान् वाल्मीकि ने दाशरथि राम के लिए दाशरथ शब्द का भी प्रयोग किया है।[3] अतः जिस प्रकार एक ही

---

१. इसी प्रकार, पाणिनि शब्द से भी प्रोक्त अर्थ में अण् होकर 'पाणिन' शब्द निष्पन्न होगा। लोक-प्रसिद्ध पाणिनीय पद पाणिन से निष्पन्न होता है। द्र० न्यास ४।३।१०१॥ पूर्व निर्दिष्ट भाष्यवचन 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्' में अर्थनिदर्शन मात्र है, न कि विग्रह। पाणिनि शब्द आपिशलि और काशकृत्स्नि के समान गोत्रवाची है, उससे 'इञश्च' (४।२।११२) से अण् ही होगा।

२. सीरदेव-परिभाषावृत्ति, संख्या ३३; परिभाषेन्दुशेखर, सं० ५६। यही नियम स्कन्दस्वामी ने 'अपवादविषये क्वचिदुत्सर्गो दृश्यते' शब्दों से उद्धृत किया है। द्र० निरुक्त-टीका, भाग २, पृ० ८२।

३. प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली। रामका० युद्ध० १४।३॥ काशिकाकार ने इस प्रयोग में शेषविवक्षा में 'तस्येदम्' (४।३।१२०) से अण् प्रत्यय

दशरथ-पुत्र राम के लिए दाशरथि और दाशरथ दोनों शब्द प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार इण्-प्रत्ययान्त काशकृत्स्नि और अण्-प्रत्ययान्त काशकृत्स्न दोनों शब्द निश्चय एक ही व्यक्ति के वाचक हैं।[1]

काशकृत्स्नि का अन्यत्र उल्लेख—महाभाष्य के प्रथम आह्निक के अन्त में ग्रन्थवाची पाणिनीय और आपिशल के साथ 'काशकृत्स्न' पद पढ़ा है उस से व्यक्त है कि पतञ्जलि उस को काशकृत्स्नि प्रोक्त मानता है।[2] पतञ्जलि ने काशकृत्स्नि आचार्य प्रोक्त मीमांसा का असकृत् उल्लेख किया है।[3] महाकवि भास के नाम से प्रसिद्ध यज्ञफल नाटक में भी काशकृत्स्नि प्रोक्त काशकृत्स्न मीमांसाशास्त्र का उल्लेख है।[4] कात्यायन ने भी अपने श्रौत सूत्र में काशकृत्स्नि आचार्य का उल्लेख किया है।[5] अमोघा वृत्ति के "**काशकृत्स्नीयम्**" निर्देश के अनुसार व्याकरणप्रवक्ता काशकृत्स्न है।[6]

काशकृत्स्न का अन्यत्र उल्लेख—वोपदेव ने अष्ट शाब्दिकों में काशकृत्स्न का उल्लेख किया है।[7] जैन शाकटायनीय अमोघा वृत्ति के पूर्वनिर्दिष्ट **त्रिकं काशकृत्स्नीयम्** उदाहरण में स्मृत ग्रन्थ का प्रवक्ता तद्धित प्रत्यय की व्यवस्थानुसार काशकृत्स्न है। भट्ट पराशर ने तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में

---

१. इसी प्रकार पाणिनीय तन्त्र के प्रवक्ता के लिए पाणिनि-पाणिन, वार्तिककारके लिए कात्य-कात्यायन, संग्रहकार के लिए दाक्षि-दाक्षायण दो दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनके लिए इसी ग्रन्थ के तत्तत् प्रकरण द्रष्टव्य हैं।

२. काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नम्। इञश्च [अष्टा० ४।२।११२] से गोत्रप्रत्ययान्त से अण्प्रत्यय। आपिशलं काशकृत्स्नमिति—आपिशलिकाशकृत्स्नि-शब्दाभ्यामिञश्चेत्यण्। न्यास ४।३।१०१॥ काशकृत्स्नेन प्रोक्तं काशकृत्स्नीयम्। वृद्धाच्छः (अष्टा० ४।२।११४॥) सूत्र से अण्प्रत्ययान्त से छ [= ईय] प्रत्यय। न्यासकार ने ६।२।३६॥ पर "काशकृत्स्नेन प्रोक्तमित्यण्" लिखा है, वह अशुद्ध है। ४।२।११४ से प्राप्त छ का निषेध कौन करेगा। अतः यहां न्यास ४।३।१०१ के सदृश 'काशकृत्स्निना प्रोक्तमित्यण्' पाठ होना चाहिये॥

३. महाभाष्य ४।१।११४, ६३॥ ४।३।१५५॥

काशकृत्स्नं मीमांसाशास्त्रम्। अंक ४, पृष्ठ १२६। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता

संकर्ष काण्ड (मीमांसा अ० १३-१६) को काशकृत्स्न प्रोक्त कहा है।[1] भट्टभास्कर ने रुद्राध्याय के भाष्य में काशकृत्स्न का यजुःसम्बन्धी एक मत उद्धृत किया है।[2] बौधायन गृह्य में काशकृत्स्न का मत निर्दिष्ट है।[3] वेदान्त-सूत्र में काशकृत्स्न का मत स्मृत है।[4] आपस्तम्ब श्रौत के मैसूर संस्करण के सम्पादक सो० नरसिंहाचार्य ने भाग १ की भूमिका पृष्ठ ५५ तथा ५७ में संकर्षकाण्ड को काशकृत्स्न-प्रभव माना है।

दोनों एक ही व्यक्ति—उपर्युक्त ग्रन्थों में स्मृत काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं, यह हम पूर्व प्रतिपादित कर चुके हैं। तथा उपर्युक्त उद्धरणों में जहां-जहां काशकृत्स्नि का स्मरण है, वहां सर्वत्र एक ही व्यक्ति स्मृत है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं।

वंश—बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय (३) में लिखा है—

भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः···पैङ्गलायनाः, वैहीनरयः, काशकृत्स्नाः, पाणिनिर्वाल्मीकिः···········आपिशलयः।

इस वचन से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न-गोत्र भृगुवंश का है। अतः काशकृत्स्न आचार्य भार्गव है।

पितृ-नाम—काशकृत्स्नि और काशकृत्स्न में निर्दिष्ट तद्धित-प्रत्यय के अनुसार इन नामों का मूल शब्द कशकृत्स्न था। वर्धमान ने गणरत्न-महोदधि में कशकृत्स्न शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—

कशाभिः कृन्तन्ति 'कृते क्स्ने ङ्याट्त्वे च ह्रस्वश्च बहुलम्'[5] इत्यनेन ह्रस्वत्वे कशकृत्स्नः।[6]

अर्थात्—कशापूर्वक कृती छेदने धातु से क्स्न प्रत्यय और आकार को ह्रस्व होता है।

आचार्य-नाम—तत्त्वरत्नाकर ग्रन्थ में भट्ट पराशर ने काशकृत्स्न को

---

१. अष्टौ अनुवाका अष्टौ यजूंषि इति काशकृत्स्नः। पूना संस्क० पृष्ठ २६॥

२. तत्त्वरत्नाकराख्ये भट्टपराशरग्रन्थे संकर्षाख्यश्चतुर्लक्षणात्मको मध्यकाण्डः काशकृत्स्नकृत इत्युच्यते। अधिकरणसारावली-प्रकाशिका में उद्धृत। द्र० मद्रास राजकीय हस्तलेख सूची, भाग ४, खण्ड १ बी. नं० ३५५०, पृष्ठ ५२८१।

३. आधारं प्रकृतिं प्राह दर्विहोमस्य बादरिः। आग्निहोत्रिकं तथात्रेयः काशकृत्स्न-

बादरायण का शिष्य कहा है।[1] बादरायण कृष्ण द्वैपायन का ही नाम है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है।[2]

शिष्य—काशिका-वृत्ति (६।२।१०४) में उदाहरण हैं—**पूर्वकाशकृत्स्नाः, अपरकाशकृत्स्नाः**। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के अनेक शिष्य थे और वे पूर्व तथा अपर दो विभागों में विभक्त माने जाते थे। किस सीमा को मान कर पूर्व और अपर का भेद किया जाता था, यह अज्ञात है।

जिस प्रकार पाणिनि ने कुछ शिष्यों को अष्टाध्यायी का लघुपाठ पढ़ाया और कुछ को महापाठ[3] और वे क्रमशः **पूर्वपाणिनीय** तथा **अपरपाणिनीय** नाम से प्रसिद्ध हुए। उसी प्रकार सम्भव है काशकृत्स्न ने भी अपने शास्त्र का दो रूपों से प्रवचन किया हो। निरुक्त आदि अनेक प्राचीन शास्त्रों के लघु और महत् दो-दो प्रकार के प्रवचन उपलब्ध होते हैं।[4]

देश—काशकृत्स्न आचार्य कहाँ का निवासी था, यह अज्ञात है। पाणिनि अरीहणादि गण (४।२।८०) में **काशकृत्स्न** पद पढ़ता है। वर्धमान यहाँ **कशकृत्स्न का** निर्देश करता है।[5] तदनुसार, काशकृत्स्न अथवा कशकृत्स्न से निर्मित अथवा जहाँ इनका निवास था, वह नगर अथवा देश काशकृत्स्नक कहलाता था, इतना निश्चित है। पर इस नगर अथवा देश की स्थिति कहाँ थी, यह अज्ञात है।

काशकृत्स्न सम्भवतः उत्तरभारतीय—दैव ग्रन्थ का व्याख्याता कृष्णलीलाशुकमुनि पुरुषकार पृष्ठ ९१ पर लिखता है—

धनपालस्तु तमेव प्रस्तुत्याह—वनु घटादिषु पठन्ति द्रमिडाः। तेषां (नित्यं) मित्संज्ञा—वनयति। आर्यास्तु विभाषा मित्त्वमिच्छन्ति। तेषां वानयति वनयति।

---

१. ग्यारहवीं अखिल भारतीय ओरियण्टल कान्फ्रेंस हैदराबाद १९४१ के लेखों का संक्षेप, पृष्ठ ८५, ८६।

२. श्री पं० भगवद्दत्तजी रचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण और आरण्यक भाग, पृष्ठ ८६।

३. इसी ग्रन्थ का 'पाणिनि और उसका शब्दानुशासन' अध्याय का अन्तिम

काशकृत्स्न-धातुपाठ के **ग्लास्नावनुवमश्चनकम्योमिच्चम:** सुत्रानुसार 'वन' धातु की विकल्प से मित्-संज्ञा होती है और **वानयति, वनयति दो** रूप निष्पन्न होते हैं।[1] इस से संभावना होती है कि काशकृत्स्न उत्तर-देशीय हो।

काल—हमारे स्वर्गीय मित्र पं० श्री क्षितीशचन्द्रजी चट्टोपाध्याय (कलकत्ता) का विचार है कि काशकृत्स्न पाणिनि से उत्तरवर्त्ती है,[2] परन्तु उन्होंने इस विषय में कोई प्रमाण नहीं दिया।

पाणिनि से पूर्ववर्त्ती—काशकृत्स्न निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्त्ती है। इस में निम्नलिखित प्रमाण है—

१. पाणिनीय गणपाठ के अन्तर्गत उपकादि गण (२।४।६९) में **कशकृत्स्न** और अरीहणादि गण (४।२।८०) में **काशकृत्स्न**[3] शब्द पठित है।

२. वेदान्तसूत्र निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन हैं। अत: उनमें स्मृत आचार्य कृष्ण द्वैपायन का समकालिक होगा, अथवा उससे पूर्ववर्त्ती।

३. तत्त्वरत्नाकर के रचयिता भट्ट पराशर ने काशकृत्स्न को बादरायण अर्थात् कृष्ण द्वैपायन का शिष्य माना है।

४. महाभाष्य पस्पशाह्निक के अन्त में क्रमशः पाणिनि आपिशलि और काशकृत्स्नप्रोक्त ग्रन्थों का उल्लेख है—**पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम्।**

---

१. काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड-टीका, पृ० १४३।

२. टेक्निकल टर्म्स ग्राफ् संस्कृत-ग्रामर, पृष्ठ २, ७७।

३. काशिका, चान्द्रवृत्ति और जैनेन्द्रमहावृत्ति में 'काशकृत्स्न' पाठ मिलता है, वह अशुद्ध है। भोज और वर्धमान ने 'कशकृत्स्न' पाठ माना है। देखो क्रमशः सरस्वतीकण्ठाभरण ४।१।१६४ तथा गणरत्नमहोदधि श्लोक ३०, पृष्ठ ३३, ३४। वर्धमान ने विश्रान्तविद्याधर व्याकरण के कर्त्ता वामन के मत में 'कसकृत्स्न' पाठ दर्शाया है। ग० म० पृष्ठ ३४। वर्धमान द्वारा यहां काशकृत्स्न पाठान्तर का उल्लेख न होने से व्यक्त है कि उसके समय में काशिकादि ग्रन्थों में 'कशकृत्स्न' ही पाठ था, अतः काशिका में सम्प्रति उपलभ्यमान 'काशकृत्स्न' प्रमादपाठ है।

पाणिनि के अनन्तर निर्देश किया है। इसी क्रमानुसार काशकृत्स्न न केवल पाणिनि से पूर्ववर्त्ती होगा, अपितु वह आपिशलि से भी पूर्ववर्त्ती होगा।

५. पांच छः वर्ष हुए काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित प्रकाशित हुआ है। उसमें पाणिनि के धातुपाठ की अपेक्षा लगभग ४५० धातुएँ अधिक हैं। भारतीय ग्रन्थ-प्रवचन-परिपाटी के अनुसार शास्त्रीय ग्रन्थों का उत्तरोत्तर संक्षेपीकरण हुआ है। व्याकरण के उपलब्ध ग्रन्थों के अवलोकन से भी इस बात की सत्यता भली भांति समझी जा सकती है। इससे मानना होगा कि काशकृत्स्न-धातुपाठ पाणिनीय धातुपाठ से प्राचीन है।

६. काशकृत्स्न-धातुपाठ में अनेक धातुओं के दो-दो रूप हैं। यथा **ईड ईल स्तुतौ** (पृष्ठ १७०)। पाणिनि ने इनमें से केवल **ईड** रूप पढ़ा है। अत एव उत्तरवर्त्ती वैयाकरण **इडा** और **इला** शब्दों की सिद्धि एक ही **ईड** धातु से करते हुए ड-ल वर्णों का अभेद मानते हैं।

७. काशकृत्स्न-धातुपाठ में अनेक ऐसी धातुएँ हैं, जो उभयपदी हैं। उनके परस्मैपद और आत्मेनपद दोनों प्रक्रियाओं में रूप होते हैं। यथा **वस निवासे** (पृष्ठ १६१), **टुओश्वि गतिवृद्ध्योः** (पृष्ठ १६१) और **वद व्यक्तायां वाचि** (पृष्ट १६१)। पाणिनि इन्हें केवल परस्मैपदी मानता है।

संख्या ६ के प्रमाण से विदित होता है कि काशकृत्स्न के समय **ईड** और **ईल** दोनों धातुओं के आख्यात के स्वतन्त्र प्रयोग लोक में प्रचलित थे। इसीलिए उसने दोनों धातुओं को स्वतन्त्र रूप में पढ़ा। परन्तु पाणिनि के समय ईड धातु के ही रूप लोकप्रचलित रह गये। अतः उसने ईल का पाठ नहीं किया, केवल ईड धातु ही पढ़ी। इसी प्रकार संख्या ७ के अनुसार काशकृत्स्न के धातुपाठ में **वस, श्वि** और **वद** धातु को उभयपदी पढ़ना इस बात का प्रमाण है कि उसके काल में इन धातुओं के दोनों प्रकार के रूप लोक में प्रचलित थे। पाणिनि के समय केवल परस्मैपद के रूप ही अवशिष्ट रह गये थे, अत एव पाणिनि ने केवल परस्मैपदी पढ़ा।

८. महाभाष्य ५।१।२१ पर कैयट लिखता है—

आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थ इति वचनात्।

अर्थात्—आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में पाणिनीय **शताच्च ठन्यतावशते** (५।१।२१) सूत्र के स्थान में **शताच्च ठन्यतावग्रन्थे**

भी पाणिनि से प्राचीन होगा। इतना ही नहीं, यदि यह माना जाय कि पाणिनि ने आपिशलि के सूत्रपाठ में कुछ अनौचित्य समझकर **अग्रन्थे** का **अशते** रूप में परिष्कार किया है, तो निश्चय ही मानना होगा कि आपिशलि के समान **अग्रन्थे** पढ़ने वाला काशकृत्स्न भी पाणिनि से पूर्वभावी है। यह नहीं हो सकता कि पाणिनि आपिशल-सूत्र का परिष्कार करे और पाणिनि से उत्तरवर्ती (जैसा कुछ व्यक्ति मानते हैं) काशकृत्स्न पाणिनि के परिष्कार को छोड़कर पुनः आपिशलि के अपरिष्कृत अंश को स्वीकार कर ले।

९. भर्तृहरि के **तदर्हमिति नारब्धं सूत्रं व्याकरणान्तरे** वचन की व्याख्या करता हुआ हेलाराज लिखता है—

आपिशला: काशकृत्स्नाश्च सूत्रमेतन्नाधीयते। वाक्यपदीय, काण्ड ३, पृ० ७१४ (काशी-संस्क०)।

अर्थात्—आपिशल और काशकृत्स्न व्याकरण में पाणिनि द्वारा पठित 'तदर्हम्' सूत्र नहीं था।

प्रतीत होता है, आपिशल और काशकृत्स्न-व्याकरण में **तदर्हम्** सूत्र के न होने के कारण ही महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि के इस सूत्र की आवश्यकता का प्रतिपादन बड़े यत्न से किया है। यदि काशकृत्स्न पाणिनि से उत्तरवर्ती होता, तो निश्चय ही वह पाणिनि का अनुकरण करता, न कि आपिशलि का।

१०. कातन्त्र-व्याकरण में एक सूत्र है—**भिस् ऐस् वा**। अर्थात् अकारान्त शब्दों से परे तृतीया विभक्ति के बहुवचन 'भिस्' के **स्थान** में 'ऐस्' विकल्प करके होता है।[1] यथा, **देवेभिः, देवैः**।

कातन्त्र काशकृत्स्न-तन्त्र का संक्षेप है, यह आगे सप्रमाण लिखा जायगा। तदनुसार कातन्त्रकार ने यह सूत्र अथवा मत काशकृत्स्न से लिया होगा। पाणिनि के अनुसार लोक में केवल **ऐस्** के **देवैः** आदि प्रयोग होते हैं। कातन्त्र विशुद्ध लौकिक शब्दों का व्याकरण है[2] अतः, उसका उपजीव्य काशकृत्स्न व्याकरण उस काल की रचना होना चाहिए, जब भाषा में **भिस्**

---

१. टीकाकारों ने इस सूत्र के अर्थ में बड़ी खींचातानी की है।

२. शर्ववर्मणस्तु वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। नह्ययं (कातन्त्रकारः)

११. पाणिनीय धातुपाठ के जुहोत्यादि गण के तथा स्वादि गण के अन्त में **छन्दसि** गणसूत्र का निर्देश करके जो धातुएँ पढ़ी हैं, प्रायः वे सभी धातुएँ काशकृत्स्न-धातुपाठ में **छन्दसि** निर्देश के बिना ही पढ़ी गई हैं। इससे प्रतीत होता है कि काशकृत्स्न पाणिनि से बहुत प्राचीन है। पाणिनि के समय वैदिक मानी जानेवाली धातुएँ उसके काल में लोक में भी प्रचलित थीं। अन्यथा, वह भी पाणिनि के समान इनके लिए **छन्दसि** का निर्देश अवश्य करता।

इन उपर्युक्त प्रमाणों और हेतुओं से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न पाणिनि से निश्चय ही बहुत पूर्ववर्त्ती है। इतना ही नहीं, हमारे विचार में तो काशकृत्स्न आपिशलि से भी प्राचीन है।

पाश्चात्य ऐतिहासिक पाणिनि को विक्रम से ४००—६०० वर्ष पूर्व मानते हैं। यह मत भारतीय अनवच्छिन्न परम्परा के अनुसार नितान्त मिथ्या है। पाणिनि विक्रम से निश्चय ही २९०० वर्ष प्राचीन है, यह हम इस ग्रन्थ में पाणिनि के प्रकरण में सप्रमाण लिखेंगे। तदनुसार, काशकृत्स्न का काल भारत-युद्ध (३१०० वि० पूर्व) के समीप अथवा उससे पूर्व मानना होगा।

काशकृत्स्न को पाणिनि से पूर्ववर्त्ती मानने में एक प्रमाण बाधक हो सकता है। वह है काशिका ६। २। ३६ का पाठ—**आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः**। इनमें आपिशलि निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्त्ती है। यदि अगले उदाहरणों में भी इसी प्रकार पौर्वापर्य-व्यवस्था मानी जाय, तो पाणिनि से अर्वाचीन रौढि और उससे अर्वाचीन काशकृत्स्न को मानना होगा। परन्तु यह कल्पना पूर्व उद्धृत प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण चिन्त्य है। इतना ही नहीं, वर्धमान के मतानुसार **पाणिनीयरौढीयाः रौढीयपाणिनीयाः** दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं (गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २६)। अतः स्पष्ट है कि काशिका के उपर्युक्त उदाहरणों में कालक्रम अभिप्रेत नहीं है।

ग्रन्थ परिचय

नाम—अभी कुछ वर्ष हुए, काशकृत्स्न का कन्नड-टीका-सहित जो धातुपाठ प्रकाशित हुआ है, उसका नाम है—**काशकृत्स्न शब्दकलाप**

धातुपाठ। इस नाम में शब्दकलाप' पद धातुपाठ का विशेषण है, अथवा काशकृत्स्न के शब्दानुशासन का मूल नाम है, यह सन्दिग्ध है। **शब्दानां प्रकृत्यात्मिकां कलां पाति रक्षति** (=शब्दों की प्रकृति रूप कला=अंश की रक्षा करता है) व्युत्पत्ति के अनुसार यह धातुपाठ का विशेषण हो सकता है। परन्तु हमारा विचार है कि **शब्दकलाप** काशकृत्स्न-शब्दानुशासन का प्रधान नाम था। इसमें निम्न हेतु है—

कातन्त्र, अपरनाम कलापक-व्याकरण[1] के **कलापक** नाम में ह्रस्व अर्थ में जो '**क**' प्रत्यय (अष्टा०, ५।३।८६) हुआ है,[2] उससे प्रतीत होता है कि कातन्त्र-व्याकरण जिस तन्त्र का संक्षिप्त संस्करण है,[3] उसका मूल नाम '**कलाप**' है। हम आगे सप्रमाण सिद्ध करेंगे कि वर्तमान कातन्त्र, अपरनाम कलापक अथवा कौमार-व्याकरण[4] काशकृत्स्न के महातन्त्र[5] का ही संक्षेप है। अतः काशकृत्स्न के शब्दानुशासन का मूल नाम 'कलाप' ही प्रतीत होता है।

शब्दकलाप का अर्थ—हम बहुत विचार के अनन्तर इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि **शब्दकलाप** पद का अर्थ "शब्दों की कलाओं=अंशों का पान करनेवाला" अर्थात् किसी बृहत् शब्दानुशासन का संक्षिप्त संस्करण है। इसमें निम्न कारण हैं—

काशिका ४। ३। ११५, जैन शाकटायन ३।१।१८२ की चिन्तामणि-वृत्ति तथा सरस्वती-कण्ठाभरण ४।३।२४५ की हृदयहारिणी टीका में एक

---

१. सम्प्रति इसका 'कलाप' नाम से भी व्यवहार होता है। यह व्यवहार चिन्त्य है। २. दशपादी-उणादि-वृत्तिकार ने ३। ५ (पृ० १३०) पर कलापक शब्द में 'कला' उपपद होने पर 'आङ्'-पूर्वक 'पा पाने' धातु से 'क्वुन्' प्रत्यय माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने धातुपारायण (पृ० ६) तथा उणादिवृत्ति (पृ० १०) में दशपादी-वृत्तिकार का ही अनुसरण किया है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों लेखकों की व्युत्पत्तियां अशुद्ध हैं।

३. कातन्त्र शब्द का अर्थ भी ईषत्-तन्त्र ही है।

४. कातन्त्र की रचना छोटे बालकों के लिए हुई, यह इस नाम से स्पष्ट है।

५. हमारे विचार में गायकवाड़-संस्कृत-सीरिज में प्रकाशित बालिद्वीपीय ग्रन्थ-

उदाहरण है—**काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्**। यह उदाहरण जिस सूत्र का है, उसके अनुसार इसका अर्थ है—काशकृत्स्न ने किसी के उपदेश के विना अपनी प्रतिभा से अपने शास्त्र में शब्दों के गौरव-लाघव का विचार करके अनन्त शब्दराशि में से लोकप्रसिद्ध मुख्य शब्दों का ही उपदेश किया और अप्रसिद्ध शब्दों को छोड़ दिया। अर्थात् काशकृत्स्न ने शब्द-शास्त्र के संक्षेप करने में शब्दों के गौरव=प्रसिद्धि और लाघव=अप्रसिद्धि पर अधिक ध्यान दिया। अतः उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि काशकृत्स्न ने किसी पूर्व व्याकरण-शास्त्र में अप्रसिद्ध शब्दविषयक सूत्रों को कम कर दिया, अर्थात् किसी पूर्व अतिबृहत् शास्त्र का संक्षेप से उपदेश किया। इसलिए शब्दकलाप का हमारे द्वारा उपरि-विवृत अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है।

काशकृत्स्न-धातुपाठ के सम्पादक श्री ए० एन्० नरसिंहिया ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में 'शब्दकलाप' नाम के विषय में अपना कुछ भी विचार प्रकट नहीं किया। केवल 'काशकृत्स्न शब्दकलाप-धातुपाठ नाम के कारण कुछ लोगों का कहना है कि इसका सम्बन्ध कलाप-व्याकरण से है। कलाप-व्याकरण के कुमार-व्याकरण और कातन्त्र-व्याकरण नामान्तर हैं' इतना ही लिखकर इस प्रश्न को टाल दिया है।

परिमाण—काशकृत्स्न-व्याकरण में कितने अध्याय, पाद तथा सूत्र थे, इसका निर्देशक कोई साक्षात् वचन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु काशिका और अमोघा वृत्ति में उद्धृत **त्रिकं काशकृत्स्नम्, त्रिकं काशकृत्स्नीयम्** उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि काशकृत्स्न के किसी सूत्रात्मक ग्रन्थ में तीन अध्याय थे। हमारे विचार में उक्त उदाहरणों में स्मृत अध्यायत्रयात्मक काशकृत्स्न ग्रन्थ व्याकरणविषयक था, इसमें निम्न हेतु हैं—

१. काशिका, ५।१।५८ तथा जैन शाकटायन, ३।२।१६१ की अमोघा वृत्ति में पूर्वोद्धृत उदाहरणों के साथ निर्दिष्ट **अष्टकं पाणिनीयम्** आदि उदाहरणों में जितने अन्य सूत्र-ग्रन्थ स्मरण किये गये हैं, वे सब निश्चय ही व्याकरणविषयक हैं। इसलिए साहचर्य-नियम से उनके साथ स्मृत काशकृत्स्न का अध्यायत्रयात्मक ग्रन्थ भी व्याकरणविषयक ही होना चाहिए।

अध्याय हैं ।[1] अतः यह अधिक सम्भव है कि कातन्त्र-व्याकरण के उपजीव्य काशकृत्स्न-व्याकरण में भी तीन ही अध्याय रहे हों।

पाणिनि-व्याकरण के संक्षेपक चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में पाणिनीय तन्त्रवत् आठ ही अध्याय रखे थे।[2] पाणिनि तथा चान्द्र व्याकरणों के अनुसर्त्ता भोज ने भी अपने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण को आठ अध्यायों में ही विभक्त किया है। इतना ही नहीं, स्वयं पाणिनि ने भी व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों को अपने उपजीव्य आपिशल-व्याकरण और शिक्षा-सूत्रों के अनुसार क्रमशः आठ अध्यायों तथा आठ प्रकरणों में ही विभक्त किया है।[3] इसी प्रकार कातन्त्र के व्याकरण प्रवक्ता ने भी तीन अध्यायों का विभागीकरण अपने उपजीव्य काशकृत्स्न-तन्त्र के अनुरूप ही किया हो, यह अधिक सम्भव है। हमारे इस अनुमान की पुष्टि इससे भी होती है कि कातन्त्र धातुपाठ में काशकृत्स्न-धातुपाठ के समान ही धातुओं को नव गणों में विभक्त किया है (जुहोत्यादि को अदादि के अन्तर्गत माना है।)

प्रति अध्याय पाद-संख्या—काशकृत्स्न-व्याकरण के प्रत्येक अध्याय में कितने पाद थे, यह ज्ञात नहीं। काशकृत्स्न से लघु पाणिनीय तन्त्र में आठ अध्याय हैं और प्रति अध्याय चार-चार पाद। ऐसी अवस्था में काशकृत्स्न-व्याकरण के तीन अध्यायों में प्रति अध्याय पाद-संख्या चार से अवश्य ही अधिक रही होगी। कातन्त्र के तीन अध्यायों में क्रमशः पांच-पांच तथा दस पाद हैं।

---

१. मूल कातन्त्र आख्यातान्त है। उत्तर-कृदन्त-भाग (अध्याय ४) कात्यायन द्वारा परिवर्द्धित है। इसकी मीमांसा कातन्त्र के प्रकरण में देखिए।

२. उपलब्ध चान्द्र व्याकरण में केवल छह ही अध्याय हैं, परन्तु मूल ग्रन्थ में आठ अध्याय थे। बौद्धमतानुयायियों की उपेक्षा के कारण अन्त के स्वरवैदिक-प्रक्रिया-सम्बन्धी दो अध्याय लुप्त हो गये। हमने इन लुप्त दो अध्यायों के अनेक सूत्र उपलब्ध कर लिये हैं। द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' अध्याय में चान्द्र व्याकरण का प्रकरण।

३. हरदत्त के लेखानुसार (पदमञ्जरी, भाग १, पृ० ६-७) पाणिनीय व्याकरण का उपजीव्य आपिशल-व्याकरण है। आपिशल और पाणिनीय-शिक्षा के लिए द्र०

काशकृत्स्न-तन्त्र पाणिनीय तन्त्र से विस्तृत—हम पहले लिख चुके हैं कि काशकृत्स्न का शब्दानुशासन किसी प्राचीन महातन्त्र का संक्षिप्त प्रवचन है। मूल काशकृत्स्न-व्याकरण के अनुपलब्ध होने पर भी हमारा विचार है कि काशकृत्स्न का व्याकरण संक्षिप्त होते हुए भी पाणिनीय अनुशासन की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। इसमें निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. काशकृत्स्न-व्याकरण के आज हमें जितने सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनकी पाणिनीय सूत्रों के साथ तुलना करने से विदित होता है कि काशकृत्स्न-व्याकरण में अनेक ऐसे पदों का अन्वाख्यान था, जिनका पाणिनीय तन्त्र में निर्देश नहीं है। यथा -

(क) **ब्रह्म—बर्हेरुरो मनि** (पृ० ६७)।

(ख) **कश्यप, कशिपु—कशेर्यप ईपुश्च** (पृ० ७९)।

(ग) **पुलस्त्य, अगस्ति—पुल्यगिभ्यामस्त्योऽस्तिश्च** (पृ० ७९)।

(घ) **लक्ष्मी, लक्ष्म, लक्ष्मण—लक्षेर्मीमन्मनाः** (पृ० २५३)।

२. चन्नवीरकवि-कृत कन्नड-टीका-सहित जो धातुपाठ प्रकाशित हुआ है, उसमें पाणिनीय धातुपाठ से लगभग ४५० धातुएँ अधिक हैं।[1]

जिस व्याकरण में धातुओं की संख्या जितनी अधिक होगी, निश्चय ही वह व्याकरण भी उतना ही अधिक विस्तृत होगा।

वैशिष्ट्य—किस व्याकरण में क्या वैशिष्ट्य है, इसका ज्ञान विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में उल्लिखित निम्नाङ्कित उदाहरणों से होता है। यथा—

१. **आपिशलं पुष्करणम्**।[2] काशिका, ४। ३। ११५॥

आपिशलमान्तःकरणम्।[2] सरस्वतीकण्ठाभरण, हृदयहारिणी टीका ४। ३। २४५॥

२. **पाणिनीयमकालकं व्याकरणम्**। काशिका, ४। ३। ११५, जैन शाकटायन, चिन्तामणि-वृत्ति ३। १। १८२॥

---

१. वस्तुतः काशकृत्स्न-धातुपाठ में लगभग ६५० धातएं ऐसी हैं, जो पाणिनीय धातुपाठ में नहीं हैं। लगभग २०० धातुएं पाणिनीय धातुपाठ में ऐसी हैं, जो काशकृत्स्न-धातुपाठ में नहीं हैं। अतः दोनों ग्रन्थों की पूर्ण धातु-संख्या की दृष्टि से काशकृत्स्न-धातुपाठ में ४५० धातुएं अधिक लिखी हैं।

पाणिनापज्ञमकालकं व्याकरणम् । काशिका २ । ४ । २१ ॥

३. चान्द्रमसंज्ञकं व्याकरणम् । सरस्वतीकण्ठाभरण-हृदयहारिणी टीका ४ । ३ । २४५ ॥

चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम् । चान्द्रवृत्ति २ । २ । ८६: वामनीय लिङ्गानुशासन पृ० ७ ।

इसी प्रकार काशकृत्स्न-व्याकरण की विशिष्टता का बोधक एक उदाहरण है—

काशकृत्स्नं गुरुलाघवम् ।

यह उदाहरण काशिका ४ । ३ ११५, सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२४५ की हृदयहारिणी टीका तथा जैन शाकटायन ३।१।१८२ की चिन्तामणि-टीका में उपलब्ध होता है ।

इन सब उदाहरणों की तुलना से व्यक्त है कि जिस प्रकार पाणिनीय तन्त्र की विशेषता कालपरिभाषाओं का अनिर्देश है, चान्द्र तन्त्र की विशेषता संज्ञा-निर्देश विना किये शास्त्र-प्रवचन है, उसी प्रकार काशकृत्स्न-तन्त्र की विशेषता गुरु-लाघव है ।

गुरु-लाघव शब्द का अर्थ—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण (पृ० ८३) में लिखा था—

"व्याकरण-शास्त्र की सूत्र-रचना में गुरु-लाघव (गौरव-लाघव) का विचार सब से प्रथम काशकृत्स्न आचार्य ने प्रारम्भ किया था। उससे पूर्व सूत्र-रचना में गौरव-लाघव का विचार नहीं किया जाता था।"

पुनः इसी पृष्ठ की तीसरी टिप्पणी में लिखा था—

"हमारा विचार है, काशकृत्स्न से पूर्व सूत्र-रचना सम्भवतः ऋतक्प्रातिशाख्य के समान श्लोकबद्ध होती थी। छन्दोबद्ध रचना होने पर गौरव-लाघव का विचार पूर्णतया नहीं रखा जा सकता। उसमें श्लोकपूर्त्यर्थ अनेक अनावश्यक पदों का समावेश करना पड़ता है।"

इसका भाव यह है कि सूत्रों की लघुता के लिए गद्य का आश्रय सब से पूर्व काशकृत्स्न ने लिया था, उससे पूर्व सूत्र-रचना छन्दोबद्ध होती थी ।

पाठ 'आपिशल्युपज्ञं दुष्करणम्, काशकृत्स्न्युपज्ञं गुरुलाघवम्' पाठ रहा होगा। मध्य में से 'दुष्करणं काशकृत्स्न्युपज्ञं' पाठ त्रुटित हो गया। तुलनीय काशिका ४।३।११५—

पूर्वलेख अशुद्ध—काशकृत्स्न-धातुपाठ तथा उसकी कन्नड-टीका
१३५ सूत्रों के प्रकाश में आ जाने से हमें पूर्वविचार में परिवर्तन क
पड़ा। काशकृत्स्न-सूत्रों की कातन्त्र-सूत्रों से तुलना करने पर ज्ञात होत
कि काशकृत्स्न-व्याकरण भी सम्भवतः श्लोकबद्ध रहा होगा।

गुरु-लाघव का शुद्ध अर्थ—हम पहले लिख चुके हैं कि भारत
इतिहास और व्याकरण के उपलब्ध तन्त्र इस बात के प्रमाण हैं
व्याकरण-शास्त्र के प्रवचन में उत्तरोत्तर संक्षेप हुआ है। काशकृत्स्न ने अ
संक्षिप्त (पूर्वापेक्षया) शास्त्र का प्रवचन करते समय शब्दों के गौरव = लो
में प्रयोग और लाघव = लोक में अप्रयोग को मुख्यता दी। दूसरे शब
में काशकृत्स्न ने अपने शास्त्र-प्रवचन में लोक में अप्रसिद्ध शब्दों को छो
दिया, अतः उसका शास्त्र पूर्व तन्त्रों की अपेक्षा बहुत छोटा हो गया। इ
कारण लोक में 'शब्दकलाप' नाम प्रसिद्ध हुआ।

काशकृत्स्न-तन्त्र श्लोकबद्ध—काशकृत्स्न का व्याकरण ऋक्प्रातिशाख
के समान पद्यबद्ध था, न कि पाणिनीय तन्त्र के समान गद्यबद्ध। इस
निम्नाङ्कित हेतु हैं—

१. मूल कातन्त्र व्याकरण का पर्याप्त भाग छन्दोबद्ध है। कातन्
काशकृत्स्न का संक्षिप्त प्रवचन है। इससे अनुमान होता है कि काशकृत्स्न-तन्
श्लोकबद्ध रहा होगा।

२. काशकृत्स्न-व्याकरण के जो विकीर्ण सूत्र कन्नड टीका में उपलब
हुए हैं, उनमें प्रत्यय-निर्देश दो प्रकार से मिलता है। सूत्र में जहाँ एक स
अधिक प्रत्ययों का निर्देश है, वहाँ कहीं प्रत्ययों का समास से निर्देश किय
है, कहीं पृथक्-पृथक्। यथा—

समस्तनिर्देश—लक्षेर्मीमन्मनाः (पृ० २५३); **नाम्न उपमानाच्चारे
आयङीयौ** (पृ० ३००)।

असमस्तनिर्देश—कशेर्यप ईपुश्च (पृ० ७९); **पुल्यगस्तिभ्यामस्त्यो-
स्तिश्च** (पृ० ८९)।

प्रत्ययों का इस प्रकार समस्त और असमस्त उभयथा निर्देश तभी
सम्भव हो सकता है, जब सूत्र-रचना ...

३. काशकृत्स्न-व्याकरण के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें कतिपय स्पष्ट रूप में श्लोक अथवा श्लोकांश हैं। यथा—

(क) **भूते भव्ये वर्त्तमाने भावे कर्त्तरि कर्मणि।**

प्रयोजके गुणे साम्ये स्युः क्रियादयः ॥ पृष्ठ ८०।

(ख) **गृहाः पुंसि च नाम्न्येव। पृष्ठ २४४।**

(ग) **अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे कर्मणि यङ् स्मृतः ॥ पृष्ठ २०१।**

काशकृत्स्न के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, वे उसके तन्त्र के विविध प्रकरणों के हैं, इसलिए गद्यबद्ध प्रतीयमान सूत्रों के विषय में भी श्लोकबद्ध होने की सम्भावना का निराकरण नहीं होता।

काशकृत्स्न के १४० सूत्रों की उपलब्धि—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में काशकृत्स्न के चार-पाँच सूत्र उद्धृत किये थे। तत्पश्चात् सं० २००८ वि० के अन्त में काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड-टीका-सहित प्रकाश में आया। ऐसे दुर्लभ और पाणिनि से प्राचीन आर्ष ग्रन्थ के अनुशीलन के लिए मन लालायित हो उठा, परन्तु कन्नड-भाषा का परिज्ञान न होने के कारण उससे वंचित रह गये। अन्त में हमने बहुत द्रव्य[1] व्यय करके सं० २०११ वि० में इसकी नागराक्षरों में प्रतिलिपि करवाई। इस नये ग्रन्थ के अनुशीलन से संस्कृत-भाषा और उसके व्याकरण के सम्बन्ध में जहाँ अनेक रहस्य विदित हुए, और सं० २००७ में लिखे गए इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में उल्लिखित प्राचीन संस्कृत-भाषा-सम्बन्धी विचारों की पुष्टि हुई, वहाँ काशकृत्स्न-व्याकरण के लगभग १३५ सूत्र नये उपलब्ध हुए।[2]

अन्य ग्रन्थ

काशकृत्स्न अथवा काशकृत्स्नि ने शब्दानुशासन के अतिरिक्त उसके कतिपय खिल पाठ और मीमांसा आदि निम्न ग्रन्थों का प्रवचन किया था—

१—धातुपाठ—काशकृत्स्नप्रोक्त धातुपाठ चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीका सहित संवत् २००८ में प्रकाश में आ चुका है। इस के विषय में विशेष विचार इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में पृष्ठ २४-३३ तक किया है।

---

२. इन सूत्रों और इन की व्याख्या के लिए देखिए हमारा 'काशकृत्स्न

२-**उणादि-पाठ**—इस के विषय में इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग पृष्ठ १६९—१७० तक देखिए ।

३-**मीमांसा शास्त्र**—पूर्व पृष्ठ १०८ पर लिख चुके हैं कि पातञ्जल महाभाष्य और भास के यज्ञफल नाटक में काशकृत्स्न-प्रोक्त मीमांसा शास्त्र का उल्लेख मिलता है। तत्त्वरत्नाकर के लेखक भट्ट पराशर प्रभृति संकर्ष काण्ड को काशकृत्स्नप्रोक्त स्वीकार करते हैं।

४-**यज्ञ-संबंधी**—बौधायन गृह्य और भट्ट भास्कर के पूर्व पृष्ठ १०९ पर उद्धृत प्रमाणों से व्यक्त होता है कि काशकृत्स्न ने यज्ञविषयक भी कोई ग्रन्थ लिखा था।

५-**वेदान्त**—पूर्व निर्दिष्ट वेदान्त १।४।२२ के उद्धरण से यह भी संभवना होती है कि काशकृत्स्न ने किसी वेदान्त सूत्र अथवा अध्यात्म शास्त्र का प्रवचन भी किया था

काशकृत्स्न प्रोक्त व्याकरण के साङ्गोपाङ्ग विवेचन, और उसके उपलब्ध सूत्रों के लिए हमारा **काशकृत्स्न-व्याकरणम्** संस्कृत ग्रन्थ देखिए। यह शीघ्र मुद्रित होगा।

९—शन्तनु (३१०० वि० पूर्व)

आचार्य शन्तनु ने किसी सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया था। सम्प्रति उपलभ्यमान **फिट् सूत्र** उसी शास्त्र का एक देश है। यह हम ने इस ग्रन्थ के "फिट् सूत्र का प्रवक्ता और व्याख्याता" नामक सत्ताईसवें अध्याय (भाग २, पृष्ठ २७३–२८३) में विस्तार से लिखा है। इसलिए शन्तनु के काल और उसके शब्दानुशासन के लिए पाठकवृन्द उक्त अध्याय का अवलोकन करें। यहाँ उसी विषय का पुनः प्रतिपादन करना पिष्टपेषण वत् होगा।

१०—वैयाघ्रपद्य (३१०० वि० पू०)

आचार्य वैयाघ्रपद्य का नाम पाणिनीय व्याकरण में उपलब्ध नहीं होता। काशिका ७।१।९४ में लिखा है—

इस उद्धरण में वैयाघ्रपद्य का व्याकरण प्रवक्तृत्व विस्पष्ट है।

परिचय

वैयाघ्रपद्य के गोत्र प्रत्ययान्त होने से इसके पिता अथवा मूल पुरुष का नाम व्याघ्रपाद् है, इतना स्पष्ट है।

काल

व्याघ्रपाद् का पिता—महाभारत अनुशासन पर्व ५३। ३० के अनुसार व्याघ्रपाद् महर्षि वसिष्ठ का पुत्र है।[1]

पाणिनि ने व्याघ्रपात् पद गर्गादिगण[2] में पढ़ा है। उस में यञ् प्रत्यय होकर वैयाघ्रपद्य पद निष्पन्न होता है। वैयाघ्रपद्य नाम शतपथ ब्राह्मण[3] जैमिनि ब्राह्मण, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[4] तथा शांख्यायन आरण्यक[5] आदि में उपलब्ध होता है। यदि यही वैयाघ्रपद्य व्याकरण प्रवक्ता हो तो वह अवश्य ही पाणिनि से प्राचीन होगा। यदि यह वैयाघ्रपद्य साक्षात् वसिष्ठ का पौत्र हो तो निश्चय ही यह वसिष्ठपौत्र पराशर का समकालिक होगा। तदनुसार इस का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून ४००० चार सहस्र वर्ष पूर्व होना चाहिए।

काशिका ८। २। १ में उद्धृत "**शुष्किका शुष्कजङ्घा च**" कारिका को भट्टोजिदीक्षित ने वैयाघ्रपद्यविरचित वार्तिक माना है।[6] अतः यदि यह वचन पाणिनीय सूत्र का प्रयोजन वार्तिक हो तो निश्चय ही वार्तिककार वैयाघ्रपद्य अन्य व्यक्ति होगा। हमारा विचार है यह कारिका वैयाघ्रपदीय व्याकरण की है। परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका सम्बन्ध पाणिनि के 'पूर्वत्रासिद्धम्'[7] सूत्र से जोड़ दिया। महाभाष्य में यह कारिका नहीं है।

वैयाघ्रपदीय व्याकरण का परिमाण

काशिका ४। २६। ५ में उदाहरण दिया है—"**दशकाः वैयाघ्रपदीयाः**"।

---

१. व्याघ्रयोन्यां ततो जाता वसिष्ठस्य महात्मनः। एकोनविंशतिः पुत्राः ख्याता व्याघ्रपदादयः॥ २. अष्टा० ४। १। १०५॥ ३. १०। ६। १। ७, ८॥ ४. ३। ७। ३। २॥ ४। ६। १। १॥ ५. ६। ७॥

६. अ एव शुष्किका....... इति वैयाघ्रपद्यवर्तिके जिशब्द एव पठ्यते।

इसी प्रकार काशिका ५ । १ । ५८ में पढ़ा है—"**दशकं वैयाघ्रपदीयम्**" । इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि वैयाघ्रपद्य प्रोक्त व्याकरण में दश अध्याय थे ।

पं० गुरुपद हालदार ने इस व्याकरण का नाम वैयाघ्रपद लिखा है और इसके प्रवक्ता का नाम व्याघ्रपात् माना है।[1] यह ठीक नहीं है; यह हमारे पूर्वोद्धृत उदाहरणों से विस्पष्ट है। यदि वहां व्याघ्रपाद् प्रोक्त व्याकरण अभिप्रेत होता तो "**दशकं व्याघ्रपदीयम्**" प्रयोग होता है। हां, महाभाष्य ६ । २ । ३६ में एक पाठ है—**आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः** । इस में "**व्याडीय**" का एक पाठान्तर "**व्याघ्रपदीय**" है। यदि यह पाठ प्राचीन हो तो मानना होगा कि आचार्य व्याघ्रपात् ने भी किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन किया था।

इस से अधिक हम इस व्याकरण के विषय में नहीं जानते ।

११—माध्यन्दिनि (३००० वि० पू०)

माध्यन्दिनि आचार्य का उल्लेख पाणिनीय तन्त्र में नहीं है। काशिका ७ । १ । ९४ में एक कारिका उद्धृत है—

संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ।

माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः ॥

कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका के रचयिता त्रिलोचनदास ने इस कारिका को व्याघ्रभूति के नाम से उद्धृत किया है।[2] सुपद्ममकरन्दकार ने भी इसे व्याघ्रभूति का वचन माना है।[3] न्यासकार और हरदत्त इसे आगम वचन लिखते हैं।[4]

इस वचन में माध्यन्दिनि आचार्य के मत में "**उशनस्**" शब्द के संबोधन में "**हे उशनः, हे उशनन्, हे उशन**" ये तीन रूप दर्शाये हैं।

---

१. व्याक० दर्शनेर इति० पृष्ठ ४४४ ।

२. कातन्त्र चतुष्टय १०० ।　　३. सुपद्म सुबन्त २४ ।

४. अनन्तरोक्तमर्थमागमवचनेन द्रढयति । न्यास ७ । १ । ९४ ॥ तदागमेन

विमलसरस्वती कृत रूपमाला (नपुंसकलिङ्ग प्रकरण) और प्रक्रियाकौमुदी की भूमिका का पृष्ठ ३२ में एक वचन इस प्रकार उद्धृत है—

इकः षण्ढेऽपि सम्बुद्धौ गुणो माध्यन्दिनेर्मते ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि माध्यन्दिनि आचार्य ने किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवचन अवश्य किया था ।

परिचय

माध्यन्दिनि पद अपत्यप्रत्ययान्त है । तदनुसार इसके पिता का नाम मध्यन्दिन था ।[1] पाणिनि के मत में बाह्वादि गण[2] को आकृतिगण मान कर ऋष्यण को बाधकर 'इञ्' प्रत्यय होता है । जैन शाकटायनीय गणपाठ के बाह्वादि गण में इसका साक्षान्निर्देश है ।[3]

काल

पाणिनि ने माध्यन्दिनि के पिता मध्यन्दिन का निर्देश उत्सादिगण[4] में किया है । मध्यन्दिन वाजसनेय याज्ञवल्क्य का साक्षात् शिष्य है ।[5] उसने याज्ञवल्क्य प्रोक्त शुक्लयजुः संहिता के पदपाठ का प्रवचन किया था । माध्यन्दिनी संहिता के अध्येता माध्यन्दिनों का एक मत कात्यायनीय शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में उद्धृत है ।[6] इन प्रमाणों से व्यक्त है कि मध्यन्दिन का पुत्र माध्यन्दिनि आचार्य पाणिनि से प्राचीन है । इसका काल विक्रम से लगभग ३००० वर्ष पूर्व है ।

मध्यन्दिन के ग्रन्थ

शुक्लयजुः-पदपाठ—माध्यन्दिनि के पिता आचार्य मध्यन्दिन ने याज्ञवल्क्य प्रोक्त प्राचीन यजुःसंहिता के पदपाठ का प्रवचन किया था (मन्त्र-

---

१. मध्यन्दिनस्यापत्यं माध्यन्दिनिराचार्यः । पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ७३६ ।

२. अष्टा० ४ । १ । ९६ ॥ ३. जैन शाकटायन व्याक० परिशिष्ट, पृष्ठ ८२ ।

४. अष्टा० ४ । १ । ८६ ॥ ५. याज्ञवल्क्यस्य शिष्यास्ते कण्व-वैधेय-शालिनः । मध्यन्दिनश्च शापेयी विदग्धश्चाप्युद्दालकः । वायु पुराण ६१ । २४, २५ ॥ यही पाठ कुछ भेद से ब्रह्माण्ड पूर्व भाग अ० ३५ श्लो० २८ में भी मिलता है ।

६ तस्मिन् ळ्ऴजिह्वामलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानां

लिखित ग्रन्थों में इसे बहुधा यजुर्वेद वा वाजसनेय संहिता कहा गया है। अन्यत्र भी इसे शुक्लयजुः शाखाओं का मूल कहा है।[2] ग्रन्थ का आन्तरिक साक्ष्य भी इस की पुष्टि करता है।[3] केवल पदपाठ के प्रवचन से भी प्राचीन संहिताएं पदकार के नाम से व्यवहृत होने लगती हैं। यथा— शाकल्य के पदपाठ से मूल ऋग्वेद शाकल संहिता और आत्रेय के पदपाठ के कारण प्राचीन तैत्तिरीय संहिता आत्रेयी कहाती है।[4] इसी प्रकार मध्यन्दिन के पदपाठ के कारण प्राचीन यजुःसंहिता माध्यन्दिनी संहिता के नाम से व्यवहृत हुई।

माध्यन्दिन-शिक्षा—काशी से एक शिक्षासंग्रह छपा है। उस में दो

---

१. शुक्ल यजुर्वेदी दर्शपौर्णमास का आरम्भ पहले पूर्णिमा में पौर्णमास तत्पश्चात् अमावास्या में दर्श, इस क्रम से मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण भी पहले पौर्णमास मन्त्रों का व्याख्यान करता है, तदनन्तर दर्श मन्त्रों का। यदि शुक्ल यजुःसंहिता का प्रवचन याज्ञवल्क्य अथवा मध्यन्दिन ने किया होता तो उस में प्रथम इषे त्वादि दर्श मन्त्रों का प्रवचन न होकर शतपथ के समान पौर्णमास मन्त्रों का प्रवचन होता।

२. तथा चेदं होलीरभाष्यम्—यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः।······ तस्मान्माध्यन्दिनीयशाखा एव पञ्चदशसु वाजनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणी च। अतएव वसिष्ठेनोक्तम्—माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा। राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय मद्रास का सूचीपत्र भाग ३ पृष्ठ ३४२६, ग्रन्थ नं० २४०६ अनिर्ज्ञातनाम पुस्तक का मुद्रित पाठ। देखो 'माध्यन्दिनी संहिता मूल यजुर्वेद है' मेरा लेख—दयानन्दसन्देश, देहली, सन् १९४२ का फरवरी मास का अंक, पृष्ठ ६२०। तथा गोविन्दराम हासानन्द देहली द्वारा प्रकाशित यजुर्वेद की मेरी भूमिका पृष्ठ ११–१४। वसिष्ठ का उक्त वचन चरणव्यूह की टीका में भी उद्धृत है।

३. देखो—श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १. पृष्ठ १७८, १७९ (द्वि० सं०)। तथा इसी विषय पर मेरा लेख आर्यजगत् लाहौर, सं० २००३ चैत्र, तथा गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशित यजुर्वेद की मेरी भूमिका पृष्ठ १२।

४. उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने। तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति सोच्यते॥ यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः। तै० काण्डानुक्रम, पृष्ठ ६

माध्यन्दिनी शिक्षाएं छपी हैं। एक लघु और दूसरी बृहत्। इन में माध्यन्दिनसंहितासंबन्धी स्वर आदि के उच्चारण की व्यवस्था है। ये दोनों शिक्षाएं अर्वाचीन हैं। इन का मूल वाजसनेय प्रातिशाख्य है। इस विषय में विशेष "शिक्षा-शास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ में देखें।

१२—रौढि (३००० वि० पू०)

आचार्य रौढि का निर्देश पाणिनीय तन्त्र में नहीं है। वामन काशिका ६। २। ३६ में उदाहरण देता है—"**आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः**"। इन में श्रुत आपिशलि, पाणिनि और काशकृत्स्न निस्सन्देह वैयाकरण हैं। अतः इनके साथ स्मृत रौढि आचार्य भी वैयाकरण होगा।

परिचय

वंश—रौढि पद अपत्यप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस के पिता नाम रूढ है।

स्वसा—वर्धमान ने क्रौडयादिगण में रौढि पद पढ़ा है। तदनुसार रौढि की स्वसा का नाम **रौढ्या** था। महाभाष्य ४। १। ७९ से भी इसकी पुष्टि होती है। पाणिनि के गणपाठ में रौढि पद उपलब्ध नहीं होता।

सम्पन्नता—पतञ्जलि ने महाभाष्य १। १। ७३ में "**घृतरौढीयाः**" उदाहरण दिया है। जयादित्य ने इसका भाव काशिका १। १। ५३ में इस प्रकार व्यक्त किया है—**घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः, तस्य छात्राः घृतरौढीयाः**। इस से व्यक्त होता है कि यह आचार्य अत्यन्त सम्पन्न था। इस ने अपने अन्तेवासियों के लिए घृत की व्यवस्था विशेषरूप से कर रक्खी थी। इसी भाव का पोषक एक उदाहरण काशिका ६। २। ६९ में भी है। उसका अभिप्राय है—जो छात्र रौढिप्रोक्त शास्त्र में श्रद्धा न रख कर केवल घृतभक्षण के लिये उसके शास्त्र को पढ़ते हैं, उनकी 'घृतरौढीय' इस पद से निन्दा की जाती है।

काल

सिद्धन्तु रौढ्यादिषूपसंख्यानात्। सिद्धमेतत्, कथं? रौढ्यादिषूपसंख्यानात्। रौढ्यादिषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। के पुना रौढ्यादय:? ये क्रौड्यादय:।

इस पर कैयट लिखता है—"क्रौड्यादि के स्थान में वार्तिकपठित रौढ्यादि पद पूर्वाचार्यों के अनुसार है।" इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वाचार्य पाणिनीय "**क्रौड्यादिभ्यश्च**"[1] सूत्र के स्थान में "**रौढ्यादिभ्यश्च**" पढ़ते थे। इस से स्पष्ट है कि रौढि आचार्य पाणिनि से पौर्वकालिक है। पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण २।३।४ में **रूढादिभ्य:** ही पढ़ा है।

१३—शौनकि (३००० वि० पू०)

चरक संहिता के टीकाकार जज्झट ने चिकित्सास्थान २।२७ की व्याख्या में आचार्य शौनकि का एक मत उद्धृत किया है। पाठ इस प्रकार है—

कारणशब्दस्तु व्युत्पादित:—

करोतेरपि कर्तृत्वे दीर्घत्वं शास्ति शौनकि:।

अर्थात्—कृञ् धातु से कर्ता अर्थ में (ल्युट् में) दीर्घत्व का शासन करता है[2] शौनकि आचार्य।

मल्लवादिकृत द्वादशार-नयचक्र की सिंहसूरि गणि कृत टीका में लिखा है—

स्यान्मतम्, करोतीति कारणम्। यथोक्तम्—

ष्ठिवसिव्योर्ल्युटपरयोर्दीर्घत्वं वष्टि भागुरि:।

करोते: कर्तृभावे च सौनागा: प्रचक्षते॥[3]

अर्थात्—ष्ठिव सिव को ल्युट् परे रहने पर दीर्घत्व चाहता है भागुरि। करोति से कर्तृभाव में दीर्घत्व सौनाग कहते हैं।

सम्भव है यहां पर **सौनागा:** के स्थान पर **शौनका:** मूल पाठ हो।

---

१. अष्टा० ४।१।८०॥

२. तुलना करो—कृञ: कर्तरि" चान्द्र सूत्र (१।३।६६)।

धाञ् कृञोस्तनिनह्योश्च बहुलत्वेन शौनकिः ।

अर्थात्—धाञ् कृञ् तनु और नह धातु के परे रहने पर अपि और अव उपसर्ग के अकार का लोप बहुल करके होता है, ऐसा शौनकि का मत है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य शौनकि ने किसी व्याकरण-तन्त्र का प्रवचन किया था।

परिचय और काल

शौनकि पद अपत्यप्रत्ययान्त है। तदनुसार शौनकि के पिता का नाम शौनक है। यह ब्रह्मज्ञाननिधि गृहपति शौनक का पुत्र है। शौनक का काल विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व है, यह हम पाणिनि के प्रसङ्ग में लिखेंगे। अतः शौनकि का काल भी ३००० वर्ष विक्रम पूर्व मानना युक्त है।

चरक सूत्र स्थान २५। १६ में शौनक का एक पाठान्तर भी शौनकि मिलता है।[1]

शौनक के चिकित्सा ग्रन्थ का निर्देश अष्टाङ्गहृदय कल्पस्थान ६। १५ में **अधीते शौनकः पुनः** रूप में मिलता है। इस की सर्वाङ्गसुन्दरा टीका में लिखा है—

शौनकस्तु तन्त्रकृधीते........।

शौनक प्रोक्त ज्योतिष ग्रन्थ अथवा उस के मतों का उल्लेख ज्योतिष ग्रन्थों में प्रायः उपलब्ध होता है।[2]

१४—गौतम (३००० वि० पू०)

गौतम का नाम पाणिनीय तन्त्र में नहीं मिलता। महाभाष्य ६। २। ३६ "**आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः**" प्रयोग मिलता है। इस में स्मृत आपिशलि, पाणिनि और व्याडि ये तीन वैयाकरण हैं। अतः इन के साथ स्मृत आचार्य गौतम भी वैयाकरण प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि तैत्तिरीय

---

१. द्र० निर्णयसागर मुद्रित गुटका।

२. द्रष्टव्य—शंकर बालकृष्ण कृत 'भारतीय ज्यतिषो शास्त्राच्या इतिहास' पृष्ठ १८६, ४८२ टि०, ४८७ (द्वि० सं०)।

महाभाष्य के उद्धरण से इस बात की कुछ प्रतीति नहीं होती कि गौतम पाणिनि से पूर्ववर्ती है वा उत्तरवर्ती। परन्तु तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में प्लाक्षि कौण्डिन्य और पौष्करसादि के साथ गौतम का निर्देश होने से वह पाणिनि से निस्सन्देह प्राचीन है। यह वही आचार्य प्रतीत होता है जिसने गौतम-गृह्य, गौतम धर्मशास्त्र बनाए। वह शाखाकार था। गौतमप्रोक्त गौतमी शिक्षा इस समय उपलब्ध है। यह काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में छपी है। इस के विषय में "शिक्षाशास्त्र का इतिहास" ग्रन्थ में विस्तार से लिखेंगे।

१५—व्याडि (२९५० वि० पू०)

आचार्य व्याडि का निर्देश पाणिनीय सूत्रपाठ में नहीं मिलता। आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के अनेक मत उद्धृत किये हैं।[३] भाषावृत्ति ६।१।७० में पुरुषोत्तमदेव ने गालव के साथ व्याडि का एक मत उद्धृत किया है।[४] गालव शब्दानुशासन का कर्त्ता है और पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उसका चार स्थानों पर उल्लेख किया है।[५] महाभाष्य ६।२।३६ में "आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः" प्रयोग मिलता है। इसमें प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि और पाणिनि के अन्तेवासियों के साथ व्याडि के अन्तेवासियों का निर्देश है। ऋक्प्रातिशाख्य १३।३१ में शाकल्य और गार्ग्य के साथ व्याडि का बहुधा उल्लेख है।[६] शाकल्य[७] और गार्ग्य[८] दोनों का स्मरण पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में किया है। इनसे स्पष्ट है कि व्याडि ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था।

---

१. प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानं प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम्। ५। ३८॥ २. मै० प्रा० ५। ४०॥ ३. ऋक्प्राति० २। २३। २८॥ ६। ४३॥ १३। ३१, ३७॥

४. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।

५. अष्टा० ६। ३। ६१॥ ७। १। ७४॥ ७। ३। ९९॥ ८। ४। ६७।

६. व्याळिशाकल्यगार्ग्याः। ७. अष्टा० १। १। १६॥ ६।१।१२७॥ ८।३।१९॥ ८।४।५१॥ ८. अष्टा० ७।३।९९॥ ८।३।२०॥ ८।४।६७॥

परिचय और काल

व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण है। इसे वामन ने काशिका ६।२।६९ में दाक्षि के नाम से स्मरण किया है।[1] यह दाक्षीपुत्र पाणिनि का मामा है। कई विद्वान् दाक्षायण पद से इसे पाणिनि का ममेरा भाई मानते हैं, वह ठीक नहीं। अतः व्याडि का काल पाणिनि से कुछ पूर्व अर्थात् विक्रम से लगभग २९५० वर्ष पूर्व है।

व्याडि के परिचय और काल के विषय में हम **"संग्रहकार व्याडि"** नामक प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे। अतः इस विषय में यहां हम इतना ही संकेत करते हैं।

व्याकरण

जयादित्य ने काशिका २।४।४१ में उदाहरण दिया है—व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्।

न्यास में इसका पाठ 'व्याड्युपज्ञं दशदुष्करणम्' है।

पदमञ्जरी ४।३।११५ में इस उदाहरण की व्याख्या मिलती है। अतः प्रतीत होता है कि उसके समय में काशिका ४।३।११५ में भी यह उदाहरण अवश्य विद्यमान था। काशिका के मुद्रित संस्करणों में ४।३।११५ का पाठ अशुद्ध है।[2] न्यासकार २।४।२१ में इस उदाहरण की व्याख्या में लिखता है—

व्याडिरन्यत्र युगपत्कालभाविनां विधीनां मध्ये दशदुष्करणानि कृत्वा परिभाषितवान् पूर्वं पूर्वं कालमिति।[3]

---

१. कुमारीदाक्षाः।............कुमार्यादिलाभकामा ये दाक्षादिभिः प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते तच्छिष्यतां वा प्रतिपद्यन्ते त एवं क्षिप्यन्ते। यहां "दाक्षादिभिः" पाठ अशुद्ध है, "दाक्ष्यादिभिः" पाठ होना चाहिये।

२. काशिका का मुद्रित पाठ इस प्रकार है—"काशकृत्स्नम्। गुरुलाघवम्। आपिशलम्। पुष्करणम्।"

३. पं० गुरुपद हालदार ने लिखा है—सुतरामापिशलिसंबंधे जयादित्येर मते बुझिते हइबे—आपिशलिस्तु युगपत्कालभाविनां

न्यास की व्याख्या में मैत्रेयरक्षित लिखता है—

प्रथमतरं दशदुष्करणानि कृत्वा कालमनद्यतनादिकं परिभाषितवान्।

हरदत्त पदमञ्जरी ४।३।११५ में इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है—

दुष् इत्ययं संकेतशब्दो यत्र क्रियते, यथा पाणिनीये वृदिति, तद् दुष्करणं व्याकरणं, कामशास्त्रमित्यन्ये।

न्यासकार, मैत्रेयरक्षित और हरदत्त की व्याख्याएं अस्पष्ट हैं। हरदत्त 'कामशास्त्रमित्यन्ये' लिखकर स्वयं संदेह प्रकट करता है।

अब हम अगले अध्याय में पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मृत १० आचार्यों का वर्णन करेंगे।

चौथा अध्याय

पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्मृत आचार्य

(४०००–३००० वि० पू०)

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दश प्राचीन व्याकरणप्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है। उनके पौर्वापर्य का यथार्थ निश्चय न होने से हम उनका वर्णन वर्णानुक्रम से करेंगे।

१—आपिशलि (३००० वि० पू०)

आपिशलि आचार्य का उल्लेख पाणिनीय अष्टाध्यायी के एक सूत्र में उपलब्ध होता है।[1] महाभाष्य ४।२।४५ में आपिशलि का मत प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।[2] वामन, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट तथा मैत्रेयरक्षित आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने आपिशल व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं।[3]

परिचय

वंश—आपिशलि शब्द तद्धितप्रत्ययान्त है। काशिका ६। २। ३६ में आपिशलि पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शाई है—

आपिशलस्यापत्यमापिशलिराचार्यः। अत इञ्।

पाल्यकीर्ति ने रूढादिगण १। ३। ४ में अपिशल शब्द से इञ् आपिशलि मानकर स्त्रीलिङ्ग में **आपिशल्या** का निर्देश किया है।

गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान लिखता है—

आपिशलि—पिंशतीत्यौणादिककलप्रत्यये पिशलः, न पिशलोऽपिशलः कुलप्रधानम्, तस्यापत्यम्।[4]

---

१. वा सुप्यापिशलेः। अष्टा० ६। १। ९२॥

२. एवं च कृत्वाऽऽपिशलेराचार्यस्य विधिरुपपन्नो भवति-धेनुरनञिकमुत्पादयति।

३. काशिका ७। ३। ८६॥ न्यास ४। २। ४५॥ कैयट, महाभाष्यप्रदीप ५। १। २१॥ तन्त्रप्रदीप ७। ३। ८६॥ ४. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ३१

त्यादिञ्—आपिशलिः।[1]

इस व्युत्पत्ति के अनुसार आपिशलि के पिता का नाम "अपिशलि" होना चाहिये, परन्तु बाह्वादिगण[2] में 'अपिशलि' पद का पाठ न होने से उज्ज्वलदत्त की व्युत्पत्ति चिन्त्य है।

अपिशल शब्द का अर्थ—पिशल का अर्थ है क्षुद्र, अतः अपिशल का अर्थ होगा महान्। वर्धमान ने अपिशल का अर्थ 'कुल-प्रधान' किया है।[3] तदनुसार इसकी व्युत्पत्ति "**पिश अवयवे+कल (औणादिक) प्रत्ययः, पिश्यत इति पिशलः = क्षुद्रः, न पिशलोऽपिशलः**" होगी। वाचस्पत्यकोश में "**अपिशलते इति अपिशलः, अच्**" व्युत्पत्ति लिखी है।

नामान्तर—आपिशलि के लिए आपिशल नाम का भी व्यवहार परोक्ष रूप में उपलब्ध होता है। यथा—

१. **शिक्षा आपिशलीयादिका**। काव्यमीमांसा, पृष्ठ ३।

२. **नचेत्यापिशलीयशिक्षादर्शनम्**। वाक्यपदीय वृषभदेव टीका, भाग १, पृष्ठ १०५।

इन प्रयोगों में प्रस्तुत **आपिशलीय** पद अणन्त **आपिशल** शब्द से ही छ प्रत्यय होकर सम्भव हो सकता है। इञन्त आपिशलि से **इञश्च** (४। २। ११२) के नियम से **आपिशल** शब्द सम्पन्न होता है।

अपिशल से **अण्** और **इञ्** दोनों सामान्य अपत्यार्थक प्रत्यय होकर **आपिशल** और **आपिशलि** प्रयोग उपपन्न होते हैं।[4]

स्वसा का नाम—आपिशलि पद क्रौड्यादिगण[5] में पढ़ा है। तदनुसार

---

१. तुलना करो—अपिशलिर्मुनि विशेषः, तस्यापत्यमापिशलिः, बाह्वादित्वादिञ्। उणादिकोष ४। १२८॥ २. अष्टा० ४। १। ९६॥

३. देखो पूर्व पृष्ठ १३३। ४. विशेष द्रष्टव्य काशकृत्स्न प्रकरण पूर्व पृष्ठ १०७। ५. अष्टा० ४। १। ८०॥

आपिशलि की किसी स्वसा का नाम "**आपिशल्या**" होगा। अभिनव शाकटायन १।३।५ की चिन्तामणि टीका में भी "**आपिशल्या**" का निर्देश मिलता है। इसी प्रकार अन्य व्याकरणों में भी इस प्रकरण में **आपिशल्या** स्मृत है।

आपिशलि-शाला—आपिशलि पद छात्र्यादि गण[1] में पढ़ा है। तदनुसार शाला उत्तरपद होने पर "**आपिशलिशाला**" में आपिशलि पद को आद्युदात्त होता है।[2] इससे व्यक्त होता है कि पाणिनि के समय में आपिशलि की शाला देश देशान्तर में अत्यन्त प्रसिद्ध थी।

शाला शब्द का अर्थ—यद्यपि शाला शब्द का मुख्यार्थ गृह है, तथापि "**पदेषु पदैकदेशाः प्रयुज्यन्ते**"[3] न्याय के अनुसार यहां "शाला" शब्द पाठशाला के लिये प्रयुक्त होता है। महाराष्ट्र, गुजरात, पञ्जाब आदि अनेक प्रान्तों में पाठशाला के लिये केवल शाला शब्द का व्यवहार होता है। पुराण पञ्चलक्षण में रेमकशाला का वर्णन है, इस में पैप्पलाद आदि ने विद्याध्ययन किया था। मुण्डक उपनिषद् में गृहपति शौनक के लिए **महाशाल** शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है। वहां शाला का अर्थ निश्चित ही पाठशाला है। अतः आपिशलि शाला का अर्थ निश्चय ही आपिशलि का विद्यालय है।

काल

पाणिनीय अष्टक में आपिशलि का साक्षात् उल्लेख होने से इतना निश्चित है कि यह पाणिनि से प्राचीन है। पदमञ्जरीकार हरदत्त के लेख से प्रतीत होता है कि आपिशलि पाणिनि से कुछ ही वर्ष प्राचीन है। वह लिखता है—

कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन, आपिशलिना तर्हि केनावगतम् ? ततः पूर्वेण व्याकरणेन ॥[4]

---

१. गणपाठ ६।२।८६॥ २. छात्र्यादयः शालायाम् (अष्टा० ६।२।८६) सूत्र से। ३. तुलना करो—पदेषु पदैकदेशान्–देवदत्तो दत्तः,

कालं सत्तामनुसन्धत्ते, इत्यभियुक्ताः ॥

पाणिनि विक्रम से लगभग २९०० सौ वर्ष प्राचीन है, यह हम पाणिनि के प्रकरण में सप्रमाण सिद्ध करेंगे।

बौधायन श्रौत के प्रवराध्याय में भृगुवंश्य आपिशलि गोत्र का उल्लेख मिलता है।[2] मत्स्य पुराण १९४। ४१ में भी भृगुवंश्य आपिशलि का निर्देश उपलब्ध होता है। पं० गुरुपद हालदार ने आपिशलि को याज्ञवल्क्य का श्वसुर लिखा है,[3] परन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया। याज्ञवल्क्य ने शतपथ का प्रवचन विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व किया था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। आपिशलि शिक्षा में सात्यमुग्री और राणायनी शाखा के अध्येताओं का उल्लेख है।[4]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आपिशलि का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून ३००० वर्ष पूर्व अवश्य है।

आपिशल व्याकरण का परिमाण

जैन आचार्य पाल्यकीर्ति अपने शाकटायन व्याकरण की अमोघा वृत्ति ३। २। १६१ में उदाहरण देता है—**अष्टका आपिशलपाणिनीयाः**। यह उदाहरण शाकटायन व्याकरण की यक्षवर्मकृत चिन्तामणिवृत्ति २। ४। १८२ में भी उपलब्ध होता है। इससे विदित होता है कि आपिशल व्याकरण में आठ अध्याय थे। आपिशलि विरचित शिक्षा ग्रन्थ में भी आठ ही प्रकरण हैं।

आपिशल व्याकरण की विशेषता

काशिका ४। ३। ११५ में उदाहरण है—**काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलं पुष्करणम्**। सरस्वतीकण्ठाभरण ४। ३। २४६ की हृदयहारिणी

---

१. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७।

२. भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः……पैङ्गलायनाः, वैहीनरयः……काशकृत्स्नाः…पाणिनिर्वाल्मीकिः……आपिशलयः। ३. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृष्ठ ५१६। ४. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति। ६। ६॥ तुलना करो—छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। महाभाष्य, एओङ् सूत्र।

है। वामन ने ६ । २ । १४ की वृत्ति में "आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्" उदाहरण दिया है। इन में कौन सा पाठ शुद्ध है यह अभी विचारणीय है। अतः सन्दिग्ध अवस्था में नहीं कह सकते कि आपिशल व्याकरण की अपनी क्या विशेषता थी।

आपिशल व्याकरण का प्रचार

महाभाष्य ४ । १ । १४ से विदित होता है कि कात्यायन और पतञ्जलि के काल में आपिशल व्याकरण का महान् प्रचार था। उस काल में कन्याएं भी आपिशल व्याकरण का अध्ययन करती थीं।[२]

आपिशल व्याकरण का स्वरूप

पाणिनीय व्याकरण से प्राचीन व्याकरणों में केवल आपिशल व्याकरण ही ऐसा है जिसके सब से अधिक सूत्र उपलब्ध होते हैं।[३] इस के उपलब्ध सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह व्याकरण पाणिनीय व्याकरण के सदृश सर्वाङ्गपूर्ण सुव्यवस्थित तथा उससे कुछ विस्तृत था, और इस में लौकिक वैदिक उभयविध शब्दों का अन्वाख्यान था।

आपिशल व्याकरण के उपलब्ध सूत्र

शतशः व्याकरण ग्रन्थों के पारायण से हमें आपिशल व्याकरण के निम्न सूत्र उपलब्ध हुए हैं—

१. उभस्योभयोऽद्विवचनटापोः।[४]

---

१. निरुक्त १ । १३ के "एतेः कारितं च यकारादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च" पाठ में 'अन्तकरण' पद प्रयुक्त है। स्कन्दस्वामी ने "अन्तकरण" का अर्थ "प्रत्यय" किया है। क्या सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका का पाठ "अन्तकरण" हो सकता है ?   २. आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी।

३. यह स्थिति इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण तक थी। उस के पश्चात् काशकृत्स्न धातुपाठ की चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीका प्रकाश में आई। उस में काशकृत्स्न व्याकरण के १३५ सूत्र उपलब्ध हो गए। उन के लिए देखिए हमारा 'काशकृत्स्न व्याकरण और उस के उपलब्ध सूत्र' निबन्ध।

४. आपिशलिस्त्वेनमर्थं सूत्रयत्येव—"उभस्योभयोऽद्विवचनटापोः" इति।

२. विभक्त्यन्तं पदम् ।[1]

३. मन्यकर्मण्यनादरे उपमाने विभाषा प्राणिषु ।[2]

४. त्रिरसाययोर्मश्च प्रगप्राह्वयोरेच्च ।[3]

५. धेनोरञ्ञ: ।[4]

६. शताच्च ठन्यतावग्रन्थे ।[5]

७. शब्भिकरणे गुणः ।[6]

शास्त्री हुबली के लेख में उद्धृत । तुलना करो—"केचित् पुनरेवं पठन्ति—उभस्योभयोरद्विवचने ।" भर्तृहरि महाभाष्य-दीपिका पृष्ठ २७० ।

१. कलापचन्द्र (सन्धि २०) में सुषेण विद्याभूषण ने लिखा है—'अर्थः पदम्' आहुरैन्द्राः, 'विभक्त्यन्तं पदम्' आहुरापिशलीयाः, सुप्तिङन्तम् पदम्' पाणिनीयाः (देखो पूर्व पृष्ठ ८७)। हैम लिङ्गानुशासन विवरण, पृष्ठ १५८ पर निर्दिष्ट । तुलना करो—ते विभक्त्यन्ताः पदम् । न्यायसूत्र २ । २ । ५७ ॥ विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयम् । भरत नाट्यशास्त्र १४ । ३६ ॥

२. प्रदीप २ । ३ । १७ ॥ पदमञ्जरी २ । ३ । १७, भाग १, पृष्ठ ४२७ ॥ शब्दकौस्तुभ २ । ३ । १७ ॥ 'विभाषा प्राणिषु' इत्यापिशलीयं सूत्रम । हरिनामामृत व्या० कारक ३४ । आपिशलिवाक्येन उपमानवाचकात् ततोऽपि तिरस्कारे चतुर्थीत्युच्यते' प्रदीपोद्योते नागेशः (२ । ३ । १७) ।

३. इत्यापिशलीयं सूत्रम् । सुपद्मकरन्द ५ । ३ । ५१, ५२ ॥

४. न्यास ४ । २ । ४५, भाग १ पृष्ठ ६४२ । धातुवृत्ति धेट् धातु, पृष्ठ १६७ । धातुवृत्ति का मुद्रित पाठ अशुद्ध है । पदमञ्जरी ४ । २ । ४५ में 'धेनुरनञिकमुत्पादयति इत्यापिशलिसूत्रम्' भाष्यपङ्क्ति को ही सूत्र बना दिया है । व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ५२१ में भी यही भाष्यपङ्क्ति आपिशलि के नाम से उद्धृत है ।

५. महाभाष्य-प्रदीप ५ । १ । २१ ॥ यहां कैयट ने जितना अंश अष्टाध्यायी से भिन्न था, उतने ही का निर्देश किया है । पं० गुरुपद हालदार ने व्याकरण दर्शनेर इतिहास के प्राक्कथन पृष्ठ ३२ पर आपिशल और काशकृत्स्न के मत से याज्ञवल्क्य स्मृति (२ । २०२) का 'शतकं शतम्' प्रयोग उधृद्त किया है । यह हमें नहीं मिला ।

८. करोतेश्च।[1]

९. मिदेश्च।[2]

१०. तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु[3] च्छन्दसि।[4]

११. ञमङणनम् (?)[5]

(क) "तदर्हम्"[6] सूत्र का अभाव

काशकृत्स्न व्याकरण के प्रकरण में वाक्यपदीय तथा उसके टीकाकार हेलाराज का जो वचन उद्धृत किया है[7] उससे विदित होता है कि काशकृत्स्न व्याकरण के सदृश आपिशल व्याकरण में भी "तदर्हम्" सूत्र नहीं था।

(ख) "नाज्झलौ" सूत्र का अभाव

पाणिनि का **नाज्झलौ** (१।१।१०) सूत्र आपिशल व्याकरण में नहीं था, क्योंकि उसकी शिक्षा में

ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः। ३। ७॥

विवृतकरणा वा। ३। ८॥

पृष्ठ ८६५ में उद्धृत। तुलना करो—अनि च विकरणे, करोतेः, मिदेः। कातन्त्र ३। ७। ३–५।

१. धातुवृत्ति पृष्ठ ३५६, ३५७। तन्त्रप्रदीप ७। ३। ८६, पूर्वोद्धृत उद्धरण। कातन्त्र ३। ७। ४ पूर्वोद्धरण। २. धातुवृत्ति पृष्ठ ३५६, ३५७। तन्त्र-प्रदीप ७। ३। ८६, पूर्वोद्धरण। कातन्त्र ३। ७। ५ पूर्वोद्धरण।

३. टाबन्तं संज्ञात्वेन विनियुक्तम्। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ८३८। तुलना करो—"अथवा आर्धधातुकासु इति वक्ष्यामि। कासु आर्धधातुकासु? उक्तिषु युक्तिषु, रूढिषु, प्रतीतिषु, श्रुतिषु, संज्ञासु।" महाभाष्य २। ४। ३५॥

४. काशिका ७। ३। ९५॥ धातुवृत्ति पृष्ठ २४१। छान्दसोऽयमित्यापिशलिः। धातुप्रदीप पृष्ठ ८०। ५. पञ्चपादी उणादि आपिशलि-प्रोक्त है यह हम उणादि के प्रकरण में लिखेंगे। द्र० उणादि के "ञमन्ताड्डः" (१। १०७) सूत्र में ञम् प्रत्याहार। आपिशल-शिक्षा के "ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च" सूत्र में ञमङणन आनुपूर्वीविशेष का संबन्ध आपिशल व्याकरण के प्रत्याहार सूत्र से प्रतीत होता है। पाणिनीय शिक्षा के 'ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः' सूत्र में पूर्वोक्तक्रम से भेद है। ६. अष्टा० ५। १। ११७॥

सूत्रों द्वारा अ इ ऋ के ह् श ष ऊष्मों के प्रयत्न भिन्न भिन्न माने हैं। अतः प्रयत्नैक्य के अभाव से न सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है, न प्रतिषेध की ही आवश्यकता है। पाणिनीय शिक्षा में **विवृतकरणा वा** सूत्र द्वारा पक्षान्तर में ऊष्मों का भी विवृतकरण प्रयत्न स्वीकार करने से पक्ष में सवर्ण संज्ञा प्राप्त होती है। अतः पाणिनि के मत में उस का **नाज्झलौ** सूत्र द्वारा प्रतिषेध आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि आपिशल व्याकरण में उक्त सूत्र नहीं था।

आपिशलि के प्रकीर्ण उद्धरण

पूर्वोद्धृत सूत्रों के अतिरिक्त आपिशलि के नाम से अनेक वचन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—अनन्तदेव भाषिकसूत्र की व्याख्या में लिखता है—

यथापिशलिनोक्तम्—ऋवर्णलृवर्णयोर्दीर्घा [न] भवन्तीति।[1]

२—कविराज ने आपिशलि का निम्न मत उद्धृत किया है—

एकवर्णकार्यं विकारः, अनेकवर्णकार्यमादेश इत्यापिशलीयं मतम्।[2]

३—कातन्त्रवृत्ति की दुर्गविरचित टीका में आपिशलि के निम्न श्लोक उद्धृत है—

तथा चापिशलीयः श्लोकः—

आगमोऽनुपघातेन विकारश्चोपमर्दनात्।
आदेशस्तु प्रसंगेन लोपः सर्वापकर्षणात्॥[3]

४—भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधर ने आपिशल का निम्न डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है—

तथा चापिशलिः।

दन्त्योष्ठ्यत्वाद् वकारस्य वह्न्यधवृधां न भष्।
उदूठौ भवतो यत्र यो वः प्रत्ययसन्धिजः।

---

१. काशी के छपे हुए यजुःप्रातिशाख्य के अन्त में, पृष्ठ ४६६। शतपथ सायणभाष्य भाग १, पृष्ठ ३१८ पर कोष्ठ में निर्दिष्ट 'न' पद मूल में छपा है।

२. कातन्त्रटीका २।३।३३॥ तुलना करो—'विकारो नाम वर्णात्मक

५—जगदीश तर्कालङ्कार ने अपनी शब्दशक्तिप्रकाशिका में आपिशलि का निम्न मत उद्धृत किया है—

सदृशत्वं तृणादीनां मन्यकर्मण्यनुक्तके।

द्वितीयावच्चतुर्थ्यापि बोध्यते बाधितं यदि ॥

इत्यापिशलेर्मतम् ॥[२]

६, ७—उणादिसूत्र का वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त आपिशलि के निम्न दो वचन उद्धृत करता है—

आपिशलितु—न्यङ्कोर्नैच्भावं शास्ति न्याङ्कवं चर्म।[३]

स्वधा पितृतृप्तिरित्यापिशलिः।[४]

८—भानुजी दीक्षित ने अपनी अमरकोषटीका में आपिशलि का निम्न वचन उद्धृत किया है—

शश्वदभीक्ष्णं नित्यं सदा सततमजस्रमिति सातत्ये इत्यव्ययप्रकरणे आपिशलिः।[५]

९—कातन्त्रवृत्ति की दुर्गटीका में आपिशलि का निम्न श्लोक उद्धृत है—

आपिशलियं मतं तु—

पादस्त्वर्थसमाप्तिर्वा ज्ञेयो वृत्तस्य वा पुनः।

मात्रिकस्य चतुर्भागः पाद इत्यभिधीयते ॥[६]

इनमें प्रथम और षष्ठ उद्धरण निश्चय ही आपिशल व्याकरण से लिये गये हैं। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम उद्धरणों का सम्बन्ध यद्यपि आपिशल व्याकरण से है तथापि इनका मूल आपिशल सूत्र नहीं हैं, सम्भव है उसकी किसी वृत्ति से ये वचन उद्धृत किये हों। सप्तम अष्टम और नवम उद्धरण उसके किसी कोश से लिये गए होंगे।

---

१. भाषावृत्ति की भूमिका पृष्ठ १७। २. पृष्ठ ३७५, काशी सं०।

३. उणादिवृत्ति पृष्ठ ११। तुलना करो—न्यङ्कोस्तु पूर्वे अकृतैजागमस्याभ्युदयाङ्गतां स्मरन्ति। यथाहुः—न्यङ्कोः प्रतिषेधान्न्याङ्कवम् इति। वाक्यपदीय वृषभदेवटीका भाग १, पृष्ठ ५५॥ विशेष देखें, पूर्व पृष्ठ २७। ४. उणादिवृत्ति पृष्ठ १६१।

आपिशलि के जो सूत्र ऊपर उद्धृत किये हैं, उन से यह स्पष्ट है। आपिशल और पाणिनीय व्याकरण दोनों परस्पर में बहुत समान हैं। यह समानता न केवल सूत्ररचना में है, अपितु अनेक संज्ञा, प्रत्यय और प्रत्याहार भी परस्पर सदृश हैं।

संज्ञाएं—उपरि निर्दिष्ट सूत्रों में द्विवचन, विभाषा, गुण और सार्वधातुका, संज्ञाओं का उल्लेख है। पाणिनीय व्याकरण में भी ये ही संज्ञाएं हैं। केवल सार्वधातुका टाबन्त के स्थान में पाणिनि ने सार्वधातुक अकारान्त संज्ञा पढ़ी है।

प्रत्यय—पूर्व उद्धृत सूत्रों में टाप्, ठञ् और शप् प्रत्यय पढ़े हैं। ये ही प्रत्यय पाणिनीय व्याकरण में भी हैं।

प्रत्याहार—सृष्टिधर ने उपरिनिर्दिष्ट आपिशलि का जो डेढ़ श्लोक उद्धृत किया है। उसके "**बहव्यधवृधां न भष्**" चरण में भष् प्रत्याहार का निर्देश मिलता है। पाणिनि ने भी यही प्रत्याहार बनाया है।

इन के अतिरिक्त आपिशलि के धातुपाठ और गणपाठ के जो उद्धरण उपलब्ध हुए हैं वे भी पाणिनीय धातुपाठ और गणपाठ से बहुत समानता रखते हैं। आपिशलि के व्याकरण में भी पाणिनीय व्याकरण के सदृश आठ ही अध्याय थे, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] इतना ही नहीं, आपिशलशिक्षा और पाणिनीयशिक्षा के सूत्र परस्पर बहुत सदृश हैं, दोनों का प्रकरणविच्छेद भी सर्वथा समान हैं। इस अत्यन्त सादृश्य से प्रतीत होता है कि पाणिनीय व्याकरण का प्रधान उपजीव्य आपिशल व्याकरण है। पदमञ्जरीकार हरदत्त इस ओर संकेत भी करता है। वह लिखता है—

कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन।[2]

पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते, एवमापिशलिरपि।[3]

अन्य ग्रन्थ

१. **धातुपाठ**—इसके उद्धरण महाभाष्य, काशिका, न्यास और

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ १३६।
२ पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६।
३. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७।

पदमञ्जरी आदि कई ग्रन्थों में मिलते हैं। इसका विशेष वर्णन धातुपाठ के प्रकरण में किया है।[1]

२. **गणपाठ**—इसका उल्लेख भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका में किया है।[2] इसका विशेष वर्णन गणपाठ के प्रकरण में देखें।[3]

३. **उणादिसूत्र**—हमारा विचार है कि पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि विरचित हैं। इस विषय पर उणादिप्रकरण में विस्तार से लिखा है।[4]

४. **शिक्षा**—आपिशलशिक्षा का उल्लेख पाणिनीय शिक्षा में साक्षात् मिलता है।[5] तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की वैदिकाभरण टीका में आपिशलि का एक सूत्र उद्धृत है।[6] राजशेखरप्रणीत काव्यमीमांसा[7] और वृषभदेवविरचित वाक्यपदीय की टीका[8] में भी इसका निर्देश है। इसके अष्टम प्रकरण के २३ सूत्रों का एक लम्बा उद्धरण हेमचन्द्र ने अपने हैम शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति में दिया है।[9]

इस शिक्षा के दो हस्तलेख अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में हैं। यह मेहरचन्द लक्ष्मणदास भूतपूर्व लाहौर द्वारा प्रकाशित वैदिक स्टडीज पत्रिका में छप चुकी है। इसका सम्पादन डाक्टर रघुवीरजी एम० ए० ने किया है। हमने भी पाणिनीय और चान्द्र शिक्षा के साथ आपिशलशिक्षा का

---

१. द्र० भाग २, पृष्ठ ३४-३७। २. इह त्यदादीन्यापिशलैः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि पूर्वापराधरेति............। पृष्ठ २८७। तुलना करो—"त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि"। कैयट, भाष्यप्रदीप १।१।३३॥

३. द्र० भाग २, पृष्ठ १२१, १२२। ४. द्र० भाग २, पृष्ठ १७०।

५. स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति। पाणिनीयशिक्षा (हमारा सम्पादित संस्क०) सूत्र ११६। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा उपलब्ध कोश में ८ वां लगभग प्रकरण सारा त्रुटित था।

६. 'शेषाः स्थानकरणाः' इत्यापिशलिशिक्षावचनात्। तै० प्रा० २।४६, पृष्ठ ६०। ७. शिक्षा आपिशलीयादिका। काव्यमी० पृष्ठ ३।

८. तथेत्यापिशलीयशिक्षादर्शनम्। वाक्यपदीय वृषभदेव टीका भाग १, पृष्ठ १०५। वृषभदेव जिसे आपिशलि सूत्र कहता है वह मुद्रित ग्रन्थ में कुछ भेद से मिलता है। सम्भव है भर्तृहरि ने उसका अर्थतः अनुवाद किया हो।

मुद्रण किया है। उस में आपिशलशिक्षा के सूत्र जिन-जिन ग्रन्थों में उद्धृत हैं उनका निर्देश हमने नीचे टिप्पणी में कर दिया है।

५. **कोश**--यह अप्राप्य है। भानुजी दीक्षित के उपरि निर्दिष्ट आठवें उद्धरण से स्पष्ट है कि आपिशलि ने कोई कोश भी रचा था। संख्या ७ और ९ का उद्धरण भी कोश से ही लिया गया है।

अक्षरतन्त्र--इस ग्रन्थ में सामगान सम्बन्धी स्तोभों का वर्णन है। इस का प्रकाशन पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से किया था।[1]

७. **साम-प्रातिशाख्य**—धातुवृत्ति (मैसूर संस्करण) के संपादक महादेव शास्त्री ने सामप्रातिशाख्य को आपिशलि-विरचित माना है।[2] पर यह चिन्त्य है। द्र० सं० व्या० इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३१९।

२—काश्यप (३००० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में काश्यप का मत दो स्थानों पर उद्धृत किया है।[3] वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।५ में शाकटायन के साथ काश्यप का उल्लेख मिलता है।[4] अतः अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य में उल्लिखित काश्यप एक ही व्यक्ति है, इस में कोई सन्देह नहीं।

परिचय

काश्यप शब्द गोत्रप्रत्ययान्त है। तदनुसार इस के मूल पुरुष का नाम कश्यप है।

काल

पाणिनीय शब्दानुशासन में काश्यप का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि यह उससे पूर्ववर्ती है। वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार अष्टाध्यायी ४।३।१०३[5] में काश्यप कल्प का निर्देश है।[6] पाणिनि ने व्याकरण और

---

१. द्र०। सं० व्या० इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३४०।

२. धातुवृत्ति की भूमिका पृष्ठ ३। ३. तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य। अष्टा० १।२।२५॥ नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। अष्टा० ८।४।६७॥

कल्पप्रवक्ता का निर्देश करते हुए किसी विशेषण का प्रयोग नहीं किया, इस से प्रतीत होता है कि वैयाकरण और कल्पकार दोनों एक हैं। यदि यह ठीक हो तो काश्यप का काल भारत युद्ध के लगभग मानना होगा, क्योंकि प्रायः शाखाप्रवक्ता ऋषियों ने ही कल्पसूत्रों का प्रवचन किया था, यह हम वात्स्यायन-भाष्य के प्रमाण से पूर्व लिख आये हैं।[1]

काश्यप व्याकरण

काश्यप व्याकरण का कोई सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ। इस के मत का उल्लेख भी केवल तीन स्थानों पर उपलब्ध होता है। शुक्ल यजुः-प्रातिशाख्य के अन्त में निपातों को काश्यप कहा है।[2] हम इस के व्याकरण के विषय में इस से अधिक कुछ नहीं जानते।

अन्य ग्रन्थ

१—**कल्प**—वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार अष्टाध्यायी ४। ३। १०३ में किसी काश्यप कल्प का उल्लेख है।[3]

२—**छन्दःशास्त्र**—आचार्य पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र ७। ९ में काश्यप का एक मत उद्धृत किया है।[4] इस से विदित होता है कि काश्यप ने किसी छन्दःशास्त्र का प्रवचन किया था। फूलमण्डी (भटिण्डा-पंजाब) के वैद्य श्री अमरनाथजी ने १६। १। ६२ के पत्र में लिखा है कि काश्यप का छन्दःसूत्र उन के मित्र सरदार नन्दसिंहजी के पास है।

३—**आयुर्वेद संहिता**—संवत् १९९५ में आयुर्वेद की काश्यप संहिता प्रकाशित हुई है। इस नष्टप्रायः कौमारभृत्य-तन्त्र के उद्धार का श्रेय नैपाल के राजगुरु पं० हेमराज शर्मा को है। उन्हों ने महापरिश्रम करके एक मात्र त्रुटित ताडपत्रलिखित ग्रन्थ के आधार पर इस का सम्पादन किया है। ग्रन्थ की अन्तरङ्गपरीक्षा से प्रतीत होता है कि यह संहिता चरक सुश्रुत के समान प्राचीन आर्ष ग्रन्थ है।

४—**पुराण**—चान्द्रवृत्ति ३। ३। ७१ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण ४। ३। २२९ की टीका में किसी काश्यपीय पुराण का उल्लेख मिलता है।[5]

---

१. पूर्व पृष्ठ १६–२२। २. निपातः काश्यपः स्मृतः। अ० ८ सूत्र ५१ के आगे। मद्रास संस्करण के संस्कर्ता ने ...

वायुपुराण ६१।५६ के अनुसार वायुपुराण के प्रवक्ता का नाम अकृतव्रण काश्यप था।[1] विष्णुपुराण की श्रीधर की टीका पृष्ठ ३६९ में पुराण प्रवक्ता अकृतव्रण को काश्यप कहा है।

५–**काश्यपीय सूत्र**—उद्योतकर अपने न्यायवार्तिक में कणादसूत्रों को काश्यपीय सूत्र के नाम से उद्धृत करता है।[2]

व्याकरण, कल्प, छन्दःशास्त्र, आयुर्वेद, पुराण और कणादसूत्रों का प्रवक्ता एक ही व्यक्ति है वा भिन्न भिन्न, यह अज्ञात है।

३—गार्ग्य (३१०० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गार्ग्य का उल्लेख तीन स्थानों पर किया है।[3] गार्ग्य के अनेक मत ऋक्प्रातिशाख्य[4] और वाजसनेय-प्रातिशाख्य[5] में उपलब्ध होते हैं। उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण से विदित होता है कि गार्ग्य का व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था।

परिचय

गार्ग्य पद गोत्रप्रत्ययान्त है, तदनुसार इसके मूल पुरुष का नाम गर्ग था। गर्ग पूर्व निर्दिष्ट वैयाकरण भरद्वाज का पुत्र था। इससे अधिक इसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

अन्यत्र उल्लेख—किसी नैरुक्त गार्ग्य का उल्लेख यास्क ने अपने निरुक्त में किया है।[6] सामवेद का पदपाठ भी गार्ग्यविरचित माना जाता है।[7]

---

१. आत्रेयः सुमतिर्धीमान् काश्यपो ह्यकृतव्रणः। २. यथा काश्यपीयम्–सामान्य-प्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय इति। न्यायवार्तिक १।२।२३ पृष्ठ ६६। यह वैशेषिक (२।२।१७) सूत्र है। उद्योतकर विक्रम की प्रथम शताब्दी का ग्रन्थकार है। देखो, श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० सं० पृष्ठ ३४३।

३. अड् गार्ग्यगालवयोः। अष्टा० ७।३।६६॥ ओतो गार्ग्यस्य। ८।३।२०॥ नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। अष्टा० ८।४।६७॥

४. व्याडिशाकल्यगार्ग्याः। १३।३१॥

५. ख्यातेः खयौ कशौ गार्ग्यः सक्ख्योक्ख्यमुक्ख्यवर्जम्।

६. तत्र नामानि सर्वाण्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरु० १।१२॥ …

बृहद्देवता १।२६ में यास्क और रथीतर के साथ गार्ग्य का मत उद्धृत है।[1] ऋक्प्रातिशाख्य और वाजसनेय प्रातिशाख्य में गार्ग्य के अनेक मतों का निर्देश है।[2] चरक सूत्रस्थान १।१० में गार्ग्य का उल्लेख है। नैरुक्त गार्ग्य और सामवेद का पदकार एक ही व्यक्ति हैं, यह हम अनुपद लिखेंगे। बृहद्देवता १।२६ में निर्दिष्ट गार्ग्य निश्चित ही नैरुक्त गार्ग्य है। प्रातिशाख्यों में उद्धृत मत वैयाकरण गार्ग्य के हैं, यह उन मतों के अवलोकन से निश्चित हो जाता है। यद्यपि नैरुक्त गार्ग्य और वैयाकरण गार्ग्य की एकता में निश्चायक प्रमाण उपलब्ध नहीं, तथापि हमारा विचार है दोनों एक ही हैं।

एक दृप्तबालाकि गार्ग्य शतपथ १४।५।१।१ में उद्धृत है। हरिवंश पृष्ठ ५७ के अनुसार शैशिरायण गार्ग्य त्रिगर्तों का पुरोहित था। प्रश्नोपनिषद् ४।१ में सौर्यायणि गार्ग्य का उल्लेख मिलता है। ये निश्चय ही विभिन्न व्यक्ति हैं। यह इनके साथ प्रयुक्त विशेषणों से स्पष्ट है।

काल

अष्टाध्यायी में गार्ग्य का उल्लेख होने से यह निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन है। गार्ग्य का मत यास्कीय निरुक्त में उद्धृत है। यदि नैरुक्त और वैयाकरण दोनों गार्ग्य एक ही हों तो यह यास्क से भी प्राचीन होगा। यास्क का काल भारतयुद्ध के समीप है। अतः गार्ग्य विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष प्राचीन है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने गार्ग्य को धन्वन्तरि का शिष्य लिखा है, और उसके साथ गालव का निर्देश किया है।[3] पाणिनीय व्याकरण में भी दो स्थानों पर गार्ग्य और गालव का साथ साथ निर्देश मिलता है। क्या इस साहचर्य से वैद्य गार्ग्य गालव और वैयाकरण गार्ग्य गालव एक हो सकते हैं? यदि इनकी एकता प्रमाणान्तर से पुष्ट होजाय तो गार्ग्य गालव का काल विक्रम से लगभग ५५०० वर्ष पूर्व होगा।

तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ। दुर्गवृत्ति ४।४॥ मेहना एकमिति शाकल्यः, त्रीणीति गार्ग्यः। स्कन्दटीका ४।३॥

१. चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्कगार्ग्यरथीतराः। आशिषोऽथार्थवैरूप्याद् वाचः

गार्ग्य का व्याकरण

गार्ग्य के व्याकरण का कोई सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य में गार्ग्य के जो मत उद्धृत हैं उनसे विदित होता है कि गार्ग्य का व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण था। यदि सामवेद का पदकार ही व्याकरणप्रवक्ता हो तो मानना पड़ेगा कि गार्ग्य का व्याकरण कुछ भिन्न प्रकार का था। सामपदपाठ में मित्र पुत्र[1] आदि अनेक पदों में अवग्रह करके अवान्तर दो दो पद दर्शाए हैं, जो पाणिनीय व्याकरणानुसार (धातु प्रत्यय के संयोग से) एक ही पद हैं। सम्भव है शाकटायन के सदृश गार्ग्य ने भी एक पद की अनेक धातुओं की कल्पना की हो। गार्ग्य और शाकटायन का विरोध निरुक्त की दुर्गवृत्ति १। १३ में उपस्थापित किया है।

अन्य ग्रन्थ

प्राचीन वाङ्मय में गार्ग्यविरचित निम्न ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—

१. **निरुक्त**—यास्क ने अपने निरुक्त में तीन स्थान पर गार्ग्य का मत उद्धृत किया है।[2] बृहद्देवता १। २६ का मत भी निरुक्तशास्त्रविषयक है।[3] गार्ग्य के निरुक्त के विषय में श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २ (संहिताओं के भाष्यकार) पृष्ठ १६८ देखें।

२. **समावेद का पदपाठ**—सामवेद का पदपाठ गार्ग्यकृत माना जाता है। निरुक्त के टीकाकार दुर्ग और स्कन्द का भी यही मत है।[4] वाजसनेय प्रातिशाख्य ४।१७७ के उव्वट-भाष्य में गार्ग्यकृत पदपाठ-विषयक एक प्राचीन नियम उद्धृत है—

पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः।
अलोप इति गार्ग्यस्य कारत्रस्यार्थवशादिति॥

इस नियम के अनुसार गार्ग्य के पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप नहीं होता। शाकल्य और माध्यन्दिन के पदपाठ में पुनरुक्त पदों का लोप हो जाता है। हमने इस नियम के अनुसार सामवेद के पदपाठ को देखा। उस में पुनरुक्त पदों का पाठ सर्वत्र मिलता है। अतः सामवेद का पदपाठ गार्ग्यकृत ही है, इस में कोई सन्देह नहीं।

---

१. मि त्रम्, पृष्ठ १, मन्त्र ५। पुत् त्रस्य, पृष्ठ १८८, मन्त्र २।

२. [illegible]

भाग १, खण्ड २, पृष्ठ १२८ में सामवेदीय पदपाठ के कुछ पदों की यास्कीय निर्वचनों से तुलना की है। तदनुसार उन्होंने नैरुक्त और पदकार दोनों के एक होने की सम्भावना प्रदर्शित की है। हमने भी वैदिक यन्त्रालय अजमेर से सं० २००६ में प्रकाशित सामवेद के पष्ठ संस्करण का संशोधन करते समय सामवेदीय पदपाठ की अन्य पदपाठों और यास्कीय निर्वचनों के साथ विशेषरूप से तुलना की। उस से हम भी इसी परिणाम पर पहुंचे कि सामवेदीय पदकार और नैरुक्त गार्ग्य एक है।

३-**शालाक्य-तन्त्र**—सुश्रुत के टीकाकार डल्हण के मतानुसार गार्ग्य धन्वन्तरि का शिष्य है।[1] उसने शालाक्य तन्त्र की रचना की थी। संभवतः वैद्य गार्ग्य और वैयाकरण गार्ग्य दोनों एक व्यक्ति हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। एक गार्ग्य चरक सूत्रस्थान १। १० में भी स्मृत है।

४-**भू-वर्णन**—गार्ग्य ने भूवर्णन विषयक कोई ग्रन्थ लिखा था, उसी के अनुसार वायुपुराण ३४। ६३ में 'मेरुकर्णिका' वर्णन प्रकरण में उसे 'ऊर्ध्ववेणीकृत' दर्शाया है।

५-**तक्ष-शास्त्र**—आपस्तम्ब ने अपने शुल्बसूत्र में एक श्लोक उद्धृत किया है। टीकाकार करविन्दाधिप के मत में वह श्लोक गार्ग्य के तक्षशास्त्र का है।[2]

६-**लोकायत-शास्त्र**—गणपति शास्त्री ने अर्थशास्त्र की किसी प्राचीन टीका के अनुसार अपनी व्याख्या में लिखा है—**लोकायतं न्यायशास्त्रं, ब्रह्मगार्ग्यप्रणीतम्**। भाग १, पृष्ठ २७।

७-**देवर्षि-चरित**—महाभारत शान्तिपर्व २१०। २१ में गार्ग्य को देवर्षिचरित का कर्ता कहा है।[3]

८-**साम-तन्त्र**—पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अक्षरतन्त्र की भूमिका में गार्ग्य को सामतन्त्र का प्रवक्ता लिखा है। किसी हरदत्तविरचित सर्वानुक्रमणी में सामतन्त्र को औदव्रजि प्रोक्त कहा है।[4]

---

१. पूर्व पृष्ठ १४७ टि० ३। २. वेदार्थावगमनस्य बहुविद्यान्तराश्रयत्वात् तक्षशास्त्रे गार्ग्यागस्त्यादिभिरङ्गुलिसंख्योक्तं रथपरिमाणश्लोकमुदाहरन्ति—अथापि···। मैसूर संस्क० पृष्ठ ६६। ३. देवर्षिचरितं गार्ग्यः। चित्रशाला प्रेस पूना।
४. पूर्व पृष्ठ ६८। तथा इसी ग्रन्थ का दस भाग पृष्ठ ३३६, ४०।

इनमें से कितने ग्रन्थ वैयाकरण गार्ग्य कृत हैं, यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते।

४—गालव (३१०० वि० पू०)

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख चार स्थानों में किया है।[1] पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति ६।१।७७ में गालव का व्याकरण संबन्धी एक मत उद्धृत किया है।[2] इनसे विस्पष्ट है कि गालव ने कोई व्याकरणशास्त्र रचा था।

परिचय

गालव का कुछ भी परिचय हमें प्राप्त नहीं होता। यदि गालव शब्द अन्य वैयाकरण नामों के सदृश तद्धितप्रत्ययान्त हो तो इसके पिता का नाम गलव वा गलु होगा। महाभारत शान्तिपर्व ३४२।१०३, १०४ में पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव[3] को क्रमपाठ और शिक्षा का प्रवक्ता कहा है।[4] शिक्षा का संबन्ध व्याकरणशास्त्र के साथ है। प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी ने शिक्षाग्रन्थों का प्रवचन किया है। तदनुसार यदि शिक्षा का प्रणेता बाभ्रव्य गालव ही व्याकरणप्रवक्ता हो तो गालव का बाभ्रव्य गोत्र होगा और पाञ्चाल उसका देश। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने गालव को धन्वन्तरि का शिष्य कहा है।[5] यदि यही गालव

---

१. इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य। अष्टा० ६।३।६१॥ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य। अष्टा० ७।१।७४॥ अङ् गार्ग्यगालवयोः। अष्टा० ७।३।९९॥ नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्। अष्टा० ८।४।६७॥

२. इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। दधियत्र, दध्यत्र। मधुवत्र, मध्वत्र। ३. कई बाभ्रव्य पाञ्चाल और गालव को पृथक् मानते हैं। परन्तु हमारा मत है कि ये तीनों शब्द एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हैं। विशेष द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १९०—१९२ (द्वि० सं०)।

४. पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात्। बाभ्रव्यगोत्रः स बभूव

व्याकरणप्रवक्ता हो (जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं) तो गालव का एक आचार्य धन्वन्तरि होगा।

अन्यत्र उल्लेख—निरुक्त[1] बृहद्देवता,[2] ऐतरेय आरण्यक[3] और वायु-पुराण[4] में गालव के मत उद्धृत हैं। चरक संहिता के प्रारम्भ में भी गालव का उल्लेख है।[5]

काल

अष्टाध्यायी में गालव का उल्लेख होने से निश्चत है कि वह पाणिनि से प्राचीन है। यदि महाभारत में उल्लिखित पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव ही शब्दानुशासन का प्रवक्ता हो तो उसका काल शौनक और महाभारत से प्राचीन होगा। बृहद्देवता १। २४ में गालव को पुराण कवि कहा है।[6] हम पूर्व गार्ग्य के प्रकरण में लिख चुके हैं कि धन्वन्तरि शिष्य गालव ही सम्भवतः शब्दानुशासन का प्रवक्ता है। तदनुसार गालव का काल विक्रम से लगभग साढे पांच सहस्र वर्ष पूर्व होगा।

गालव व्याकरण

हम पूर्व (पृष्ठ १५०) गालव का एक मत उद्धृत कर चुके हैं—**इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्**। यह वचन पुरुषोत्तम-देव ने भाषावृत्ति ६। १। ७३ में उद्धृत किया है। तदनुसार लोक में 'दध्यत्र मध्वत्र' के स्थान में 'दधियत्र मधुवत्र' प्रयोग भी साधु हैं। यह यण्व्यवधान-पक्ष आचार्य पाणिनि से भी अनुमोदित है। पाणिनि ने **"भूवादयो धातवः"**[7] सूत्र में वकार का व्यवधान किया है। हम इस विषय पर पूर्व विस्तार से लिख चुके हैं।[8]

अन्य ग्रन्थ

१. **संहिता**—शैशिरि-शिक्षा के प्रारम्भ में गालव को शौनक का

---

१. शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः। ४। ३॥

२. १। २४॥ ५। ३६॥ ६। ४३॥ ७। ३८॥ ३. नेदमेकस्मिन्नहनि समापयेदिति जातूकर्ण्यः। समापयेदिति गालवः। ५। ३। ३॥

४. शरावं चैव गालवः। ३४। ६३॥ ५. सूत्रस्थान १। १०॥

शिष्य और शाखा का प्रवर्तक कहा है।[1] शिक्षा का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है।

२. ब्राह्मण—देखो पं० भगवद्दत्तजी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग २ पृष्ठ ३०।

३. **क्रम-पाठ**—महाभारत शान्तिपर्व ३४२। ११३ में पाञ्चाल बाभ्रव्य गालव को क्रमपाठ का प्रवक्ता कहा है।[2] ऋक्प्रातिशाख्य ११। ६५ में इसे प्रथम क्रमप्रवक्ता लिखा है।[3]

४. **शिक्षा**—महाभारत शान्तिपर्व ३४२। १०४ के अनुसार गालव ने शिक्षा का प्रणयन किया था।[4]

५. **निरुक्त**—यास्क ने अपने निरुक्त ४। ३ में गालव का एक निर्वचन-संबन्धी पाठ उद्धृत किया है।[5] उससे प्रतीत होता है कि गालव ने कोई निरुक्त रचा था। इस विषय में श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २ पृष्ठ १७९-१८० देखें।

६. **दैवत ग्रन्थ**—बृहद्देवता में चार स्थान पर गालव का मत उद्धृत है।[6] उनमें से १। २४ में गालव को पुराण कवि कहा है।[7] शेष तीन स्थानों पर ऋचाओं के देवता संबन्धी मतों का निर्देश है। उनसे प्रतीत होता है कि गालव ने स्वप्रोक्त संहिता का कोई अनुक्रमणी ग्रन्थ भी रचा था।

७. **शालाक्य-तन्त्र**—धन्वन्तरि शिष्य गालव ने शालाक्य-तन्त्र की रचना की थी। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने इसका निर्देश किया है।[8]

८. **कामसूत्र**—वात्स्यायन कामसूत्र १। १। १० में लिखा है पाञ्चाल बाभ्रव्य ने सात अधिकरणों में कामशास्त्र का संक्षेप किया था।[9]

---

१. मुद्गलो गालवो गार्ग्यः शाकल्यशैशिरीस्तथा। पञ्च शौनकशिष्यास्ते शाखाभेदप्रवर्तकाः। वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ १८७, (द्वि० सं०) पर उद्धृत। श्री० पं० भगवद्दत्तजी ने अनेक पुराणों के आधार पर पाठ का संशोधन करके इसे शाकल्य का शिष्य माना है। वै० वा० इ० भाग १ पृ० १८७ (द्वि० सं०)॥

२. पूर्व पृष्ठ १५० टि० ४। ३. इति प्र बाभ्रव्य उवाच क्रमं क्रमप्रवक्ता प्रथमं शशंस च। इसकी व्याख्या में उव्वट ने लिखा है—बाभ्रव्यो बभ्रुपुत्रो भगवान् पाञ्चाल इति। ४. पूर्व पृष्ठ १५० टि० ४। ५. पूर्व पृष्ठ १५१ टि० १।

६. पूर्व पृष्ठ १५१ टि० २। ७. नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणाः कवयश्च ये। मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्यते ८. पूर्व पृष्ठ १४७ टि० ३।

का मत उल्लिखित है। तदनुसार उसके मत में मण्डकाणिका का आकार 'शराव' के सदृश है—**शरावं चैव गालवः**। इस से प्रतीत होता है कि गार्ग्य का कोई भूवर्णन भी था। भूवर्णन ज्योतिष का अंग है। अतः सम्भव है गालव ने कोई ज्योतिष संहिता लिखी हो।

५—चाक्रवर्मण (३००० वि० पू०)

चाक्रवर्मण आचार्य का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी[1] तथा उणादि-सूत्रों[2] में मिलता है। भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इसका एक मत उद्धृत किया है।[3] श्रीपतिदत्त ने कातन्त्रपरिशिष्ट के "**हेतौ वा**" सूत्र की वृत्ति में चाक्रवर्मण का उल्लेख किया है। इनसे इस का व्याकरणप्रवक्तृत्व विस्पष्ट है।

परिचय

वंश—चाक्रवर्मण पद अपत्यप्रत्ययान्त है। तदनुसार इस के पिता का नाम चक्रवर्मा था।[4] गुरुपद हालदार ने वायुपुराण के अनुसार चक्रवर्मा को कश्यप का पौत्र लिखा है।[5]

काल

यह आचार्य पाणिनि से प्राचीन है इतना निश्चित है। पञ्चपादी उणादि सूत्र आपिशलि की रचना है, यह हम उणादि-प्रकरण में लिखेंगे। हम ऊपर लिख चुके हैं कि उणादि (३ । १४४) में चाक्रवर्मण का उल्लेख है। अतः इस का काल आपिशलि से भी पूर्व अर्थात् विक्रम से तीन सहस्र वर्ष पूर्व अवश्य मानना होगा।

चाक्रवर्मण-व्याकरण

इस व्याकरण का अभी तक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

द्वय की सर्वनाम संज्ञा—पाणिनीय मतानुसार 'द्वय' पद की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। भट्टोजि दीक्षित ने माघ १२।१३ प्रयुक्त "**द्वयेषाम्**" पद में चाक्रवर्मण व्याकरणानुसार सर्वनामसंज्ञा का उल्लेख किया है। और

१. ई चाक्रवर्मणस्य। अष्टा० ६।१।१३०॥ २. कपश्चाक्रवर्मणस्य। पञ्च० उ० ३।१४४॥ दश० उ० ७।११॥ ३. १।१।२७, अगले पृष्ठ की टि० १। ४. काशिका ६।४।१७०॥ ५. व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ५१६।

'**नियतकाला: स्मृतय:**' इस नियम के
किया है।[3] इससे प्रतीत होता है कि चा
द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा होती थी।

आधुनिक वैयाकरण 'नियतकाला
पाणिनि आदि मुनित्रय के मत से शब
मानते हैं। यह मत वस्तुतः चिन्त्य है
महाभाष्य आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में भी
मिलता।

पाणिनीय वैयाकरण सब शब्दों क
में प्राचीनकाल में साधु माने हुए शब्द
उपपन्न नहीं हो सकता। हां, यदि शब
और उच्चारण भेद से शब्द के विकृत
जा सकती है, परन्तु ऐसी कल्पना कर
नित्यत्वरूपी मुख्य सिद्धान्त से हाथ
नियमों की कल्पना करने पर सब से प्रथ
करनी होगी। यदि 'नियतकाला: स्मृतय
मानी जाय अर्थात् अमुक शब्द अमुक
में नहीं, तो यह भी ठीक नहीं। क्य
'**अस्त्यप्रयुक्त:**'[4] के उत्तर में महाभाष
विषय का उल्लेख किया है,[5] वह उप
लोगों का इस प्रकार के नियमों का बना

अब रही द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा। महाभाष्यकार ने '**द्वये प्रत्य**
धीयन्ते तिङः कृतश्च'[1] इस वाक्य में **द्वय** पद की सर्वनाम
नी है। यद्यपि यहां द्वय पद को स्थानिवद्भाव से तयप्प्रत्ययान्त म
र '**प्रथमचरमतयाल्पार्ध०**'[2] सूत्र से जस्विषय में इस की विकल
नाम संज्ञा मानी जा सकती है, तथापि आधुनिक वैयाकरण
थोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'[3] इस द्वितीय नियम से 'प्रथमचरम०'
द्वय शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि महाभाष्यका
य' पद में होने वाले '**अयच्**' को स्वतन्त्र प्रत्यय माना है[4] न कि त
आदेश। अतः यहां 'प्रथमचरम०' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकत
हाभाष्यकार के मत में द्वय पद की सर्वनाम संज्ञा होती है यह पूर्व उक्त
व्यक्त है। इसीलिये चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण में 'प्रथमचरम०'
'अय' अंश का प्रक्षेप करके '**प्रथमचरमतयायाल्पार्ध**'[5] इस प्र
सान्तर किया है।

'**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**' इस नियम में भी वे ही पूर्वोक्त
स्थित होते हैं, जो '**नियतकालाः स्मृतयः**' में दर्शाए हैं। आधु
करणों के उपर्युक्त दोनों नियम शास्त्रविरुद्ध होने से अशुद्ध हैं,
ष्ट है। अतः किसी भी शिष्टप्रयोग को इन नियमों के अनुसार अ
ना दुःसाहसमात्र है। नवीन वैयाकरणों के इस मत की आलो
क्रयासर्वस्व के रचयिता नारायण भट्ट ने '**अपाणिनीयप्रामाणिक**
मक लघु ग्रन्थ में भले प्रकार की है। वैयाकरणों को यह ग्रन्थ अ
ना चाहिये।[6]

प्राचीन आर्ष वाङ्मय में शिष्ट-प्रयुक्त शब्दों के ज्ञान साधुत्व के

६—भारद्वाज (३००० वि०

भारद्वाज का उल्लेख पाणिनीय तन्त्र में केव
है।[1] अष्टाध्यायी ४। २। १४५ में भारद्वाज शब
काशिकाकार के मतानुसार वह भारद्वाज पद
नहीं।[3] भारद्वाज का व्याकरणविषयक मत तैत्ति
और मैत्रायणीय प्रातिशाख्य २। ५। ३ में मिलत

परिचय

भारद्वाज के पूर्व पुरुष का नाम भरद्वाज है।
है जो इन्द्र का शिष्य दीर्घजीवी भरद्वाज था।

चतुर्वेदाध्यायी—न्यायमञ्जरी में जयन्त भ
कहता है।[5]

अनेक भारद्वाज—प्रश्नोपनिषद् ६। १ में सु
है, यह हिरण्यनाभ कौसल्य का समकालिक है
४। १। ५ में गर्दभीविपीत भारद्वाज का निर्देश है
कालिक है। कृष्ण भारद्वाज का उल्लेख काश्यप
मिलता है। द्रोण भारद्वाज द्रोणाचार्य के नाम से
अर्थशास्त्र में भी भारद्वाज के अनेक मत उद्धृत है।
वे मत द्रोण भारद्वाज के हैं।

भारद्वाज देश—काशिकाकार जयादित्य
४।२।१४५ में भारद्वाज देश का उल्लेख है। वायु
देशों में भारद्वाज की गणना की है।[7]

काल

ज्ञात न हो कि वह कौन भारद्वाज है तब तक उसका कालज्ञान कठिन है। हमारे विचार में यह भारद्वाज दीर्घजीवीतम अनूच[ान] व्याकरण भरद्वाज बार्हस्पत्य का पुत्र द्रोण भारद्वाज है। द्रोणाचा[र्य की आयु] भारत युद्ध के समय ४०० वर्ष की थी, ऐसा महाभारत में स्पष्ट [लिखा है।] पुनरपि पाणिनीय अष्टक में भारद्वाज का साक्षात् उल्लेख होने से नि[श्चय] से कहा जा सकता है कि यह विक्रम से ३००० वर्ष प्राचीन है।

भारद्वाज व्याकरण

इस व्याकरण के केवल दो मत ही प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध [होते हैं।] उनसे इसके स्वरूप और परिमाण आदि के विषय में कोई विशेष [ज्ञान नहीं] होता। वाजसनेय प्रातिशाख्य अ० ८ के अन्त में आख्यातों को भा[रद्वाज] कहा है। इसका अभिप्राय मृग्य है।

भारद्वाजीय वार्तिक महाभाष्य में बहुत स्थानों पर भारद्[वाजीय वार्ति]कों का उल्लेख मिलता है।[1] वे प्रायः कात्यायनीय वार्तिकों से भि[न्न] [औ]र उनकी अपेक्षा विस्तृत तथा विस्पष्ट हैं। हमारा विचार [है कि भार]द्वाजीय वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखे गये हैं। इसके [विषय में विशेष वर्णन] वार्तिककार भारद्वाज प्रकरण में देंगे।

अन्य ग्रन्थ

आयुर्वेद संहिता भारद्वाज ने कायचिकित्सा पर एक संहिता [लिखी थी।] उसके अनेक उद्धरण आयुर्वेद के टीकाग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

अर्थशास्त्र चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में भारद्वाज के अनेक[...]

वाजसनेयप्रातिशाख्य[1] तथा ऋक्प्रातिशाख्य[2]
में निर्देश मिलता है। यास्क ने अपने निरुक्त
मत उद्धृत किया है।[3] पतञ्जलि ने स्पष्ट शब्दों
शास्त्र का प्रवक्ता कहा है।[4]

परिचय

वंश—माहाभाष्य ३।३।१ में शाकटाय
लिखा है।[5] पाणिनि ने शकट शब्द नडादिगण
मतानुसार शकट उस के पितामह का ना
वैयाकरणों की गोत्राधिकार की वर्तमान व्याख
से विपरीत होने से त्याज्य है। गोत्राधिकार विहि
में होते हैं, परन्तु पौत्रप्रभृति अपत्यों के लिए
प्रत्ययों का प्रयोग होता है, अन्य प्रत्ययों का
पाणिनि का आभिप्राय है।[7]

वर्धमान ने शकट का अर्थ **शकटमिव भारव**

शाकटायन और काण्व—अनन्तदेव ने
१२९ के भाष्य में पुराण के अनुसार शाकटायन
है और पक्षान्तर में उसे ही काण्व बताया है।[9]
४।१९१ के भाष्य में लिखा है कि शाकटायन का

---

१. ३।६, १२, ८७॥ इत्यादि॥

३. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्त

रा इतना निश्चित है कि एक शाकटायन का सम्बन्ध काण्व के साथ अ
। हमारा विचार है शुक्लयजुःप्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी में
कटायन काण्ववंश का है। यदि यह बात प्रमाणान्तर से और पु
य तो शाकटायन का समय निश्चित करने में बहुत सुगमता होगी।

मत्स्य पुराण १९६। ४४ के निर्देशानुसार कोई शाकटायन
ङ्गिरस भी है।

आचार्य—हम ऊपर लिखे चुके हैं कि अनन्तदेव पुराणानु
कटायन को काण्व का शिष्य मानता है। परन्तु शैशिरि शिक्षा के प्रा
से शैशिरि का शिष्य कहा है—

शैशिरस्य तु शिष्यस्य शाकटायन एव च।[७]

यद्यपि इस श्लोकांश और एतत्सहपठित अन्य श्लोंको का पाठ
ुद्ध है, तथापि इतना व्यक्त होता है कि शाकटायन शैशिरि या उ
ष्य का शिष्य था। इन श्लोकों की प्रामाणिकता अभी विचारणीय
ा इस में किस शाकटायन का उल्लेख है यह भी अज्ञात है।

पुत्र—वामन काशिका ६। २। १३३ में "शाकटायनपुत्रः" उदा
है। यही उदाहरण रामचन्द्र और भट्टोजिदीक्षित ने भी दिया है।

जीवन की विशिष्ट घटना—शाकटायन के जीवन की एक घ
ाभाष्य ३। २। ११५ में इस प्रकार लिखी है—

**अथवा भवति वै कश्चिद् जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभ
था—वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्ग आसीनः शकटसार्थं
लेभे।**

अर्थात्—जागता हुआ भी कोई पुरुष वर्तमान काल को नहीं

करता। जैसे रथमार्ग पर बैठे हुए वैयाकरणों में श्रे
पर जाते हुए गाड़ियों के समूह को नहीं देखा।

महाभाष्य में इस घटना का उल्लेख होने से
शाकटायन के जीवन की यह कोई महत्त्वपूर्ण और लो
अन्यथा इस का उदाहरण रूप से उल्लेख न होता।

श्रेष्ठत्व—काशिका १।४।८३ में एक उदाहरण है
वैयाकरणाः" अर्थात् सब वैयाकरण शाकटायन से
१।४।८७ में इसी भाव का दूसरा उदाहरण "**उपशाक**
मिलता है।

श्रेष्ठता का कारण—निरुक्त १।१२ तथा महाभाष्
होता है कि वैयाकरणों में शाकटायन आचार्य ही ऐसा
शब्दों को आख्यातज मानता था।[1] निश्चय ही शाक
महत्त्वपूर्ण व्याकरण की रचना की थी जिस में सब
व्युत्पत्ति दर्शाई गई थी। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के कारण
वैयाकरणों में श्रेष्ठ माना गया।

शाकटायन के मत की आलोचना—गार्ग्य को
आचार्य समस्त नाम शब्दों को आख्यातज मानते हैं
अवलोकन से विदित होता है कि तात्कालिक वैयाकर
नैरुक्तों के इस मत से असहमत थे। उन्होंने इस मत की
थी। निरुक्त की व्याख्या करते हुए दुर्ग ने **शाकटायन**
मानात् ऐसा लिखा है। यास्क ने उन वैयाकरणों की आल

दोष नहीं है, अपितु उस व्यक्ति का दोष है जो इस ग्रुक्तियु
प्रकार नहीं जानता ।[1]

अन्यत्र उल्लेख—वाजसनेयप्रातिशाख्य और ऋक्प्रा
टायन के मत उद्धृत हैं यह हम पूर्व लिख चुके। शौनक च
और ऋक्तन्त्र १।१ में भी शाकटायन के मत निर्दिष्ट हैं

चतुरध्यायी के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ के कौत्सीय

समासावग्रहविग्रहान् पदे यथोवाच छन्द
शाकटायनः, तथा प्रवक्ष्यामि चतुष्टयं पदम

बृहद्देवता में शाकटायन के मतों का उल्लेख बहुत मि
दैवतविषयक हैं। बृहद्देवता २।९५ में शाकटायन का
मत उद्धृत है। बृहद्देवताकार ने कहीं कोई भेदक वि
अतः उसके ग्रन्थ में उद्धृत मत निश्चय ही एक शाकटाय
अपने नानार्थार्णवसंक्षेप में शाकटायन को बहुत उद्धृत कि
स्थान पर शाकटायन का विशेषण आदिशाब्दिक दिय
चतुर्वर्गचिन्तामणि में भी शाकटायन का एक वचन उद्ध
चिन्तामणि के अतिरिक्त सर्वत्र निर्दिष्ट शाकटायन ए
यह निश्चित है। बहुत सम्भव है हेमाद्रि द्वारा स्मृत शा
व्यक्ति न हो।

काल

यास्क ने शाकटायन का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण कि
काल विक्रम से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व है। यदि शा

शिष्य हो वा स्वयं काण्वशाखा का प्रवक्ता हो तो
विक्रम से लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा । ३०००

शाकटायन व्याकरण का

शाकटायन व्याकरण अनुपलब्ध है । अतः वह
हम विशेषरूप से नहीं कह सकते । इस व्याक
ग्रन्थों में उद्धृत हैं, उन से इस विषय में जो
प्रकार है--

लौकिक वैदिक पदान्वाख्यान--निरुक्त, म
के पूर्वोक्त प्रमाणों से व्यक्त है कि इस व्याकरण
विध पदों का अन्वाख्यान था । चतुरध्यायी के
विदित होता है कि शाकटायन ने पदपाठ में अवग्रह
सदृश भी कोई ग्रन्थ रचा था ।

नागेश की भूल—नागेश ने महाभाष्यप्रदीप
लिखा है—शाकटायन व्याकरण में केवल लौकि
था ।[1] प्रतीत होता है उसने अभिनव जैन शाकट
आर्ष शाकटायन व्याकरण मान कर यह पंक्ति
में स्ववचनविरोध भी है । वह महाभाष्य ३ । ३ ।
उणादि सूत्रों को शाकटायन प्रणीत कहता है
अनेक ऐसे सूत्र हैं जो केवल वैदिक शब्दों के
नहीं, प्रातिशाख्यों में शाकटायन के व्याकरण
का उल्लेख है[4] जो केवल वेदविषयक हैं । अत
केवल लौकिक पदों का अन्वाख्यान मानना न

शब्दनिर्वचनप्रकार—निरुक्त १।१३ के 'एतेः
रादिं चान्तकरणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं च'
व्याख्यान से विदित होता है कि शाकटायन ने सत्य
'इण् गतौ' तथा 'अस् भुवि' इन दो धातुओं से की थी
प्रकरण में लिखता है—शाकटायन आचार्य ने कई पदों
धातुओं से की थी और कई पदों की एक एक धातु से।

अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति—नाम पदों की
व्युत्पत्ति केवल शाकटायन आचार्य ने नहीं की, अपि
अनेक प्राचीन नैरुक्त आचार्य इस प्रकार की व्यु
ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थों में भी इस प्रकार की अनेक
होती हैं। यथा—

हृदय—तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृ इत्येकम
स्वाश्चान्ये च च एवं वेद। द इत्येकमक्षरम्, ददन्त्य
एवं वेद। यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गं लोकं य एवं

भर्ग—भ इति भासयतीमाँल्लोकान्, र इ
भूतानि, ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः
भरगत्वाद् भर्गः।[४]

शब्दों का त्रिविधत्व—न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि ने
है—

तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी श
जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति[५]।

गुणशब्द और क्रियाशब्द। यदृच्छा शब्द उस के

२३ उपसर्ग--२० उपसर्ग प्रायः सब आ
शाकटायन आचार्य 'अच्छ' 'श्रद्' और 'अन्त
मानता है। इस विषय में बृहद्देवता २। ९५ मे

अच्छ श्रदन्तरित्येतान् आचार्य

उपसर्गान् क्रियायोगान् मेने ते त

पाणिनि ने 'अच्छ' 'श्रत्' और 'अन्तर्' क
कात्यायन ने 'श्रत्' और 'अन्तर्' शब्द की
किया है।[1]

शाकटायन के अन्य

१. **दैवत ग्रन्थ**—हम पूर्व लिख चुके है
शाकटायन के देवता विषयक अनेक मत उद्
होता है शाकटायन ने ऋग्वेद की किसी शाखा
ग्रन्थ रचा था।

२. **निरुक्त**—इस के लिए कौण्ड भ
की काशिका व्याख्या पृष्ठ २६६ देखना चाहिए

३. **कोष**—केशव ने अपने नानार्थार्णव
विषयक अनेक उद्धरण दिये हैं,[2] जिन से वि
ने कोई कोष ग्रन्थ भी रचा था।

४. **ऋक्तन्त्र**—नागेश भट्ट लघुशब्देन्दुशेख

वेदानुक्रमणी का कर्ता हरदत्त इसे औदव्रजिविचित मानता है।[1]

७. **पञ्चपादी-उणादिसूत्र**—श्वेतवनवासी[2] तथा नागेश भट्ट[3] अ
र्चीन वैयाकरण पञ्चपादी उणादि को शाकटायन-विरचित मानते
ायण भट्ट[4] आदि कतिपय विद्वान् इसे पाणिनीय स्वीकार करते हैं।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि शाकटायन अनेक धातुओं से एक पद
पत्ति दर्शाता है, परन्तु समस्त पञ्चपादी उणादि में एक भी शब्द
है जिस की अनेक धातुओं से व्युत्पत्ति दर्शाई हो। अतः ये **उण**
शाकटायन-प्रणीत नहीं हैं। इस पर विशेष विचार उणादि के प्रक
किया है।

८. **श्राद्धकल्प**—हेमाद्रि ने चतुर्वर्गचिन्तामणि में शाकटायन के श्र
 का एक वचन उद्धृत किया है।[5] यह ग्रन्थ इस समय अप्राप्य
ः इस के विषय में हम कुछ विशेष नहीं जानते।

इन ग्रन्थों में से प्रथम दो ग्रन्थ वैयाकरण शाकटायन विरचित प्रत
े हैं। शेष ग्रन्थों का रचयिता सन्दिग्ध है।

८—शाकल्य (३१०० वि० पू०)

पाणिनि ने शाकल्य आचार्य का मत अष्टाध्यायी में चार बार उद्
या है।[6] शौनक[7] और कात्यायन[8] ने भी अपने प्रातिशाख्यों में शा

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ६८ टि० ४।
२. येयं शाकटायनादिभिः पञ्च
रचिता। उणादिवृत्ति पृष्ठ १, २।
३. पूर्व पृष्ठ १६२ टि० २।

के मतों का उल्लेख किया है। ऋक्प्रातिशाख्य में शा
समस्त नियम शाकल्य के ही हैं।[1] महाभाष्यकाक
शाकल्य के नियम का शाकल नाम से उल्लेख कि
गार्हस्थ्य काण्ड पृष्ठ १६६ में शाकल्य के किसी व्या
संकेत किया है।[3]

परिचय

शाकल्य पद तद्धितप्रत्यायान्त है, तदनुसार
नाम शकल था। पाणिनि ने शकल पद गर्गादिगण[4]

अनेक शाकल्य—संस्कृत वाङ्मय में शाकल
विदग्ध शाकल्य[5] और वेदमित्र (देवमित्र) शाकल्य[6]
होते हैं। पाणिनीय सूत्रपाठ में स्मृत शाकल्य औ
वेदमित्र शाकल्य निश्चय ही एक व्यक्ति है, क्योंकि
कई नियम पाणिनि ने शाकल्य के नाम से उद्धृत
शाख्य पटल २ सूत्र ८१, ८२ की उव्वटकृत व्याख्य
और स्थविर शाकल्य भिन्न भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते
शाकल्य के साथ याज्ञवल्क्य का जनकसभा में शास्त्रार्थ
व्यक्ति है। वायु (अ० ६०। ३२) आदि पुराणों

---

१. ऋक्प्राति० ६। १४, २०, २७ इत्यादि।
शाकलप्रतिषेधो वक्तव्यः। इस वार्तिक में अष्टा० ६
शाकल्य मत का प्रतिषेध किया है।

३. हारीत सूत्र 'जातपुत्रायाधानम्' को उद्धृत करके

कल्य को याज्ञवल्क्य का प्रतिद्वन्द्वी कहा गया है। कई शाक
ऐतरेय महीदास से भी पूर्ववर्ती मानते हैं। यह ठीकनहीं है (
१६८)।

शाकल्य और शौनकों का संबन्ध

पाणिनि ने कार्तकौजपादि गण (६।२।३७) में **शाकलशुनक**
पढ़ा है। काशिकाकार के मतानुसार यहां शाकल्य के शिष्यों अ
क के पुत्रों का द्वन्द्व समास है। इस उदाहरण से विदित होता है
कल्य शिष्यों और शुनक पुत्रों (शौनकों) का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध थ
भव है इसी कारण शौनक ने शाकल चरण की अनुवाकानुक्रम
तानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी, आदि १० अनुक्रमणियां लिखी हों।

काल

पाणिनि ने ब्रह्मज्ञाननिधि गृहपति शौनक को उद्धृत किया है
नक ने ऋक्प्रातिशाख्य में शाकल्य तथा उस के व्याकरण के मत उद्ध
ये हैं।[2] शौनक ने महाराज अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल में नैमिषी
त्र में किये गये किसी द्वादशाह सत्र में ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवचन कि
[3]। अतः शौनक का काल विक्रम से लगभग २९०० वर्ष पूर्व निश्चित
नुसार शाकल्य उससे प्राचीन व्यक्ति है। महाभारत अनुशासनपर्व
सूत्रकार शाकल्य का उल्लेख है, वह वैयाकरण शाकल्य प्रतीत होता
कल्य ने शाकल चरण तथा उसके पदपाठ का प्रवचन किया था।

महिदास ऐतरेय ने ऐतरेय ब्राह्मण का प्रवचन किया है। अष्टाध्य

"उवाच" और "जिजीव" परोक्षभूत की क्रिय
से प्रतीत होता है कि महिदास ऐतरेय छान्दोग्य
उपनिषद् ब्राह्मण के प्रवचन से बहुत पूर्व हो चुक
और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण का प्रवचन वि
पूर्व हुआ था। अतः महिदास ऐतरेय विक्रम
हुआ होगा। महिदास ऐतरेय ने अपने ऐतरे
लिखा है—

**यदस्य पूर्वमपरं यद्वास्यापरं तद्वास्य . पू
शाकलस्य न विजानन्ति।**

इस वचन के आधार पर शाकल्य का काल
मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐतरेय आरण्यक के
ऐतरेय ब्राह्मण की अन्तिम दो पञ्जिकाएं अर्वा
माना जाता है। इतना ही नहीं, ऐतरेय ब्राह्मण
शौनक द्वारा परिष्कृत है। अतः जब तक कि
प्रमाणित न हो जावे कि ऐतरेय ब्राह्मण का
प्रवचन है, परिष्कर्ता शौनक का नहीं, तब तक
शाकल्य को ऐतरेय से प्राचीन नहीं माना जासक

ऐतरेय ब्राह्मण के वचन का अर्थ—सा
उपर्युक्त वचन का अर्थ न समझ कर लिखा है
का वाची है। शाकल नाम के सर्प की जैसी ग
है।[1] षड्गुरुशिष्य का भी यही भाव है।[2] ये

शाकल्य का व्याकरण

पाणिनि और प्रातिशाख्यों में उद्धृत मतों के अनुशीलन से प्र
ा है कि शाकल्य के व्याकरण में लौकिक वैदिक उयभविध शब्दो
वाख्यान था।

कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय का जो सूचीपत्र बड़ोदा की गायक
थमाला में प्रकाशित हुआ है, उसमें शाकल व्याकरण का उल्लेख
भव है वह कोई अर्वाचीन ग्रन्थ हो।

कई विद्वानों का मत है कि शाकल्य ने कोई व्याकरणशास्त्र नहीं
। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने शाकल्यकृत ऋक्पदपाठ से उन नि
संग्रह किया है। यह मत अयुक्त है। पाणिनि आदि ने शाकल्य के
मत उद्धृत किये हैं जिनका संग्रह पदपाठ से नहीं हो सकता। यथ
तोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च[2], कुमारी अत्र। यहां संहिता में प्रकृ
व तथा ह्रस्वत्व का विधान है। पदपाठ में संहिता का अभाव होता
: ऐसे नियम उसके व्याकरण से ही संगृहीत हो सकते हैं।

अन्य ग्रन्थ

शाकल चरण—पुराणों में वेदमित्र शाकल्य को शाकल चरण
न शाखाओं का प्रवक्ता लिखा है।[3] ऋक्प्रातिशाख्य ४।४ में शौनक
पाट्छुतुद्री पयसा जवेते"[4] आदि में श्रूयमाण छकारादेश का विध
कल्य के पिता के नाम से किया है।[5] इससे स्पष्ट है कि शाकल्य ने ऋ
प्राचीन संहिता का केवल प्रवचन मात्र किया है, परिवर्तन नहीं किय

को पदवित्तम कहा है।[1] इस से स्पष्ट है कि शाकल
पदपाठ की रचना की है। ऋग्वेद के पदपाठ में व
पाणिनि ने "संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञः ऊँ
किये हैं। अतः व्याकरण शाकल्य और शाकल चरण
का प्रवक्ता निस्संदेह एक व्यक्ति है। शाकल्यकृत पद
महाभाष्य १। ४। ८४ मे मिलता है।[4] शाकल्यकृ
नियम शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य के व्याख्याकार उव्वट ने

चरणव्यूह परिशिष्ट के व्याख्याता महिदास के म
ऋग्वेद के संहिता, पद, क्रम, जटा और दण्ड-पाठ का
लिये प्रवचन किया था।[6] क्या वायु पुराण ६०। ६३
संहिताएं ये ही हैं ?

९—सेनक (२९५० वि० पू०)

पाणिनि ने सेनक आचार्य का उल्लेख केवल एक
अष्टाध्यायी मे अतिरिक्त इस आचार्य का कहीं उल्लेख न
इसके विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

१०—स्फोटायन (२९५० वि० पू०

आचार्य स्फोटायन का नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी

स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादन
ाकरणाचार्यः। ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु
फोटशब्दस्य) पाठं मन्यन्ते ।

इस व्याख्या के अनुसार प्रथम पक्ष में यह आचार्य वैयाकरणों
त्त्वपूर्ण स्फोट-तत्त्व का उपज्ञाता था। अत एव वह वैयाकरणनि
स्फोटायन नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस का वास्तविक नाम अज्ञात
ीय पक्ष (स्फौटायन पाठ) में इस के पूर्वज का नाम स्फोट था। स
स्फौटायन का उल्लेख हमें किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं मिला।

आचार्य हेमचन्द्र अपने अभिधानचिन्तामणि कोश में लिखता
ोटायने तु कक्षीवान्।[2] इसी प्रकार केशव भी नानार्थार्णवसंक्षेप
फोटायनस्तु कक्षीवान्'[3] लिखता है। इस उद्धरणों से इतना
ा है कि स्फोटायन कक्षीवान् का नाम था। क्या यहां कक्षीवान् प
शक् पुत्र कक्षीवान् अभिप्रेत है ?

नाम का निश्चय—हेमचन्द्र और केशव के उद्धरणों से प्रतीत हो
इस आचार्य का स्फोटायन नाम ठीक है, न कि स्फौटायन।

वैमानिक-आचार्य—भरद्वाज आचार्य कृत यन्त्रसर्वस्व अन्
ानिक प्रकरण के प्रकाश में आने से स्फोटायन भी विमानशास्त्र-वि
रूप में प्रकट हुए हैं। भरद्वाज का एक सूत्र है—

त्रित्रिगर्थवेति स्फोटायनः।

एकैव त्रित्रिणी शक्त्यलमिति शास्त्रे निर्णितं भ
शास्त्राद्ध मन्यते स्फोटायनाचार्यः ।[1]

इस सूत्र और व्याख्या से स्पष्ट है कि स्फोटायन अ
वैज्ञानिक आचार्य था ।

काल

पाणिनीय अष्टाध्यायी में स्फोटायन का निर्देश होने
विक्रम से २९५० वर्ष प्राचीन है, यह स्पष्ट है। यदि हेम
का लेख ठीक हो और कक्षीवान् से उशिक् पुत्र कक्षीवान्
इसका काल कुछ अधिक प्राचीन होगा। भरद्वाजीय
स्फोटायन का उल्लेख होने से भी स्फोटायन का काल अ
होता है। भरतमिश्र ने स्फोट-तत्त्व के प्रतिपादक का ना
लिखा है।[2] क्या कक्षीवान् और औदुम्बरायण का परस्पर
सकता है? यास्क ने अपने निरुक्त १।२ में औदुम्बरायण
किया है।[3] वहां औदुम्बरायण के मत में शब्द का अनित्यत

स्फोट-तत्त्व

यदि हरदत्त की प्रथम व्याख्या ठीक हो तो निश्चय
के स्फोटतत्त्व का उपज्ञाता यही आचार्य होगा। स्फोटवा
प्रधानवाद है। उनके शब्द नित्यत्ववाद का यही आधार है।
पतञ्जलि के लेखानुसार स्फोट द्रव्य है, ध्वनि उस का गुण
और मीमांसक स्फोटवाद का खण्डन करते हैं। स्फोटवाद
है। भागवत पुराण १७। ८५। १ में भी स्फोट का उल्लेख

स्फोट से उत्पन्न अयन=गति का उपज्ञाता होने के कारण उक्त ना
सिद्ध हुआ होगा। अर्थात् उसने विमानों की गति विशेष के लिए वि
शिष्ट प्रकार के स्फोट अथवा स्फोटक द्रव्यों का प्रथमतः प्रयोग किया हो

यह हमारा अनुमानमात्र है। विशेष निर्णय तो भारतीय वि
स्त्रों के गम्भीर अध्ययन से ही हो सकता है।

अध्याय का उपसंहार

इस अध्याय में पाणिनीय तन्त्र में स्मृत १० दश आचार्यों का व
या है। पूर्व अध्याय में वर्णित आचार्यों को मिलाकर पाणिनि
चीन २५ पच्चीस वैयाकरण आचार्यों का उल्लेख प्राचीन संस्कृत वाङ्
उपलब्ध होता है।

अब अगले अध्याय में भारतीय वाङ्मय में सुप्रसिद्ध आचार्य पाणि
र उस के शब्दानुशासन का वर्णन करेंगे।

पांचवां अध्याय

पाणिनि और उसका शब्दानु

(२९०० विक्रम पूर्व)

संस्कृत भाषा के जितने प्राचीन आर्ष व्याकरण बने
मात्र पाणिनीय व्याकरण [illegible] रूप में उपलब्ध
आर्ष वाङ्मय की एक अनुपम निधि है। इस व्याक
अर्वाचीन समस्त वाङ्मय सूर्य के आलोक की भांति
की अत्यन्त सुन्दर, सुस्पष्ट और सूक्ष्मतम पदार्थ
चमत्कारपूर्ण रचना को देखने वाला प्रत्येक विद्वा
प्रशंसा करने लगता है। भारतीय प्राचीन आचार्यों के
ज्ञान और अद्भुत प्रतिभा का निदर्शन कराने वाला
इस से देववाणी परम गौरवान्वित है। संसार भ
प्राचीन अथवा अर्वाचीन भाषा का ऐसा परिष्कृत
नहीं बना।

परिचय

पाणिनि के नामान्तर—त्रिकाण्डशेष में पुरुषोत्त
निम्न पर्याय लिखे हैं[1]—

(१) पाणिन, (२) पाणिनि, (३) दाक्षीपु

१. पाणिन—इस नाम का उल्लेख काशिका ६।२।१४ तथा च
त्ति २।२।६८ में मिलता है।[1] यह पणिन् नकारान्त शब्द से अ
र्थ में अण् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इस का निर्देश अष्टाध्य
।४।१६५ में भी मिलता है।[2]

'पाणिनीय' शब्द की मूल प्रकृति भी **पाणिन** अकारान्त शब्द है।
'छ' (ईय) प्रत्यय होकर 'पाणिनीय' प्रयोग उपपन्न होता है।[3] अ
हाभाष्य में निर्दिष्ट **पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्** वचन। अर्थ प्रद
क है, विग्रह प्रदर्शक नहीं है। इकारान्त **पाणिनि** शब्द से इञ
४।२।११२) के नियम से प्रोक्तार्थ में अण् प्रत्यय होकर **पाणिन** श
पन्न होता है। यथा आपिशलि और काशकृत्स्नि शब्दों से 'आपिशल
र 'काशकृत्स्नम्' शब्द उपपन्न होते हैं।[4]

२. **पाणिनि**—यह ग्रन्थकार का लोकविश्रुत नाम है। इस नाम
त्पत्ति के विषय में वैयाकरणों में दो मत हैं—

(क) 'पणिन्' से अपत्यार्थ में अण् होकर 'पाणिन', उस से पुनः अपत
'इञ्' होकर 'पाणिनि' प्रयोग निष्पन्न होता है।[5]

(ख) 'पणिन्' नकारान्त का पर्याय 'पणिन' अकारान्त स्वतन्त्र श
। उस से अत इञ् (४।१।९५) के नियम से 'इञ्' होकर पाणि

१. पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्। तुलना करो—पाणिनो भक्तिरस्य प
नः। काशिका ४।३।८८॥ २. गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च।

३. पाणिनीयमिति—पाणिनशब्दात् वृद्धाच्छः (४।२।११४) इति न

शब्द उपपन्न होता है।[1] पाणिनि के लिए प्रयु
का ज्ञापक है कि पाणिनि 'पणिन्' अथवा 'पणि
का नहीं।

हमारे विचार में द्वितीय मत अधिक युक
में पाणिन और पाणिनि दोनों ही नाम गोत्ररूप
ने पर 'पाणिन' गोत्र होगा और 'पाणिनि' युवा
प्रत्ययान्त 'पाणिनि' का गोत्ररूप से उल्लेख न हो

३. **पाणिनेय**—इस का प्रयोग श्लोकात्मक
पाठ में ही उपलब्ध होता है, और वह भी पाठा
शिक्षाप्रकाश नाम्नी टीका में लिखा है—

पाणिनेय इति पाठे शुभ्रादित्वं

अर्थात्—पाणिनेय प्रयोग की सिद्धि **शुभ्रा**
सूत्र निर्दिष्ट गण को आकृति गण मानकर करनी

४. **पणिपुत्र**—इस का प्रयोग यशस्तिलक
पूर्व कह चुके हैं।

५. **दाक्षीपुत्र**—इस नाम का उल्लेख म
कृष्णचरित[5] और श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा[6]

६. **शालङ्कि**—यह पितृव्यपदेशज नाम
शर्मा का मत है।[7] पाणिनि के लिए इस पद का
हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

शालङ्कि पद पैलादि गण २।४।५९ में पठित है। उस का पा
साथ संबन्ध है अथवा नहीं, यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते,
ना निश्चित है कि वह प्राग्देशीय गोत्र नहीं था।[1] महाभाष्य ४
०, १६५ में शालङ्केर्यूनश्छात्राः शालङ्काः पाठ उपलब्ध होता है।
लङ्कि पद अष्टाध्यायी २।४।५९ के नियम से शालङ्कि के अपत्य
चक है। शालङ्कि का अपत्य शालङ्कायन और उसका अपत्य शालङ्कि
हा जाता है, ऐसा काशकृत्स्न धातुपाठ के टीकाकार चन्नवीर कवि
न है।[2] काशकृत्स्न धातुपाठ में शलकि (ङ्कि) स्वतन्त्र धातु पढ़ी
लङ्कायन-प्रोक्त ग्रन्थ के अध्ययन करने वाले शालङ्कायनियों का
टचायन श्रौत में उपलब्ध होता है।

एक शालङ्कायन गोत्र कौशिक अन्वय में भी है।[4] इस गोत्र के
न्य हैं।[5] कशिका ४।३।१२५ तथा ६।२।३० में बाभ्रव्यशाल
नका उदाहरण द्वारा बाभ्रव्यों और शालङ्कायनियो का विरोध निर्दे
या है। बाभ्रव्य भी कौशिक अन्वय में हैं।[6] अतः ये शालङ्का
शिक ही होंगे। काशिका ५।२।५८ में शालङ्कायनियों के तीन विभ
निर्देश मिलता है।[7]

७-शा(सा)लातुरीय—पाणिनि के लिए इस नाम का निर्देश व
ध्रुवसेन द्वितीय के संवत् ३१० के ताम्रशासन,[8] भामह के काव्यालंका
शिका विवरण पञ्जिका (न्यास)[10] तथा गणरत्नमहोदधि[11] में मिलता

---

१. अन्ये पैलादय इञन्तास्तेभ्यः 'इञ प्राचाम्' इति लुकि सिद्धेऽप्रागर्थः पा
का २।४।५९॥ इसी प्रकार तत्त्वबोधिनी में भी लिखा है।

द—आह्निक—इस नाम के विषय में हमें
का प्रयोग कोश से अन्यत्र हमें उपलब्ध हुआ।

वंश—हम पूर्व लिख चुके हैं कि पं० शि
शालङ्कि नाम पितृ-व्यपदेशज माना है और
शलङ्क लिखा है।[1] गणरत्नावली में यज्ञेश्वर
का नाम शलङ्क ही लिखा है।[2] कैयट[3] हरद
का मूल **शलङ्कु** मानते हैं।

हरदत्त ने पाणिनि पद की व्युत्पत्ति इस

पणोऽस्यास्तीति पणी, तस्यापत्यं पाणि
युवा पाणिनिः।[6]

यही व्युत्पत्ति कैयट आदि अन्य व्याख्य

वैयाकरणों की भूल—उत्तरकालीन
वैयाकरण लक्षणैकचक्षु[7] बन गए। उन्होंने
शब्दसाधुत्व बताने की ही चेष्टा की, लक्ष्य प
दिया। हम पूर्व लिख चुके हैं कि **पाणिन** औ
व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं।[8] ऐसी अवस्था
पिता बताना साक्षात् ऐतिह्यविरुद्ध है। इतन
शब्द को ये वैयाकरण युवप्रत्ययान्त कहते हैं
में गोत्र रूप से पठित है।[9] इसलिए पाणिनि का
पणिन् ही है और इसी का दूसरा रूप **पणिन**

पतञ्जलि ने महाभाष्य १। १। २०

से स्मरण किया है । अतः प्राचीन पद्धति के अनुसार दाक्षि
ायण दोनों ही नाम संग्रहकार व्याडि के हैं । इसलिए संग्रह
डि पाणिनि की माता का भाई और पाणिनि का मामा ही है
श्चित है । व्याडि पद क्रौड्यादि गण (४ । १ । ८०) में पढ़ा
नुसार व्याडि की भगिनी दाक्षि का नाम **व्याड्या** भी है । पाणिनि
ता दाक्षी के लिए व्याड्या का प्रयोग अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ ।
म परम्परा के अनुसार पाणिनि के नाना अर्थात् दाक्षी के पिता
म **व्यड** था ।

अनुज=पिङ्गल—कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के वृत्तिकार षड्
य ने वेदार्थदीपिका में छन्दःशास्त्र के प्रवक्ता पिङ्गल को पाणि
अनुज लिखा है ।[2] श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की शिक्षाप्रकाश न
ख्या के रचियता का भी यही मत है ।[3]

इस प्रकार पाणिनि के पूरे वंश का चित्र इस प्रकार बनता है

व्यड

पणिन्+दाक्षी (व्याड्या) — दाक्षि (व्याडि

पाणिन-पाणिनि — पिङ्गल

आचार्य—पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में दो स्थानों पर बहुवच
चार्य पद का निर्देश किया है ।[4] हरदत्त का मत है कि पाणिनि
चनान्त आचार्य पद से अपने गुरु का उल्लेख करता है ।[5] ऐ

आरण्यक, शांखायन आरण्यक, हारीत धर्मसूत्र, वात्स
प्रातिशाख्य,[5] ऋक्तन्त्र,[6] पातञ्जल महाभाष्य,[7] कौटल
यन कामसूत्र[9] और कामन्दकीय नीतिसार[10] आदि
पद का व्यवहार बहुधा मिलता है, परन्तु वह अपने गुरु
है यह अनिश्चित है। महाभाष्य में एक स्थान पर
तीन स्थानों पर पाणिनि के लिये बहुवचनान्त आचार्य
कथासरित्सागर आदि के अनुसार पाणिनि के गुरु
वर्ष का अनुज 'उपवर्ष' था। एक उपवर्ष जैमिनीय सूत्र
एक उपवर्ष धर्मशास्त्रों में स्मृत है।[13]

हमारे विचार में जैमिनीय सूत्र-वृत्तिकार और
उपवर्ष एक ही है। यह उपवर्ष जैमिनि से कुछ ही उ
सुन्दरीकथासार में वर्ष और उपवर्ष का तो उल्लेख है,

---

१. ३। २। ६॥ २. नान्तेवासि
इत्याचार्याः। ८। ११॥ ३. आहारशुद्धौ
उद्धृत कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकाण्ड, पृष्ठ ११६।

४. मध्यममित्याचार्याः। ७। २२॥
इत्याचार्याः। १। ४६॥ ६. वायुं प्रकृतिमाचार्याः
७. नह्याचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति। १। १
सन्दिग्धं वर्तते आचार्याणाम्। १। १। आ० २॥ इहेहि
सूत्रप्रबन्धेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते। ६। १। ३७॥
८. १। ४॥ २। ६॥ ३। ४, ५, ७ इत्यादि
६. १। २। २१॥ १। ३। ८ इत्यादि १० स्थानों

उल्लेख नहीं है। अर्वाचीन वैयाकरण महेश्वर को पाणिनि का आचार्य मानते हैं, परन्तु इस में कोई प्रमाण नहीं है। कथासरित्सागर की कथाएं ऐतिहासिक दृष्टि से पूरी प्रामाणिक नहीं हैं। अतः पाणिनि के आचार्य वर्ष का सन्दिग्ध है। हां, यदि कथासरित्सागर में स्मृत उपवर्ष भी प्राचीन मीमांसीय-वृत्तिकार और धर्मशास्त्रों में स्मृत उपवर्ष ही हो और उसी का भाई वर्ष हो तो उसे पाणिनि का आचार्य माना जासकता है। उस अवस्था में कथासरित्सागरकार का इन वर्ष उपवर्ष को नन्दकालिक लिखना भ्रान्तिमूलक मानना पड़ेगा।

शिष्य=कौत्स—पातञ्जल महाभाष्य ३। २। १०८ में एक उदाहरण है—**उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्**। इसी सूत्र पर काशिका वृत्ति में दो उदाहरण और दिये हैं—**अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्, उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम्**। इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि कोई कौत्स पाणिनि का शिष्य था। जैनेन्द्र आदि व्याकरण की वृत्तियों में भी गुरु शिष्य सम्प्रदाय का इस प्रकार उल्लेख मिलता है।[1] एक कौत्स निरुक्त १। १५ में उद्धृत है।[2] गोभिल गृह्यसूत्र,[3] आपस्तम्ब धर्मसूत्र,[4] आयुर्वेदीय काश्यपसंहिता[5] और सामवेदीय निदानसूत्र[6] में भी किसी कौत्स का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद की शौनकीय चतुरध्यायी भी कौत्सकृत मानी जाती है।[7] एक वरतन्तुशिष्य कौत्स रघुवंश ५। १ में निर्दिष्ट है।[8] रघुवंश के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में उद्धृत कौत्स एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। यदि ये कौत्स भिन्न भिन्न व्यक्ति होते तो प्राचीन ग्रन्थकार विभिन्न विशेषणों का प्रयोग अवश्य करते।

कात्यायन—नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर से ध्वनित होता है कि कात्यायन पाणिनि का साक्षात् शिष्य है। पतञ्जलि के साक्षात् शिष्य

में भी लिखेंगे।

अनेक शिष्य—काशिका ६। २। १०४ म
विभागों में बांटा है—**पूर्वपाणिनीयाः, अपरप**
४। १ में पतञ्जलि ने भी लिखा है—**उभयथा**
प्रतिपादिताः, केचिदाकडारादेका संज्ञा इति
कार्यमिति। इस से भी विदित होता है कि पाणि
उसने अपने शब्दानुशासन का अनेक बार प्रवचन

देश—पाणिनि का एक नाम शालातुरीय
रत्नमहोदधि में इस की व्युत्पत्ति इस प्रकार दर्शा

शलातुरो नाम ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्य
भवान् पाणिनिः।[1]

अर्थात्—शलातुर ग्राम पाणिनि का अभिज

पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४। ३। ९३ में स
अभिजन अर्थ में शालातुरीय पद की सिद्धि द
कण्ठाभरण ४। ३। २१० में 'सलातुर' पद पढ़

अभिजन और निवास में भेद—महाभा
और निवास में भेद दर्शाया है—

अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्, निवासो

इस लक्षण के अनुसार शलातुर पाणिनि
पाणिनि स्वयं कहीं अन्यत्र रहता था। पुरातत्त्व

तपस्या की थी और उसी के प्रभाव से वैयाकरणों में

सम्पन्नता—पाणिनि का कुल अत्यन्त सम्पन्न
शब्दानुशासन के अध्ययन करने वाले छात्रों के लिये
रक्खा था। उसके यहाँ छात्र को विद्या के साथ
होता था। इसी भाव को प्रकट करने वाला "**ओदन**
पतञ्जलि ने महाभाष्य १।१।७३ में दिया है। क
वामन ने निन्दार्थ में यह उदाहरण दिया है। इ
प्रधाना: पाणिनीया:" अर्थात् जो श्रद्धा के विना केव
पाणिनीय शास्त्र को पढ़ता है, वह इस प्रकार निन्दात्र

मृत्यु—पाणिनि के जीवन का किञ्चिन्मात्र इ
पञ्चतन्त्र में प्रसङ्गवश किसी प्राचीन ग्रन्थ से ए
है, जिसमें पाणिनि, जैमिनि और पिङ्गल के मृत्यु-
वह श्लोक इस प्रकार है—

> सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान्
> **मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मु**
> **छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेल**
> **अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां**

इससे विदित होता है कि पाणिनि को सिंह ने
में किंवदन्ती है कि पाणिनि की मृत्यु त्रयोदशी
पक्ष का निश्चय न होने से पाणिनीय वैयाकरण प्रत्येक

अनुज=पिङ्गल की मृत्यु—पञ्चतन्त्र के
चरण में लिखा है पिङ्गल को समुद्रतट पर मग

पाणिनि की महत्ता—आचार्य पाणिनि क
उस के दोनों पाणिनि और पाणिन नाम गोत्र
गए। अर्थात् उसके वंशजों ने अपने पुराने गोत्र
नामों का व्यवहार करने में अपना अधिक गौरव

पाणिनि गोत्र—बौधायन श्रौत सूत्र प्रव
पुराण १९७।१० के गोत्रप्रकरण में पाणिनि गोत्र

पाणिन गोत्र—वायु पुराण ९१। ९९ तथ
पाणिन गोत्र स्मृत है।[2]

पाणिनि की अतिप्रसिद्धि—काशिकाकार
इतिपाणिनि, तत्पाणिनि और २। १। १३ क
पाणिनेः उदाहरण दिए हैं। इन से स्पष्ट है कि
लोक में सर्वत्र फहराने लग गई थी।[3]

पैङ्गलायन गोत्र—बौधायन श्रौत प्रवराध
का भी निर्देश उपलब्ध होता है।[1] यह गोत्र पा
से प्रारम्भ हुआ अथवा किसी प्राचीन पैङ्गलायन

पैङ्गलायनि-ब्राह्मण—बौधायन श्रौत २। ७
पाठ उद्धृत है।[4] वह इस पिङ्गल के पुत्र पैङ्गल
प्राचीन पैङ्गलायन प्रोक्त होने से णिनि प्रत्यय[5]

---

१. पैङ्गलायनाः वैहीनरयः, ········· काशकृत्स्नाः

प्रयोग निष्पन्न हुआ है यह विचारणीय है। इस पिङ्ग...
का प्रवचन होता रहा, इस में कोई विशिष्ट प्रमाण...
के शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा वेद की अन्तिम शाखाओं...
प्रवचन का प्रश्न है, वह अधिक से अधिक भारत यु...
१०० वर्ष पश्चात् तक माना जाता है। अतः ब...
पैङ्गलायनि-ब्राह्मण पिङ्गल पौत्र पैङ्गलायनि प्रोक्त...
पाणिनि और पिङ्गल का काल एक दो शताब्दी अ...
तथा ब्राह्मण प्रवचन काल को भारत युद्ध के...
स्वीकार करना होगा।

काल

भारतीय प्राचीन आर्ष वाङ्मय और उसके...
को अधिक से अधिक अर्वाचीन सिद्ध करने के लि...
विद्वानों ने पाणिनि का समय ७ वीं शती ईसा पूर्व...
ईसा पूर्व अर्थात् ६५७ वि० पूर्व से २५८ विक्रम पूर्व न...
गोल्डस्टुकर की है और अन्तिम सीमा वेबर और की...
है। भारतीय प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में पाश्चात...
भित्ति सिकन्दर' और चन्द्रगुप्त मौर्य को काल्पनिक...
को अपरीक्षितकारक के समान आंख मूंद कर मा...
अनेक भारतीय भी स्वीकार करते हैं। पाणिनि के...
पाश्चात्य और उन के भारतीय अनुयायी जिन प्रमा...
हैं, उनमें से निम्न प्रमाण मुख्य हैं—

२—कथासरित्सागर में पाणिनि को महा
कहा है।[1]

३—बौद्ध भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होने वा
पाणिनि के **कुमारः श्रमणादिभिः** (२ । १ । ७०

४—बुद्धकालिक मंखलि गोसाल नाम के
संस्कृत **मस्करी** शब्द का साधुत्व पाणिनि ने **मस्क**
जकयोः (६ । १ । १५४) सूत्र में दर्शाया है।

५—सिकन्दर के साथ युद्ध में जूझने वाली
वापस लौटने को बाध्य करने वाली क्षुद्रक-मा
पाणिनि ने खण्डिकादि गण (४ । २ । ४५)
सेनासंज्ञायाम् गणसूत्र में किया है, ऐसा वेबर क

६—अष्टाध्यायी ४ । १ । ४९ में यवन शब्द
पर कीथ लिखता है कि पाणिनि सिकन्दर के
हुआ।

७—राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जिस अ
उस के अनुसार पाटलिपुत्र में होने वाली श
होकर वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिङ्गल और व्याडि
था।[2] पाटलिपुत्र की स्थापना महाराज उदयी
की थी।[3]

ये हैं संक्षेप से कतिपय मुख्य हेतु,[4] जिन के
काल ४ थी शती ईसा पूर्व तक खींच कर स्थापित

अब हम संक्षेप से इन हेतुओं की परीक्ष

रने का परिचलन था। हम पूर्व (पृष्ठ १८४) लिख चुके हैं कि पाणिनि
क गोत्र है। अतः मञ्जुश्रीमूलकल्प में किसी पाणिनि नाम वाले माणव
हापद्म के सखा रूप में उल्लेख मात्र से विना विशिष्ट विशेषण के
से स्वीकार किया जासकता है कि यह पाणिनि शास्त्रकार पाणिनि ही

प्राचीन परिपाटी को विना जाने ऐसी ही ऊटपटांग कल्पनाओं के आ
र अनेक व्यक्ति बौद्ध ग्रन्थों में गोत्र नाम से अभिहित आश्वलायन आ
ो ही वैदिक वाङ्मय के विविध ग्रन्थों के रचयिता कहने का दुस्स
रते हैं। इसके विपरीत बौद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर तथागत
साथ धर्मचर्चा करने वाले वेद-वेदाङ्ग-पारग विद्वानों का जो व
लब्ध होता है, उससे तो वेदाङ्गों की सत्ता तथागत बुद्ध के काल
हुत पूर्व स्थिर होती है।

२—कथासरित्सागर के रचयिता को भी बौद्धकालिक गोत्र
वहार के कारण भ्रान्ति हुई है और इसीलिए उसने पाणिनि और वर
नन्द का समकालिक लिख दिया है। इस भ्रान्ति की पुष्टि वार्तिक
रुचि को कौशाम्बी निवासी लिखने[1] से भी होती है। कौशाम्बी प्र
निकट है। पतञ्जलि महाभाष्य में वार्तिककार को स्पष्ट शब्दों
क्षिणात्य कहता है।[2] इस विरोध से स्पष्ट है कि कथासरित्सागर
थाओं के आधार पर किसी इतिहास की कल्पना करना नितान्त चिन्त्य

इतना ही नहीं, पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने तो महापद्म नन्द का काल
त अर्वाचीन बना दिया है। भारतीय पौराणिक काल गणनानुसार,
रोत्तर शोध द्वारा सत्य सिद्ध हो रही है, नन्द का काल विक्रम से प
लह सौ वर्ष पूर्व है।

को मंखलि शब्द का संस्कृत रूप मान भी लें
मत्त्वर्थक इनि प्रत्यय का कोई अर्थ न होगा औ
वाचक मस्कर शब्द के साथ कोई संबंध होगा। इ
की दृष्टि में मस्करी शब्द मंखलि गोसाल का ही व
निर्देश के लिए पाणिनि ने सामान्य परिव्राजक पद

वस्तुतः मस्करी शब्द का संबन्ध वेणुवाचक
है। इसीलिए पाणिनि से पूर्ववर्ती ऋक्तन्त्रकार ने
सूत्र में मस्कर शब्द का ही निर्देश किया और उ
माना। पतञ्जलि की मा कृत कर्माणि[1] व्य
आनर्थक्य[2] के प्रत्याख्यान के लिए प्रौढिवाद मात्र
प्रामाणिक भी माना जाए, तब भी मस्करी का मू
ही होगा। उस का अर्थ भी है—मा क्रियतेऽनेने
कर्मों का निषेध होता है वह मस्कर वेणु अर्थात् व
मस्कर निर्वचन को मानकर पाणिनि ने सुडाग
वस्तुतः मस्कर और मस्करी दोनों पद मस्क गतौ

वास्तविक स्थिति तो यह है कि मस्करी क
मानना ही भ्रान्तिमूलक है। महाभारत में निर्दि
उत्पन्न होने से ही मङ्किल का मंखलि अपभ्रंश ब
सूत्र (१५) आदि में मंखलि को मंख का पुत्र क
में गोसाल को मंखलिपुत्त भी है कहा।[7]

---

१. माकृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी। महाभाष्य ६

५—वेबर के मत की आलोचना तो पाश्चात्यमतानुगामी डा० वा
अग्रवाल ने ही भले प्रकार कर दी है,[1] अतः उस का यहाँ
ना पिष्टपेषणवत् होगा।

६—'यवनानी' शब्द पर लिखते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रव
स्पष्ट लिखा है कि भारतीय सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भी यवन
रिचित थे।[2]

यवन जाति के विषय में हम इतना और कहना चाहते हैं कि
मूलतः अभारतीय नहीं है। यवन महाराज ययाति के पुत्र तुर्व
त हैं। महाभारत में स्पष्ट लिखा है—

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोस्तु यवनाः स्मृताः।[3]

यह तुर्वसु की सन्तति बृहत्तर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर
ी थी। ब्राह्मणों के अदर्शन और धर्मक्रिया के लोप के कारण ये
छ बन गए।[4] ये लोग यहीं से प्रवास करके पश्चिम में गए और इ
नाम पर देश का नाम भी यवन=यूनान पड़ा।

इस ऐतिहासिक तथ्य को स्वीकार न करके किसी भी प्राचीन ग्र
शब्द के प्रयोग मात्र से उसे सिकन्दर के आक्रमण से पीछे का बन
ा दुराग्रह मात्र है।

७—अब शेष रहती है राजशेखर द्वारा उद्धृत अनुश्रुति। अ
हास में तभी तक प्रमाण मानी जाती है, जब तक उसका प्रत्यक्ष
ण से विरोध न हो। विरोध होने पर अनुश्रुति अनुश्रुतिम
ी है। इस के साथ ही यह भी ध्यान रहे कि राजशेखर अति-अव
कार है। उस काल तक पहुँचते पहुँचते अनुश्रुति का रूप ही परि

इस के विषय में हम पतञ्जलि के प्रकरण में वि

डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि
स्टूकर आदि के मतों का प्रत्याख्यान करके
काल में ईसा पूर्व ४ थी शती माना है। अब हम

१. पहले हम उस प्रमाण को लेते हैं जिस
होने के कारण पाश्चात्य विद्वानों और उनके अ
उपस्थित नहीं किया। वह है पाणिनि द्वारा **निव**
सूत्र में निर्दिष्ट **निर्वाण** पद। वैयाकरण इस सूत्र

निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः, निर्वाणो

इन में निर्वाण पद का अर्थ है—'शान्त होन

पाश्चात्य मतानुसार यदि पाणिनि तथागत
तो बौद्ध साहित्य में निर्वाण शब्द का जो प्रसिद्ध
उल्लेख अवश्य करता। जो पाणिनि मंखलि गो
प्रयुक्त 'मस्करी' शब्द का उल्लेख कर सकता है
बौद्ध साहित्य में प्रसिद्धतम निर्वाण पद के अर्थ
कथमपि सम्भव नहीं। इसलिए पाणिनि द्वा
निर्वाण पदार्थ का उल्लेख न होने से पाश्चात्यस
कि पाणिनि तथागत बुद्ध से पूर्ववर्ती है।

अन्तःसाक्ष्य

अब पाणिनि के काल-विवेचन के लिए अष्ट
को उद्धृत करते हैं जिनका निर्देश आज तक

क—शाक बेचने वाले कूंजड़ों द्वारा विक्रय के लिए मूली, पा
थी, धनिया, पोदीना आदि आदि की बांधी गई मुट्ठी अथवा गड्डी के
युक्त होने वाले **मूलकपणः, शाकपणः** आदि शब्दों के साधुत्वबोध
ाए एक सूत्र है—

नित्यं पणः परिमाणे । ३ । ३ । ६६ ॥

इस सूत्र से बोधित शब्द विशुद्ध दैनन्दिन के व्यवहारोपयोगी हैं, सा
प्रयुक्त होने वाले शब्द नहीं हैं।

ख—वस्त्र रंगने वाले रंगरेजों के व्यवहार में आनेवाले **माञ्जि
षायम् लाक्षिकम्** आदि शब्दों के साधुत्व ज्ञापन के लिए पाणि
म्न सूत्र पढ़े हैं —

तेन रक्तं रागात् । लाक्षारोचनाट्ठक् ॥ ४ । २ । १, २ ॥

ग—पाचकों के (जो कि पुराकाल में शूद्र ही होते थे[1]) व्यवहा
ने वाले **दाधिकम् औदश्वित्कम् लवणः सूपः** आदि प्रयोगों के
णिनि ने ४।२।१६-२० तथा ४।४।२२-२६ दस सूत्रों का विधान किया

घ—कृषकों के व्यवहारोपयोगी विभिन्न प्रकार के धान्योपयोगी
वाचक **प्रैयङ्गवीनम्, व्रैहेयम्, यव्यम्, तिल्यम्, तैलीनम्** आदि प्र
लिए ५ । २ । १-४ चार सूत्रों का प्रवचन किया है।

ङ—शूद्रों के अभिवादन प्रत्यभिवादन के नियम का उल्लेख ८।२
किया है।

इन तथा एतादृश अन्य अनेक प्रकरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि के

क—विभाषा भाषायाम् । ६ । १ ।

इस सूत्र के अनुसार भाषा अर्थात् लौकिक संस्कृत
तिसृभिः चतसृभिः आदि प्रयोगों में विभक्ति तथा
को विकल्प से उदात्त बोला जाता था।

ख—उदक् च विपाशः । ४ । २ ।

इस सूत्र द्वारा विपाशा=व्यास नदी के उत्तर कू
प्रयुक्त होने वाले दात्तः गौप्तः प्रयोगों के लिए अ
किया है। दक्षिण कूल के कूपों के लिए भी दात्तः
प्रयुक्त होते हैं, परन्तु उनमें अण् प्रत्यय होता है। अ
का पृथक् विधान केवल स्वरभेद की दृष्टि से ही किय
के दात्तः गौप्तः प्रयोग आद्युदात्त प्रयुक्त होते थे। अत
ने अञ् प्रत्यय का और दक्षिण कूल के अन्तोदात्त ब
उनके लिए अण् प्रत्यय का विधान किया।

यदि पाणिनि के समय उदात्तादि स्वरों का जन
यथार्थ उच्चारण प्रचलित न होता तो पाणिनि ऐसे सूक्ष
कदापि चेष्टा न करता। पाणिनि के उत्तर काल में लो
के लोप हो जाने पर उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने स्वरविशे
द्वारा विहित प्रत्ययों के वैविध्य को हटा दिया।

हमने वैदिक-स्वर-मीमाँसा ग्रन्थ के 'स्वरों का ल
है कि कृष्ण द्वैपायन के शिष्य प्रशिष्यों के शाखाप्रवचन
में कुछ कुछ शैथिल्य आने लग गया था। अतः लोक भ

इस सूत्र का अभिप्राय यह है यदि **पञ्चाला: अङ्गा: वङ्गा: मगधा:**
वाची शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त पञ्चाल अङ्ग वङ्ग मगध नाम
त्रिय हैं अर्थात् इन नाम वाले क्षत्रियों के निवास के कारण उस
श के ये नाम प्रसिद्ध हुए, ऐसा पूर्वाचार्यों का मत माना जाए तो
म वाले क्षत्रियों के उस उस प्रदेश में अभाव हो जाने पर उन उन क्ष
निवास के कारण उन उन देशों के लिए व्यवहार में आने वाले प
दि शब्दों का व्यवहार भी समाप्त हो जाना चाहिए। क्योंकि जब उन
म वाले क्षत्रियों का उन उन प्रदेशों से संबन्ध ही न रहा, तब तत्सं
मित्तक शब्दों का प्रयोग भी न होना चाहिए। परन्तु उन उन नाम
त्रियों के नाश हो जाने पर भी तत्तत् प्रदेशों के लिए पञ्चाल आदि श
प्रयोग लोक में होता है। अत: इन देशवाची शब्दों को तत्तत् नाम
त्रियों के निवास के कारण नहीं मानना चाहिए।

अब हमें यह देखना होगा कि भारत के प्राचीन इतिहास में ऐसा
कब आया, जब क्षत्रियों का बाहुल्येन उन्मूलन हुआ। इतिहास
लोकन से स्पष्ट है कि क्षत्रियों का इस प्रकार का उन्मूलन तीन बार हु
म बार दाशरथि राम से पूर्व जामदग्न्य परशुराम द्वारा, द्वितीय
क्षत्रान्तकृत् भारत युद्ध द्वारा और तृतीय बार सर्वक्षत्रान्तकृत्
।

इन में से प्रथम बार की स्थिति की ओर पाणिनि का संकेत नहीं
ता, क्योंकि पाणिनि निश्चय ही भारत युद्ध काल का उत्तरवर्ती
य बार सर्व क्षत्रों का विनाश नन्द ने किया था, यह उस के
ान्तकृत विशेषण[1] से ही स्पष्ट है डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

में उदात्त आदि स्वरों का सूक्ष्म उच्चारण भी होता था। नन्द
से उत्तर काल में पाणिनि द्वारा बोधित संस्कृत भाषा की स्थिति
उस समय जनसाधारण में प्राकृत भाषाओं का ही बोलबाला
: पाणिनि नन्द का समकालिक कदापि नहीं हो सकता।
मीं से यही मन्तव्य स्वीकार किया जाए तो पाणिनि के अन्तःसा
न् विरोध होगा।

अब रह जाता है द्वितीय वार का सर्वक्षत्र विनाश, जो भार
ा हुआ था। तदनुसार भारतयुद्ध के अनन्तर लगभग २००-३००
ा पाणिनि का समय माना जा सकता है। भारतयुद्ध से लगभग २५
त् पञ्चाल आदि क्षत्रिय पुनः अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त करते हुए इ
ष्टिगोचर होते हैं। इसलिए पाणिनि का काल भारतयुद्ध से २०० व
क अर्वाचीन नहीं हो सकता। पाणिनीय शास्त्र के उपरि निर्दिष्ट अ
यों से भी इसी काल की पुष्टि होती है। इस काल तक संस्कृत
ाधारण में बोली जाती रही और उस में उदात्तादि स्वरों का उ
स सीमा तक सुरक्षित रहा। इस के पश्चात् जनसाधारण में अ
ाओं का प्रयोग बढ़ने लगा और संस्कृत केवल शिष्टों की भाषा रह
अब हम प्राचीन वाङ्मय से कतिपय ऐसे साक्ष्य उपस्थित कर
से पाणिनि के काल के विषय में प्रकाश पड़ता है।

पाणिनि के समकालिक आचार्य—हम अपनी उपर्युक्त स्थापन
द्व के लिये पहले पाणिनि के समकालिक आचार्यों का संक्षेप से उ
हैं—

१—गृहपति शौनक ऋक्प्रातिशाख्य [1] तथा बृहद्देवता [2] ास्क को

३—यास्क निरुक्त १ । ५ में कौत्स का उल्लेख करता है। महाभ
२ । १०८ के अनुसार यह कौत्स पाणिनि का शिष्य था।[1]

४—यास्क अपनी तैत्तिरीय अनुक्रमणी में ऋक्प्रातिशाख्य के प्रव
नक का निर्देश करता है।[2]

५—पिङ्गल का नाम पाणिनीय गणपाठ ४ । १ । ९९, १०५
लता है।

६—पाणिनि "**शौनकादिभ्यश्छन्दसि**"[3] सूत्र में शाखाप्रवक्ता शौ
उल्लेख करता है।

७—शौनक शाखा का प्रवक्ता गृहपति शौनक[4] ऋक्प्रातिशाख्य के अ
ों में व्याडि का निर्देश करता है।[5] व्याडि का ही दूसरा नाम दाक्षा
वह पाणिनि का मामा था।

८—व्याडि का नाम पाणिनीय गणपाठ ४ । १ । ८० में तथा दाक्षा
न गणपाठ ४ । २ । ५४ में मिलता है।

९—सामवेदीय लघु-ऋक्तन्त्र व्याकरण में पाणिनि का साक्षात् उल
लता है।[6]

१०—बौधायन श्रौतसूत्र प्रवराध्याय (३) में पाणिनि का साक्
र्देश उपलब्ध होता है। यथा—

भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः·········**पैङ्गलायनाः**,[7] **वैहीन**
····· **काशकृत्स्नाः**·········**पाणिनिर्वाल्मीकि**·········**आपिशलय**

---

१. उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्। २. द्वादशिनस्त्रयोऽष्टाक्षरांश्च ज
तिष्मती। सापि त्रिष्टुबिति शौनकः। वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्य
ा, पृष्ठ २०५ पर उद्धृत। तुलना करो ऋक्प्रातिशाख्य १६ । ७० ॥

११—मत्स्य पुराण १९७।१० में पाणिनि गोत्र का उल्ले

१२—वायु पुराण ९१।९९ में पाणिन गोत्र का निर्दे
पाणिन और पाणिनि एक ही हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि यास्क, शौनक, व्याडि, पा
और कौत्स आदि लगभग समकालिक हैं, इन में बहुत स्वल्प
यदि इन में से किसी एक का भी निश्चित काल ज्ञात हो जा
का काल स्वतः ज्ञात हो जायगा। अतः हम प्रथम शौनक
विचार करते हैं—

शौनक का काल—महाभारत आदि पर्व १।१ तथा ४
जनमेजय (तृतीय) के सर्पसत्र के समय शौनक नैमिपारण
वार्षिक सत्र कर रहा था। विष्णु पुराण ४।२१।४ में लिखा है
पुत्र शतानीक ने शौनक से आत्मोपदेश लिया था और मत्स्य
अनुसार शौनक ने शतानीक को ययातिचरित सुनाया था।
१।१२, १४, २३ के अनुसार अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल
नैमिपारण्य के ऋषियों द्वारा किये गये दीर्घसत्र में सर्वशास्त्रवि
शौनक विद्यमान था।[४] ऋक्प्रातिशाख्य के प्राचीन वृत्तिकार
शास्त्रावतार विषयक एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है। वह

तस्मादादौ शास्त्रावतार उच्यते—

शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितैः।

दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके॥

इति शास्त्रावतारं स्मरन्ति।

चाहिये। ऋक्प्रातिशाख्य की रचना भारतयुद्ध के लगभग
अर्थात् ३००० विक्रम पूर्व हुई थी। ऋक्प्रातिशाख्य में स्मृत
काल का व्यक्ति है। व्याडि पाणिनि का मामा था, यह हम
अतः पाणिनि का समय स्थूलतया विक्रम से २९०० वर्ष प्र

यास्क का काल—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३४
में यास्क का उल्लेख मिलता है। वह इस प्रकार है—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधी

निरुक्त १३। १२ से विदित होता है कि यास्क के का
उच्छेद होना प्रारम्भ हो गया था।[2] पुराणों के मता
अन्तिम दीर्घसत्र महाराज अधिसीम के राज्य काल में किये
के अनन्तर शनैः शनैः ऋषियों का उच्छेद आरम्भ हो ग
ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य और बृहद्देवता में यास्क का स्म
हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] अतः महाभारत तथा निरुक्त के
विदित होता है कि यास्क का काल भारतयुद्ध के समीप थ

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि यास्क, शौनक, पाणिनि, पि
लगभग समकालिक व्यक्ति हैं अर्थात् इनका पौर्वापर्य बहुत
पाणिनि का काल भारतयुद्ध से लेकर अधिसीम कृष्ण के
२५० वर्षों के मध्य है।

पाणिनि का साक्षान्निर्देश—ऊपर उद्धृत प्रमाण
पाणिनि का साक्षान्निर्देश है। बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवरा

भागुरि ऐतरेय आदि कुछ पुराण प्रोक्त शाखाओं के अति
का प्रवचन-काल लगभग भारतयुद्ध से एक शताब्दी
शताब्दी पश्चात् तक है। वर्तमान में उपलब्ध शाखा, ब्रा
उपनिषद्, श्रौत-गृह्य-धर्म आदि कल्पसूत्र, दर्शन, आयुर्वेद,
आदि समस्त उपलब्ध वैदिक आर्ष वाङ्मय अधिकतर इसी क

इस प्रकार पाणिनीय ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्यों और अन्य
भूत वाङ्मय के बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह सर्वथा स्
है कि पाणिनि का काल लगभग भारतयुद्ध से २०० वर्ष पश्च
विक्रम पूर्व है। किसी भी अवस्था में पाणिनि भारतयु
अधिक उत्तरवर्ती नहीं है।

पाणिनि की महत्ता

पाणिनीय शब्दानुशासन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से
कि पाणिनि न केवल शब्दशास्त्र का ज्ञाता था, अपितु
वाङ्मय में उसकी अप्रतिहत गति थी। वैदिक वाङ्मय[1] के
इतिहास, मुद्राशास्त्र और लोकव्यवहार आदि का वह
था। उसका शब्दानुशासन न केवल शब्दज्ञान के लिये
भूगोल और इतिहास के ज्ञान के लिये भी एक महान् प्र
वह अतिप्राचीन और अर्वाचीन काल का जोड़ने वाला
महाभाष्यकार पतञ्जलि पाणिनि के विषय में लिखता है—

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्रा

ायन[1] प्रकरण विशेष में स्थापन किया है। अतः उन में एक वर्ण र्थक नहीं हो सकता, इतने बड़े सूत्र के आनर्थक्य का तो क्या कहना

पुनः लिखा है—

सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्

अर्थात्—सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्धरूपी सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र छ भी अनर्थक नहीं देखता।

जयादित्य '**उदक् च विपाशः**'[3] सूत्र की वृत्ति में लिखता है—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

अर्थात्—सूत्रकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। वह साधारण से स्वर उपेक्षा नहीं करता।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग लिखता है—ऋषि ने पूर्ण मन से श डार से शब्द चुनने आरम्भ किये और १००० दोहों में सारी व्युत्प ी। प्रत्येक दोहा ३२ अक्षरों का था।[4] इसमें प्राचीन तथा नवीन सम् खत ज्ञान समाप्त हो गया। शब्द और अक्षर विषयक कोई भी ब ने नहीं पाई।[5]

१२ वीं शताब्दी का ऋग्वेद का भाष्यकार वेङ्कटमाधव लिखता है कल्यः **पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपराश्रयः**।[6] अर्थात् ऋग्वेद के ज्ञ न हैं—शाकल्य, पाणिनि और यास्क। वेङ्कटमाधव का यह लेख स य है। **वेदार्थ में स्वरज्ञान सब से प्रधान साधन** है। पाणिनि ने स स्त्र के सूक्ष्मविवेचन की दृष्टि से न केवल प्रत्येक प्रत्यय तथा आगम

४०० सूत्र केवल स्वर-विशेष के परिज्ञान के लिये ही
की वेदज्ञता विस्पष्ट है।

पाणिनीय व्याकरण और पाश्चात्य

अब हम पाणिनीय व्याकरण के विषय में आधुनि
का मत दर्शाते हैं[1]—

१. इङ्गलैण्ड देश का **प्रो० मोनियर विलियम्**
व्याकरण उस मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्च
किसी देश ने अब तक सामने नहीं रक्खा।

२. जर्मन देशज **प्रो० मैक्समूलर** लिखता हैं—
अन्वय की योग्यता संसार की किसी जाति के व्याक
बढ़ कर है।

३. **कोलब्रुक** का मत है—व्याकरण के नियम
बनाये गये थे और उन की शैली अत्यन्त प्रतिभापूर्ण थ

४. **सर W. W. हण्टर** कहता है—संसार के
का व्याकरण चोटी का है। उसकी वर्णशुद्धता, भाषा
और प्रयोगविधियां अद्वितीय एवं अपूर्व हैं। ......यह
अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है।

५. लेनिनग्राड के **प्रो० टी० शेरवात्सकी** ने पा
कथन करते हुए उसे "इन्सानी दिमाग की सब से बड़ी
बताया है।[2]

था अयुक्त है। यदि कात्यायन और पतञ्जलि पाणिनि के ग्रन्थ में इ
ुद्धियां समझते तो न कात्यायन अष्टाध्यायी पर वार्तिक लिखता औ
ञ्जलि महाभाष्य[1]। इस से मानना होगा कि कात्यायन और पतञ्जलि
सूत्रों वा सूत्रांशों का खण्डन नहीं किया, अपितु अपने बुद्धिचातु
ारान्तर द्वारा प्रयोग-सिद्धि का निदर्शनमात्र कराया है। इसी दृष्टि
मान गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

द्वितीयतृतीयेत्यादि सूत्रं बृहत्तन्त्रे व्यर्थम्। गणसमाश्रयणं
: । पृष्ठ ७९।

अर्थात्—बृहत्तन्त्र (पाणिनीय तन्त्र) में द्वितीयतृतीय (२।२।
व्यर्थ है। उसका गणपाठ में आश्रयण करना अच्छा है।

इन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित प्रकारान्तर-निर्देशों से उत्तरवर्ती चन्द्रग
ृति आचार्यों ने बहुत लाभ उठाया है। यह उत्तरवर्ती व्याकरण ग्र
तुलना से स्पष्ट है।

कृष्णचरित के रचयिता समुद्रगुप्त की सम्मति

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित के आरम्भ में मुनिकवि व
वार्तिककार के लिये लिखा है—

न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरित वार्तिकैर्यः।

अर्थात्—कात्यायन ने अपने वार्तिकों द्वारा पाणिनीय व्याकरण
किया था।

इससे भी स्पष्ट है कि अर्वाचीन आर्षज्ञान-विहीन वैयाकरणों

भाष्यकार का है।[1] पाणिनीय तन्त्र का आरम्भ 'वृद्धिर
है। यह कथन सर्वथा अयुक्त है। प्राचीन सूत्रग्रन्थों
अनुसार यह वचन पाणिनीय ही प्रतीत होता है। महाभ
भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—

**अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुश
मधिकृतं वेदितव्यम्।**

इस वाक्य में '**प्रयुज्यते**' क्रिया का कर्ता यदि पाणि
तो इसकी उत्तरवाक्य से संगति ठीक लगती है। अन्यथा
का कर्ता पतञ्जलि होगा और '**अधिकृतम्**' का पाणि
का रचयिता पाणिनि ही है। विभिन्न कर्त्ता मानने पर
नहीं बनती।

अब हम '**अथ शब्दानुशासनम्**' सूत्र के पाणिनीय
प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१. अष्टाध्यायी के कई हस्तलेखों का आरम्भ इसी सू

२. काशिका और भाषावृत्ति में अन्य सूत्रों के सदृश
की है अर्थात् उन्होंने पाणिनीय ग्रन्थ का आरम्भ यहीं से

३. भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधराचार्य लिखता

**व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिमुनि
व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते–अथ शब्दानुशासनमिति।**

अर्थात्—व्याकरण शास्त्र का आरम्भ करते हुए

वह लिखता है—

पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते। भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनम् 'अथ शब्दानुशासनम्' सन्दर्भमारभते।[1]

अर्थात्—सब पौरुषेय ग्रन्थों में भी ग्रन्थ के प्रयोजन का कथन ा। भगवान् पाणिनि ने अपने शास्त्र का प्रयोजन विना कहे '**दानुशासनम्**' इत्यादि सूत्रसमूह का आरम्भ किया है।

५. न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिका ३।४।२६ की व्याख्या में लि

शब्दानुशासनप्रस्तावादेव हि शब्दस्येति सिद्धे शब्दग्रहणं दपरो निर्देशस्तत्र स्वं रूपं गृह्यते, नार्थपरनिर्देश इति ज्ञापनार्थम

अर्थात्—शब्दानुशासन के प्रस्ताव से ही शब्द का संबन्ध सिद्ध है। '**रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा**'[3] सूत्र में शब्दग्रहण इस बात का ज्ञापक है ं शब्दप्रधान निर्देश होता है वहीं रूपग्रहण होता है, अर्थप्रधान में न

यहां न्यासकार को शब्दानुशासनप्रस्ताव से '**अथ शब्दानुशास** ही अभिप्रेत है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि '**अथ शब्दानुशासनम्**' सूत्र पाणिनी अत एव स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य के प्रा लिखा है—

इदं सूत्रं पाणिनीमेव। प्राचीनलिखितपुस्तकेषु आदाविदमेवासि यन्ते च सर्वेष्वार्षेषु ग्रन्थेष्वादौ प्रतिज्ञासूत्राणीदृशानि।

क्या प्रत्याहार सूत्र अपाणिनीय हैं ?

भर्तृहरि से लेकर भट्टोजि दीक्षित पर्यन्त पाणिनीय वैयाकरणों
कि प्रत्याहारसूत्र महेश्वरविरचित हैं,[1] अर्थात् अपाणिनीय हैं । य
था अयुक्त है । इनको अपाणिनीय मानने में नन्दिकेश्वरकृत क
अतिरिक्त कोई प्राचीन सुदृढ़ प्रमाण नहीं है । प्रत्याहारसूत्र पाणिन
विषय में अनेक प्रमाण हैं । वर्तमान समय में सब से प्रथम स्वमी
सरस्वती ने इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है । उ
ध्यायीभाष्य में महाभाष्य का निम्न प्रमाण उपस्थित किया है—[2]

१. **हयवरट्**[3] सूत्र पर महाभाष्यकार ने लिखा है—

एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते—यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजाती
शति—अचोऽक्षु हलो हल्षु ।

महाभाष्य में आचार्य पद का व्यवहार केवल पाणिनि और कात्य
लिये हुआ है । यहां आचार्य पद का निर्देश कात्यायन के लिये
नः प्रत्याहारसूत्रों का रचयिता पाणिनि ही है ।

२. **वृद्धिरादैच्**[4] सूत्र के महाभाष्य में वृद्धि और आदैच् पद
प्रतिपादन करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—

कृतमनयोः साधुत्वम्, कथम् ? वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृ
तस्मात् क्तिन् प्रत्ययः । आदैचोऽप्यक्षरसमाम्नाय उपदिष्टाः ।

इस वाक्य में **'कृतम्'** तथा **'उपदिष्टाः'** दोनों क्रियाओं का प्रय
रहा है कि वृध धातु क्तिन् प्रत्यय और आदैच् प्रत्याहार इन
देश करने वाला एक ही व्यक्ति है ।

पाणिनिप्रत्याहार इव महाप्राणझषाश्लिष्टो झषालंकृतश्च
तमुद्रः)।[2]

५–९. पुरुषोत्तमदेव, सृष्टिधराचार्य, मेधातिथि, न्यासकार और जया
मत में 'अथ शब्दानुशासनम्' सूत्र पाणिनीय है, यह हम पूर्व ि
के हैं ।[3] अतः उन के मत में प्रत्याहारसूत्र भी पाणिनीय हैं,
यंसिद्ध है।

१०. अष्टाध्यायी के अनेक प्राचीन हस्तलेखों में 'हल्'[4] सूत्र के अन
ति प्रत्याहारसूत्राणि' इतना ही निर्देश मिलता है।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रत्याहारसूत्र पाणिनीय है।

भ्रान्ति का कारण—इस भ्रम का कारण अत्यन्त साधारण
ाभाष्यकार ने 'वृद्धिरादैच्'[5] सूत्र पर लिखा है—**माङ्गलिक आच
तः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते**।

अर्थात्—आचार्य पाणिनि मङ्गल के लिये शास्त्र के प्रारम्भ में वृ
द का प्रयोग करता है।

महाभाष्य की इस पङ्क्ति में 'आदि' पद को देख कर अर्वा
करणों को भ्रम हुआ है कि पाणिनीय शास्त्र का प्रारम्भ '**वृद्धिरादै**
होता है अर्थात् उससे पूर्व के सूत्र पाणिनीय नहीं हैं।

इस पर विचार करने से पूर्व आदि मध्य और अन्त शब्दों के व्यव
ध्यान देना आवश्यक है। महाभाष्यकार ने '**भूवादयो धातवः**'[6] सूत्र
वा है—

को शास्त्र का मध्य मङ्गल कहा है।

काशिकाकार **'नोदात्तस्वरितोदयम्'**[1] इत्यादि

लिखता है—

उदात्तपरस्येति वक्तव्ये उदयग्रहणं मङ्गलार्थम्

यह शास्त्र के अन्त का मङ्गल है।

इन उद्धरणों में प्रयुक्त आदि, मध्य और अन
से विदित होगा कि मध्य और अन्त शब्द यहां अपने
हुए हैं। यह विस्पष्ट है, क्योंकि **'भूवादयो धातवः**
नहीं है। इसी प्रकार **'नोदात्तस्वरितोदयम्'** सूत्र
अन्यथा शास्त्र के अन्तिम सूत्र 'अ अ'[2] को अपा
महाभाष्यकार ने 'अइउण्'[3] सूत्र पर 'अ अ' को पा
महाभाष्य के उपर्युक्त उद्धरणों में आदि मध्य औ
सम्बन्ध द्वारा लक्षणार्थ में प्रयुक्त हुए हैं, यह स्पष्ट है

आदि और अन्त शब्द का इस प्रकार लाक्षणि
में प्रायः उपलब्ध होता है। नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रा
अपने निरुक्तसमुच्चय के प्रारम्भ में लिखता है—

मन्त्रार्थज्ञानस्य शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्
भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति।[5]

शास्त्रान्ते च—यां यां देवतां निराह तस
भवतीति।[6]

इ दोनों उद्धरणों में क्रमशः निरुक्त १। १

वररुचि ने अपने ग्रन्थ में निरुक्त १ । १८ से पूर्व के
किये हैं ।[1]

अतः ऐसे वचनों के आधार पर इस प्रकार के भ्र
कल्पना करना सर्वथा अयुक्त है । इसलिये पूर्वोक्त
पाणिनीय शास्त्र का प्रारम्भ '**अथ शब्दानुशासनम्**'
और प्रत्याहारसूत्र भी पाणिनीय ही मानने चाहियें । यह

इसी प्रकार की एक भूल कात्यायनकृत वार्तिकपाठ
हुई है । उसका निर्देश हम कात्यायन के प्रकरण में करें

अष्टाध्यायी के पाठान्तर

पहले हमारा विचार था कि पाणिनि के खिल ग्र
अधिक हुए हैं । अष्टाध्यायी का पाठ प्रायः सुरक्षि
अन्वेषण करने पर विदित हुआ कि सूत्रपाठ में
हो चुके हैं । हां, इतना ठीक है कि अन्य ग्रन्थों की अपे
स्वल्प हैं । हमने व्याकरण के सब मुद्रित ग्रन्थों अ
विविध ग्रन्थों का पारायण करके सूत्रपाठ के लगभग
संगृहीत किये हैं ।

पाठान्तरों के तीन भेद—पाणिनीय सूत्रपाठ
उपलब्ध होते है, उन्हें हम तीन भागों में बांट सकते हैं

१—कुछ पाठान्तर ऐसे हैं । जो पाणिनि के स्व
उत्पन्न हुए हैं । यथा—**उभयथा**[3] **ह्याचार्येण शिष्याः**
केचिदाकडारादेका संज्ञा इति, **केचित् प्राक्कडारात्**

२—वृत्तिकारों की व्याख्याभेद से । यथा—अ
केनचिदाचार्येण बोधितः ।[1]

काण्डेविद्धिभ्य इत्यन्ये पठन्ति ।[2]

३—लेखक आदि के प्रमाद से । यथा—एवं
सूत्रमासीत् । इदानीं प्रमादात् चटकाया इति पाठः ।

ग्रन्थकार के प्रवचनभेद सेउत्पन्न पाठान्तर अत्यन्त
के व्याख्याभेद और लेखकप्रमाद से हुए पाठान्तर अधिक

क्या सूत्रों में वार्तिकांशों का प्रक्षेप काशिका

कैयट[5] हरदत्त[6] आदि[7] वैयाकरणों का मत है कि
वार्त्तिकांशों का पाठ मिलता है, वह काशिकाकार का
हमारा विचार है कि ये प्रक्षेप काशिकाकार के नहीं हैं,
प्राचीन हैं । हमारे इस विचार में निम्न कारण हैं—

पाणिनि का सूत्र है—**अध्यायन्यायोद्यावसंहा**
महाभाष्य में वार्त्तिक पढ़ा है—**घञ्विधावचहाराधार**
नम् ।[8] काशिकाकार ने '**अध्यायन्यायोद्यावसं**
पाठ मानकर **चकार से** '**अवहार**' प्रयोग का सं
वार्तिकान्तर्गत 'आधार' और 'आवाय' पदों का
काशिकाकार ने किया होता तो वह वार्त्तिक निर्दिष्ट
का भी प्रक्षेप कर सकता था । परन्तु वह उसका प्रक्षेप
संग्रह करता है ।

---

१. पदमञ्जरी २ ॥ १६७ भाग १, पृष्ठ ३८४ ।

२—पाणिनि के **आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च**[1] सूत्र के विषय
[महा]भाष्य में वार्त्तिक पढ़ा है—**लपिदभिभ्यां च**।[2] काशिकाकार
[आ]**सुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च**'[3] सूत्रपाठ माना है और '**दाभ्**[...]
[प्र]योग की सिद्धि चकार से दर्शाई है। यदि सूत्रपाठ में 'लपि' का प्र[...]
[का]शिकाकार ने किया तो 'दभि' का क्यों नहीं किया? अतः '**दाभ्**[...]
[प्र]योग की सिद्धि के लिये सूत्रपाठ में 'दभि' का पाठ न करके चकार से [...]
[क]ना इस बात का ज्ञापक है कि इस प्रकार के प्रक्षेप काशिकाकार के नहीं[...]

३—**लाक्षारोचनाट्ठक्**[4] सूत्र पर वार्त्तिक है—**ठक्प्रकरणे शक**[...]
[कर्द]**माभ्यामुपसंख्यानम्**। काशिकाकार ने **लाक्षारोचनाशकलक**[र्दमाट्]
[ठ]**क्**[5] सूत्र मान कर लिखा है—'**शकलकर्दमाभ्यामणपीष्य**[ते...]
[शा]कलम्, कार्दमम्। काशिकाकार से प्राचीन चान्द्र व्याकरण में "**शक**[लकर्द]
माद्वा"[7] ऐसा सूत्र पढ़ा है। यदि सूत्रपाठ में शकल कर्दम का प्र[क्षेप]
[जय]ादित्य ने किया होता तो वह "**शकलकर्दमाभ्यामणपीष्यते**" [...]
[...] न पढ़ कर सीधा "**शकलकर्दमाद्वा**" सूत्र बनाकर प्रक्षेप करता।

४—काशिकाकार ७।२।४९ पर लिखता है—**केचिदत्र भरज्ञपिस**[नि]
[त]**पतिदरिद्राणामिति पठन्ति**।

अर्थात्—कई वृत्तिकार इस सूत्र में तनि, पति, दरिद्रा ये तीन धा[तु]
[अधि]क पढ़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि किन्हीं प्राचीन वृत्तियों में इस सूत्र[...]
[...] पाठ विद्यमान होने पर भी वामन ने उस पाठ को स्वीकार नहीं किय[ा]
[यदि] उसे प्रक्षेप करना इष्ट होता तो वह यहां भी इन धातुओं का प्र[क्षेप]
[कर] सकता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि काशिकाकार जहां जहां वृ[...]

में वार्तिकांशों के प्रक्षेप का आक्षेप किया है उसी प्र
चन्द्रगोमी के वैशिष्ट्य और उस के सूत्रपाठ को पारि
करने का आक्षेप काशिकाकार पर लगाते हैं।

प्रो० कीलहार्न कहते हैं—'काशिकाकार ने
का अपनी वृत्ति-रचना में पर्याप्त उपयोग किया है
वार्तिकों के आधार पर रचित चन्द्रगोमी के कुछ सू
ने पाणिनि के मौलिक सूत्रों के स्थान पर प्रतिष्ठित क

प्रो० बेल्वाल्कर लिखते हैं—'चन्द्रगोमी द्वारा प्र
संशोधनों को पाणिनीय सम्प्रदाय में अन्तर्भूत क
काशिकाकार का उद्देश्य था।'[2]

हमारे विचार में काशिकाकार पर लगाए ग
असत्य हैं। काशिकाकार ने कहीं पर भी चान्द्र
सूत्रपाठ में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न नहीं किया।
लिए हम उपरि निर्दिष्ट सूत्रों को ही उपस्थित करते है

१—पाणिनि का '**अध्यायन्यायोद्याव**' सूत्र
नहीं। इस सूत्र और इस के वार्तिक में पढ़े कतिपय
वृत्ति में बहुलाधिकार द्वारा साधुत्व कहा है। अतः
काशिकाकार का पाठ चान्द्र पाठ पर आश्रित नहीं है

२—पाणिनि के **आसुयुवपिरपि** सूत्र का चान्द्र प
लपित्रपिचमिदमः (१।१।१३३)। इस पाठ से तो

बातें स्पष्ट हैं, एक तो काशिकाकार ने चन्द्र का अनुकर
दूसरा चन्द्र के पास भी इस सूत्र का काशिकाकार सम्मत
पाणिनीय सूत्र के रूप में विद्यमान था।

३—काशिकाकार का **लाक्षारोचनाशकलकर्दमाट्ठ**
चान्द्र पाठ पर आश्रित होता तो काशिकाकार चन्द्रगोमी
शकलकर्दमाद्वा सूत्र के होते हुए उसी रूप से प्रक्षेप न क
श्यामणपीष्यते ऐसी इष्टि न पढ़ता। यह इष्टि पढ़ना ह
काशिकाकार ने चान्द्र सूत्र पाठांश को पाणिनीय पाठ में प्र

४—काशिकाकार ने ७।२।४९ पर लिखा है—**केचिद**
तनिपतिदरिद्राणाम् इति पठन्ति। चन्द्रगोमी का सूत्र है
ज्ञपिसनितनिपतिदरिद्रः (५।४।११९)। यदि काशिकाका
सूत्रांशों का पाणिनीय सूत्रपाठ में प्रक्षेप किया होता तो व
प्रक्षेप करके **केचित् पठन्ति** का निर्देश न करता।

इन उदाहरणों से ही स्पष्ट है कि काशिकाकार प
और डा० बेल्वाल्कर के लगाए गए आक्षेप सर्वथा निर्मूल
से इतना तो व्यक्त है कि काशिकाकार ने स्ववृत्ति की
पाणिनितन्त्र की प्राचीन वृत्तियों से सहारा लिया, वहां च
व्याकरणों और उन की वृत्तियों से भी उपयोगी अंश स्वी
काशिकाकार ने पाणिनीय सूत्रपाठ में वार्तिकांशों का अथ
का प्रक्षेप किया, यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है। काशि
पाणिनीय अष्टाध्यायी के लघु और बृहत् दोनों पाठ थे।

में वही पाठ प्रचलित रहा। अष्टाध्यायी और उस के
गणपाठ, उणादिपाठ) के विविध पाठों का सूक्ष्म
निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आचार्य पाणिनि के प
त्रिविध पाठ है। वह पाठ सम्प्रति प्राच्य उदीच्य
त्रिधा विभक्त है।

प्राच्य पाठ—अष्टाध्यायी के जिस पाठ पर
प्राच्य पाठ है।

उदीच्य पाठ—क्षीरस्वामी आदि कश्मीरदेश
यमाण पाठ उदीच्य पाठ है।

दाक्षिणात्य पाठ—जिस पाठ पर कात्यायन ने
वह दाक्षिणात्य पाठ है।

वृद्ध लघु पाठ—ये तीन पाठ दो विभागों में
लघुपाठ। प्राच्यपाठ वृद्धपाठ है और उदीच्य तथा
हैं। उदीच्य और दाक्षिणात्य पाठों में अवान्तर भेद

धातुपाठ, गणपाठ और उणादिपाठ के उक्त प
ने उन उन प्रकरणों में यथास्थान किया है। इस के
पाठक तत्तत्प्रकरण देखें।

अन्य शास्त्रों के विविध पाठ—यह पाठ
शास्त्रों में उपलब्ध होता है। किसी के वृद्ध लघु
वृद्ध मध्यम और लघु तीन पाठ। यथा—

१—निरुक्त की दुर्ग और स्कन्द की टीक
सायण द्वारा ऋग्भाष्य में उद्धृत पाठ वृद्धपाठ है।

पाठ लघुपाठ है। बड़ोदा के संस्करण में कहीं कहीं [ ] के
ित मध्य अथवा वृद्ध पाठ भी निर्दिष्ट हैं।

पाणिनीय शास्त्र के नाम

पाणिनीय शास्त्र के चार नाम उपलब्ध होते हैं। अष्टक, अष्टाध्य
दानुशासन और वृत्तिसूत्र।

अष्टक, अष्टाध्यायी—पाणिनीय ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त
: उसके ये नाम प्रसिद्ध हुए। इनमें अष्टाध्यायी नाम सर्वलोक-विश्रुत

शब्दानुशासन—यह नाम महाभाष्य के आरम्भ में मिलता है।
वा है—**अथेति शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासन
स्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।**[1]

आचार्य हेमचन्द्र के काव्यानुशासन और योगानुशासन भी त
षयक ग्रन्थों के नाम हैं।

वृत्तिसूत्र—पाणिनीय सूत्रपाठ के लिये '**वृत्तिसूत्र**' पद का प्र
ाभाष्य में दो **स्थानों** पर उपलब्ध होता है।[2] चीनी-यात्री इत्सिंग ने
नाम का निर्देश किया है।[3] जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी में उद्धृत
क में वृत्तिसूत्र का उल्लेख मिलता है।[4] नागेश ने महाभाष्य २।१
प्रदीपविवरण में लिखा है—

**पाणिनीयसूत्राणां वृत्तिसद्भावाद् वार्त्तिकानां तदभावाच्च तयोर्वै
धनायेदम्।**

अर्थात्—पाणिनीय सूत्र पर वृत्तियां है वार्तिकों पर नहीं। अतः
भेद दर्शाने के लिये पाणिनीय सूत्रों के लिये वृत्तिसूत्र पद का प्र

वृत्तियां नहीं लिखी गई। पाणिनीयसूत्रों पर वृत्तियां हैं
पर सीधे भाष्य ग्रन्थों की रचना नहीं हुई।

अन्य कारण—वृत्तिसूत्र नाम का एक अन्य कारण
यास्क ने लिखा है—

संशयवत्यो वृत्तयो भवन्ति । २ । १ ॥

यहां वृत्ति का अर्थ व्याकरण शास्त्र है

पूज्यपाद ने भी सर्वार्थसिद्धि ४। २१ की स्वोपज्ञ वृ

विशेषणं विशेष्येण इति वृत्तिः ।

यहां **विशेषणं विशेष्येण** यह पूज्यपाद के जैनेन्द्र
५२ का सूत्र है।

इस आधार पर वृत्तिसूत्र का अर्थ होगा व्याकरण सूत्र

अपर कारण—वृत्ति शब्द का अर्थ पतञ्जलि ने
है।[2] वैयाकरणों में व्याकरण शास्त्रीय सुप् कृत तिङ् अ
अथवा प्रवृत्तियां प्रसिद्ध हैं। तदनुसार वृत्तिसूत्र श
सुप् आदि वृत्तियों के शास्त्र प्रवृत्तियों के बोधक सूत्र।

पं० गुरुपद हालदार ने 'वृत्तिसूत्र' पद का अर्थ न
कल्पनाएं की हैं[3] वे चिन्त्य हैं।

मूलशास्त्र—गार्ग्य गोपालयज्वा अपनी तैत्तिरीय प्रा
में पाणिनीय शास्त्र का निर्देश **मूलशास्त्र** के नाम से कर

क—मूलशास्त्रे त्ववर्णपूर्वस्यापि कस्यचित् '

गोपालयज्वा का पाणिनीय शास्त्र को मूलशास्त्र कहने में क्या अभिप्र
हमें ज्ञात नहीं। हो सकता है वह प्रातिशाख्यों को अथवा तैत्तिरीय प्र
ख्य को पाणिनीयमूलक समझता हो। यदि उसका यही अभिप्राय हो तो
की भ्रान्ति है। तै० प्रा० पाणिनीय शास्त्र से निश्चित ही प्राचीन है

अष्टिका—पाणिनीयाष्टक का एक नाम **अष्टिका** भी है।[1]

पाणिनीय तन्त्र की विशेषता

आचार्य चन्द्रगोमी अपने व्याकरण २।२।६८ की स्वोपज्ञ-वृत्ति में
हरण देता है—**पाणिनोपज्ञमकालकं व्याकरणम्**।

काशिका,[2] सरस्वतीकण्ठाभरण[3] और वामनीय लिङ्गानुशासन[4]
यों में '**पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्**' पाठ है।

इन उदाहरणों का भाव यह है कि कालविषयक परिभाषाओं से र
करण सर्वप्रथम पाणिनि ने ही बनाया।[5] प्राचीन व्याकरणों में
वष्यत् अनद्यतन आदि कालों की विविध परिभाषाएं लिखी थीं। पा
लोकप्रसिद्ध होने से उन्हें छोड़ दिया।

इस के अतिरिक्त पाणिनीय तन्त्र में पूर्व व्याकरणों की अपेक्षा
अधिक हैं, यह हम पूर्व काशकृत्स्न के प्रकरण में लिख चुके हैं।
ों पर महाभाष्यकार ने आनर्थक्य की आशङ्का उठाकर उन की प्र
क आवश्यकता दर्शाई है, वे सूत्र सम्भवतः पाणिनि के स्वोपज्ञ हैं,
कालिक तन्त्रों में वे सूत्र नहीं थे।[6]

पाणिनीय तन्त्र पूर्वतन्त्रों से संक्षिप्त

१. पाणिनि ने 'प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्,'[1] 'का
च तुल्यम्'[2] इन सूत्रों से दर्शाया है कि उसने अपने ग्रन्थ में प्र
ार्थवचन, भूत, भविष्यत्, अनद्यतन आदि काल तथा उपसर्जन
विषयों की परिभाषाएं नहीं रचीं। प्राचीन व्याकरणों में
था, परन्तु पाणिनि ने इनके लोकप्रसिद्ध होने से इन्हें छोड़ दि
ाणिनीय तन्त्र की पूर्वतन्त्रों से उत्कृष्टता थी, यह हम ऊपर
।

. माधवीय-धातुवृत्ति में 'क्षिणोति ऋणोति तृणोति' आदि प्र
ु की उपधा को गुण का निषेध करने के लिये आपिशल व्याक
उद्धृत किये हैं।[3] पाणिनीय व्याकरण में ऐसा कोई नियम उप
ाता।

र्वाचीन वैयाकरण 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'[4] इस कि
के अनुसार 'क्षेणोति अर्णोति तर्णोति' प्रयोगों की कल्पना करते
था अयुक्त है। वैयाकरणों के शब्दनित्यत्व पक्ष में 'यथोत्तरं मुन
यम्' की कल्पना उपपन्न ही नहीं हो सकती, यह हम पूर्व लिख
ाथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि 'क्षेणोति अर्णोति तर्णो
व्यवहार सम्प्रति उपलभ्यमान संस्कृत वाङ्मय में कहीं नहीं मिलत
'क्षिणोति ऋणोति' आदि प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[6]

. चान्द्रवर्मण व्याकरण के अनुसार 'द्वय' पद की सर्वनाम संज्ञा हो
ह हम पूर्व लिख चुके हैं।[7] पाणिनीय व्याकरण के अनुसार के
यय में विकल्प से इसकी सर्वनाम संज्ञा होती है।

अर्थात् एक उदाहरण के लिये सूत्र नहीं रचे गए।

४. राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है—

तद्धि शास्त्रप्रायोवादो यदुत तद्धितमूढाः पाणिनीयाः।[१]

अर्थात्—शास्त्रों में यह प्रायोवाद है कि पाणिनीय तद्धित में मूढ़ होते

यद्यपि राजशेखर ने पाणिनीयों के तद्धितमूढ़त्व में कोई क
स्थित नहीं किया तथापि प्राचीन वाङ्मय के अध्ययन से हम इस नि
र पहुचे हैं कि पाणिनि का तद्धित प्रकरण अत्यन्त संक्षिप्त है। उ
रा प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में प्रयुक्त सहस्रों तद्धित प्रयोग गतार्थ नहीं हो
र्थात् पाणिनि ने तद्धित प्रकरण में अत्यधिक संक्षेप किया है।

५. महाभारत का टीकाकार देवबोध माहेन्द्र=ऐन्द्र व्याकरण
मुद्र से उपमा देता है, और पाणिनीय तन्त्र को गोष्पद से।[३] अर्थात्
त्र की अपेक्षा पाणिनीय तन्त्र अत्यन्त संक्षिप्त है।

६. पाणिनीय के सूत्रों में भी अनेक ऐसे प्रयोग हैं जो पाणि
करण से सिद्ध नहीं होते। यथा—'**जनिकर्तुः**' '**तत्प्रयोजकः**'[४] **पुर**
नाम और ग्रन्थवाची **ब्राह्मण** शब्द।[५] महाभाष्यकार ने पाणिनि के अ
ों में छान्दस वा सौत्र कार्य माना है।[६] इसी प्रकार पाणिनि
म्बवतीविजय काव्य में भी बहुत से प्रयोग ऐसे हैं जो उसके व्याकरण
ुसार नहीं हैं। इनका कारण केवल यही है कि पाणिनि ने इन ग्रन्थो
समय की व्यवहृत लोकभाषा का प्रयोग किया है, परन्तु उस
करण तात्कालिक भाषा का संक्षिप्त व्याकरण है। इसीलिये ये प्रय
के व्याकरण से सिद्ध नहीं होते।

कि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनेक नये सूत्र रचे हैं जो प्राचीन व्याकरणों में नहीं थे। वे उसकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-बुद्धि के द्योतक हैं। लाघव करने के कारण कुछ नियमों का उल्लेख न होना कोई महान् दोष नहीं है।

इस से यह भी सिद्ध है कि जो पद पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते, उन्हें केवल अपाणिनीय होने के कारण अपशब्द नहीं कह सकते। प्राचीन आर्ष वाङ्मय में शतशः ऐसे प्रयोग हैं जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते।[1] अत एव महाभारत के टीकाकार देवबोध ने लिखा है—

न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं नहि न विद्यते॥ ७॥

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥ ८॥[2]

अष्टाध्यायी संहितापाठ में रची थी

पाणिनि ने संपूर्ण अष्टाध्यायी संहितापाठ में रची थी। महाभाष्य १।१।५० में लिखा है—

यथा पुनरियमन्तरतमनिर्वृत्तिः, सा किं प्रकृतितो भवति—स्थानिन्यन्तरतमे षष्ठीति। आहोस्विदादेशतः—स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति। कुतः पुनरियं विचारणा? उभयथा हि तुल्या संहिता "स्थानेन्तरतम उरण् रपरः" इति।

महाभाष्यकार ने अन्यत्र कई स्थानों में प्राचीन वृत्तिकारों के सूत्रविच्छेद को प्रामाणिक न मानकर नये नये सूत्रविच्छेद दर्शाये हैं। यथा—

नैवं विज्ञायते—कङ्करपो यजश्चेति। कथं तर्हि? कङ्करपोऽयजश्चेति।[3]

इन प्रमाणों से विस्पष्ट है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी संहितापाठ में रची थी। यद्यपि पाणिनि ने प्रवचनकाल में सूत्रों का विच्छेद अवश्य किया होगा (क्योंकि उसके विना प्रवचन सम्भव नहीं) तथापि महाभाष्यकार ने उसके संहितापाठ को ही प्रामाणिक माना है।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २६—३६। २. महाभारत टीका के प्रारम्भ में।

सूत्रपाठ एकश्रुति स्वर में था[1]

महाभाष्य के अध्ययन से विदित होता है कि पाणिनि ने समस्त सूत्र-पाठ एकश्रुतिस्वर में पढ़ा था। टीकाकार कहीं कहीं स्वरविशेष की सिद्धि के लिये विशिष्टस्वर-युक्त पाठ मानते हैं। कैयट ने कुछ प्राचीन वैयाकरणों के मत में अष्टाध्यायी में एक श्रुतिस्वर ही माना है।[2]

नागेशभट्ट सूत्रपाठ को एक श्रुतिस्वर में नहीं मानता। वह अपने पक्ष की सिद्धि में **"चतुरः शसि"**[3] सूत्रस्थ महाभाष्य की **"आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते"** पङ्क्ति को उद्धृत करता है।[4] परन्तु यह पंक्ति ही स्पष्ट बता रही है कि सूत्रपाठ सस्वर नहीं था, एकश्रुति में था। अन्यथा महाभाष्य-कार 'करिष्यते' न लिख कर 'कृतम्' पद का प्रयोग करता। अतः सूत्रपाठ की रचना एकश्रुतिस्वर में मानना युक्त है।

प्रतिज्ञापरिशिष्ट[5] में लिखा है—**तान एवाङ्गोपाङ्गानाम्**।[6] अर्थात् अङ्ग और उपाङ्ग ग्रन्थों में तान अर्थात् एकश्रुति स्वर ही है।[7]

---

१. अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्? यदयम् 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णा-मनङुदात्तः' इत्युदात्तग्रहणं करोति तत् ज्ञापयत्याचार्योऽभेदका गुणा इति। यदि हि भेदका गुणाः स्युः, उदात्तमेवोच्चारयेत्। महाभाष्य १।१।१॥ एकश्रुतिनिर्देशात् सिद्धम्। महाभाष्य। ६।४।१७२॥

२. अन्ये त्वाहुः—एकश्रुत्या सूत्राणि पठ्यन्त इति। भाष्यप्रदीपोद्योत १।१।१ पृष्ठ १५३, निर्णयसागर संस्क०।   ३. अष्टा० ६।१।१६८॥

४. नन्वेवमपि चतसर्याद्युदात्तनिपातनसामर्थ्याच्चतस्र इत्यत्र 'चतुरः शसि' इत्यस्याप्रवृत्तिरिति भाष्योक्तमनुपपन्नम्........। सम्पूर्णाष्टाध्यायी आचार्येणैकश्रुत्या पठितेत्यत्र न मानम्। क्वचित्कस्यचित् पदस्यैकश्रुत्या पाठो यथा दाण्डिनायनादिसूत्रे ऐक्ष्वाकेति, एतावदेव भाष्याल्लभ्यते। भाष्यप्रदीपोद्योत १।१।१, पृष्ठ १५३, निर्णयसागर संस्क०। परिभाषेन्दुशेखर में 'अभेदका गुणाः' परिभाषा (११८) के व्याख्यान में भी यही लिखा है।

५. प्रतिज्ञा परिशिष्ट दो प्रकार का है। एक प्रातिशाख्य का परिशिष्ट है। दूसरा श्रौत सूत्र का।   ६. चौखम्बा सीरिज (काशी) मुद्रित यजुःप्रातिशाख्य के अन्त में मुद्रित।   ७. हमारे पास निरुक्त के हस्तलेख के कुछ पत्रे हैं

सस्वरपाठ का एक हस्तलेख

भूतपूर्व डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में अष्टाध्यायी का नं० ३१११ का हस्तलेख था। उस हस्तलेख में अष्टाध्यायी के केवल प्रथमपाद पर स्वर के चिह्न हैं। वे चिह्न स्वरशास्त्र के नियमों के अनुसार शत प्रतिशत अशुद्ध हैं। हमारे पास भी अष्टाध्यायी के कुछ हस्तलिखित पत्रे हैं। इन्हें हमने काशी में अध्ययन करते हुए संवत् १९९१ में गंगा के जलप्रवाह से प्राप्त किया था। उनके साथ कुछ अन्य ग्रन्थों के पत्रे भी थे। अष्टाध्यायी के उन पत्रों में सूत्रपाठ के किसी किसी अक्षर पर खड़ी रेखा अङ्कित है। हमने अपने कई मित्रों को वे पत्रे दिखाए, परन्तु उस चिह्न का अभिप्राय समझ में नहीं आया। प्रतीत होता है नागेश आदि के उपर्युक्त कथन को ध्यान में रखते हुए किसी स्वरप्रक्रिया से अनभिज्ञ लेखक ने मनमाने स्वर-चिह्न लगाने की धृष्टता की है, अन्यथा ये चिह्न सर्वथा अशुद्ध न होते।

अष्टाध्यायी में प्राचीन सूत्रों का उद्धार

पाणिनि ने अपनी रचना सूत्रों में की है। कई आचार्य सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति, "**सूचनात् सूत्रम्**"[1] अर्थात् संकेत करने वाला संक्षिप्त वचन करते हैं। पाणिनि ने कई **स्थानों** पर बहुत लाघव से काम लिया है। उसी के आधार पर अर्वाचीन वैयाकरणों में प्रसिद्धि है—**अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः**।[2] सूत्ररचना में गुरुलाघवविचार का प्रारम्भ काशकृत्स्न आचार्य से हुआ था।[3] पाणिनि ने शाब्दिक लाघव का ध्यान रखते हुए अर्थकृत लाघव को प्रधानता दी है।[4] अत एव उस के

---

१. सूचनात् सूत्रणाच्चैव ...... सूत्रस्थानं प्रचक्षते। सुश्रुत सूत्रस्थान ३। १२॥ सूचयति सूते सूत्रयति वा सूत्रम्। दुर्गसिंह, कातन्त्रवृत्तिटीका, परिशिष्ट पृष्ठ ४०६॥ सूत्रं सूचनकृत्, सूत्र्यते ग्रथ्यते इति सूत्रम्, सूचनाद्वा। हैम अभि० चिन्ता० पृष्ठ १०८। वायुपुराण ५९। १४२ में सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

२. परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा १३३। ३. देखो पूर्व पृष्ठ ११६।

४. द्विविधं हि लाघवं भवति शब्दकृतमर्थकृतं च। तत्रार्थकृतमेव लाघवं

ाकरण में 'टि, घु' आदि अल्पाक्षर संज्ञाओं के साथ सर्वनाम और र्वनामस्थान जैसी महती संज्ञाएं भी उपलब्ध होती हैं। ये सब महती ज्ञाएं उसने प्राचीन ग्रन्थों से ली हैं, क्योंकि वे लोकप्रसिद्ध हो चुकी थीं। स्वशास्त्रीय विभाषा संज्ञा होने पर भी उसने कई सूत्रों में **'उभयथा, न्यतरस्याम्'** आदि शब्दों से व्यवहार किया है, जो कि अर्धलाघव की ष्टि से युक्त है। इसी दृष्टि से पाणिनि ने अपने शास्त्र में अनेक सूत्र अक्षरशः ाचीन व्याकरणों के स्वीकार कर लिये हैं, कहीं कहीं उनमें स्वल्प उचित रिवर्तन भी किया है। यही निरभिमानता ऋषियों की महत्ता और ोपकार-बुद्धि की द्योतिका है। अन्यथा वे भी अर्वाचीन वैयाकरणों के दृश सर्वथा नवीन शब्द रचना कर के अपने बुद्धिचातुर्य का प्रदर्शन कर कते थे, परन्तु ऐसा करने से पाणिनीय व्याकरण अत्यन्त क्लिष्ट हो जाता, ार छात्रों के लिए अधिक लाभकर न होता।

पाणिनीय व्याकरण में कई स्थानों में स्पष्ट प्राचीन व्याकरणों के ोकांशों की झलक उपलब्ध होती है। यथा—

१. **पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थं च तिष्ठति।**[1]

२. **तदस्मै दीयते युक्तं श्राणामांसौदनाट्टिठन्।**[2]

३. **नोदात्तस्वरितोदयम्।**[3]

४. **वृद्धिरादैजदेङ् गुणः।**[4]

प्रथम उद्धरण में अष्टाध्यायी के क्रमशः दो सूत्र हैं, उन्हें मिला कर पढ़ने ः वे अनुष्टुप् के दो चरण बन जाते हैं। उत्तर सूत्र में चकार से **'हन्ति'** र्थ का समुच्चय होता है। अतः सूत्र रचना **'तिष्ठति च'** ऐसी होनी चाहिये। ाशिकाकार ने लिखा है—**चकारो भिन्नक्रमः**[5] **प्रत्ययार्थं समुच्चिनोति।**[6] तीत होता है पाणिनि ने ये दोनों सूत्र इसी रूप से किसी प्राचीन छन्दोबद्ध ाकरण से लिये हैं। छन्दोरचना में चकार को यहीं रखना पड़ता है, अन्यथा

१. अष्टा० ४। ४। ३५, ३६॥ २. द्र० अष्टा० ४।४।६६, ६७।

३. अष्टा० ८। ४। ६७॥ ४. अष्टा० १। १। १, २॥

५. तुलना करो—ऋक्प्रातिशाख्य १। २६। उव्वटभाष्य–चकारो भिन्नक्रमः

छन्दोमें ही आ जाता है। द्वितीय उद्धरण में पाणिनीय सूत्र के नियुक्त पद में से 'नि' का परित्याग करने से दो सूत्र अनुष्टुप् के दो चरण बन जाते हैं। तृतीय उद्धरण पाणिनीय सूत्र का एक देश है। यह अनुष्टुप् का एक चरण है। इस में उदय शब्द इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि यह अक्षररचना पाणिनि की नहीं है। अन्यथा वह '**नोदात्तस्वरितयोः**' इतना लिखकर कार्यनिर्वाह कर सकता था। ऋक्प्रातिशाख्य ३। १७ में पाठ है-**स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्**। सम्भव है पाणिनि ने इसी का अनुकरण किया हो। चौथा उद्धरण भी पाणिनि के दो सूत्रों का है जो अनुष्टुप् का एक चरण है। श्लोकबद्ध रचना के कारण ही 'वृद्धि' शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ है।

आपिशलि के कुछ सूत्र मिले हैं, वे पाणिनीय सूत्रों से बहुत मिलते हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्र भी आपिशल शिक्षासूत्रों से बहुत समानता रखते हैं। वृद्ध पाठ अधिक समान है।[1]

पाणिनि से प्राचीन कोई व्याकरण इस समय उपलब्ध नहीं। प्रातिशाख्यों और श्रौतसूत्र के अनेक सूत्र पाणिनीय सूत्रों से समानता रखते हैं। बहुत से सूत्र अक्षरशः समान हैं। इस से प्रतीत होता है कि पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के अनेक सूत्र अपने ग्रन्थ में संगृहीत किये हैं। हमारा विचार कि यद्यपि पाणिनि ने सम्पूर्ण प्राचीन व्याकरण वाङ्मय का उपयोग किया है, पुनरपि उस का प्रधान उपजीव्य आपिशल व्याकरण है।[2]

प्राचीन सूत्रों के परिज्ञान के कुछ उपाय

पाणिनीय तन्त्र में कितने सूत्र वा सूत्रांश प्राचीन व्याकरणों से संगृहीत हैं, इस का कुछ परिज्ञान निम्न कतिपय उपायों से हो सकता है—

१—एक सूत्र अथवा अनेक सूत्र मिलकर अथवा सूत्रांश जो छन्दोरचना[3] के अनुकूल हो। यथा—

वृद्धिरादैजदेङ्गुणः[4]— अनुष्टुप् का दूसरा चरण।

इग्यणः सम्प्रसारणम्[5]— ,, ,, ,, ,,

तङानावात्मनेपदम्[6]— ,, ,, ,, ,,

कृत्तद्धितसमासाश्च[7]— ,, ,, प्रथम ,,

---

१. शिक्षा के वृद्ध और लघु दो पाठ हैं। २. देखो पूर्व पृष्ठ १४२।

३. विशेष द्रष्टव्य 'मञ्जूषा' पत्रिका, (कलकत्ता) वर्ष ५, अंक ४, पृष्ठ ११७, ११८। ४. अष्टा० १।१।१, २॥ ५. अष्टा० १।१।४५॥

२—एक सूत्र में अनेक चकारों का योग। तुलना करो—

अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः।[1]

इस पाणिनीय शिक्षासूत्र की आपिशल शिक्षा के

ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च।

आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः[2] ॥

सूत्र के साथ। पाणिनि ने आपिशलि के श्लोकबद्ध सूत्र में ही '**अवर्ण**' पद और जोड़ दिया। इससे वह गद्य बन गया। परन्तु आपिशल शिक्षा मे छन्दोऽनुरोध से पठित अनेक चकार उसके सूत्र में वैसे ही पड़े रह गए।[3]

३—चकार का अस्थान में पाठ। यथा—

पक्षीमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति।[4]

४—प्राचीन प्रत्यय आदि के प्रयोग। यथा—

आङि चापः।[5] **औङ आपः।**[6]

५—प्राचीन संज्ञाओं का निर्देश। यथा—

उभयथर्क्षु।[7] **अन्यतरस्याम्।**[8] **गोतो णित्।**[9]

६—प्राचीन धात्वादि का निर्देश। यथा—

---

१. सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा का लघुपाठ, प्रकरण ६।

२. आपिशल शिक्षा, प्रकरण ६। ३. इसी प्रकार प्राचीन श्लोकात्मक सूत्रों से पाणिनीय सूत्रों में आए हुए निष्प्रयोजन चकारों को दृष्टि में रखकर पतञ्जलि ने कहा है—'एवं तर्हि सर्वे चकाराः प्रत्याख्यायन्ते।' महा० १।३।६३।

४. अष्टा० ४।४।३५, ३६। द्र० पूर्व पृष्ठ २२१। इसी प्रकार चकार का अस्थान में प्रयोग पाणिनीय धातुपाठ में भी मिलता है। यथा 'चते चदे च याचने' (क्षीरतरङ्गिणी १।६०८)। इस पर विशेष विचार के लिए क्षीरतरङ्गिणी के उक्त पाठ पर हमारी टिप्पणी, तथा इसी ग्रन्थ का द्वितीय भाग पृष्ठ ६५–६७ द्रष्टव्य हैं। ५. अष्टा० ७।३।१०५॥

६. अष्टा० ७।१।१८॥ ७. अष्टा० ८।३।८॥

८. अष्टाध्यायी में बहुत्र प्रयुक्त ९. अष्टा० ७।१।९०॥ इस

७—कार्यों को षष्ठी से निर्देश करने के स्थान में प्रथमा से निर्देश।[3] यथा—

अल्लोपोऽनः[4] में अल्। ति विंशतेर्डिति[5] में ति।

व्याख्याकारों ने अल् और ति को पूर्वसूत्र निर्देशानुसार-नपुंसकलिंग में प्रथमा का रूप न समझकर अविभक्त्यन्त माना है, वह चिन्त्य है।

अष्टाध्यायी के पादों की संज्ञाएं

अष्टाध्यायी के प्रत्येक पाद की विभिन्न संज्ञाएं उस उस पाद के प्रथम सूत्र के आधार पर रक्खी हैं। विक्रम की १५ वीं शताब्दी से प्राचीन ग्रन्थों में इन संज्ञाओं का व्यवहार उपलब्ध होता है। सीरदेव की परिभाषावृत्ति से इन संज्ञाओं के कुछ उदाहरण नीचे लिखते हैं। यथा—

गाङ्कुटादिपादः	(१।२)	परिभाषावृत्ति पृष्ठ	३३
भूपादः	(१।३)	,, ,,	४३
द्विगुपादः	(२।४)	,, ,,	७६
सम्बन्धपादः	(३।४)	,, ,,	६३
अङ्गपादः	(६।४)	,, ,,	१३५

रावणार्जुनीय काव्य का रचयिता भीम भट्ट भी अपने ग्रन्थ में सर्वत्र 'गाङ्कुटादिपादे' 'भूवादिपादे' आदि का ही व्यवहार करता है।

पाणिनि के अन्य व्याकरण ग्रन्थ

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की पूर्त्ति के लिये निम्न ग्रन्थों का प्रवचन किया है।[6]

---

१. अष्टा० ६।४।११॥ २. सकारमात्रमस्तिधातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि न तस्य पाणिनिरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः। किं तर्हि 'स भुवि' इति स पठति। न्यास १।३।२२॥ ३. पूर्वव्याकरणे प्रथमया कार्यो निर्दिश्यते। कैयट, महाभाष्य-प्रदीप ६।१।१६३॥ पुनः वही ८।४।७ पर लिखता है—पूर्वाचार्याः कार्यभाजान् षष्ठ्या न निरदिक्षन्।

४. अष्टा० ६।४।१३४॥ ५. अष्टा० ६।४।१४२॥

६. अडियार पुस्तकालय के व्याकरण विभाग के सूचीपत्र में संख्या ३८४ पर निर्दिष्ट गणपाठ के हस्तलेख के आदि में लिखा है—अष्टकं गणपाठश्च धातुपाठस्तथैव च। लिङ्गानुशासनं शिक्षा पाणिनीया अमी क्रमात्॥ उणादिसूत्र भी पाणिनीय है, इस के लिए देखिए इसी ग्रन्थ का भाग २, पृष्ठ १७२–१७७॥

१. धातुपाठ　　　　　　３. उणादिसूत्र
२. गणपाठ　　　　　　४. लिङ्गानुशासन

ये चारों ग्रन्थ पाणिनीय शब्दानुशासन के परिशिष्ट हैं। अत एव प्राचीन ग्रन्थकार इनका 'खिल' शब्द से व्यवहार करते हैं।[१] इन ग्रन्थों का इतिहास द्वितीय भाग में लिखा गया है, वहां देखिए।

५. **अष्टाध्यायी की वृत्ति**—पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन का स्वयं बहुधा प्रवचन किया था। प्रवचनकाल में सूत्रार्थपरिज्ञान के लिये वृत्ति का निर्देश करना आवश्यक है। पाणिनि ने अपने ग्रन्थ की कोई स्वोपज्ञ वृत्ति रची थी, इसमें अनेक प्रमाण हैं। इसका विशेष वर्णन "अष्टाध्यायी के वृत्तिकार" प्रकरण में किया जायगा।

पाणिनि के अन्य ग्रन्थ

१. शिक्षा

पाणिनि ने शब्दोच्चारण के परिज्ञान के लिये एक छोटा सा सूत्रात्मक शिक्षाग्रन्थ बनाया था। इसके अनेक सूत्र व्याकरण के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जिस प्रकार आचार्य चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण के आधार पर अपने चान्द्र व्याकरण की रचना की, उसी प्रकार उसने पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के आधार पर अपने शिक्षासूत्र रचे। आर्वाचीन श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का मूल ये ही शिक्षासूत्र हैं। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का विशेष प्रचार हो जाने से सूत्रात्मक ग्रन्थ लुप्त प्रायः हो चुका है।

शिक्षासूत्रों का उद्धार—पाणिनि के मूल शिक्षाग्रन्थ के पुनरुद्धार का श्रेय श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने महान् परिश्रम से इसे उपलब्ध करके '**वर्णोच्चारण-शिक्षा**' के नाम से संवत् १९३६ के अन्त में प्रकाशित किया था।[२] छोटे बालकों के लाभार्थ सूत्रों का भाषानुवाद भी साथ में दिया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के १० जनवरी सन् १८८० के पत्र से ज्ञात होता है कि उन्हें इस ग्रन्थ का हस्तलेख सन् १८७९ के

---

१. उपदेशः **शास्त्रवाक्यानि** सूत्रपाठः, खिलपाठश्च। काशिका १।३।२॥ नहि उपदिशन्ति खिलपाठे (उणादिपाठे)। भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ १४६।

२. इसका विशेष वर्णन हमने 'स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक

अन्त में मिला था।[1] वर्णोच्चारणशिक्षा की भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वयं लिखा है—

ऐसे ऐसे भ्रमों की निवृत्ति के लिये बड़े परिश्रम से पाणिनिमुनिकृत शिक्षा का पुस्तक प्राप्त कर उन सूत्रों की सुगम भाषा में व्याख्या करके वर्णोच्चारण विद्या की शुद्ध प्रसिद्धि करता हूँ।

पाणिनि से प्राचीन आपिशलशिक्षा का वर्णन हम पृष्ठ १४३ पर कर चुके हैं। उसके साथ पाणिनीय शिक्षा की तुलना करने से प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती को पाणिनीयशिक्षा-सूत्रों का जो हस्तलेख मिला था, वह अपूर्ण और अव्यवस्थित था। जैसे आपिशल व्याकरण के सूत्र पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों से मिलते हैं और दोनों में आठ आठ अध्याय समान हैं, उसी प्रकार आपिशल शिक्षा और पाणिनीय शिक्षा के सूत्रों में भी अत्यधिक समानता है, और दोनों में आठ आठ प्रकरण हैं।

शिक्षासूत्रों के दो पाठ—पाणिनीय शिक्षा सूत्रों के अष्टाध्यायी के समान ही लघु और बृहत् दो प्रकार के पाठ हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस हस्तलेख के आधार पर शिक्षासूत्रों को प्रकाशित किया था वह लघु पाठ का था (और वह खण्डित भी था)। इस का दूसरा एक बृहत् पाठ भी है जिस में कुछ सूत्र और सूत्रांश अधिक हैं। इन दोनों पाठों का हमने सम्पादन तथा प्रकाशन किया है।

क्या पाणिनीय शिक्षासूत्र कल्पित हैं—डा० मनोमोहन घोष एम. ए. ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से सन् १९३८ में [श्लोकात्मिका] पाणिनीय शिक्षा का एक संस्करण प्रकाशित किया है। उस की भूमिका में बड़े प्रयत्न से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिन शिक्षासूत्रों को पाणिनि के नाम से प्रकाशित किया है, वे उनके द्वारा कल्पित हैं।

हमने **मूल पाणिनीय शिक्षा** शीर्षक लेख में डा० मनोमोहन घोष के लेख की सप्रमाण आलोचना करते हुए अनेक प्रमाणों को उपस्थित कर के यह सिद्ध किया है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाणिनीय

---

१. देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी द्वारा सम्पादित 'महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ १७८ (द्वि० सं०) यह ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर से

शिक्षा सूत्र उनके द्वारा कल्पित नहीं हैं, अपितु वे वास्तविक रूप में पाणिनीय हैं और अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा उद्धृत हैं। हमारा यह लेख 'साहित्य' पत्रिका (पटना) के वर्ष ७ अङ्क ४ (सन् १९५७) में प्रकाशित हुआ है। इस लेख के पश्चात् पाणिनीय शिक्षासूत्रों का एक कोश और उपलब्ध हो गया। उस में यह सर्वथा प्रमाणित हो गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं।

हमारा संस्करण—हमने सन् १९४९ में पाणिनीय शिक्षासूत्रों का एक पाठ आपिशल और चान्द्र शिक्षासूत्रों के साथ प्रकाशित किया था, वह पाठ स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पर ही था।

नया संस्करण—तत्पश्चात् पाणिनीय शिक्षा का एक नया कोश उपलब्ध हो गया। हमने विविध ग्रन्थों के साहाय्य से पाणिनीय शिक्षासूत्रों के लघु और बृहत् दोनों पाठों का सम्पादन किया है। उस में विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत समस्त पाणिनीय शिक्षा सूत्रों का तत्तत् स्थानों पर निर्देश कर दिया है। आरम्भ में बृहत् भूमिका में इन सूत्रों के विषय में ज्ञातव्य सभी विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

श्लोकात्मिका शिक्षा—शिक्षाप्रकाश-टीका के रचयिता के मतानुसार श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा की रचना पाणिनि के अनुज पिङ्गल ने की है।[1]

दो प्रकार के पाठ—श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के भी दो पाठ हैं एक लघु, दूसरा बृहत्। लघु याजुष पाठ कहाता है और बृहत् आर्च पाठ। याजुष पाठ में ३५ श्लोक हैं और आर्च पाठ में ६० श्लोक हैं। ये श्लोक ११ वर्ग अथवा खण्डों में विभक्त हैं। शिक्षाप्रकाश और शिक्षापञ्जिका टीकाएं लघु पाठ पर ही हैं।

सस्वर-पाठ—काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में पृष्ठ ३७८-३८४ तक आर्च पाठ का एक सस्वर-पाठ छपा है। इसमें स्वर चिह्न बहुत अव्यवस्थित हैं। प्रतीत होता है लेखकों और पाठकों की उपेक्षा के कारण यह अव्यवस्था हुई है। परन्तु इसके आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मूल पाठ सस्वर था।

२ जाम्बवती विजय

इसका दूसरा नाम **पातालविजय** भी है। इस महाकाव्य में श्रीकृष्ण का पाताल में जाकर जाम्बवती के विजय और परिणय कथा का वर्णन है। इस काव्य को पाणिनि-विरचित मानने में आधुनिक लेखकों ने अनेक आपत्तियां उपस्थित की हैं। हम ने उन सब का सप्रमाण समाधान इस ग्रन्थ के "काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि" शीर्षक तीसवें अध्याय में (भाग २, पृष्ठ ३७१-३७८) किया है। पाठक इस विषय में वह प्रकरण अवश्य देखें।

अभिनव सूचना—कुछ समय हुआ काफिरकोट के पास से पाकिस्तान के अधिकारियों को भामह के काव्यालङ्कार की किसी व्याख्या की एक जीर्ण प्रति उपलब्ध हुई। इस के विषय में यह अनुमान किया जाता है कि यह उद्भट का विवरण है। इस प्रति का हस्तलेख भोजपत्रों पर दशम शती की शारदा लिपि में लिखा हुआ है। यह अभी अभी प्रकाशित हुई है। इसके ३४ वें पृष्ठ के अन्त में और ३५ वें पृष्ठ के आदि में निम्न पाठ है—

······इदमुदाहरणं समासोक्तेः—उपोढ [························] परोऽपि मोहाद् गलितं न गच्चित (म्)। अत्र शशिरजनी व्यापारपरं य प्र × × × सहसु × त [

इस पर सम्पादक ने जो टिप्पणी दी है, उसका भाव इस प्रकार है—

उपोपरागेण विलोलतारकं, तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्। यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा परोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।

यह प्रायः पाणिनि के नाम से स्मृत है। पी. पिटर्सन ने JRAS १८६१, पृष्ठ ३१२-३१६ में पाणिनि के नाम से उद्धृत वचनों का संग्रह किया है। आर. पिशल ने माना है कि काव्यकार पाणिनि ही वैयाकरण पाणिनि है ZDMG XXXIX पृष्ठ ९५-८, ३१३-३१६। तथा अभी अभी के. उपाध्याय ने भी IHQ XIII, पृष्ठ १६७ में यही लिखा है। पेरिस से प्रकाशित दुर्घटवृत्ति भाग १ पृष्ठ ७२ में रेणु ने अनुमान किया है कि काव्यकार पाणिनि ९ वीं शती से पूर्व का है। अब इतना निश्चित हो गया कि काव्यकार पाणिनि उद्भट (आठवीं शती) से पूर्वभावी है।

हमारा निश्चित मत है कि ज्यों ज्यों पुरानी सामग्री प्रकाश में आती

३. द्विरूपकोश

लन्दन की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में द्विरूपकोश का एक हस्तलेख है। उसकी संख्या ७८९० है। यह कोश छः पत्रों में पूर्ण है। ग्रन्थ के अन्त में 'इति पाणिनिमुनिना कृतं द्विरूपकोशं सम्पूर्णम्' लिखा है।

यह कोश वैयाकरण पाणिनि की कृति है वा अन्य की, यह अज्ञात है।

पूर्वपाणिनीयम्

इस नाम का एक २४ सूत्रात्मक ग्रन्थ अभी काठियावाड़ से प्रकाशित हुआ है। इस के अन्वेषण और सम्पादनकर्त्ता श्री पं० जीवराम कालिदास राजवैद्य हैं। उसके सूत्र इस प्रकार हैं—

ओम् नमः सिद्धम्।

१. अथ शब्दानुशासनम्।
२. शब्दो धर्मः।
३. धर्मादर्थकामापवर्गाः।
४. शब्दार्थयोः।
५. सिद्धः।
६. सम्बन्धः।
७. ज्ञानं छन्दसि।
८. ततोऽन्यत्र।
९. सर्वमार्षम्।
१०. छन्दोविरुद्धमन्यत्।
११. अदृष्टं वा।
१२. ज्ञानाधारः।
१३. सर्वः शब्दः।
१४. सर्वार्थः।
१५. नित्यः।
१६. तन्त्रः।
१७. भाषास्वेकदशी।
१८. अनित्यः।
१९. लौकिकोऽत्र विशेषेण।
२०. व्याकरणात्।
२१. तज्ज्ञाने धर्मः।
२२. अक्षराणि वर्णाः।
२३. पदानि वर्णेभ्यः।
२४. ते प्राक्।

सम्पादक महोदय ने इस ग्रन्थ को पाणिनिविरचित सिद्ध करने का महान् प्रयत्न किया है, परन्तु उनकी एक भी युक्ति इसे पाणिनीय सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। इस ग्रन्थ के उन्हें दो हस्तलेख प्राप्त हुए हैं, उनमें एक हस्तलेख के प्रारम्भ में 'कात्यायनसूत्रम्' ऐसा लिखा है। हमारे विचार में ये सूत्र किसी अर्वाचीन कात्यायन विरचित हैं।

१. अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते ।[1]

२. पूर्वसूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति संज्ञा क्रियते ।[2]

३. पूर्वसूत्रनिर्देशो वापिशलमधीत इति । पूर्वसूत्रनिर्देशो वा पुनरयं द्रष्टव्यः । सूत्रेऽप्रधानस्योपसर्जनमिति संज्ञा क्रियते ।[3]

४. पूर्वसूत्रनिर्देशश्च । चित्त्वान् चित इति ।[4]

५. अथवा पूर्वसूत्रनिर्देशोऽयं, पूर्वसूत्रेषु च येऽनुबन्धा न तैरिहेत्कार्याणि क्रियन्ते ।......निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात् ।[5]

६. पूर्वसूत्रनिर्देशश्च ।[6]

महाभाष्य के इन ६ उद्धरणों में से केवल प्रथम उद्धरण पूर्वपाणिनीय के "अक्षराणि वर्णाः"[7] सूत्र के साथ मिलता है। भर्तृहरि ने महाभाष्य-दीपिका में महाभाष्योक्त पूर्वसूत्र पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

एवं ह्यन्ये पठन्ति—'वर्णा अक्षराणि' इति ।[8]

इस से प्रतीत होता है कि ये पूर्वपाणिनीय-सूत्र भर्तृहरि के समय विद्यमान नहीं थे। अन्यथा वह 'वर्णा अक्षराणि' के स्थान पर 'अक्षराणि वर्णाः' ऐसा पाठ उद्धृत करता।

पूर्वपाणिनीय का शब्दार्थ—पूर्वपाणिनीय के सम्पादक को भ्रांति होने का एक कारण इसके शब्दार्थ को ठीक न समझना है। उन्होंने पूर्वपाणिनीय नाम देख कर इसे पाणिनीय समझ लिया। वस्तुतः इस का अर्थ है—**पाणिनीयस्य पूर्व एकदेशः पूर्वपाणिनीयम्**' अर्थात् पाणिनीय शास्त्र का पूर्व भाग। पूर्वोत्तर भाग के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह एक व्यक्ति की रचना हो, और समान काल की हो। विभिन्न रचयिता और विभिन्न काल की रचना होने पर भी पूर्वोत्तर विभाग माने जाते हैं। जैसे—पूर्व-मीमांसा और उत्तरमीमांसा।

---

१. महा० अ० १, पा० १, आ० २, पृष्ठ ३६ ॥

२. महा० १ । २ । ६८, पृष्ठ २४८ ।

३. ४ । ४ । १४, पृष्ठ २०५ ।   ४. ६ । १ । १६३, पृष्ठ १०४ ।

पूर्वपाणिनीय की प्राचीनता—पूर्वपाणिनीय के सम्पादक ने इस की प्राचीनता में जितने प्रमाण दिये हैं वे सब निर्मूल हैं। अब हम इस की प्राचीनता में एक प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं—

काशिका ६। २। १०४ में एक प्रत्युदाहरण है—**पूर्वपाणिनीयं शास्त्रम्**। यहां शास्त्र पद का प्रयोग होने से स्पष्ट है कि काशिकाकार का संकेत किसी 'पूर्वपाणिनीय' ग्रन्थ की ओर है।

हरदत्त ने इस प्रत्युदाहरण की व्याख्या **'पाणिनीयशास्त्रं पूर्वं चिरन्तनमित्यर्थः'** की है। यह क्लिष्ट कल्पना है। सम्भव है उसे इस ग्रन्थ का ज्ञान न रहा हो।

इस अध्याय में हमने पाणिनि और उस के शब्दानुशासन तथा तद्विरचित अन्य ग्रन्थों का संक्षिप्त वर्णन किया है। अगले अध्याय में आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय का वर्णन करेंगे।

छठा अध्याय

आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय

पाणिनीय अष्टाध्यायी से भारतीय प्राचीन वाङ्मय और इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इस अध्याय में हम पाणिनि के समय विद्यमान उसी वाङ्मय का उल्लेख करेंगे, जिस पर पाणिनीय व्याकरण से प्रकाश पड़ता है। यद्यपि हमारे इस लेख का मुख्य आश्रय पाणिनीय सूत्रपाठ और गणपाठ है, तथापि उसका आशय व्यक्त करने के लिये कहीं-कहीं महाभाष्य और काशिका वृत्ति का भी आश्रय लिया है। हमारा विचार है काशिका वृत्ति के जितने उदाहरण हैं वे प्रायः प्राचीन वृत्तियों के आधार पर हैं,[1] और सभी प्राचीन वृत्तियों का आधार पाणिनीय वृत्ति है। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन पर स्वयं वृत्ति लिखी थी, यह हम "अष्टाध्यायी के वृत्तिकार" प्रकरण में सिद्ध करेंगे। इस प्रकार काशिका के उदाहरण बहुत अंश तक अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक हैं।[2]

पाणिनि ने अपने समय के समस्त संस्कृत वाङ्मय को निम्न भागों में बांटा—

१. दृष्ट, २. प्रोक्त, ३. उपज्ञात, ४. कृत, ५. व्याख्यान।

दृष्टादि शब्दों का अर्थ—पाणिनि ने प्राचीन वाङ्मय के विभागीकरण के लिए जिन दृष्ट प्रोक्त उपज्ञात कृत और व्याख्यान शब्दों का व्यवहार किया है उन का अभिप्राय इस प्रकार है—

---

१. सक्खीति··· अपच्चितपरिमाणः शृगालः किखी, अप्रसिद्धोदाहरणं चिरन्तन-प्रयोगात्। पदमञ्जरी २।१।६, भाग १, पृष्ठ ३४४। काशिका में 'ससखि' उदाहरण छपा है वह अशुद्ध है। अवततेनकुलस्थितं तवैतदिति चिरन्तनप्रयोगः। पदमञ्जरी २।१।७, भाग १, पृष्ठ ३७१।

२. रामचन्द्र भट्टोजि दीक्षित आदि अर्वाचीन वैयाकरणों ने उन प्राचीन उदाहरणों, को जिनसे भारतीय पुरातन इतिहास और वाङ्मय पर प्रकाश पड़ता था हटाकर साम्प्रदायिक उदाहरणों का समावेश करके प्राचीन वाङ्मय और इतिहास की महती हानि की है।

१. दृष्ट—दृष्ट शब्द का अर्थ है देखा गया। इस विभाग में पाणिनि ने उस वाङ्मय का निर्देश किया है जो न किसी के द्वारा कृत है और न प्रोक्त। अर्थात् पूर्वतः विद्यमान वाङ्मय के विषय में ही किन्हीं विशेष विषयों का जो विशिष्ट दर्शन है वह दृष्ट के अन्तर्गत समझा जाता है।

२. प्रोक्त—प्रोक्त का शब्दार्थ है प्रकर्ष रूप से उक्त = कथित। इस विभाग में वह सारा वाङ्मय आता है जो पूर्वतः विद्यमान स्व-स्व-विषयक वाङ्मय को ही देश-काल की परिस्थिति के अनुसार ढाल कर विशेष रूप में शिष्यों को पढ़ाया जाता है। इस विभाग में सम्पूर्ण शास्त्रीय वाङ्मय का अन्तर्भाव होता है।

३. उपज्ञात—उपज्ञात शब्द का अर्थ है ग्रन्थप्रवक्ता द्वारा स्वमनीषा से विज्ञात। इस के अन्तर्गत प्रोक्त ग्रन्थों के वे विशिष्ट अंग संगृहीत होते हैं जिन्हें पूर्व ग्रन्थों का देशकालानुसार प्रवचन करते हुए प्रवक्ता ने अपनी अपूर्व मेधा के आधार पर सर्वथा नए रूप में सन्निविष्ट किया हो।

४. कृत—इस का सामान्य अर्थ है बनाया हुआ। इस विभाग में वह वाङ्मय संगृहीत होता है जिन की पूरी वर्णानुपूर्वी ग्रन्थकार की अपनी हो।

५. व्याख्यान—इस का भाव स्पष्ट है। समस्त टीका टिप्पण और व्याख्या ग्रन्थ इसके अन्तर्गत आते हैं।

हम भी इसी विभाग के अनुसार पाणिनीय व्याकरण में उल्लिखित प्राचीन वाङ्मय का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

१. दृष्ट

पाणिनि का सूत्र है—**दृष्टं साम**[1]। यहां साम शब्द सामवेद में पठित ऋचाओं के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ, अपितु जैमिनि के "**गीतिषु सामाख्या**"[2] लक्षण के अनुसार ऋचाओं के गान का वाचक है। काशिका वृत्ति में "**दृष्टं साम**" सूत्र के उदाहरण "**क्रौञ्चम्, वासिष्ठम्, वैश्वामित्रम्**" दिये हैं। वामदेव ऋषि से दृष्ट वामदेव्य साम के लिये "**वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ च**"[3] पृथक् सूत्र बनाया है। वार्तिककार कात्यायन के मतानुसार **आग्नेय, कालेय, औशनस, औशन, औपगव** सामों का भी उल्लेख मिलता है।[4] दृष्ट का

---

१. अष्टा० ४।२।७॥ २. मीमांसा २।१।३६॥ ३. अष्टा० ४।२।८॥

अर्थ है जो देखा गया हो। यह कृत और प्रोक्त से भिन्न है। अतः इसका अर्थ है कि जिसकी रचना में मनुष्य का कोई सम्बन्ध न हो अर्थात् जो अपौरुषेय हो। यद्यपि ऋक् और यजुः मन्त्रों के अपौरुषेयत्व के विषय में पाणिनि ने साक्षात् कुछ नहीं कहा, तथापि "**ऋच्यध्यूढं साम गीयते**"[1] इस वचन के अनुसार सामगान ऋचा के आधार पर होता है। इसलिये यदि आश्रियमाण साम दृष्ट अर्थात् अपौरुषेय हैं तो उनके आधारभूत ऋक् मन्त्रों का अपौरुषेयत्व स्वतःसिद्ध है। यजुर्मन्त्रों के अपौरुषेयत्व के विषय में साक्षात् वा असाक्षात् कोई उल्लेख नहीं मिलता।

सामगान के दो भेद हैं। एक सामवेद की पूर्वार्चिक की ऋचाओं में उत्पन्न साम। इसे प्रकृति-साम वा योनि-साम कहा जाता है। दूसरा—"**यद् योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गायति**"[2] वचन द्वारा उत्तरार्चिक की ऋचाओं में अतिदिष्ट। यह ऊह गान कहाता है। शबरस्वामी आदि मीमांसकों का सिद्धान्त है कि प्रकृति गान अपौरुषेय है (पाणिनि ने भी इसे ही दृष्ट कहा है) और ऊह गान आतिदेशिक होने से पौरुषेय है।[3]

यद्यपि पाणिनि ने इस प्रकरण में केवल **साम** का ही उल्लेख किया है तथापि **दृष्टम्** इस योगविभाग से उन मन्त्रों और मन्त्र समूहों में भी दृष्ट अर्थ में प्रत्यय होता जो किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा दृष्ट हैं। यथा—

माधुच्छन्दसम्। वैश्वामित्रम्। गार्त्समदम्।

इन तथा एतत् सदृश अन्य शब्दों का ब्राह्मण, आरण्यक और कल्पसूत्रों में जहां-जहां शंसति क्रिया के साथ प्रयोग आया है वहां सर्वत्र तत्तद् ऋषियों द्वारा दृष्ट मन्त्र अथवा सूक्त अभिप्रेत हैं। यह ध्यान रहे कि सम्पूर्ण भारतीय प्राचीन वाङ्मय में मन्त्र दृष्ट माने गए हैं, कृत नहीं।

२—प्रोक्त

प्रोक्त शब्द का अर्थ है—कहा हुआ, पढ़ाया हुआ। पढ़ाना स्वरचित ग्रन्थों का भी होता है और पररचित ग्रन्थों का भी। "**तेन प्रोक्तम्**"[4] सूत्र

१. छान्दोग्य० १।६॥ तथा भाट्टदीपिका ९।२।२ पर पाठभेद से उद्धृत।
२. भाट्टदीपिका ९।२।२ पर उद्धृत। ३. देखो ...

से दोनों प्रकार के प्रवचन में प्रत्यय होता है। यथा—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः।[1] जिन्होंने अपने ग्रन्थ को स्वयं नहीं पढ़ाया, उन में "कृते ग्रन्थे"[2] सूत्र से प्रत्यय होता है। प्राचीन वाङ्मय में प्रोक्त-अर्थ में **संस्कृत** तथा **प्रतिसंस्कृत** शब्द का भी व्यवहार मिलता है। कहीं कहीं पर **सुकृत** और **सुविहित** शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है।

संस्कृत—इस शब्द का व्यवहार आयुर्वेदीय चरक संहिता के सिद्धि-स्थान अ० १२ में इस प्रकार मिलता है—

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ॥ ६५ ॥
संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्।
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ॥ ६६ ॥
संस्कृतं तत्त्वसम्पूर्ण........................।

अर्थात्—[संस्कर्ता पूर्वाचार्यों द्वारा] संक्षेप से कहे गए विशिष्ट अर्थ को विस्तार से कहता है और विस्तार से कहे गए अभिप्राय का संक्षेप करता है। इस प्रकार संस्कर्ता पुराने शास्त्र को पुनः नया अर्थात् स्वदेशकाल के अनुसार उपयोगी बना देता है...............।

चरक के इस पाठ से संस्कर्ता अथवा प्रवक्ता के नए प्रवचन कार्य का प्रयोजन भी व्यक्त हो जाता है।

प्रतिसंस्कृत—इस शब्द का प्रयोग भी आयुर्वेद की चरक संहिता के प्रत्यध्याय के अन्त में पठित निम्न वचन में मिलता है—

अग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते।

सुकृत—महाभाष्य १।४।८३ में कहा है—

शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः प्रावर्षत्।

यदि यहां संहिता शब्द से मन्त्रसंहिता अभिप्रेत है तब तो यहां प्रोक्त अर्थ में ही सुकृत शब्द का व्यवहार है यह स्पष्ट है, क्योंकि पाणिनि के मतानुसार संहिताएं प्रोक्त हैं। संहिता शब्द का व्यवहार पदपाठ के लिए भी होता है। इसलिए यदि यहां संहिता पद से शाकल्य की पदसंहिता अभिप्रेत हो तो उस का भी समावेश प्रोक्त के अन्तर्गत ही होगा। पदसंहिता का कृत

पाणिनीय शास्त्र प्रोक्त है, वह कृत नहीं है। इसलिए यहां **सुविहितम्** का अर्थ **सुप्रोक्तम्** ही है, **सुकृतम्** नहीं।

इसी प्रकार काशिका ४। २। ७४ में पठित **शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः** वचन में भी कृति का अर्थ प्रवचन ही समझना चाहिए।

इस प्रोक्त-विभाग में पाणिनि ने अनेक प्रकार के ग्रन्थों का निर्देश किया है। हम यहां उनका सूत्रानुसार उल्लेख न करके विषय-विभागानुसार उल्लेख करेंगे यथा—

१—**संहिता**—संहिताएं दो प्रकार की हैं। एक मूलरूप, और दूसरी व्याख्यारूप।[1] दूसरी प्रकार की संहिताओं का शाखा शब्द से व्यवहार होता है। अनेक विद्वान् संहिताओं के उपर्युक्त दो विभाग नहीं मानते। उनके मत में सब संहिताएं समान हैं, परन्तु यह ठीक नहीं।[2] महाभाष्यकार के मतानुसार चारों वेदों की ११३१ संहिताएं हैं।[3] यह संख्या कृष्ण द्वैपायन व्यास और उस के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त संहिताओं की है। व्यास से प्राचीन ऐतरेयप्रभृति संहिताएं इन से प्रथक् हैं। पाणिनि के सूत्रों और गणों में निम्न चरणों तथा शाखा ग्रन्थों[4] का उल्लेख मिलता है—

---

१. वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्। शतपथ हरिस्वामी-भाष्य, प्रथम काण्ड का आरम्भ। यहां हरिस्वामी ने स्पष्टतया वेद और शाखाओं का पार्थक्य माना है। "आर्य जगत्" पत्र (लाहौर) सं० २००४ ज्येष्ठ मास के अंक में मेरा "वैदिक सिद्धान्त विमर्श" लेख सं० ४।

२. देखो इसी पृष्ठ की टिप्पणी १।

३. एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः। १। १। आ० १॥

४. चरणों और शाखा में भेद है। शाखाएं चरणों के अवान्तर विभाग का नाम है। तुलना करो—भोजवर्मा (१२ वीं शताब्दी) का ताम्रपत्र—जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकाण्वशाखाध्यायिने·········। वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ पृष्ठ १७३ (द्वि० सं०) पर उद्धृत। चरण के लिए प्रतिशाखा शब्द का और शाखा के लिए अनुशाखा शब्द का भी व्यवहार होता है। इस के लिए देखिए इसी ग्रन्थ का भाग २, पृष्ठ २८५, २८६।

४।३।१०२—तैत्तिरीय, वारतन्तीय, खाण्डिकीय, औखीय। ४। ३।
०४—हारिद्रव, तौम्बुरव, औलप, आलम्ब, पालङ्ग, कामल, आर्चाभ,
ारुण, ताण्ड, श्यामायन। गणपाठ ४। ३। १०६—शौनक, वाजसनेय,
ङ्गरव, शार्ङ्गरव, साम्पेय, शाखेय (? शाभीय) खाडायन, स्कन्ध,
न्द, देवदत्तशठ, रज्जुकठ, रज्जुभार, कठशाठ, कशाय, तलवकार,
हषासक, अश्वपेय। ४। ३। १०७—कठ, चरक। ४। ३। १०८—
लाप। ४। ६। १०६—छागलेय। ४। ३। १२८—शाकल। ४। ३।
२६—छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच। गणपाठ ६। २। ३७—
ाकल, आर्चाभ, मौद्गल, कठ, कलाप, कौथुम, लौगाक्ष, मोद, ।
। ४। ३८—काठक।

महाभाष्य ४। २। ६६ में "क्रौड" और "काङ्कत" तथा पाणिनि से
चीन आपिशलशिक्षा के षष्ठ प्रकरण में "सात्यमुग्रीय" और "राणा-
ीय" का नाम मिलता है।[1] सात्यमुग्रि आचार्य का निर्देश अष्टा० ४। ३।
० में साक्षात् किया है।

इन नामों में जो नाम गणपाठ में आये हैं उन में कतिपय सन्दिग्ध हैं
र कतिपय नामों में केवल शाब्दिक भेद है। यथा-स्कन्ध और स्कन्द
ा साङ्गरव और शार्ङ्गरव आदि।

संहिता ग्रन्थों के उपर्युक्त नाम सूत्र-क्रमानुसार लिखे हैं। इन का
ानुसार सम्बन्ध इस प्रकार है—

ऋग्वेद—बह्वृच, शाकल, मौद्गल तथा हरदत्त के मत में काठक।[2]

इन में शाकल संहिता पाणिनि से पुराण प्रोक्त ऐतरेय ब्राह्मण १४। ५
उद्धृत है।[3]

शुक्ल-यजुर्वेद—वाजसनेय, शापेय।

---

१. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीयः ह्रस्वानि पठन्ति। तुलना करो—ननु च
श्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। महाभाष्य
ओङ् सूत्र तथा १। १। ४७॥ २. पदमञ्जरी ७। ४। ३८॥ महभाष्य
। २। २६ के 'कठश्चायं बह्वृचश्च' पाठ से कठ शाखा का संबन्ध ऋग्वेद के

कृष्ण-यजुर्वेद—तैत्तिरीय, वारतन्तीय, खाण्डिकीय, औखीय, हारिद्रव, तौम्बुरव, औलप, छागल, आलम्ब, पालङ्ग, कमल, आर्चाभि, आरुण, ताण्ड ?, श्यामायन, खाडायन, कठ, चरक, कालाप।

सामवेद—तलवकार, सात्यमुग्रीय, राणायनीय, कौथुम, लौगाक्ष, छन्दोग।

अथर्ववेद—शौनक, मौद, पैप्पलाद।

अनिश्चित वेद सम्बन्ध—वे शाखाएं जिन का संबन्ध हम किसी वेद के साथ नहीं कर सके—औक्थिक,[1] याज्ञिक, साङ्गरव, शार्ङ्गरव, साम्भेय, शाखेय, (? शाभीय), स्कन्ध, स्कन्द, देवदत्तशठ, रज्जुकठ, रज्जुभार, कठशाठ, कशाय, पुरुपासक, अश्वपेय क्रौड, काङ्कत।

इन शाखाओं का विशेष वर्णन श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग में देखना चाहिये।

२—**ब्राह्मण**—वेद की जितनी शाखाएं प्रसिद्ध हैं प्रायः उन सब के ब्राह्मण ग्रन्थ भी पुराकाल में विद्यमान थे। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रवचन भी उन्हीं ऋषियों ने किया था, जिन्होंने उन की संहिताओं का। अतः पूर्वोद्धृत शाखा ग्रन्थों के निर्देश के साथ साथ उन के ब्राह्मण ग्रन्थों का भी निर्देश समझना चाहिये। इस सामान्य निर्देश के अतिरिक्त पाणिनीय सूत्रों में निम्न ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—

ब्राह्मणों के दो भेद—पाणिनि ने "**छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि**"[1] सूत्र में ब्राह्मण ग्रन्थों का सामान्य निर्देश किया है। "**पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु**"[2] सूत्र में ब्राह्मण ग्रन्थों के प्राचीन और अर्वाचीन दो विभाग दर्शाए हैं।

पाणिनि-निर्दिष्ट पुराणप्रोक्त और अर्वाक्प्रोक्त ब्राह्मण ग्रन्थों की सीमा का परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। हमारे विचार में वह सीमा है कृष्ण द्वैपायन का शाखा प्रवचन। अर्थात् कृष्ण द्वैपायन के शाखा प्रवचन से पूर्व प्रोक्त पुराण और उस के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त अर्वाचीन हैं। इस की पुष्टि काशिकाकार के **याज्ञवल्क्यादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्ता** (४। ३। १०५) वचन से भी होती है।

काशिकाकार जयादित्य ने पुराण प्रोक्त ब्राह्मणों में "**भाल्लव, शाट्यायन, ऐतरेय**" का और अर्वाचीन ब्राह्मणों में "**याज्ञवल्क्य**" अर्थात् **शतपथ ब्राह्मण** का निर्देश किया है। शतपथ ब्राह्मण का दूसरा नाम **वाजसनेय ब्राह्मण** भी है। इस का निर्देश गणपाठ ४। ३। १०६ में उपलब्ध होता है। अष्टाध्यायी ४। २। ६६ की काशिका वृत्ति में भाल्लव आदि प्राचीन ब्राह्मणों के साथ "**ताण्ड**" और अर्वाचीन ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य के साथ "**सौलभ**" ब्राह्मण का भी नाम मिलता है। यह सौलभ ब्राह्मण संभवतः उसी क्षत्रियकुल-संभूता ब्रह्मवादिनी संन्यासिनी सुलभा द्वारा प्रोक्त होगा, जिसका विदेह जनक के साथ ब्रह्मविद्या-विषयक संवाद हुआ था।[1] शांखायन गृह्य ४। ९ तथा कौपीनकि गृह्य २। ५ के तर्पण में **सुलभा मैत्रेयी** पाठ मिलता है। आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रों के ऋषितर्पण में भी सुलभा का नाम मिलता है। अतः सम्भव है सौलभ ब्राह्मण ऋग्वेद का हो।

लाट्यायन श्रौत में एक सूत्र है—**तथा पुराणं ताण्डम्**।[2] इस में ताण्ड का पुराण विशेषण दिया है। इस सूत्र से पाणिनि द्वारा दर्शाए गये ब्राह्मणों के पुराण और अर्वाचीन दो विभागों तथा काशिका वृत्ति ४। २। ६६ में पुराण ब्राह्मणों में निर्दिष्ट ताण्ड नाम की पुष्टि होती है। लाट्यायन के सूत्र से यह भी विदित होता है कि ताण्ड ब्राह्मण भी दो प्रकार का था, एक प्राचीन और दूसरा अर्वाचीन। सम्भवतः वर्तमान ताण्ड्य ब्राह्मण अर्वाचीन हो।

संक्षिप्तसार व्याकरण के टीकाकार गोयीचन्द्र औत्थासानिक ने "**अया-ज्ञवल्क्यादेर्ब्राह्मणे**"[3] सूत्र की वृत्ति में पुराण प्रोक्त ऐतरेय और शाट्यायन ब्राह्मण के साथ "**भागुरि**" ब्राह्मण का उल्लेख किया है। यह ब्राह्मण भी पुराण प्रोक्त है। एक पुराण प्रोक्त **पैङ्गलायनि** ब्राह्मण बौधायन श्रौत २। ७ में उद्धृत है।[4]

वार्तिककारोक्त पुराण सीमा—कात्यायन ने "**याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्**"[5] कह कर याज्ञवल्क्य ब्राह्मण को भी प्राचीन बताया है। संभव है कात्यायन ने पाणिनि के पुराण-प्रोक्त शब्द का अर्थ

१. महाभारत शान्तिपर्व। २. ला० श्रौ० ७। १०। १७॥

'सूत्रकार से पूर्व प्रोक्त' इतना सामान्य ही स्वीकार किया हो। महाभाष्यकार ने इस वार्तिक पर आदि पद से सौलभ ब्राह्मण का निर्देश किया है। इससे इतना स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य और सौलभ ब्राह्मण का प्रवचन पाणिनि से पूर्व हो गया था।

वेद की शाखाओं का अनेक बार प्रवचन—सर्ग के आदि से लेकर भगवान् वेदव्यास और उन के शिष्य-प्रशिष्यों पर्यन्त वेद की शाखाओं का अनेक बार प्रवचन हुआ है।[1] भगवान् वेदव्यास और उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा शाखाओं का जो प्रवचन हुआ वह अन्तिम प्रवचन है। छान्दोग्य उपनिषद् और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण से विदित होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवक्ता महिदास ऐतरेय की मृत्यु इन की रचना से बहुत पूर्व हो चुकी थी। अत एव इन ग्रन्थों में उसके लिये परोक्षभूत की क्रियाओं का प्रयोग हुआ है।[2] षड्गुरुशिष्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की वृत्ति के आरम्भ में ऐतरेय को याज्ञवल्क्य की **इतरा = कात्यायनी** नाम्नी पत्नी में उत्पन्न कहा है।[3] वह सर्वथा काल्पनिक है।

ऐतरेय ब्राह्मण कृष्ण द्वैपायन व्यास से पुराण प्रोक्त है। परन्तु उस में शाकल संहिता का परोक्षरूप से उल्लेख मिलता है।[4] इस का कारण यह कि ऐतरेय ब्राह्मण का वर्तमान प्रवचन शौनक का है। उसी ने अन्त के १० अध्याय भी जोड़े हैं। मूल ऐतरेय में ३० ही अध्याय थे।

वायु आदि पुराणों में २८ व्यासों का वर्णन उपलब्ध होता है।[5] उन में कृष्ण द्वैपायन व्यास अट्ठाईसवां है। उससे विदित होता है कि कृष्ण द्वैपायन से पूर्व न्यूनातिन्यून २७ बार शाखा-प्रवचन अवश्य हो चुका था।

---

१. यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्......। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३४१, तृतीय संस्क०।   २. पूर्व पृष्ठ १६७।

३. आसीद् विप्रो याज्ञवल्क्यो द्विभार्यः तस्य द्वितीयामितरेति च्चाहुः। स ज्येष्ठयाऽऽकृष्टचित्तः प्रियां तामुक्त्वा द्वितीयामितरेति हो. त्रे।

पाणिनि ने "त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण्"[1] सूत्र में तीस और चालीस अध्याय वाले "त्रैंश" और "चात्वारिंश" संज्ञक ब्राह्मणों का निर्देश किया है।[2] त्रैंश और चात्वारिंश नामों से किन ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख है, यह अज्ञात है। ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं। षड्गुरुशिष्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की वृत्ति के प्रारम्भ में उसका "चात्वारिंश" नाम से उल्लेख किया है।[3] त्रैंश नाम ऐतरेय के प्रारम्भिक ३० अध्यायों का है, अन्तिम १० अध्याय अर्वाचीन हैं। आश्वलायन गृह्य ३।४।४, कौषीतकि गृह्य २।५ तथा शांखायन गृह्य ४।९ के तर्पण प्रकरण में ऐतरेय महैतरेय का निर्देश मिलता है। क्या यहां ऐतरेय से प्राचीन ३० अध्याय और महैतरेय से उत्तरवर्ती १० अध्याय मिलाकर पूरे ४० अध्याय अभिप्रेत हैं? यह विचारणीय है। कौषीतकि और शांखायन ब्राह्मणों में भी ३० अध्याय उपलब्ध होते हैं। सम्भव है पाणिनि का त्रैंश प्रयोग इन के लिए हो। कीथ के मत में पाणिनि ने चात्वारिंश शब्द से ऐतरेय का निर्देश किया और त्रैंश शब्द कौषीतकि का।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी के मत में—

पञ्चविंश	के	२५	प्रपाठक	=४० प्रपाठक
षड्विंश	,,	५	,,	
मन्त्र-ब्राह्मण	,,	२	,,	
छान्दोग्य उपनिषद्	,,	८	,,	

४० प्रपाठक का कभी एक ही ताण्ड्य या छान्दोग्य ब्राह्मण था। आचार्य शंकर ने वेदान्त भाष्य में मन्त्र-ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के वचन ताण्ड्य के नाम से उद्धृत किये हैं।[4] सायणाचार्य ताण्ड्य और

---

१. अष्टा० ५।१।६२॥ २. त्रिंशदध्यायाः परिमाणमेषां ब्राह्मणानां त्रैंशानि ब्राह्मणानि, चात्वारिंशानि ब्राह्मणानि, कानिचिदेव ब्राह्मणान्युच्यन्ते। काशिका ५।१।६२॥

३. चात्वारिंशाख्यमध्यायाः चत्वारिंशदिहेति डण्। पृष्ठ २।

षड्विंश ब्राह्मण में प्रपाठक के स्थान में अध्याय शब्द का व्यवहार करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी प्रपाठक के स्थान में अध्याय शब्द का व्यवहार उपलब्ध होता है। अतः यह भी सम्भव है—चात्वारिंश नाम से पञ्चविंश, षड्विंश, मन्त्रब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के सम्मिलित ४० अध्याय वाले ताण्ड्य ब्राह्मण का निर्देश हो और त्रैंश नाम से पञ्चविंश तथा षड्विंश के सम्मिलित ३० अध्यायों का संकेत हो। सौ अध्याय वाले शतपथ के १५, ६० और ८० अध्याय क्रमशः पञ्चदशपथ, षष्टिपथ और अशीतिपथ नाम से व्यवहृत होते हैं, यह अनुपद दर्शाएंगे।

"शतषष्टेः षिकन् पथः"[1] वार्तिक के उदाहरण में काशिकाकार ने "शतपथ" और "षष्टिपथ" का उल्लेख किया है। शतपथ का निर्देश देवपथादिगण[2] में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में १०० अध्याय हैं। षष्टिपथ शतपथ का ही एक अंश है। नवमकाण्ड पर्यन्त शतपथ ब्राह्मण में ६० अध्याय हैं। नवमकाण्ड में अग्निचयन का वर्णन है। प्रतीत होता है वार्तिककार के समय में शतपथ के ६० अध्यायों का पठन पाठन विशेष रूप से होता था। काशिका २।१।६ के "साग्न्यधीते" उदाहरण से भी इसकी पुष्टि होती है, क्योंकि इस उदाहरण में अग्निचयनान्त ग्रन्थ पढ़ने का निर्देश है। शतपथ के नवम काण्ड पर्यन्त विशेष पठन पाठन होने का एक कारण यह भी है कि शतपथ के प्रथम ९ काण्डों में यजुर्वेद के प्रारम्भिक १८ अध्यायों के प्रायः सभी मन्त्र क्रमशः व्याख्यात हैं। आगे यह विशेषता नहीं है। प्रतिज्ञासूत्र-परिशिष्ट की चतुर्थ कण्डिका में शतपथ के १५ तथा ८० अध्यायात्मक "पञ्चदशपथ" और "अशीतिपथ" दो अवान्तर भेद और दर्शाये हैं।

अष्टाध्यायी के "न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः"[3] सूत्र में

आत्मा तत्त्वमसि…… छा० उप० ६।८।७ इत्यादि। शंकराचार्य ने यहां अर्वाचीन ताण्ड्य ब्राह्मण के अवयवभूत छान्दोग्य उपनिषद् और मन्त्र ब्राह्मण के लिये ताण्ड शब्द से "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (४।३।१०५) सूत्र से णिनि प्रत्यय किया है। वह चिन्त्य है। प्रतीत होता है उन्हें ताण्ड ब्राह्मण के पुराण और अर्वाचीन दो भेदों का ज्ञान नहीं था।

१. यह कात्यायन से भिन्न आचार्य विरचित श्लोकवार्त्तिक का एक अंश है।

"सुब्रह्मण्य" निगद का उल्लेख है। सुब्रह्मण्य निगद माध्यन्दिन शतपथ में उपलब्ध होता है।[1] स्वल्प पाठभेद से काण्व शतपथ में भी मिलता है। परन्तु पाणिनि तथा कात्यायन प्रदर्शित स्वर माध्यन्दिन और काण्व दोनों शतपथों में नहीं मिलता। शतपथ का तीसरा भेद कात्यायन भी है।[2] सम्भव है पाणिनि और वार्तिककार प्रदर्शित स्वर उसमें हो अथवा इन दोनों का संकेत किसी अन्य ग्रन्थस्थ सुब्रह्मण्या निगद की ओर हो। सुब्रह्मण्या का व्याख्यान षड्विंश ब्राह्मण १।१।८ से १।२ के अन्त तक मिलता है। परन्तु षड्विंश में सम्प्रति स्वरनिर्देश उपलब्ध नहीं होता।

३. **अनुब्राह्मण**—पाणिनि ने "**अनुब्राह्मणादिनिः**"[3] सूत्र में "**अनुब्राह्मण**" का साक्षात् उल्लेख किया है।

अनुब्राह्मण पद का अर्थ—काशिकाकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—**ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्**। अनुब्राह्मण शब्द से पाणिनि को कौनसा वा कौन से ग्रन्थ अभिप्रेत हैं, यह कहना कठिन है।

शांखायन श्रौत के भाष्यकार आनर्त्तीय ब्रह्मदत्त ने ४।१०।१ में लिखा है—

एवं तर्ह्यनुब्राह्मणमेतत् महाकौषीतकोदाहृतं कल्पकारेणाध्यायन्नयम्।

इस से विदित होता है कि कल्पसूत्रकारों द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों का जो भाग कल्पसूत्रों में संगृहीत किया गया है वह कल्पसूत्र गत भाग अनुब्राह्मण कहाता है। इस के प्रकाश में अनुब्राह्मण का अभिप्राय **अनुगतो ब्राह्मणम्** होना चाहिए।

यह भी सम्भव है कि यहां अनुब्राह्मण शब्द आरण्यक-ग्रन्थों का वाचक हो, क्योंकि उनमें कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड दोनों का सम्मिश्रण है और उनकी रचनाशैली भी ब्राह्मणग्रन्थानुसारिणी है। आरण्यकग्रन्थों के प्रवक्ता भी प्रायः वे ही ऋषि हैं जो तत्तत् शाखा वा ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवक्ता हैं। बृहदारण्यक आदि कई आरण्यक साक्षात् ब्राह्मण ग्रन्थों के अवयव हैं। अतः पाणिनि के ग्रन्थ में आरण्यक ग्रन्थों का साक्षात् निर्देश न होने पर

६. उपनिषद्—इस शब्द का अर्थ है—समीप बैठना। इसी अर्थ को लेकर पाणिनि ने 'जीविकोपनिषदावौपम्ये'[1] सूत्र में उपमार्थ में उपनिषत् शब्द का व्यवहार किया है।[2] ग्रन्थवाची उपनिषत् शब्द का उल्लेख ऋगयनादिगण[3] में मिलता है। इस गणपाठ से यह भी व्यक्त होता है कि पाणिनि के काल में उपनिषदों पर व्याख्यान ग्रन्थों की रचना भी प्रारम्भ हो गई थी।[4] सम्प्रति उपलभ्यमान ईश आदि मुख्य ११ उपनिषदें संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के ही विशिष्टांश हैं। अतः ये पाणिनि को अवश्य ज्ञात रही होंगी। अष्टाध्यायी ४।३।१२९ से छन्दोग शब्द से आम्नाय अर्थ में छान्दोग्य पद सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् इसी छान्दोग्य आम्नाय से सम्बन्ध रखती है।

७. कल्पसूत्र—इन में श्रौत, गृह्य और धर्म सम्बन्धी विविध सूत्रों का समावेश होता है। शुल्वसूत्र श्रौतसूत्रों के ही परिशिष्ट हैं। अष्टाध्यायी के "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु"[5] सूत्र में साक्षात् कल्पसूत्रों का निर्देश है। पाणिनि ने इसी सूत्र से उनके प्राचीन और नवीन दो भेद भी दर्शाए हैं। काशिकाकार ने इस सूत्र पर पुराण कल्पों "पैङ्गी" तथा "आरुणपराजी" को उद्धृत किया है और अर्वाचीनों में 'आश्मरथ' को। काशिका का मुद्रित 'आरुणपराजः' पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। सम्भव है यहां "आरुण-पराशरः" पाठ हो। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक अ० १ पाद २, अधि० ६ में लिखा है—"आरुणपराशरशाखाब्राह्मणस्य कल्परूपत्वात्"। जैन शाकटायन की चिन्तामणि वृत्ति ३।१।७५ में 'पैङ्गी कल्प' का निर्देश है। बौधायन श्रौत २।७ में एक पैङ्गलायनि ब्राह्मण उद्धृत है, क्या पैङ्गलिकल्प का उसके साथ सम्बन्ध है वा यह पैङ्गीकल्प का अपपाठ है। पाणिनि ने "काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः"[6] सूत्र में "काश्यप" और "कौशिक" ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कात्यायन के "काश्यपकौशिकग्रहणं कल्पे नियमार्थम्"[7] वार्तिक से प्रतीत होता है कि उक्त सूत्र में काश्यप और कौशिक कल्पों का निर्देश

---

१. अष्टा० १।४।७६॥ २. द्र० कौटिल्य अर्थशास्त्र का औपनिषद् प्रकरण। ३. अष्टा० ४।३।७२॥

४. यहां "तस्य व्याख्यानः" अर्थ में अनुवृत्ति है। ५. अष्टा० ४।३।१०५॥

है। कौशिक कल्प आथर्वण कौशिकसूत्र प्रतीत होता है। बृहत्ति शौनक पाणिनि का समकालिक वा किञ्चित् पूर्वकालिक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] उसका एक शिष्य आश्वलायन है।[2] उसी ने आश्वलायन श्रौत और गृह्य सूत्रों का प्रवचन किया है। शौनक का दूसरा शिष्य कात्यायन है,[3] जिसने कात्यायन श्रौत और गृह्य सूत्रों[4] की रचना की (वर्तमान में उपलब्ध कात्यायन स्मृति आधुनिक) है। अत: ये ग्रन्थ पाणिनि के काल में अवश्य विद्यमान रहे होंगे। अष्टाध्यायी के "यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु"[5] सूत्र में "न्यूङ्ख" का उल्लेख है। ये न्यूङ्ख आश्वलायन श्रौत ७। ११ में मिलते हैं। महाभाष्य ४। २। ६० में "विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्ताच्चेति वक्तव्यम्" वार्तिक के उदाहरण "पाराशरकल्पिकः, मातृकल्पिकः" दिये हैं। अष्टाध्यायी ४।२।६० और ५।१। ६७, ७०, ७२ से विदित होता है कि पाणिनि के समय 'राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, पाकयज्ञ, इष्टि' आदि विविध यज्ञों पर प्रक्रिया ग्रन्थ रचे जा चुके थे। पाणिनि के "यज्ञे समि स्तुवः,[6] प्रे स्त्रोऽयज्ञे[7] परौ-यज्ञे"[8] सूत्र में यज्ञविषयक कई पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है। अष्टाध्यायी के "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः"[9] सूत्र में छन्दोग, औक्थिक,[10] याज्ञिक, बह्वृच और नट का निर्देश है। काशिकाकार ने कात्यायन के "चरणाद्धर्माम्नाययोः"[11] वार्तिक का संबन्ध इस सूत्र में कर के नट शब्द से भी धर्म और आम्नाय अर्थ में प्रत्यय का विधान किया है,[12] यह ठीक नहीं है, क्योंकि नट शब्द चरणवाची नहीं है। अत एव आचार्य

---

१. पूर्वपृष्ठ १६६, १६७। २. पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १, पृष्ठ २८ (द्वि० सं०)। ३. एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् आश्वलायनः । वेदार्थदीपिका पृष्ठ ५७। ४. कात्यायनगृह्य पारस्करगृह्य से भिन्न है। इसके हस्तलेख कई पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं। ५. अष्टा० १।२।३४॥

६. अष्टा० ३ । ३ । ३१ ॥ ७. अष्टा० ३ । ३ । ३२ ॥

८. अष्टा० ३ । ३ । ३७ ॥ ९. उक्थशास्त्र का निर्देश गार्ग्य के उपनिदान सूत्र के अन्त में तथा चरणव्यूह के याजुषखण्ड में भी उपलब्ध होता है।

१०. अष्टा० ४ । ३ । १२९ ॥ ११. महाभाष्य ४ । ३ । १२० ॥

नृत्य अर्थ में प्रत्यय विधान किया है। भोजदेव ने भी चान्द्र व्याकरण का ही अनुसरण किया है।[2] इस प्रकरण में आम्नाय शब्द से किन ग्रन्थों का ग्रहण है, यह अस्पष्ट है। हमारा विचार है कि यहां आम्नाय पद का अभिप्राय प्रत्येक शास्त्र के मूल ग्रन्थों से है।

६—अनुकल्प—अष्टाध्यायी ४।२।६० के उक्थादिगण में "अनुकल्प" का निर्देश है। अनुकल्प से पाणिनि को क्या अभिप्रेत है, यह अज्ञात है। सम्भव है यहां अनुकल्प पद से कल्पसूत्रों के आधार पर लिखे गये याज्ञिक पद्धतिग्रन्थों का निर्देश हो। आश्वलायन गृह्य की हरदत्त की अनाविला टीका (पृष्ठ १०८) में अनुकल्प का निर्देश है। एक प्राचीन "कल्पानुपद" सूत्र मिलता है। वह सामवेदीय याज्ञिक ग्रन्थ है। मनुस्मृति ३।१४७ में प्रथम कल्प और अनुकल्प का निर्देश है। उसका अभिप्राय प्रधान और गौण से है।

७—शिक्षा—जिन ग्रन्थों में वर्णों के स्थान प्रयत्न आदि का उल्लेख है वे ग्रन्थ "शिक्षा" कहाते हैं। पाणिनीय सूत्रपाठ में शिक्षा ग्रन्थों का साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु गणपाठ ४।२।६१ में शिक्षा शब्द पढ़ा है। इस से व्यक्त है कि पाणिनि के काल में शिक्षा का पठन पाठन होता था और उसके कई ग्रन्थ विद्यमान थे। काशिकाकार ने "शौनकादिभ्यश्छन्दसि"[3] के "छन्दसि" पद का प्रत्युदाहरण "शौनकीया शिक्षा" दिया है। ऋक्प्रातिशाख्य के व्याख्याकार विष्णुमित्र ने भी शौनकीय शिक्षा का निर्देश किया है।[4] ऋक्प्रातिशाख्य के १३, १४ वें पटलों में वर्णों के स्थान प्रयत्न आदि का वर्णन होने से वे शिक्षा पटल कहाते हैं। अत एव इन्हें वेदाङ्ग भी कहा है।[5] सम्भव है काशिका के "शौनकीया शिक्षा" प्रत्युदाहरण में इन्हीं का ग्रहण हो। एक शौनकीया शिक्षा का हस्तलेख अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में विद्यमान है।[6] यह प्राचीन आर्षग्रन्थ है या अर्वाचीन, यह अज्ञात है महाभारत

---

१. चान्द्र व्याकरण ३।३।६१॥ २. नटाञ्च्यो नृत्ते। सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२६१॥ ३. अष्टा० ४।३।१०६॥

४. भगवान् शौनको वेदार्थवित्......शिक्षाशास्त्रं कृतवान्। ऋक्प्राति० वर्गद्वय-वृत्ति, पृष्ठ १३। ५. चौदहवें पटल के अन्त में—कृत्स्नं च वेदाङ्गमनिन्द्यमार्षम्। श्लोक ६६।

था।[1] पाणिनि ने अष्टाध्यायी ८।४।६७ में गालव का निर्देश किया आचार्य आपिशलि की शिक्षा सम्प्रति उपलब्ध है। आपिशलि का व अष्टाध्यायी ६।१।९२ में मिलता है।[3] पाणिनीय शिक्षा सूत्रों में ाक्षात् आपिशलि का निर्देश किया है।[4] इस का एक सुन्दर संस्करण ने प्रकाशित किया है। पाणिनि ने स्वयं शिक्षा सूत्र रचे थे। उन्हीं धार पर श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा की रचना हुई। इस श्लोकात्मक नीयशिक्षा के अधिक प्रचार होने से मूल सूत्रग्रन्थ लुप्त हो गया। लुप्त सूत्रग्रन्थ के उद्धार का श्रेय स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने प्रयत्न से इस का एक हस्तलेख प्राप्त करके उसे हिन्दी व्याख्या सहित र्णोच्चारणशिक्षा' के नाम से प्रकाशित किया। स्वामी दयानन्द को नीयशिक्षा का जो हस्तलेख प्राप्त हुआ था। वह अनेक स्थानों में डत था। इस ग्रन्थ का दूसरा ग्रन्थ भी उपलब्ध होगया है। उसके द्वारा आर्ष ग्रन्थ अब पूर्ण हो जाता है।[5]

पाणिनीयशिक्षा के सप्तम प्रकरण में कौशिकशिक्षा के कुछ श्लोक त हैं। उन से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय कौशिकशिक्षा भी विद्यमान चारायणी शिक्षा का उल्लेख हम इसी ग्रन्थ में पूर्व पृष्ठ १०५ पर कर हैं। गौतमशिक्षा नाम से एक ग्रन्थ काशी से प्रकाशित "शिक्षासंग्रह" पा है। वह रचनाशैली से प्राचीन आर्ष ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसी ासंग्रह में नारदी और माण्डूकी शिक्षाएं भी छपी हैं। वे भी प्राचीन ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त जितनी शिक्षाएं शिक्षासंग्रह में मुद्रित हैं सब अर्वाचीन हैं। भारद्वाजशिक्षा के नाम से एक शिक्षा छपी है। के अन्त्यलेखानुसार इस का रचयिता भरद्वाज है।[6] इस का संबन्ध

---

१. क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः।

२. नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्।   ३. वा सुप्यापिशलेः।

४. स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति। सूत्र ११६॥

५. इस सूत्रात्मक शिक्षा के भी दो पाठ हैं। एक लघु पाठ, दूसरा वृद्ध पाठ। ी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ लघु पाठ है। और दूसरा उपलब्ध पाठ वृद्ध पाठ है। हम ने दोनों पाठों का सम्पादन करके विस्तृत भूमिका सहित ित किया है।   ६. यो जानाति भरद्वाजशिक्षाम्'''। पृष्ठ ६६।

तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। हमें इस के प्राचीन होने में सन्देह है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि न्यून से न्यून शौनकीया, गालवीया, चारायणी, आपिशली, कौशिकीया और पाणिनीया ये छः शिक्षाएं पाणिनि के समय अवश्य विद्यमान थीं।

शिक्षा के व्याख्यान ग्रन्थ—शिक्षा पद गणपाठ ४।३।७३ में पढ़ा है। वहां "तस्य व्याख्यानः" का प्रकरण होने से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय शिक्षा पर व्याख्यान ग्रन्थ भी रचे जा चुके थे। आपिशलशिक्षा के वृत्तिकार नामक षष्ठ प्रकरण का प्रथम सूत्र है—स एवं स्वाख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति—जातस्य अंशेषु वर्णकुलम् इति। यहां वृत्तिकार पद से या तो व्याकरण के व्याख्याकारों का निर्देश है या शिक्षा के। हमारा विचार है यहां वृत्तिकार पद से शिक्षा के व्याख्याकार अभिप्रेत हैं। ऐसा ही एक प्रयोग भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में मिलता है—अणुशः शिक्षासूत्रकारभाष्यकारमतानि दर्शयति।[1] इस पर टीकाकार वृषभदेव लिखता है—शिक्षाकारमतस्योपन्यासः शिक्षासूत्रेण ये भाष्यकारास्ते वृत्त्यन्ते।[2] पाणिनीयशिक्षा-सूत्रों के षष्ठ प्रकरण का नाम भी वृत्तिकार ही है। इन उद्धरणों से व्यक्त है कि पाणिनि के समय शिक्षा ग्रन्थ पर अनेक वृत्तियां बन चुकी थीं।

व्याकरण—अष्टाध्यायी के अवलोकन से विदित होता है कि पाणिनि के काल में व्याकरणशास्त्र का वाङ्मय अत्यन्त विशाल था। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में दश प्राचीन वैयाकरणों का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। वे दश आचार्य ये हैं—आपिशलि (६।१।९२) **काश्यप** (१।२।२५), **गार्ग्य** (८।३।२०), **गालव** (७।१।७४), **चाक्रवर्मण** (६।१।१३०), **भारद्वाज** (७।२।६३), **शाकटायन** (३।४।१११) **शाकल्य** (१।१।१६), **सेनक** (५।४।११२), **स्फोटायन** (६।१।१२३)। इन का वर्णन हम इस ग्रन्थ के चौथे अध्याय में कर चुके हैं। इन के अतिरिक्त "**आचार्याणाम्** (७।३।४९), **उदीचाम्** (४।१।१५३), **एकेषाम्** (८।३।१०४), **प्राचाम्** (४।१।१७) पदों द्वारा अनेक प्राचीन वैयाकरणों का निर्देश किया है। कात्यायन ने "**चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेः**"[3]

वार्तिक में पौष्करसादि आचार्य का मत उद्धृत किया है। पौष्करसादि के पिता पुष्करसत् का उल्लेख गणपाठ २।४।६३।। ४।१।९६।। ७।३।२० में तीन स्थानों पर मिलता है। पौष्करसादि पद भी तौल्वल्यादि गण में पढ़ा है। "न तौल्वलिभ्यः"[1] सूत्र से युव-प्रत्यय के लोप का निषेध किया है। इससे व्यक्त है कि पाणिनि पौष्करसादि के पुत्र पौष्करसादायन से भी परिचित था। अतः पौष्करसादि आचार्य पाणिनि से निश्चय ही पूर्ववर्ती है। वृत्तिकार जयादित्य ने ६।२।१५ में काशकृत्स्न व्याकरण का उल्लेख किया है।[2] पतञ्जलि ने "काशकृत्स्नी मीमांसा" का निर्देश महाभाष्य में कई स्थानों पर किया है।[3] काशकृत्स्न के पिता कशकृत्स्न का नाम उपकादिगण[4] तथा काशकृत्स्न का नाम अरीहणादिगण[5] में मिलता है। काशिकाकार ने ४।२।६५ में काशकृत्स्न व्याकरण का परिमाण तीन अध्याय लिखा है।[6] यही परिमाण जैन शाकटायन व्याकरण की अमोघा वृत्ति में दर्शाया है।[7] काशिका ४।२।६५ में दश अध्यायात्मक वैयाघ्रपदीय व्याकरण का उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त शिव, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, भरद्वाज, चारायण, शन्तनु, माध्यन्दिनि, रौढि, शौनकि, गौतम और व्याडि के व्याकरण पाणिनि से प्राचीन हैं। इन सब वैयाकरणों के विषय में हमने इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में विस्तार से लिखा है।

प्रातिशाख्य—प्रातिशाख्य वैदिक चरणों के व्याकरण ग्रन्थ हैं।[8] इन्हें पार्षद और पारिषद भी कहा जाता है।[9] प्राचीन काल में इनकी संख्या बहुत थी। इस समय ये प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं—शौनककृत ऋक्प्रातिशाख्य, कात्यायनविरचित शुक्लयजुः प्रातिशाख्य, कृष्णयजुः के तैत्तिरीय

---

१. अष्टा० २।४।६१ ॥ २. काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्।

३. महाभाष्य ४।१।१४, ६३ ॥ ४।३।१५५ ॥

४. अष्टा० २।४।६६ ॥ ५. ४।२।६५॥ ६. त्रिकाः काशकृत्स्नाः। काशिका ५।१।५८ में त्रिकं काशकृत्स्नम्। ७. त्रिकं काशकृत्स्नीयम्। ३।२।१६१ ॥ 'काशकृत्स्न व्याकरण और उस के उपलब्ध सूत्र' निबन्ध देखें।

८. व्याकरणप्रधानत्वात् प्रातिशाख्यस्य। तै० प्रा० वैदिकाभरण टीका, पृष्ठ ५२१।

और मैत्रायणी प्रातिशाख्य, सामवेद का पुष्पसूत्र और शौनकप्रोक्त अथर्व प्रातिशाख्य। मैत्रायणी प्रातिशाख्य इस समय हस्तलिखित रूप में ही प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद का आश्वलायन, शांखायन, और बाष्कल प्रातिशाख्य तथा कृष्णयजुः का चारायणीय प्रातिशाख्य प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत हैं।[1] इन में से कौनसा प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन है और कौनसा अर्वाचीन, यह कहना कठिन है। परन्तु शौनकीय, शांखायन और वाष्कलीय ऋक्प्रातिशाख्य निश्चय ही पाणिनि से पौर्वकालिक हैं। पाणिनीय गणपाठ ४। २। ६२ में एक पद "छन्दोभाषा" पढ़ा है। विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वय-वृत्ति में छन्दोभाषा का अर्थ वैदिकभाषा किया है।[2]

६—**निरुक्त**—दुर्गाचार्य (विक्रम ६०० से पूर्व) ने अपनी निरुक्तवृत्ति में लिखा है—"**निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्**"[3] अर्थात् निरुक्त १४ प्रकार का है। यास्क ने अपने निरुक्त में १२, १३ प्राचीन नैरुक्त आचार्यों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने किसी विशेष निरुक्त वा नैरुक्त आचार्य का उल्लेख नहीं किया। गणपाठ ४। २। ६० में केवल "निरुक्त" पद का निर्देश मिलता है। "**यास्कः, यास्कौ, यस्काः**" पदों की सिद्धि के लिये पाणिनि ने "**यस्कादिभ्यो गोत्रे**"[4] सूत्र की रचना की है। यास्कीय निरुक्त में उद्धृत नैरुक्ताचार्यों के अनेक नाम पाणिनीय गणपाठ में मिलते हैं। यास्कीय निरुक्त में निर्दिष्ट गार्ग्य, गालव और शाकटायन के व्याकरण संबन्धी नियम पाणिनि ने नामोल्लेखपूर्वक उद्धृत किये हैं। पतञ्जलि के काल में निरुक्त व्याख्यातव्य ग्रन्थ माना जाता था। महाभाष्य में लिखा है—**निरुक्तं व्याख्यायते, व्याकरणं व्याख्यायत इत्युच्यते**।[5] यास्क और उससे प्राचीन नैरुक्ताचार्यों के विषय में श्री पं० भगवद्दत्तजी विरचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २ अर्थात् वेदों के भाष्यकार ग्रन्थ देखना चाहिये।[6]

---

१. इन प्रातिशाख्यों तथा एतत् सदृश ऋक्तन्त्रादि अन्य वैदिक व्याकरणग्रन्थों के प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का इतिहास इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग अ० २८, पृष्ठ २८४—३४१ तक देखिए। २. छन्दोभाषा पद के विविध अर्थों के लिए देखिए हमारा 'वैदिक-छन्दोमीमांसा' ग्रन्थ, पृष्ठ ३७–४०।

३. पृष्ठ ७४, आनन्दाश्रम पूना संस्क०। ४. अष्टा० २। ४। ६३॥

१०—**छन्दःशास्त्र**—पाणिनि ने किसी विशेष छन्दःशास्त्र का नामोल्लेख अपने व्याकरण में नहीं किया, परन्तु गणपाठ ४।३।७३ में छन्दःशास्त्र के "**छन्दोविजिनी, छन्दोविचिति, छन्दोमान, छन्दोभाषा**" ये चार पर्याय पढ़े हैं। इनमें प्रथम तीन छन्दःशास्त्र के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। छन्दोभाषा पद किन्हीं के मत में वैदिक भाषा का वाचक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] महाभाष्य १।२।३२ में छन्दःशास्त्र पद प्रातिशाख्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।[2]

गणपाठ ४।३।७३ में निर्दिष्ट नामों से विविध प्रकार के छन्दःशास्त्रों और उनके व्याख्यानग्रन्थों ("तस्य व्याख्यान" का प्रकरण होने से) का सद्भाव विस्पष्ट है। अष्टाध्यायी के "**छन्दोनाम्नि च**"[3] सूत्र से छन्दोवाचक "**विष्टार**" शब्द की सिद्धि दर्शाई है। यह वैदिक छन्द है। छन्दों के विविध प्रकार के "**प्रगाथ**" संज्ञक समूहों के वाचक पदों की प्रसिद्धि के लिये पाणिनि ने "**सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु**"[4] सूत्र रचा है। प्रसिद्ध छन्दःशास्त्रकार पिङ्गल पाणिनि का अनुज था, यह हम पाणिनि के प्रकरण में लिख चुके हैं।[5] पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र में **क्रौष्टुकि** (३।२९), **यास्क** (३।३०), **ताण्डी** (३।३६), **सैतव** (५।१८॥७।१०), **काश्यप** (७।९), **रात** (७।१३) **माण्डव्य** (७।३४) नामक सात छन्दःसूत्रकारों के मत उद्धृत किये हैं। रात और माण्डव्य के मत भट्ट उत्पल ने बृहत्संहिता की विवृत्ति (पृष्ठ १२८८) में दिये हैं। सैतव का मत वृत्तरत्नाकर के दूसरे अध्याय में भी उद्धृत है। इस प्रकार पाणिनि के काल में ७ प्राचीन और १ पिङ्गल कृत = ८ छन्दःशास्त्र अवश्य विद्यमान थे। वैदिकछन्दोमीमांसा के चतुर्थ अध्याय के अन्त में हम ने २० छन्दःशास्त्र-प्रवक्ता आचार्यों का उल्लेख किया है (पृष्ठ ५९)।[6]

११—**ज्योतिष**—पाणिनि ने उक्थादिगण[7] में एक गणसूत्र पढ़ा है—

---

१. पूर्व पृष्ठ २५०। २. व्याकरणनामेयमुत्तरा विद्या। सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते। नागेश—छन्दःशास्त्रेषु प्रातिशाख्यशिक्षादिषु। ३. अष्टा० ३।३।३४॥ ४. अष्टा० ४।३।५५॥ ५. पूर्व पृष्ठ १७६।

६. इन के परिचय के लिए हमारा 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ देखना

द्विपदी ज्योतिषि। इस में किसी ज्योतिश्शास्त्र संबन्धिनी 'द्विपदी' दो पाद वाली पुस्तक का उल्लेख है। ज्योतिश्शास्त्र से संबन्ध रखने वाले 'उत्पात, संवत्सर, मुहूर्त' संबन्धी ग्रन्थों का निर्देश गणपाठ ४। ३। ७३ में मिलता है। नैमित्तिक मौहूर्तिक रूपधारी गुप्तचरों का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलता है।[1] नक्षत्रों का वर्णन पाणिनि ने तीन प्रकरणों (४। २। ३–५; ११, २२॥ ४। ३। ३४–३७) में किया है। इन प्रकरणों से विस्पष्ट है कि पाणिनि के काल में ज्योतिश्शास्त्र की उन्नति पराकाष्ठा पर थी।

१२—सूत्रग्रन्थ—पाणिनि के समय अनेक विषयों के सूत्र विद्यमान थे। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द आदि विषय के सूत्रग्रन्थों का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। उन से अतिरिक्त जिन सूत्रग्रन्थों का निर्देश पाणिनीय शब्दानुशासन में मिलता है वे इस प्रकार हैं—

भिक्षुसूत्र—पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।११०, १११ में **पाराशर्य और** कर्मन्द प्रोक्त भिक्षुसूत्रों का साक्षात् उल्लेख किया है।[2] पाराशरी भिक्षुओं और ब्राह्मणों के पारस्परिक विरोध का उल्लेख हर्षचरित उच्छ्वास ८ में मिलता है। भिक्षुसूत्र से यहां किस प्रकार के ग्रन्थों का ग्रहण अभिप्रेत है यह अज्ञात है। कई विद्वान् भिक्षुसूत्र का अर्थ वेदान्त विषयक सूत्र करते हैं, अन्य इसे सांख्यशास्त्र के प्राचीन सूत्र मानते हैं। सांख्याचार्य पञ्चशिख आदि के लिये भिक्षु पद का व्यवहार देखा जाता है। हमारा विचार है यहां भिक्षुसूत्र से उन ग्रन्थों का ग्रहण होना चाहिये जिनमें भिक्षुओं के रहन सहन व्यवहार आदि के नियमों का विधान हो। सम्भव है इन्हीं प्राचीन भिक्षुसूत्रों के आधार पर बौद्ध भिक्षुओं के नियम बने हों। भिक्षुओं की जीविका-साधन "**भिक्षा**" पर लिखे गये ग्रन्थ का संकेत अष्टाध्यायी ४। ३। ७७ के ऋगयनादि गण में मिलता है।

नटसूत्र—अष्टाध्यायी ४।३।११०, १११ में **शिलाली और कृशाश्व प्रोक्त** नट-सूत्रों का निर्देश उपलब्ध होता है।[3] काशिका के अनुसार नटसम्बन्धी किसी आगम का उल्लेख अष्टाध्यायी ४।३।११९ में मिलता है। अमरकोश २।१०।१२ में नटों के शैलालिन, शैलूष, जायाजीव, कृशाश्विन और भरत

---

१. '...नैमित्तिकमौहूर्तिकव्यञ्जना...। १। १३॥ २. पाराशर्यशिला-

पर्याय लिखे हैं। शैलूष पद यजुः संहिता ३०।६ में भी मिलता है। सम्भवतः ये नटसूत्र भरतनाट्यशास्त्र जैसे नाट्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ रहे होंगे।

१३—**इतिहास पुराण**—पाणिनि ने प्रोक्ताधिकार के प्रकरण में इन का निर्देश नहीं किया। चान्द्र व्याकरण ३। १। ७१ की वृत्ति और भोजदेव-विरचित सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२२९ की हृदयहारिणी टीका में 'कलो' का प्रत्युदाहरण "**काश्यपीया पुराणसंहिता**" दिया है। पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट काश्यपप्रोक्त कल्प, व्याकरण और छन्दःशास्त्र का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं।

इतिहासान्तर्गत **महाभारत** का साक्षात् उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी ६।२।३८ में किया है।[1] इस से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व व्यास की भारत संहिता महाभारत का रूप धारण कर चुकी थी।

महाभारत से ज्ञात होता है कि उस समय इतिहास पुराण के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। सम्प्रति उपलभ्यमान पुराण तो आधुनिक हैं, परन्तु इन की प्राचीन ऐतिह्यसम्बन्धी सामग्री अवश्य प्राचीन पुराणों और इतिहासग्रन्थों से संकलित की गई है। पाणिनि के "**कृत**" प्रकरण से कुछ प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों का ज्ञान होता है, उन का उल्लेख हम अगले प्रकरण में करेंगे।

१४—**श्लोक काव्य**—महाभाष्य ४। २। ६५ में तित्तिरिप्रोक्त श्लोकों का उल्लेख मिलता है—**तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोका इति**। तित्तिरि वैशम्पायन का ज्येष्ठ भ्राता और उसका शिष्य था।[2] वैशम्पायन का दूसरा नाम चरक था। उसका चरक नाम उसके कुष्ठी (=चरकी) हो जाने के कारण प्रसिद्ध हुआ था।[3] इसी चरक द्वारा प्रोक्त **चारक श्लोकों** का निर्देश काशिकावृत्ति ४। ३। १०७ तथा अभिनव शाकटायन व्याकरण की चिन्ता-मणिवृत्ति ३। १। १७१ में मिलता है। सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में उखप्रोक्त **औखीय श्लोकों** का उल्लेख किया है।[4] पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।१०२ में तित्तिरि और उख का साक्षात् निर्देश किया है।[5] चरक का

---

१. महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु।

उल्लेख अष्टाध्यायी ४। ३ । १०७ में मिलता है।[1] काशिका २ । ४ । २१ में वाल्मीकि द्वारा निर्मित श्लोकों का निर्देश मिलता है। सरस्वतीकण्ठाभरण ४ । ३ । २२७ की हृदयहारिणी टीका में पिप्पलादप्रोक्त श्लोकों का उल्लेख है।

१५—**आयुर्वेद**—पाणिनि ने आयुर्वेद के किसी ग्रन्थ का साक्षात् निर्देश नहीं किया, परन्तु गणपाठ ४।४।६० तथा ४ । ४ । १०२ में आयुर्वेद पद पढ़ा है। आयुर्वेद के कौमारभृत्य तन्त्र की एकमात्र उपलब्ध काश्यपसंहिता के प्रवक्ता भगवान् काश्यप के कल्पसूत्र का उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी ४।३।१०३ में किया है[2] और व्याकरण का अष्टाध्यायी १।२।२५ में। शल्यतन्त्र की सुश्रुत संहिता पाणिनि से प्राचीन है। काशिका ६ । २ । ६१ के "**भार्यासौश्रुतः**" उदाहरण में सुश्रुतापत्यों का उल्लेख है। चरक की मूल अग्निवेश संहिता के प्रवक्ता अग्निवेश का नाम गर्गादिगण[3] में पढ़ा है। रसतन्त्र-प्रणेता आचार्य व्याडि[4] स्वयं पाणिनि का सम्बन्धी है। अनेक विद्वान् इसे पाणिनि के मामा का पुत्र=ममेरा भाई मानते हैं। परन्तु हमारा विचार है यह पाणिनि का मामा था, यह हम पूर्व विस्तार से लिख चुके हैं।[5]

१६-१७—**पदपाठ क्रमपाठ**—पाणिनि ने उक्थादिगण[6] में तीन पद एक साथ पढ़े हैं—**संहिता, पद, क्रम**। इस साहचर्य से विदित होता है यहां पठित '**पद**' और '**क्रम**' शब्द निश्चय ही वेद के **पदपाठ** और **क्रमपाठ** के वाचक हैं। ऋग्वेद के शाकल्य-प्रोक्त पदपाठ के कुछ विशेष नियमों का निर्देश पाणिनि ने "**सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञः ऊँ**"[7] सूत्रों में किया है। शाकल्य के पदपाठ की एक भूल यास्क ने अपने निरुक्त में दर्शाई है। पतञ्जलि ने महाभाष्य १ । ४ । ८४ में शाकल्यकृत [पद] संहिता का निर्देश किया है।[8]

---

१. कठचरकाल्लुक्। २. पूर्व पृष्ठ १४५।

३. अष्टा० ४ । १ । १०५ ॥ ४. देखो संग्रहकार व्याडि नामक अगला अध्याय। ५. पूर्व पृष्ठ १७६। ६. अष्टा० ४ । २ । ६० ॥

७. अष्टा० १ । १ । १६, १७ ॥ ८. वायः—वा इति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः । ६ । २८ ॥

महाभारत शान्तिपर्व ३४२ । १०३, १०४ से ज्ञात होता है कि आचार्य
ाव ने वेद की किसी संहिता का सर्वप्रथम क्रमपाठ रचा था ।[1] ऋक्प्राति-
ख्य ११ । ६५ में इसे बाभ्रव्य पाञ्चाल के नाम से स्मरण किया है ।[2]
स्यायन कामसूत्र १।१।१० में इसे कामशास्त्र-प्रणेता कहा है ।[3] गालवप्रोक्त
क्षा,[4] व्याकरण[5] और निरुक्त[6] का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं ।

१८-२१—वास्तुविद्या, [न]क्षत्रविद्या, उत्पाद (उत्पात), निमित्त
द्याओं के व्याख्यान ग्रन्थों का ज्ञान गणपाठ ४ । ३ । ७३ से होता है ।

वास्तुविद्या—इस के अन्तर्गत प्रासाद-भवन तथा नगर आदि निर्माण
निर्देशक ग्रन्थों का अन्तर्भाव होता है । मत्स्यपुराण अ० २५१ में अठारह
स्तुशास्त्रोपदेशकों का वर्णन मिलता है । ये सभी पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं ।

अङ्गविद्या—इसे सामुद्रिकशास्त्र भी कहते हैं । शतपथ ८ । ५ । ४ । ३ में
ण्यलक्ष्मीक का निर्देश मिलता है । महाभाष्य ३ । २ । ५२ में जायाघ्न
लकालक और पतिघ्नी पाणिरेखा का निर्देश है । कौटिल्य अर्थशास्त्र
। ११, १२ में अङ्गविद्या में निपुण गूढ पुरुषों का उल्लेख किया है । मनु
। ५० में अङ्गविद्या से जीविकार्जन का निषेध किया है ।[7]

[न]क्षत्रविद्या—यद्यपि गणपाठ ४ । ३ । ७२ में क्षत्रविद्या ही
ाठ है तथापि मनुस्मृति ६ । ५० के पूर्वार्ध में इसी गणपाठ में पठित अन्य
ब्दों के साथ नक्षत्रविद्या का उल्लेख मिलता है । मनु का वचन इस
कार है—

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत् कर्हिचित् ॥

इस श्लोक से स्पष्ट है कि गणपाठ में क्षत्रविद्या के स्थान में नक्षत्रविद्या
ाठ ही उपयुक्त है ।

---

१. पूर्व पृष्ठ १५०, टि० ४ । २. पूर्व पृष्ठ १५२ टि० ३ ॥
३. पूर्व पृष्ठ १५२ टि० ६ । ४. पूर्व पृष्ठ १५२ ।
५. पूर्व पृष्ठ १५१ । ६. पूर्व पृष्ठ १ ।

[illegible]६—सर्पविद्या, वायसविद्या, धर्मविद्या, गोलक्षण, अश्वलक्षण—महाभाष्य ४ । २ । ६० में सर्पविद्या, वायसविद्या, धर्मविद्या, गोलक्षण और अश्वलक्षण के अध्येता और वेत्ताओं का उल्लेख है । अतः उस समय इन विद्याओं के ग्रन्थ अवश्य विद्यमान रहे होंगे । वायसविद्या का अभिप्राय पक्षि-शास्त्र है । इसे वयोविद्या भी कहा जाता है ।

३—उपज्ञात

उपज्ञात वह कहाता है जो ग्रन्थकार की अपनी सूझ हो । काशिका आदि वृत्तिग्रन्थों में "उपज्ञाते"[1] के निम्न उदाहरण दिये हैं—

पाणिनीयमकालकं व्याकरणम् । काशकृत्स्नं गुरुलाघवम् । आपिशलं पुष्करणम् ।

काशिका ६ । २ । १४ में—"**आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम्, व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्**" उदाहरण दिये हैं ।

सरस्वतीकण्ठाभरण (४ । ३ । २४४, २५४) की हृदयहारिणी वृत्ति में—"**चान्द्रमसंज्ञकं व्याकरणम्, काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्, आपिशलमान्तःकरणम्**" पाठ मिलता है ।

इन उदाहरणों में पाणिनि, काशकृत्स्न, आपिशलि, व्याडि और चन्द्रगोमी के व्याकरणों का उल्लेख है । चन्द्रोपज्ञ व्याकरण पाणिनि से अर्वाचीन है । उपर्युक्त उदाहरणों की पारस्परिक तुलना से व्यक्त है कि इन का पाठ अशुद्ध है । पाणिनि के विषय में सब का मत एक जैसा है । इस से स्पष्ट है कि पाणिनि ने सब से पूर्व स्वमति से कालाधिकाररहित व्याकरण रचा । इन व्याकरणों में अकालकत्व आदि अंश ही पाणिनि आदि के स्वोपज्ञ अंश हैं ।

इन व्याकरणों के अतिरिक्त और भी बहुत से उपज्ञात ग्रन्थ पाणिनि के काल में विद्यामान रहे होंगे ।

४—कृत

कृत ग्रन्थों का उल्लेख पाणिनि ने दो स्थानों पर किया है—"**अधिकृत्य कृते ग्रन्थे**"[2] और "**कृते ग्रन्थे**"[3] । प्रथम सूत्र के उदाहरण काशिकाकार

'यवक्रीत, प्रियङ्गु' और 'ययाति' के विषय में लिखे गये "**यावक्रीत प्रैयङ्गव यायातिक**"[1] आख्यानग्रन्थों का उल्लेख किया है। पाणिनि ने "**शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः**"[2] में **शिशुक्रन्द**=बच्चों का रोना[3] **यमसभा**, **द्वन्द्वसमास**=**अग्निकाश्यप**, **श्येनकपोत**[4] और **इन्द्रजनन**=इन्द्र की उत्पत्ति तथा आदि शब्द से **प्रद्युम्नागमन** आदि विषयों के ग्रन्थों का निर्देश किया है। वार्तिककार ने "**लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्**"[5] और "**देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः**"[6] वार्तिकों से अनेक कृत ग्रन्थों की ओर संकेत किया है। पतञ्जलि ने प्रथम वार्तिक के उदाहरण "**वासवदत्ता, सुमनोत्तरा**"[7] और प्रत्युदाहरण "**भैमरथी**" तथा द्वितीय वार्तिक के उदाहरण "**दैवासुरम्, राक्षोसुरम्**" दिये हैं।

श्लोक, काव्य—काशिकाकार ने "**कृते ग्रन्थे**"[8] सूत्र के उदाहरण "**वाररुचाः श्लोकाः, हैकुपादो ग्रन्थः, भैकुराटो ग्रन्थः, जालूकः**" दिये हैं। इन में कौनसा ग्रन्थ पाणिनि से प्राचीन है, यह अज्ञात है। वररुचिकृत श्लोक निश्चय ही पाणिनि से अर्वाचीन हैं। यह वररुचि वार्तिककार कात्यायन है। पतञ्जलि ने महाभाष्य ४।३।१०१ में '**वाररुच काव्य**' का निर्देश किया है। जैन शाकटायन की लघुवृत्ति ३।१।१८६ में "**वाररुचानि वाक्यानि**" पाठ छपा है, वह पाठ अशुद्ध है। वहां शुद्ध पाठ "**वाररुचानि काव्यानि**" होना चाहिए। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर का निम्न श्लोक उद्धृत है—

यथार्थतां कथं नाम्नि माभूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

कृष्णचरित की प्रस्तावनान्तर्गत मुनिकविवर्णन में लिखा है—

---

१. यावक्रीत और यायात आख्यान महाभारत में भी हैं।

२. अष्टा० ४।३।८८॥

३. सम्भवतः इस में कृष्ण के जन्म समय रोने और पहरेदारों के जागने का आख्यान हो।

४. श्येनकपोतीय आख्यान महाभारत वन पर्व अ० १३१ में द्रष्टव्य।

५. महाभाष्य ४।३।८८॥

६. महाभाष्य ४।३।८८॥

७. सुमनोत्तर की कहानी बौद्ध वाङ्मय में भी प्रसिद्ध है।

८. अष्टा० ४।३।११६॥

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।

काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि पूर्वोद्धृत राजशेखरीय श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठ अशुद्ध है। वहां "सदारोहणप्रियः" के स्थान में "स्वर्गारोहणप्रियः" पाठ होना चाहिये।[1]

महाभाष्य के प्रथमाह्निक में पतञ्जलि ने भ्राजसंज्ञक श्लोकों का उल्लेख किया है और तदन्तर्गत निम्न श्लोक वहां पढ़ा है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।

सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

कैयट आदि टीकाकारों के मतानुसार भ्राजसंज्ञक श्लोक कात्यायन विरचित हैं।

पाणिनि ने स्वयं "जाम्बवतीविजय" नामक एक महाकाव्य रचा था। इसका दूसरा नाम "पातालविजय" है। इस महाकाव्य में न्यूनातिन्यून १८ सर्ग थे। पाश्चात्य तथा तदनुगामी भारतीय विद्वान् जाम्बवतीविजय को सूत्रकार पाणिनि-विरचित नहीं मानते, परन्तु यह ठीक नहीं है। भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार यह काव्य व्याकरणप्रवक्ता महामुनि पाणिनि विरचित ही है। इस काव्य के विषय में हम ने विस्तार से इसी ग्रन्थ के ३० वें अध्याय में लिखा है।[2]

महाभारत जैसे बृहत्काव्य का साक्षात् निर्देश पाणिनि ने ६।२।३८ में किया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3]

ऋतुग्रन्थ—पाणिनि ने "वसन्तादिभ्यष्ठक्"[4] सूत्र में वसन्त आदि ऋतुओं पर लिखे गये ग्रन्थों के पठन-पाठन का उल्लेख किया है। वसन्तादि गण में "वसन्त, वर्षा, हेमन्त, शरद्, शिशिर" का पाठ है। इस से स्पष्ट है कि इन सब ऋतुओं पर ग्रन्थ लिखे गये थे। सम्भव है ये काव्यग्रन्थ हों। कालिदासविरचित ऋतुसंहार इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों के अनुकरण पर लिखा गया होगा।

---

१. वाररुच काव्य के विषय में देखो इसी ग्रन्थ का भाग २, पृष्ठ ३७६।

होता है कि उस समय वैदिक मन्त्रों के देवतानिर्देशक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। शौनक-कृत ऋग्वेद की ऋषि, देवता आदि की १० अनुक्रमणियां निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं। शौनक के शिष्य आश्वलायन और कात्यायन ने भी ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणियां रची हैं। आश्वलायन सर्वानुक्रमणी इस समय प्राप्त नहीं है, परन्तु अथर्ववेद की सर्वानुक्रमणी में वह उद्धृत है।[२] यजुर्वेद की एक सर्वानुक्रमणी भी कत्यायन के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु वह अर्वाचीन अप्रामाणिक ग्रन्थ है।[३]

संग्रह—दाक्षायण की प्रसिद्ध कृति संग्रह ग्रन्थ पाणिनि का समकालिक है। दाक्षायण का ही दूसरा नाम व्याडि है। दाक्षायण पाणिनि का संबन्धी है, यह पतञ्जलि के "**दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः**"[४] वचन से स्पष्ट है। ऐतिहासिक विद्वान् दाक्षायण को पाणिनि के मामा का पुत्र (ममेरा-भाई) मानते हैं, परन्तु हमारा विचार है कि दाक्षायण पाणिनि का मामा है। यह हम पाणिनि के प्रकरण में लिख चुके हैं।[५] संग्रह नाम गणपाठ ४।२।६० में उपलब्ध होता है। कैयट आदि वैयाकरणों के मतानुसार संग्रह ग्रन्थ का परिमाण एक लक्ष श्लोक था। महावैयाकरण भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्य-दीपिका में लिखा है कि संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा है। भर्तृहरि के शब्द इस प्रकार हैं—"**चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)**।[६]

इतिहास, पुराण, आख्यान, आख्यायिका और कथा ग्रन्थों का पाणिनीय अष्टाध्यायी में साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु पूर्वनिर्दिष्ट "**अधिकृत्य कृते ग्रन्थे**"[७] सूत्र तथा "**लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्**"[८] **देवासुरादिभ्यः प्रतिषेधः**"[९] और "**आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च**"[१०] वार्तिकों में

---

१. अष्टा० ४।२।२४-२५॥

२. ऋषिदैवतछन्दांस्याश्वलायनानुक्रमानुसारेणानुक्रमिष्यामः। पृष्ठ १७८।

३. 'दयानन्द सन्देश' मार्च सन् १६३६, पृष्ठ ३०। तथा वैदिकनिबन्धमाला। मेरा यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होगा।

४. महाभाष्य १।१।२०॥

५. पूर्व पृष्ठ १७६।

६. हमारा हस्तलेख पृष्ठ २६।

७. अष्टा० ४।३।८७।

८. महाभाष्य ४।३।८७॥

इन विषयों के अनेक ग्रन्थों की ओर संकेत विद्यमान है। काश्यपप्रोक्त पुराणसंहिता का निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं।[1] "कथादिभ्यष्ठक्"[2] सूत्र में कथासंबन्धी ग्रन्थों की ओर संकेत है। उसके अनुसार कथा में चतुर व्यक्ति के लिये "काथिक" शब्द का व्यवहार होता है। जैन कथाएं प्रायः इन्हीं प्राचीन कथा-ग्रन्थों के अनुकरण पर रची गई हैं।

५—व्याख्यान

पाणिनि की अष्टाध्यायी ४।३।६६-७३ में "तस्य व्याख्यानः" का प्रकरण है। इस प्रकरण में अनेक व्याख्यानग्रन्थों का निर्देश है। हम काशिकावृत्ति में दिए गए उदाहरण नीचे उद्धृत करते हैं—

सूत्र ४।३।६६, ६७—**सौपः, तैङः, पारवणत्विकम्, नातानतिकम्।**

सूत्र ४।३।६८—**आग्निष्टोमिकः, वाजपेयिकः, राजसूयिकः, पाकयज्ञिकः, नावयज्ञिकः, पाञ्चौदनिकः, दाशौदनिकः।**

सूत्र ४।३।७०—**पौरोडाशिकः, पुरोडाशिकः।**

सूत्र ४।३।७१—**ऐष्टिक, पाशुकः, चातुर्होमिकः, पाञ्चहोतृकः, ब्राह्मणिकः, आर्चिकः** (ब्राह्मण और ऋचाओं के व्याख्यान), **प्राथमिकः, आध्वरिकः, पौरश्चरणिकः।**

सूत्र ४।३।७३ में—ऋगयनादि गण पढ़ा है उस में निम्न शब्द हैं, जिन से व्याख्यान अर्थ में प्रत्यय होता है—

ऋगयन, पदव्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय, पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, [न]क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषद्, शिक्षा।

इस गण से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में इन विषयों के व्याख्यान ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे।

हमने इस लेख में पाणिनीय शब्दानुशासन के आधार पर जितने ग्रन्थों के नाम सङ्कलित किए हैं, वे उस उस विषय के उदाहरणमात्र हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे ग्रन्थ भी उस समय विद्यमान रहे होंगे, जिन का

पाणिनीय शब्दानुशासन में उल्लेख नहीं है। इतने से अनुमान किया जा सकता है कि पाणिनि के समय में संस्कृत का वाङ्मय कितना विशाल था।

प्रो० बलदेव उपाध्याय की भूलें

प्रो० बलदेव उपाध्याय एम. ए. हिन्दू विश्वविद्यालय काशी का इसी विषय का एक लेख "**प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ**" के पृष्ठ ३७२—३७६ तक छपा है उस में अनेक भूलें हैं। उन में से कतिपय भूलों का दिग्दर्शन हम नीचे कराते हैं—

१. पृष्ठ ३७४ लिखा है—"पाणिनि ने ग्रन्थ अर्थ में उपनिषद् शब्द का व्यवहार नहीं किया।"

उपनिषद् शब्द ग्रन्थविशेष के अर्थ में "**ऋगयनादिभ्यश्च**"[1] सूत्र के ऋगयनादि गण में पढ़ा है। वहां "**तस्य व्याख्यानः**" का प्रकरण होने से पाणिनि ने न केवल उपनिषद् का उल्लेख किया है, अपितु उनके व्याख्यान=टीकाग्रन्थों का भी निर्देश किया है।

२. पृष्ठ ३७५ में लिखा है—"पाणिनि के फुफेरे भाई संग्रकार व्याडि……।"

महाभाष्य १।४।२० में पाणिनि को "**दाक्षीपुत्र**" कहा है, अतः दाक्षायण अर्थात् व्याडि पाणिनि के मामा का पुत्र (ममेरा भाई) हो सकता है, न कि फुफेरा। वस्तुतः दाक्षायण व्याडि पाणिनि का मामा था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

३. पृष्ठ ३७६ में लिखा है—"इन में ऋक्प्रातिशाख्य का रचयिता शाकल्य का नाम अतिप्रसिद्ध है।"

उपलब्ध ऋक्प्रातिशाख्य का रचयिता शाकल्य नहीं है, अपितु आचार्य शौनक है। शाकल्य प्रातिशाख्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में वर्णित भी नहीं है।

४. पृष्ठ ३७६ में—"सुनाग" को "शौनग" लिखा है।

५. पृष्ठ ३७६ में लिखा है—'पतञ्जलि ने…कुणि का उल्लेख किया है।'

महाभाष्य में कुणि का नाम कहीं नहीं मिलता। हां महाभाष्य १।१।७५

"भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्"। अर्थात् भाष्यकार ने कुणि के मत का आश्रयण किया है।

६. पृष्ठ ३७६ में लिखा है—"४। २। ६५ के ऊपर काशिका वृत्ति से व्याघ्रपद और काशकृत्स्न नामक व्याकरण के आचार्यों का पता चलता है।"

काशिका ४। २। ६५ में उदाहरण है—"दशका वैयाघ्रपदीयाः।" इस में वर्णित वैयघ्रापदीय व्याकरण के प्रवक्ता का नाम "वैयाघ्रपद्य" था, व्याघ्रपाद नहीं। व्याघ्रपद से प्रोक्त अर्थ में तद्धित प्रत्यय हो कर वैयाघ्रपदीय शब्द उपपन्न नहीं होता, व्याघ्रपदीय होगा।

प्रो० बलदेव उपाध्याय के लेख की कुछ भूलें हमने ऊपर दर्शाई हैं। इसी प्रकार की अनेक भूलें उनके लेख में विद्यमान हैं।

अगले अध्याय में हम संग्रहकार व्याडि का वर्णन करेंगे।

सातवां अध्याय

संग्रहकार व्याडि (२८०० वि० पूर्व)

आचार्य व्याडि अपर नाम दाक्षायण ने संग्रह[1] नाम का एक ग्रन्थ रचा था।[2] वह पाणिनीय व्याकरण पर था, ऐसी पाणिनीय वैयाकरणों की धारणा है।[3] महाराज समुद्रगुप्त ने भी व्याडि को "दाक्षिपुत्रवचोव्याख्यापटुः" लिखा है।[4] संग्रह पद पाणिनीय गणपाठ ४।२।६० में उपलब्ध होता है। यदि वह प्रक्षिप्त न हो तो मानना होगा कि संग्रह पाणिनीय शब्दानुशासन पर नहीं था, अथवा सम्भव है संग्रह नाम के कई ग्रन्थ रहे हों। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में संग्रह का उल्लेख किया है,[5] और महाभाष्य २।३।६६ में संग्रह को दाक्षायण की कृति कहा है।[6]

परिचय

पर्याय—पुरुषोत्तमदेव ने त्रिकाण्डशेष में व्याडि के विन्ध्यस्थ, नन्दिनीसुत और मेधावी तीन पर्याय लिखे हैं।

विन्ध्यस्थ—आचार्य हेमचन्द्र इस का पाठान्तर विन्ध्यवासी[7] और केशव विन्ध्यनिवासी[8] लिखता है। अर्थ तीनों का एक है। एक विन्ध्य-

---

१. संग्रह का लक्षण—विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः। निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः। भरतनाट्य० ६।६॥

२. संग्रहो व्याडिकृतो लक्षसंख्यो ग्रन्थः। महाभाष्यप्रदीपोद्योत, निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ५५। तथा इसी पृष्ठ (२६३) की तीसरी टिप्पणी।

३. संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः। महाभाष्यदीपिका भर्तृहरिकृत, हस्तलेख पृष्ठ ३०। इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्। पुण्यराजकृत वाक्यपदीयटीका काशी संस्क० पृष्ठ ३८३।

४. कृष्णचरित, मुनिकविवर्णन, श्लोक १६।

५. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्।·········संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे·········। अ० १, पाद १, आ० १॥

६. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।

७. अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड ५१६, पृष्ठ ३४०।

८. शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ८३।

... गुरु बुद्धमित्र को वाद में पराजित किया था।[2] वह विन्ध्यवासी विक्रम का समकालिक था।[3]

नन्दिनीसुत—इस नाम का उल्लेख कोशग्रन्थों से अन्यत्र हमें नहीं मिला।

मेधावी—भामह अलङ्कार शास्त्र २।४०, ८८ में किसी अलङ्कार शास्त्र-प्रवक्ता मेधावी को उद्धृत करता है।

इन पर्यायों में व्याडि के प्रसिद्धतम दाक्षायण नाम उल्लेख नहीं है। अतः प्रतीत होता है हेम, केशव और पुरुषोत्तमदेव के लिखे हुए पर्याय प्राचीन व्याडि के नहीं हैं। व्याडि नाम के कई व्यक्ति हुए हैं, यह हम अनुपद लिखेंगे।

व्याडि—वैयाकरण व्याडि आचार्य का उल्लेख: ऋक्प्रातिशाख्य,[4] महाभाष्य,[5] काशिकावृत्ति[6] और भाषावृत्ति[7] आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

व्याडि पद का अर्थ—धातुवृत्तिकार सायण व्याडि पद का अर्थ इस प्रकार करता है—

अडो वृश्चिकलाङ्गूलम्, तेन च तैक्ष्ण्य लक्ष्यते, विशिष्टो-ऽडस्तैक्ष्ण्यमस्य व्यडः, तस्यापत्यं व्याडिः। अत इञ्, स्वागतादीनां चेति वृद्धिप्रतिषेधैजागमयोर्निषेधः।[8]

अनेक व्याडि—व्याडि नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। प्राचीन व्याडि संग्रह ग्रन्थ का रचयिता है। इसका उल्लेख ऋक्प्रातिशाख्य आदि

---

१. पृष्ठ पंक्ति—४; ७। १०८; ७, १०, ११, १२, १३। १४४ १२०। १४८; १०।
२. पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, द्वि० संस्क०, पृष्ठ ३३७।
३. वही, पृष्ठ ३३७।
४. २। २३। २८॥ ६। ४६॥ १३। ३१, ३७॥
५. आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः। ६। २। ३६॥ द्रव्याभिधानं व्याडिः। १। २। ६४॥
६. पूर्व पृष्ठ १३०।
७. इकां यणिभर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्।

८. धातुवृत्ति पृष्ठ ८२, काशी संस्क०। तुलना करो—काशिका ७। ३। ७॥ प्रक्रिया कौ० पूर्वार्ध, पृष्ठ ६१४। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ३६॥

अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। एक व्याडि कोशकार है। इसके कोश के अनेक उद्धरण कोशग्रन्थों की टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के निर्देशानुसार व्याडि के कोश में २४ बौद्ध जातकों के नाम मिलते हैं।[1] अतः यह महात्मा बुद्ध से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है। प्रसिद्ध मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने एक रसज्ञ व्याडि का उल्लेख किया है।

दाक्षायण—इस नाम का उल्लेख महाभाष्य २। ३। ६६ में मिलता है।[2] मैत्रायणी संहिता १। ८। ९ में दाक्षायणों का निर्देश है।[3]

दर्शपौर्णमास की आवृत्तिरूप इष्टि भी दाक्षायण इष्टि कहाती है। क्या इस इष्टि का इस दाक्षि अथवा दाक्षायण से कुछ सम्बन्ध है?

दाक्षि—वामन ने काशिका ६। २। ६९ में इस नाम का उल्लेख किया है।[4] मत्स्य पुराण १९५। २५ में दाक्षि गोत्र का निर्देश उपलब्ध होता है।[5]

यद्यपि दाक्षि और दाक्षायण नामों में गोत्र और युव प्रत्यय के भेद से अर्थ की विभिन्नता प्रतीत होती है, तथापि पाणिन और पाणिनि, तथा काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि आदि के समान दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। इसकी पुष्टि काशिका ४। १। १७ के "तत्र भवान् दाक्षायणः, दाक्षिर्वा" उदाहरण से होती है।

वंश—व्याडि नाम से इसके पिता का नाम व्यड प्रतीत होता है। माता का नाम अज्ञात है। दाक्षि और दाक्षायण नामों से इस वंश के मूल पुरुष का नाम '**दक्ष**' विदित होता है। मत्स्य पुराण १९५। २५ में दाक्षि को अङ्गिरा वंश का कहा है। न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के लेखानुसार व्याडि दाक्षायण का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था।[6]

स्वसा—पाणिनि ने क्रौड्यादि गण[7] में व्याडि का निर्देश किया है उसके अनुसार उसकी किसी भगिनी का नाम 'व्याड्या' प्रतीत होता है। इसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। पाणिनि की माता का नाम दाक्षी था,

---

१. अभिधानचिन्तामणि, देवकाण्ड, श्लोक १४७ की टीका, पृष्ठ १००, १०१॥

२. पृष्ठ २६३ टि० ६।   ३. एतद्ध स्म वा आहुर्दाक्षायणास्तन्तुन्त्समवृत्तद् गामन्वव्यावर्तयेति।   ४. कुमारीदाक्षाः।   ५. कपितरः स्वस्तितरो दाक्षिः

यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] दाक्षि और दाक्षायण के एक होने पर वह व्याडि की बहिन होगी और पाणिनि उसका भानजा।

आचार्य—विकृतवल्ली नाम का एक लक्षण ग्रन्थ व्याडि-विरचित माना जाता है। उसके आरम्भ में शौनक को नमस्कार किया है।[2] आर्ष ग्रन्थों में इस प्रकार नमस्कार की शैली उपलब्ध नहीं होती। अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त होगा, वा यह ग्रन्थ किसी अर्वाचीन व्याडि विरचित होगा, वा किसी ने व्याडि के नाम से इस ग्रन्थ की रचना की होगी। व्याडि शौनक का समकालिक है, शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि का उल्लेख किया है। अतः सम्भव हो सकता है कि व्याडि ने शौनक से विद्याध्ययन किया हो। प्राचीन आचार्य अपने ग्रन्थों में अपने शिष्य के मत उद्धृत करने में संकोच नहीं करते थे। कृष्ण द्वैपायन ने अपने शिष्य जैमिनि के अनेक मत अपने ब्रह्मसूत्र में उद्धृत किये हैं।[3]

देश—पुरुषोत्तमदेव आदि ने व्याडि का एक पर्याय विन्ध्यस्थ=विन्ध्यवासी=विन्ध्यनिवासी लिखा है। तदनुसार यह विन्ध्य पर्वत का निवासी था। काशिका २।४।६० में "**प्राचामिति किम्—दाक्षिः पिता, दाक्षायणः पुत्रः**" लिखा है। पाणिनि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश का रहने वाला था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] अतः उसका सम्बन्धी दाक्षायण भी उसी के समीप का निवासी होगा। इस से भी प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव के लिखे हुए व्याडि के पर्याय आर्षकालीन व्याडि के नहीं हैं। काशिका ४।१।१६० में दाक्षि को प्राग्देशीय लिखा है।[5] यह उस के पूर्वोक्त वचन से विरुद्ध है। हो सकता है दो दाक्षि रहे हों। अभिनव शाकटायन व्याकरण २।४।११७ की चिन्तामणि वृत्ति में आङ्ग वाङ्ग प्राग्देशवासियों के साथ दाक्षि पद पढ़ा है।[6] क्या यह दाक्षि विन्ध्यस्थ हो सकता है?

दाक्षायण देश—दाक्षि वा दाक्षायणों का कुल बहुत विस्तृत और समृद्ध था, वह कुल जहां बसा हुआ था, वह स्थान (देश) दाक्षक[7]

१. पूर्व पृष्ठ १७८। २. नत्वादौ शौनकाचार्यं गुरुं वन्दे महामुनिम्।

३. १।२।२८, ३१॥ ३।२।४०॥ ३।४।१८, ४०॥ ४।३।१२॥

४. पूर्व पृष्ठ १२८। ५. कच्चिन्न भवत्येव—दाक्षिः।

६. अङ्गवङ्गदाक्षयः आङ्गवाङ्गदाक्षयः। ७. दाक्षि।[illegible]

और दाक्षायणभक्त[1] के नाम से प्रसिद्ध था। काशिका ४। २। १४२ में "दाक्षिपलद, दाक्षिनगर, दाक्षिग्राम,[2] दाक्षिह्रद, दाक्षिकन्था" संज्ञक ग्रामों का उल्लेख है। काशिका के अनुसार ये ग्राम वाहिक=सतलज और सिन्धु के मध्य थे।[3] काशिका ६। २। ५ में "दाक्षिघोष, दाक्षिकट, दाक्षिपल्वल, दाक्षिह्रद, दाक्षिबदरी, दाक्ष्यश्वत्थ, दाक्षिशाल्मली, दाक्षिपिङ्गल, दाक्षिपिशङ्ग, दाक्षिरक्त, दाक्षिशिल्पी, दाक्षिपुंस, दाक्षिकूट" का निर्देश मिलता है।

व्याडिशाला—पाणिनि ने अष्टाध्यायी ६। २। ८६ के छात्र्यादिगण में व्याडि पद का निर्देश किया है, तदनुसार शाला उत्तर पद होने पर "व्याडिशाला" पद आद्युदात्त होता है। यहां शालाशब्द पाठशाला का वाचक है, यह हम आपिशलिशाला के प्रकरण में लिख चुके हैं।[4]

व्याडिशाला की प्रसिद्धि—काशिका ६। २। ६९ में लिखा है—

कुमार्यादाक्षाः। कुमार्यादिलाभकामाः दाक्ष्यादिप्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयन्ते तच्छिष्यतां वा प्रतिपद्यन्ते त एवं क्षिप्यन्ते।

अर्थात् जो कुमारी की प्राप्ति के लिए दाक्षिप्रोक्त शास्त्र का अध्ययन करते हैं अथवा उस की शिष्यता स्वीकार करते हैं वे कुमारीदाक्ष पद से आक्षिप्त किए जाते हैं।[5]

पाणिनि के द्वारा ६। २। ८६ में दाक्षिशाला का निर्देश होने से तथा काशिका के उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि आचार्य व्याडि का विद्यालय उस समय अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुका था।

व्याडि का वर्णन

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावनान्तर्गत मुनिकविवर्णन में लिखा है—

१. दाक्षि+भक्त, मौरिकयाद्येषुकार्यादिभ्यो विधलभक्तलौ। अष्टा० ४। २। ५४॥ २. दाक्षिग्रामः ...... दाक्ष्यादयो निवसन्ति यस्मिन् ग्रामे स तेषामिति व्यपदिश्यते। काशिका ६। २। ८४॥

३. पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः। वाहिका नाम ते देशाः ......। महाभारत कर्णपर्व, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १। १। ७५ में उद्धृत।

रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः ।
दाक्षिपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः ॥ १६ ॥
बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च ।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥ १७ ॥

इन श्लोकों से विदित होता है कि संग्रहकार व्याडि दाक्षीपुत्रवचन (अष्टाध्यायी) का व्याख्याता, रसाचार्य और श्रेष्ठ मीमांसक था। उसने बलरामचरित लिखकर व्यास और भारत को जीत लिया था, अर्थात् उसका बलचरित भारत से भी महान् था।

रसाचार्य—कृष्णचरित के उपर्युक्त उद्धरण में व्याडि को रसाचार्य कहा है। वाग्भट्ट ने रसरत्नसमुच्चय के आरम्भ में प्राचीन रसाचार्यों में व्याडि का उल्लेख किया है।[1] पार्वतीपुत्र नित्यनाथसिद्ध-विरचित रसरत्न के वादिखण्ड उपदेश १ श्लोक ६६–७० में २७ प्राचीन रसाचार्यों के नाम लिखे हैं,[2] उन में सब से प्रथम नाम "व्यालाचार्य" है। ड-ल का अभेद होने से सम्भव है यहां शुद्धपाठ व्याड्याचार्य हो। रामराजा के रसरत्नप्रदीप में भी व्याडि का उल्लेख मिलता है।[3]

गरुड पुराण में रसाचार्य व्याडि—पं० रामशंकर भट्टाचार्य ने **रसाचार्य व्याडि का पौराणिक निर्देश** शीर्षक एक टिप्पण वेदवाणी पत्रिका (काशी) के वर्ष १० अंक ६ (पृष्ठ २०) में प्रकाशित किया है। उस में गरुड पुराण पूर्वार्ध अ० ६९, श्लोक ३५–३७ उद्धृत करके बताया है कि व्याडि का रसाचार्यत्व पुराण साहित्य में भी प्रसिद्ध है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

आदाय तत्सकलमेव ततोऽन्नभाण्डं
जम्बीरजातरसयोजनया विपक्वम् ।
चूर्णं ततो मृदुतनूकृतपिण्डमूलैः
कुर्यात् यथेष्टमनुमौक्तिकमाशु विद्धम् ॥ ३५ ॥
मृल्लिप्तमत्स्यपुटमध्यगतं तु कृत्वा
पश्चात् पचेत् तनु ततश्च वितानवत्या ।

---

१. इन्द्रदो गोगुलश्चैव काम्बलिर्व्याडिरेव च । १ । २ ॥

२. रसरत्नसमुच्चय में भी २७ रसाचार्यों का उल्लेख है ।

३. कलायस्त्रिपुटः प्रोक्तः सतीलो वर्तुलो मतः । हरेणु कण्टका श्वेति व्याडि-

शुद्धं ततो विमलवह्निनिवर्तनेन
स्यान्मौक्तिकं विपुलसद्गुणकान्तियुक्तम् ।
व्याडिर्जगाद जगतां हि महाप्रभाव-
सिद्धो विदग्धहितलत्परया कृपालुः ॥ ३७ ॥

यहां ३५ वें श्लोक में रसयोजनया शब्द स्पष्ट है। ३७ वें में महाप्रभावसिद्ध शब्द भी रसशास्त्र का पारिभाषिक पद है।

उपर्युक्त निर्देशों से स्पष्ट है कि आचार्य व्याडि रस=पारद शास्त्र का विशिष्ट प्रवक्ता था।

नागार्जुन रसशास्त्र का उपज्ञाता नहीं—लोक में किंवदन्ती है कि ओषध रूप में रस=पारद के व्यवहार का उपज्ञाता बौद्ध विद्वान् नागार्जुन है। वस्तुतः यह मिथ्या भ्रम है। रसचिकित्सा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी औद्भिजचिकित्सा। चरक और सुश्रुत मुख्यतया औद्भिज और शल्य चिकित्सा के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। इसलिये उन में रसचिकित्सा का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। अग्निवेश आदि रसचिकित्सा से परिचित नहीं थे, यह धारणा मिथ्या है। चरक चिकित्सास्थान अध्याय ७ में लिखा है—

शुद्धं गन्धकसंयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद्वा ।
सर्वव्याधिविनाशनमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ।

चरक में इस के अतिरिक्त अन्य रसों का भी उल्लेख है। प्रो० दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी ने रसरत्नसमुच्चयटीका की भूमिका पृष्ठ २, ३ पर अन्य रसों का भी वर्णन दर्शाया है। कौटल्य अर्थशास्त्र अध्याय २४ में सुवर्ण का एक भेद "रसाविद्ध"=पारद निर्मित बताया है।

वस्तुतः प्राचीन काल में एक एक विषय पर ग्रन्थ लिखने की परिपाटी थी। प्राचीन ग्रन्थकार स्वप्रतिपाद्यविषय से भिन्न विषय में हस्तक्षेप नहीं करते थे।[1] इसलिये चरक सुश्रुत में रसचिकित्सा का विधान नहीं है।

---

१. तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च । पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः । चरक चिकित्सा० २६।१३०, १३१॥

कृष्णचरित में व्याडि को 'मीमांसकाग्रणी' लिखा है। अतः सम्भव है व्याडि ने मीमांसाशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा हो। जैमिनि आकृति को पदार्थ मानता है।[1] महाभाष्य १। २। ६४ में व्याडि को द्रव्यपदार्थवादी लिखा है।[2] इससे स्पष्ट है कि व्याडि द्रव्यपदार्थवादी मीमांसक रहा होगा। महाभाष्य में काशकृत्स्नप्रोक्त मीमांसा का उल्लेख मिलता है।[3] वह द्रव्यपदार्थवादी था वा आकृतिपदार्थवादी यह अज्ञात है।

काल

व्याडि का उल्लेख गृहपति शौनक ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य में अनेक स्थानों पर किया है।[4] गृहपति शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवचन भारतयुद्ध के लगभग १०० वर्ष पश्चात् किया था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5] व्याडि अपर नाम दाक्षायण पाणिनि का मामा है, यह भी पूर्व लिखा जा चुका है।[6] अतः व्याडि का काल भारतयुद्ध पश्चात् १००-२०० वर्षों के मध्य है।

संग्रह का परिचय

महाभाष्य २। ३। ६६ में लिखा है—

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।

अर्थात् दाक्षायणविरचित संग्रह की कृति मनोहर है।

महाभाष्यकार जैसा विवेचनात्मक बुद्धि रखने वाला व्यक्ति जिस कृति को सुन्दर मानता हो, उसकी प्रामाणिकता और उत्कृष्टता में क्या सन्देह हो सकता है?

संग्रह ग्रन्थ का स्वरूप—संग्रह ग्रन्थ चिरकाल से लुप्त है। इसलिये इसका क्या स्वरूप था, यह हम नहीं कह सकते। इस के जो उद्धरण उपलब्ध हुए हैं, उनके अनुसार इसके विषय में कुछ लिखा जाता है।

संग्रह में ५ अध्याय—चान्द्र व्याकरण ४। १। ६२ की वृत्ति में एक

---

१. आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्। मीमांसा १। ३। ३३॥

२. द्रव्याभिधानं व्याडिः। ३. ४। १। १४, ६३॥ ४। ३। १५५॥

४. पूर्व पृष्ठ १६५ टि० ५। ५. पूर्व पृष्ठ १६७।

उदाहरण है—पञ्चक संग्रहः । इस की 'अष्टकं पाणिनीयम्' उदाहरण से तुलना करने पर विदित होता है कि संग्रह में पांच अध्याय थे ।

संग्रह का परिमाण—वाक्यपदीय का टीकाकार पुण्यराज लिखता है—

इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत् ।[1]

नागेश भी संग्रह का परिमाण लक्ष श्लोक मानता है ।[2]

संग्रहसूत्र—महाभाष्य ४ । २ । ६० में एक उदाहरण है—**सांग्रहसूत्रिकः** । इस से प्रतीत होता है कि संग्रहग्रन्थ सूत्रात्मक था ।

संग्रह दार्शनिक ग्रन्थ था—पतञ्जलि महाभाष्य के आरम्भ में लिखता है—

संग्रहे तावत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वा । तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि । तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्योऽथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यम् ।[3]

आगे पुनः लिखता है—

संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति ।[4]

इन दोनों उद्धरणों से तथा भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय की स्वोपज्ञटीका में उद्धृत संग्रह के पाठों से विदित होता है कि संग्रह वाक्यपदीय के समान व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ था ।

पाणिनीय-अष्टक-व्याख्यान—नागेशकृत भाष्यप्रदीपोद्योत ४ । ३ । ३९ में लिखा है—

एवं च संग्रहादिषु तदुदाहरणदानमसंगतं स्यात् ।

इस से प्रतीत होता है कि संग्रह में कहीं कहीं अष्टाध्यायी के सूत्रों के उदाहरण भी दिये गए थे ।

न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि काशिकाविवरणपञ्जिका ७ । २ । ११ में लिखता है—

श्वोभूतिव्याडिप्रभृतयः श्रयुकः किति इत्यत्र द्विककारनिर्देशेन हेतुनान्तर्भूतो गकारः प्रश्लिष्ट इत्येवमाचक्षते ।

गञ्जवन: संग्रह में की होगी।

यह भी संभव हो सकता है कि व्याडि ने अष्टाध्यायी की
लिखी हो। इसकी पुष्टि कृष्णचरित के पूर्व उद्धृत श्लोक के
दर्वोव्याख्यापट्ड पद से भी होती है।

संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा—महाभाष्य
तान्न् प्राधान्येन परीक्षितम्' इस वचन की व्याख्या
लिखता है—

चतुर्दशसहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षित

अर्थात् संग्रह में १४ सहस्र पदार्थों की परीक्षा की थी। य
का यह वचन ठीक हो तो संग्रह का एक लक्ष श्लोक परिण
रहा होगा।

संग्रह की प्रतिष्ठा—संग्रह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त
दृष्टि से देखा जाता था। काशिका ६।२।६९ के 'कुमारीदाक्षाः
से व्यक्त होता है कि अनेक व्यक्ति कुमारी की प्राप्ति (=विवाह
झूठमूठ अपने को दाक्षि-प्रोक्त: ग्रन्थ के ज्ञाता बताया करते थे।
कार ने इस उदाहरण की जो व्याख्या की है, वह चिन्त्य है।
है, उसने इस उदाहरण का भाव नहीं समझा। 'दाक्ष' पद की '
प्रोक्तानि शास्त्राण्यधीयते' व्याख्या में 'दाक्षादिभिः' पाठ अ
'दाक्ष्यादिभिः' पाठ होना चाहिये।

संग्रह ग्रन्थ की प्रौढता का अनुमान पतञ्जलि के द्वारा
श्लोक से भी होता है—

किरति चर्करीतान्तं पचतीत्यत्र यो नयेत्।
प्राप्तिज्ञं तमहमन्ये प्रारब्धस्तेन संग्रहः ॥[3]

पतञ्जलि ने महाभाष्य २।३।६६ में दाक्षायण विरचित
मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है—

---

१. हमारा हस्तलेख पृष्ठ २६। २. तुलना करो पूर्व पृष्ठ २६
में उद्धृत 'अजर्घा यो न.........' श्लोक के साथ।

३. महा० ७।४।६३ ॥ कैयट ने पतञ्जलि के भाव को न सम

शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।

इन उद्धरणों से संग्रह ग्रन्थ का वैशिष्ट्य सूर्य के समान विस्पष्ट है।

संग्रह के उद्धरण—संग्रह के उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में संग्रह के १० दस वचन उद्धृत हैं। श्री पं० चारुदेवजी ने स्वसम्पादित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के अन्त में उन्हें संगृहीत कर दिया है। हम ने संग्रह के ४ चार नये वचन संगृहीत किये हैं।[1] प्रथम और दूसरा वचन का द्वितीय उद्धरण का स्थान भी हम ने ढूंढा है। आजतक संग्रह के जितने वचन उपलब्ध हुए हैं, वे नीचे दिये जाते हैं—

१- नहि किञ्चित् पदं नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते ॥[2]

२. आर्थात् पदं साभिधेयं पदाद् वाक्यार्थनिर्णयः।
पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम् ॥[3]

३. शब्दार्थयोरसंभेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम् ॥[4]

४. संबन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां संबन्धः स्यात् कृतः कथम् ॥[5]

५. वाचक उपादानः स्वरूपवानव्युत्पत्तिपक्षे। व्युत्पत्तिपक्षे त्वर्थाविहितं समाश्रितं निमित्तं शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि प्रयोजकम्। उपादानो योऽनेक इत्येके। सोऽयमितिव्यपदेशेन संबन्धोपयोगस्य शक्यत्वात्।[6]

६. नहि स्वरूपं शब्दानां गोपिण्डादिवत् करणे संनिविशते।

१. संवत् २००७ तक। तत्पश्चात् ५ नए उद्धरण और उपलब्ध हुए। उन का निर्देश द्वितीयभाग पृष्ठ ३४६ पर किया है।

२. वाक्यपदीय टीका लाहौर संस्क० ४२। यह वचन पुण्यराज ने वाक्यपदीय २। ३१९ की व्याख्या में भी उद्धृत किया है। वहां तृतीय चरण का पाठ 'पदानामर्थरूपं च' है, सम्भवतः वह अशुद्ध है। ३. वही पृष्ठ ४३।

[illegible] सति तुल्य[illegible]मपि समुच्चार्यमाणत्वेनावसीयते ।[1]

७. शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥[2]

८. असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते ।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः ॥[3]

९. यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये ।
संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः ॥[4]

१०. शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः ।[5]

११. शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते ।
स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः ॥[6]

१२. संस्त्यानं संहननं तमो निवृत्तिरशक्तिरुपरतिः प्रवृत्तिप्रतिबन्धस्तिरोभावः स्त्रीत्वम्, प्रसवो विस्तरभावो वृद्धिशक्तिलाभोऽभ्युद्रेकः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम् । अविकृतातः साम्यस्थितिरौत्सुक्यनिवृत्तिरपदर्शितमङ्गाङ्गिभावनिवृत्तिः कैवल्यमिति नपुंसकत्वामिति ।[7]

१३. इकां यणिभर्व्यवधानमेकेषामिति संग्रहः ।[8]

१४. जाज्वलीति संग्रहे ।[9]

---

१. वही, पृष्ठ ६६ । २. वही, पृष्ठ ७६ । तथा—यदाह संग्रहकारः—शब्दस्य ग्रहणे हेतुः ...... । श्रीदेव विरचित स्याद्वादरत्नाकर भाग ३ पृष्ठ ६४५ ।

३. वही, पृष्ठ ८६ । ४. वही, पृष्ठ, ८८ । तथा-स्याद्वादारत्नाकर भाग ३, पृष्ठ ६४६ । ५. वही, पृष्ठ १२४ । तथा हेलाराजटीका काण्ड ३ पृष्ठ १११, काशी संस्क० । ६. एतदेव संग्रहकारोक्तश्लोकप्रदर्शनेन संवादयितुमाह । वाक्य० टीका पुण्यराज, काण्ड २ श्लोक २६७ । ७. वाक्य० टीका हेलाराज, पृष्ठ ४३१, काशी संस्क० । लिङ्गसमुद्देशकारिका १–२ ।

८. जैनेन्द्र व्या० महानन्दिटीका १ । २ । १, पृष्ठ २३ । तुलना करो—इकां यणिभर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम् । भाषावृत्ति ६ । १ । ७७ ॥

९. श्रीकविकण्ठाहारकृत चर्करीतरहस्य । इण्डिया आफिस का हस्तलेख,

... ग्रन्थ में निर्दिष्ट उद्धरण—प्रथम भाग के मुद्रण (सं० २००७) के पश्चात् ग्रन्थ के जो उद्धरण उपलब्ध हुए उन का संग्रह हमने द्वितीय भाग पृष्ठ ३२६ पर किया था। अब हम उन्हें भी यहीं संगृहीत करते हैं।

२५. यस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते ।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनः ॥[1]

२६. शब्दे तां जातिं शब्दोऽर्थजातौ जातिः शुक्लादौ द्रव्यशब्दे गुणं कृतसंयोगं योगित्वाभिसम्बन्धं[2] वाक्यं वाक्येषु त्वाकृत्या बोधयन्ति ।[3]

२७. किं कार्यः शब्दोऽथ नित्य इति ।[4]

२८. असति प्रत्यक्षाभिमाने......।[5]

२९. काश्यपस्तु आत्मपदे विद्यासते इत्येके इत्युक्त्वा संग्रह इत्यव्यनिमित्तस्य सुकार्यस्योक्तत्वाद् इस्भाव उपदिष्टवान् इत्याह ।[6]

अन्य दो उद्धरण—द्वितीय भाग लिखते समय व्याडि के दो वचन लिखने रह गए थे। वे इस प्रकार हैं—

३०. ज्ञानं द्विविधं स्वरूपमस्वरूपकं च ।[7]

३१. ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।

१. गौणार्थेषु सङ्ग्रहकार आह—वाक्यप० कां० २ श्लोक २६८ की उत्थानिका पुण्यराज की। तुलना करो उद्धरण संख्या ११ (कारिका २६७) की उत्थानिका के साथ। २. 'कृतसंयोगं योगित्वाभिसम्बन्धम्' पाठा०, पृष्ठ ७७।

३. शृङ्गारप्रकाश, पृष्ठ ४६। इस उद्धरण की उत्थानिका इस प्रकार है—'अथ यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः स तस्य भावः, तदभिधाने त्वतलौ। तस्योपसंग्रहाय संग्रहकारः पठति—शब्दे तां......।'

४. महा० भाष्यदीपिका, पृष्ठ ३० हमारा हस्तलेख। इस की उत्थानिका—एवं संग्रहः ... प्रस्तुतम्—किं नित्यः........।

५. स्याद्वादरत्नाकर पृष्ठ १०७६। इस की उत्थानिका—... व्याडिः—असति......। यह उद्धरण अपूर्ण है। आगे ... के लिए ... ही लिखा था। इस समय स्याद्वादरत्नाकर ग्रन्थ हमारे पास नहीं है।

६. भाषावृत्ति, पृष्ठ २८१, काशी सं०। यहाँ ग्रन्थकार ने संग्रह का अभिप्राय स्वशब्दों में लिखा है। ७. भाष्यव्याख्याप्रपञ्च। वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी ...

[illegible] तत्र मांगलिकावुभौ ॥

इनमें से अन्तिम उद्धरण व्याडि के कोष ग्रन्थ का प्रतीत होता है।

संग्रह के उपर्युक्त वचनों से विदित होता है कि संग्रह में गद्य, पद्य दोनों थे।

इनके अतिरिक्त न्यास, महाभाष्यप्रदीप, पदमञ्जरी, योगव्यासभाष्य आदि में संग्रह के नाम से कुछ वचन उपलब्ध होते हैं।

न्यास और संग्रह—न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने पांच वचन संग्रह के नाम से उद्धृत किये हैं।[2] वे महाभाष्य में उपलब्ध होते हैं। न्यास के पाठ में संग्रह का अर्थ संक्षेपवचन हो सकता है।

महाभाष्यप्रदीप और संग्रह—कैयट ने महाभाष्य में पठित कई श्लोकों के विषय में '**पूर्वोक्तार्थसंग्रहश्लोकाः**'[3] लिखा है। इस वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं—

१. महाभाष्य में पूर्व प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि में संग्रह ग्रन्थ के श्लोक।

२. पूर्व गद्य में विस्तार प्रतिपादित अर्थ को संग्रह = संक्षेप से कहने वाले श्लोक।

कई विद्वान् कैयट की पंक्ति का प्रथम अर्थ समझ कर महाभाष्यनिर्दिष्ट श्लोकों को संग्रह के श्लोक मानते हैं, परन्तु हमारा विचार है ये श्लोक महाभाष्यकार के हैं।

पदमञ्जरी और संग्रह—हरदत्त ने पदमञ्जरी में आठ स्थानों पर संग्रह श्लोक लिखे हैं।[4] उन में कुछ महाभाष्यपठित श्लोक हैं, और कुछ हरदत्त के स्वविरचित प्रतीत होते हैं। हरदत्त ने जिस विषय को प्रथम गद्य में विस्तार से लिखा, अन्त में उसी को संक्षेप से श्लोकों में संगृहीत कर दिया।

---

१. भाष्यव्याख्याप्रपञ्च। वही संस्क०, पृष्ठ १२५। इस उद्धरण का अन्त्य पाठ—'ओंकारश्च·········उभौ ॥ इति व्याडिलिखनात्।'

२. ४। २। ८, पृष्ठ ६३० ॥ ४। २। ६, पृष्ठ ६३१ ॥ ६। १। ६८, पृष्ठ २४३ ॥ ८। १। ६६, पृष्ठ ६४१ ॥ ८। २। १०८, पृष्ठ १०३० ॥

३. ५। २। ४८ ॥ ४. ४। १। ७८, पृष्ठ ६८ ॥ ४। २। ८, ६ पृष्ठ १२७। ५। ३। ८३, पृष्ठ ३६२ ॥ ६। १। ६८, पृष्ठ ४५१ ॥ ६। १। ६४

स्मान्ङञणवहा" आदि श्लोक को संग्रह के नाम से उद्धृत करता है।[1] यहां संग्रह शब्द से व्याडि का ग्रन्थ अभिप्रेत नहीं है।

व्यासभाष्य और संग्रह—योगदर्शन के व्यासभाष्य में एक संग्रह श्लोक उद्धृत है।[2] वह व्याडि का नहीं है।

चरक और संग्रह—चरक सूत्रस्थान अध्याय २९ में संग्रह शब्द का प्रयोग मिलता है—**त्रिविधस्यायुर्वेदसूत्रस्य ससंग्रहव्याकरणस्य...... प्रवक्तारः।**

यज्ञफल-नाटक और संग्रह—कुछ वर्ष हुए गोण्डल काठियावाड़ से भास के नाम से एक यज्ञफलनाटक प्रकाशित हुआ है। उस के पृष्ठ ११६ पर लिखा है—**ससूत्रार्थसंग्रहं व्याकरणम्।**

रामायण उत्तरकाण्ड और संग्रह—रामायण उत्तरकाण्ड में लिखा है—हनुमान् ने संग्रहसहित व्याकरण का अध्ययन किया था।[3] उत्तरकाण्ड आदि कवि वाल्मीकि की रचना नहीं है, पर है पर्याप्त प्राचीन। उस का संकेत व्याडिविरचित संग्रह ग्रन्थ की ओर मानना अनुचित है। क्या प्राचीन काल में अन्य भी संग्रह ग्रन्थ थे?

संग्रह के नाम से अन्य ग्रन्थों के उद्धरण—सायण ने अपने वेदभाष्यों में अनेक स्थानों पर स्वविरचित जैमिनीयन्यायाधिकरणमाला के श्लोक संग्रह के नाम से उद्धृत किये हैं। अतः संग्रह नाम से उद्धृत सब वचनों को व्याडिकृत संग्रह के वचन नहीं समझना चाहिये।

संग्रह का लोप—भर्तृहरि वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में लिखता है—

> प्रायेण संक्षेपरुचीन् अल्पविद्यापरिग्रहान्।
> सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते॥ ४८४॥

---

१. संग्रहश्लोकानुसारेण कथयति—एकस्मान्...। भाग १, पृष्ठ २०। भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधर इसे भाष्यवचन कहता है, यह उस की भूल है।

२. ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः॥ इति संग्रहश्लोकः व्यासभाष्य ३। २६॥

इस उद्धरण से विदित होता है कि संग्रह जैसे महाकाय ग्रन्थ के पठन-पाठन का उच्छेद पतञ्जलि से पूर्व ही हो गया था, और शनैः शनैः ग्रन्थ भी नष्ट हो रहे थे। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की स्वोपज्ञटीका में संग्रह के कुछ उद्धरण दिये हैं,[1] अतः उसके काल तक संग्रह ग्रन्थ पूर्ण वा खण्डित रूप में अवश्य विद्यमान था। भट्ट बाण ने भी हर्षचरित में संग्रह का उल्लेख किया है।[2] उससे बाण के काल में उसकी सत्ता अवश्य प्रमाणित होती है, परन्तु न्यासकार जैसे प्राचीन ग्रन्थकार द्वारा संग्रह का उल्लेख न होना सन्देहजनक है। बाण और न्यासकार में काल का अधिक अन्तर नहीं है। हेलाराज ने प्रकीर्णकाण्ड की टीका में संग्रह का एक लम्बा वचन उद्धृत किया है।[3] यदि उसने वह उद्धरण किसी प्राचीन टीकाग्रन्थ से उद्धृत न किया हो तो ११ वीं शताब्दी तक संग्रह ग्रन्थ के कुछ अंश की सत्ता स्वीकार करनी होगी।

अन्य ग्रन्थ

१. **व्याकरण**—व्याडि ने एक व्याकरणशास्त्र रचा था, उस में दश अध्याय थे। उसका वर्णन हम "पाणिनीयाष्टक में अनुल्लिखित आचार्य" नामक प्रकरण में पूर्व (पृष्ठ १२०) कर चुके हैं।

२. **बलचरित**—महाराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के मुनिकवि-वर्णन के जो दो श्लोक पूर्व (पृष्ठ २६८) उद्धृत किए हैं उनसे स्पष्ट है कि व्याडि आचार्य ने बल=बलराम चरित का निर्माण करके भारत और व्यास को भी जीत लिया था।

आचार्य व्याडि के काव्य के लिए देखिए इस ग्रन्थ का भाग २ अ० ३०, पृष्ठ ३७८, ३७९।

३. **परिभाषा-पाठ**—व्याडि ने किसी परिभाषापाठ का प्रवचन किया था, इसके अनेक प्रमाण विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं। कई एक परिभाषापाठ के हस्तलेख व्याडि के नाम से निर्दिष्ट विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २७३, २७४, संख्या १–१० तक उद्धरण।

२. सुकृतसंग्रहाभ्यासगुरवो लब्धसाधुशब्दा लोक इव व्याकरणेऽपि। उच्छ्वास ३, पृष्ठ ८७।

३. देखो पूर्व पृष्ठ २७४, संख्या १२ का उद्धरण।

व्याडि प्रोक्त परिभाषा पाठ के विषय में इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग अ० २६ पृष्ठ २४५–२४८ तक विस्तार से लिखा है। अतः इस विषय में वहीं देखें।

४. **लिङ्गानुशासन**—व्याडिकृत लिङ्गानुशासन का उल्लेख वामन,[1] हर्षवर्धन[2] तथा हेमचन्द्र[3] के लिङ्गानुशासनों में मिलता है। इसका विशेष वर्णन हमने द्वितीय भाग अ० २५ पृष्ठ २२५ पर किया है।

५. **विकृतिवल्ली**—विकृतिवल्ली संज्ञक ऋग्वेद का एक परिशिष्ट उपलब्ध होता है। वह आचार्य व्याडिकृत माना जाता है। उसके प्रारम्भिक श्लोक में आचार्य शौनक को नमस्कार किया है।[4] आर्षग्रन्थों में इस प्रकार नमस्कार की शैली उपलब्ध नहीं होती। अतः यह श्लोक या तो किसी शौनकभक्त ने मिलाया होगा या यह ग्रन्थ अर्वाचीन व्याडि कृत होगा।

६. **कोश**—व्याडि के कोश के उद्धरण कोशग्रन्थों की अनेक टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। यह कोश विक्रम-समकालिक अर्वाचीन व्याडि का बनाया हुआ है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[5]

इस अध्याय में हमने महावैयाकरण व्याडि और उस के संग्रह ग्रन्थ का संक्षिप्त वर्णन किया है। अगले अध्याय में अष्टाध्यायी के वार्तिककारों के विषय में लिखा जायगा।

---

१. यद् व्याडिप्रमुखैः, पृष्ठ १, २। व्याडिप्रणीतमथ, पृष्ठ २०।

२. व्याडेः शङ्करचन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः। कारिका ६७।

३. हैम लिङ्गानुशासन विवरण, पृष्ठ १०३।

४. पृष्ठ २६६, टि० २। ५. पृष्ठ २६५।

आठवां अध्याय

अष्टाध्यायी के वार्त्तिककार

(२८०० विक्रम-पूर्व)

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर अनेक आचार्यों ने वार्त्तिकपाठ रचे थे। उन
के ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध हैं। बहुत से वार्त्तिककारों के नाम भी अज्ञात
हैं। महाभाष्य में अनेक अज्ञातनामा आचार्यों के वचन 'अपर आहुः'
निर्देश पूर्वक उल्लिखित है। वे प्रायः पूर्वाचार्यों के वार्त्तिक हैं। पतञ्जलि
ने कहीं कहीं वार्त्तिककारों के नामों का निर्देश किया है, परन्तु बहुत स्वल्प
महाभाष्य में निम्न वार्त्तिककारों के नाम उपलब्ध होते हैं।

१. कात्य वा कात्यायन। २. भारद्वाज।
३. सुनाग। ४. क्रोष्टा। ५. वाडव।

इन के अतिरिक्त निम्न दो वार्त्तिककारों के नाम महाभाष्य की टीकाओं
से विदित होते हैं—

६. व्याघ्रभूति। ७. वैयाघ्रपद्य।

वार्त्तिक का लक्षण

पराशर उपपुराण में वार्तिक का निम्न लक्षण लिखा है—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः॥[1]

यद्यपि यह लक्षण वैयाकरणीय वार्त्तिकों पर भी संगत हो जाता है
तथापि यह लक्षण प्राधान्येन भाष्यग्रन्थों,[2] पर लिखे गए वार्तिक ग्रन्थों के
लिए ही उपयुक्त है।

---

१. तुलना करो—उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ता वार्तिकम्। काव्यमीमांसा पृष्ठ ५।

२. यथा शाबरभाष्य पर कुमारिल के श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक, शंकर
बृहदारण्यक आदि भाष्यों पर सुरेश्वराचार्य के वार्तिक ग्रन्थ।

वैयाकरण निकाय में 'व्याकरण शास्त्र की प्रवृत्ति' के लिए वृत्ति शब्द का व्यवहार होता है। यथा—

का पुनर्वृत्तिः? शास्त्रप्रवृत्तिः।[1]

निरुक्त २।१ के **संशयवत्यो वृत्तयो भवन्ति** वाक्य में भी वृत्ति शब्द का अर्थ व्याकरणशास्त्र-प्रवृत्ति ही है।

कात्यायन ने भी वृत्ति शब्द का यही अर्थ स्वीकार करके लिखा है—

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणम् अनण्त्वात्।[2]

इस की व्याख्या में कैयट लिखता है—

वृत्तिः शास्त्रस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिः, तदनुगतो निर्देशोऽनुवृत्तिनिर्देशः।

शास्त्रप्रवृत्ति की वास्तविक प्रतीति केवल सूत्रों से नहीं होती। उस के लिए सूत्रव्याख्यान की अपेक्षा होती है। इसलिए सूत्रों के लघु व्याख्यान ग्रन्थ, जिन में पदच्छेद विभक्ति अनुवृत्ति उदाहरण प्रत्युदाहरण आदि द्वारा सूत्रतात्पर्य को व्यक्त किया जाता है, को भी **वृत्ति** कहा जाता है। इसी दृष्टि से मूलभूत शब्दानुशासन के लिए **वृत्तिसूत्र** पद का व्यवहार होता है।[3]

वृत्ति शब्द के उक्त अर्थ के प्रकाश में 'वार्तिक' पद का अर्थ होगा—**वृत्तेर्व्याख्यानं वार्तिकम्**। अर्थात् जो वृत्ति का व्याख्यान हो वह वार्तिक कहाता है।

वैयाकरणीय वार्तिकों की सूक्ष्म विवेचना से भी यही बात व्यक्त होती है कि उन की मीमांसा का आधारभूत विषय शब्दानुशासन के वृत्ति-ग्रन्थ हैं।

वार्तिकों के अन्य नाम

वार्तिकों के लिए वैयाकरण वाङ्मय में **वाक्य, व्याख्यान-सूत्र भाष्य-सूत्र, अनुतन्त्र** और **अनुस्मृति** शब्दों का व्यवहार होता है। यथा—

---

१. महा० अ० १, पा० १ के अन्त में।

२. महा० १।१, अ इ उण् सूत्रभाष्य। ३. द्र० पूर्व पृष्ठ २१३।

उपलब्ध होता है।[1] हां, वार्तिककार के लिए **वाक्यकार** पद का प्रयोग तो असकृत् उपलब्ध होता है।[3]

वाक्य पद का अर्थ—वार्तिक के लिए वाक्य पद का प्रयोग सम्भवतः इसलिए होता है कि सूत्रों में क्रिया-पद का प्रयोग नहीं होता। अतः उन में वाक्यत्व लक्षण[4] व्याप्त नहीं होता। वार्तिकों में प्रायः क्रिया पद भी प्रयुक्त होता है। अतः उन में वाक्यत्व का लक्षण भले प्रकार उपपन्न हो जाता है।

व्याख्यानसूत्र—व्याख्यानसूत्र पद का प्रयोग केवल कैयट के महाभाष्यप्रदीप में उपलब्ध होता है।[5]

व्याख्यानसूत्र का अर्थ—जिन सूत्रों का व्याख्यान किया जाए वह व्याख्यानसूत्र कहाते हैं। वार्तिकों पर भाष्यरूपी व्याख्यान ग्रन्थ लिखे गए, अतः इन्हें व्याख्यानसूत्र कहा जाता है।

भाष्यसूत्र—भर्तृहरि ने महाभाष्यदीपिका[6] में तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वीय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका[7] में वार्तिकों के लिए 'भाष्यसूत्र'

---

१. सूत्रव्याख्यानार्थत्वाद् वाक्यानाम्……। ६।३।३४॥ तुल्यविचारत्वाद् भाष्ये त्रिसूत्रीं पठित्वा वाक्यं पठितम्—संपुंकानामिति। ८।३।५॥

२. उपालम्भे शपेर्वाक्यात्। श्लोक १३२।

३. द्रष्टव्य अगला प्रकरण 'वार्तिककार = वाक्यकार'।

४. एकतिङ् वाक्यम्। महा० २।१।१॥

५. व्याख्यानसूत्रेषु लाघवाऽनादरात्। कैयट, महाभाष्यप्रदीप ८।२।६॥ इसी पर नागेश लिखता है—व्याख्यानसूत्रेष्विति वार्तिकेष्वित्यर्थः।

६. भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात्, लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रेऽप्याश्रयणाद् इहापि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां प्रवृत्तिः। पृष्ठ ४८। न च तेषु भाष्यसूत्रे गुरुलघुप्रयत्नः क्रियते, तथा [ह]—नहीदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति इति। भाष्यसूत्राणि हि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां समर्थतराणि। पृष्ठ २८१, २८२॥

७. अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोग इति भाष्यसूत्रम्। वैदिकलौकिकसामान्यविशेष नियम प्रकरण, पृष्ठ ३७६, तृ० सं०।

पद का प्रयोग किया है। हर्षवर्धनकृत लिङ्गानुशासन की टीका में 'वार्तिक' पद का अर्थ ही भाष्यसूत्र लिखा है।[1]

भाष्यसूत्र पद का अर्थ—जिन सूत्रों पर भाष्यग्रन्थ लिखे जाएं अथवा जो भाष्यग्रन्थों के मूलभूत आधार वाक्यरूप सूत्र हों उन्हें भाष्यसूत्र कहा जाता है।

अनुतन्त्र—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में वार्तिकों को 'अनुतन्त्र' नाम से उद्धृत किया है।[2]

अनुस्मृति—सायण ने धातुवृत्ति में वार्तिकों के लिए 'अनुस्मृति' शब्द का व्यवहार किया है।[3]

अनुतन्त्र और अनुस्मृति शब्दों में तन्त्र और स्मृति शब्द से पाणिनीय शास्त्र अभिप्रेत है। यतः वार्तिक उस का अनुसरण करते हैं अतः उन के लिए अनुतन्त्र और अनुस्मृति शब्दों का व्यवहार होता है।

वार्तिककार = वाक्यकार

भर्तृहरि,[4] कुमारिल,[5] जिनेन्द्रबुद्धि,[6] क्षीरस्वामी,[7] हेलाराज,[8] हेमचन्द्र,[9] हरदत्त,[10] सायण[11] और नागेश[12] प्रभृति विद्वान् वार्तिककार के

१. 'वार्तिकं भाष्यसूत्राणि।' नपुं० प्रकरण कारिका ४४, श पुस्तक का पाठान्तर।

२. अनुतन्त्रे खल्वपि—सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे इति। पृष्ठ ३५, लाहौर संस्क०।

३. अनुस्मृतौ कारशब्दस्य स्थाने करशब्दः पठ्यते। पृष्ठ ३०।

४. एषा भाष्यकारस्य कल्पना, न वाक्यकारस्य। महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ १६०। यदेवोक्तं वाक्यकारेण वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः। महाभाष्यदीपिका, पृष्ठ ११६।

५. धर्माय नियमं न्याह वाक्यकारः प्रयोजनम्। तन्त्रवार्तिक १।३।८, पृष्ठ २८७ पूना सं०। ६. न्यास ६।२।११॥ ७. सौत्राश्चुलुम्पादयश्च वाक्यकारीया धातवः। क्षीरत० पृष्ठ ३२२ (हमारा संस्क०)।

८. वाक्यपदीय टीका काण्ड ३, पृष्ठ २, १२, २७ आदि।

९. सौत्राश्चुलुम्पादयश्च वाक्यकारीया धातव उदाहार्याः। हैम—धातु-पारायण के अन्त में। १०. यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्। वाक्य-कारो ब्रवीत्येवं तेनादृष्टं च भाष्यकृत्। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ७।

लिए वाक्यकार शब्द का प्रयोग करते हैं। कातन्त्र दुर्गवृत्ति की दुर्गटीका में वाक्यकार शब्द का प्रयोग वार्तिककार के लिए मिलता है।[1] परन्तु वह वार्तिक पाणिनीय-तन्त्र संबधी नहीं है।

वाक्यकरण—हेमहंसगणि[2] और गुणरत्नसूरि[3] वार्तिककारोक्त धातुओं के लिए **वाक्यकरणीय** शब्द का प्रयोग करते हैं।

वाक्यार्थविद्—भट्ट नारायण ने गोभिल गृह्यसूत्र ३। १०। ६ तथा ४। १। २१ के भाष्य में 'वाक्यार्थविद्' के नाम से दो वचन उद्धृत किए हैं। इनमें से प्रथम कात्यायन विरचित कर्मप्रदीप (३।९।१६) में उपलब्ध होता है। कात्यायन के लिए प्रयुक्त वाक्यकार पद के साथ वाक्यार्थविद् शब्द की तुलना करनी चाहिए।

पदकार—सांख्यसप्तति की युक्तिदीपिका टीका मे वार्तिककार के लिए पदकार शब्द का प्रयोग मिलता है।[4] पदकार शब्द का प्रयोग भाष्यकार पतञ्जलि के लिए होता है, यह हम महाभाष्यकार पतञ्जलि के प्रकरण में लिखेंगे। हमारा विचार है कि युक्तिदीपिका में उद्धृत वचन कात्यायन का वार्तिक नहीं है, भाष्यकार पतञ्जलि का वचन है।

न्यासकार ने भी ३। २। १२ में पदकार के नाम से एक वचन उद्धृत किया है, वह न पूर्णतया वार्तिकपाठ से मिलता है न भाष्यपाठ से।

पाणिनीय व्याकरण पर जितने वार्त्तिक लिखे गये उन में कात्यायन का वार्त्तिकपाठ ही प्रसिद्ध है। महाभाष्य में मुख्यतया कात्यायन के वार्त्तिकों का व्याख्यान है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में दो स्थानों पर कात्यायन को स्पष्ट शब्दों में '**वार्त्तिककार**' कहा है।[5]

---

१. तस्माद् वाक्यकार आह—वौ श्रमेर्विभाषा। मञ्जूषा पत्रिका वर्ष ४, अंक १, पृष्ठ १६ पर उद्धृत। २. एवं लौकिकवाक्यकरणीयानाम्……। न्याय संग्रह, पृष्ठ १२२। अथ वाक्यकरणीयाः—। वही, पृष्ठ १३०।

३. चुलुम्पादयो वाक्यकरणीयाः। क्रियारत्नसमुच्चय, पृष्ठ २८४।

४. पदकारश्चाह—जातिवाचकत्वात्। पृष्ठ ७। तुलना करो—दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्। वार्तिक १। २। १०॥

५. न स्म पुराद्यतन इति ब्रुवता कात्यायनेनेह। स्मादिविधिः पुरान्तो यद्यविशेषेण भवति, किं वार्तिककारः प्रतिषेधेन करोति—न स्म पुराद्यतन इति। ३। २। ११८। सिद्धत्येवं यच्चिदं वार्तिककारः पठति 'विप्रतिषेधात्तौ वलीयस्त्वम्'

१ कात्य, २ कात्यायन, ३ पुनर्वसु, ४ मेधाजित् और ५ वररुचि नामान्तर लिखे हैं।[1]

१. कात्य—यह गोत्रप्रत्ययान्त नाम है। महाभाष्य ३।२।३ में वार्त्तिककार के लिए इस नाम का उल्लेख मिलता है।[2] बौधायन श्रौत ७।४ में भी 'कात्य' स्मृत है।

२. कात्यायन—यह युवप्रत्ययान्त नाम है। पूज्य व्यक्ति के सम्मान के लिये इस युवप्रत्ययान्त नाम से स्मरण करते हैं।[3] महाभाष्य ३।२।११८ में इस नाम का उल्लेख है।[4]

३. पुनर्वसु—यह नाक्षत्र नाम है। भाषावृत्ति ४।३।३४ में पुनर्वसु को वररुचि का पर्याय लिखा है।[5] महाभाष्य १।२।६३ में 'पुनर्वसु माणवक' नाम मिलता है।[6] परन्तु यह कात्यायन के लिये नहीं है।

४. मेधाजित्—इसका प्रयोग अन्यत्र देखने में नहीं आया।

५. वररुचि—महाभाष्य ४।३।१०१ में वाररुच श्लोकों का वर्णन है।[7] महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में वररुचि को स्वर्गारोहण काव्य का कर्ता कहा है।[8] इस के अनुसार यह वररुचि वार्त्तिककार कात्यायन ही है।[9]

कथासरित्सागर और बृहत्कथामञ्जरी में कात्यायन का श्रुतधर नाम भी मिलता है।[10]

वंश—कात्य पद गोत्रप्रत्ययान्त है। इस से इतना स्पष्ट है कि कात्य वा कात्यायन का मूल पुरुष 'कत' है।

अनेक कात्यायन—प्राचीन वाङ्मय में अनेक कात्यायनों का उल्लेख

१. मेधाजित् कात्यायनश्च सः। पुनर्वसुर्वररुचिः।

२. प्रोवाच भगवान् कात्यस्तेनासिद्धिर्यणस्तु ते।

३. वृद्धस्य च पूजायाम्। वार्त्तिक ४।१।१६३॥

४. देखो, पूर्व पृष्ठ २८४, टि० ५।

५. पुनर्वसुर्वररुचिः।

६. तिष्यश्च माणवकः, पुनर्वसू च माणवकौ तिष्यपुनर्वसवः।

७. वाररुचं काव्यम्।

८. आगे स्वर्गारोहणकाव्य के प्रसङ्ग में उद्धृ-

मिलता है। एक कात्यायन कौशिक है, दूसरा आङ्गिरस है, तीसरा भार्गव है और चौथा द्व्यामुष्यायण है। चरक सूत्रस्थान १।१० में एक कात्याय स्मृत है। यह शालाक्य तन्त्र का रचयिता है।[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र समयाचारिक प्रकरण अ० ५ अ० ५ में भी एक कात्यायन स्मृत है।

याज्ञवल्क्य-पुत्र कात्यायन—स्कन्द पुराण नागर खण्ड अ० १३१ श्लोक ७१ के अनुसार एक कात्यायन याज्ञवल्क्य का पुत्र है। इसने वेदसूत्र की रचना की थी।[2] स्कन्द में ही इस कात्यायन को यज्ञविद्याविचक्षण भी कहा है और उसके वररुचि नामक पुत्र का उल्लेख किया है।[3] याज्ञवल्क्य पुत्र कात्यायन ने ही श्रौत, गृह्य, धर्म और शुक्लयजुःपार्षत् आदि सूत्रग्रन्थों की रचना की है। यह कात्यायन कौशिक पक्ष का है। इसने वाजसनेयों के आदित्यायन को छोड़कर आङ्गिरसायन[4] स्वीकार कर लिया था। वह स्वयं प्रतिज्ञापरिशिष्ट में लिखता है—

एवं वाजसनेयानामङ्गिरसां वर्णानां सोऽहं कौशिकपक्षः शिष्यः[5] पार्षदः पञ्चदशसु तच्छाखासु साधीयक्रमः।[6]

यही कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के आङ्गिरसायन की कात्यायन शाखा का प्रवर्तक है। कात्यायन शाखा का प्रचार विन्ध्य के दक्षिण में महाराष्ट्र आदि प्रदेश में रहा है।[7]

---

१. अष्टाङ्गहृदय, वाग्भट्ट-विमर्श, पृष्ठ १७।

२. कात्यायनसुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम्। ३. कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम्। पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः। अ० १३१, श्लोक ४८, ४९।

४. वाजसनेयों के दो अयन है—द्व्यान्येव यजूंषि, आदित्यानामङ्गिरसानां। प्रतिज्ञासूत्र कण्डिका ६, सूत्र ४। इन दोनों का निर्देश माध्यन्दिन शतपथ, ४।४।५। १९, २० में भी मिलता है।

५. प्रतिज्ञापरिशिष्ट के व्याख्याता अण्णा शास्त्री ने 'शिष्य' पद का सम्बन्ध भी कौशिक के साथ लगाया है, परन्तु हमारा विचार है कि शिष्य पद का सम्बन्ध 'आङ्गिरसानां वर्णानां' के साथ है। उन्होंने याज्ञवल्क्यचरित (पृष्ठ ५५) में याज्ञवल्क्यपुत्र कात्यायन और शाखाप्रवर्तक कात्यायन में भिन्नता दर्शाने के लिये प्रवरभेद का निर्देश किया है, परन्तु वह ठीक नहीं। आङ्गिरसायन को स्वीकार कर लेने पर आङ्गिरस आदि भिन्न प्रवरों का निर्देश युक्त है।

हमारा विचार है कि याज्ञवल्क्य का पौत्र, कात्यायन का पुत्र वररुचि कात्यायन अष्टाध्यायी का वार्तिककार है। इसमें निम्न हेतु हैं—

१—काशिकाकार ने "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु"[1] सूत्र पर आख्यानों के आधार पर शतपथ ब्राह्मण को अचिरकालकृत लिखा है। परन्तु वार्तिककार ने 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्"[2] में याज्ञवल्क्यप्रोक्त शतपथ ब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणों का समकालिक कहा है। इस से प्रतीत होता कि वार्तिककार का याज्ञवल्क्य के साथ कोई विशेष सम्बन्ध था। अत एव उसने तुल्यकालत्वहेतु से शतपथ को पुराणप्रोक्त सिद्ध करने की चेष्टा की है। अन्यथा पुराणप्रोक्त होने पर भी उक्त हेतु निर्देश के बिना "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः" इतने वार्तिक से ही कार्य चल सकता था।

२—महाभाष्य से विदित होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य था।[3] कात्यायन शाखा का अध्ययन भी प्रायः महाराष्ट्र में रहा है। यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

३—शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अनेक सूत्र कात्यायनीय वार्तिकों से समानता रखते हैं। यह समानता भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को पुष्ट करती है।

४—पाणिनि जहां समासाभाव अथवा एकपदत्वाभाव अर्थात् स्वतन्त्र अनेक पद मान कर कार्य का विधान करता है, वहां वार्तिककार शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के समान समासवत् अथवा एक-पदवत् मानकर कार्यविधान करता है। यथा—

क—पाणिनि तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) में गति और तिङन्तों को पृथक् पृथक् दो पद मानकर गति को अनुदात्त विधान करता है, वहां कात्यायन **उदात्तगतिमता च तिङा** (२।२।१८) वार्तिक द्वारा समास का विधान करता है।

ख—पाणिनि **सर्वस्य द्वे, अनुदात्तं च** (८।१।१-३) द्वारा द्विर्वचन

---

१. अष्टा० ४।३।१०५॥   २. महाभाष्य ४।२।६६।

मिलता है। एक कात्यायन कौशिक है, दूसरा आङ्गिरस है, तीसरा भार्गव है, और चौथा द्व्यामुष्यायण है। चरक सूत्रस्थान १।१० में एक कात्यायन स्मृत है। यह शालाक्य तन्त्र का रचयिता है।[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र समयाचारिक प्रकरण अ० ५ अ० ५ में भी एक कात्यायन स्मृत है।

याज्ञवल्क्य-पुत्र कात्यायन—स्कन्द पुराण नागर खण्ड अ० १३० श्लोक ७१ के अनुसार एक कात्यायन याज्ञवल्क्य का पुत्र है। इसने वेदसूत्र की रचना की थी।[2] स्कन्द में ही इस कात्यायन को यज्ञविद्याविचक्षण भी कहा है और उसके वररुचि नामक पुत्र का उल्लेख किया है।[3] याज्ञवल्क्य पुत्र कात्यायन ने ही श्रौत, गृह्य, धर्म और शुक्लयजुःपार्षत् आदि सूत्रग्रन्थों की रचना की है। यह कात्यायन कौशिक पक्ष का है। इसने वाजसनेयों के आदित्यायन को छोड़कर आङ्गिरसायन[4] स्वीकार कर लिया था। वह स्वयं प्रतिज्ञापरिशिष्ट में लिखता है—

एवं वाजसनेयानामङ्गिरसां वर्णानां सोऽहं कौशिकपक्षः शिष्यः[5] पार्षदः पञ्चदशसु तच्छाखासु साधीयक्रमः।[6]

यही कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के आङ्गिरसायन की कात्यायन शाखा का प्रवर्तक है। कात्यायन शाखा का प्रचार विन्ध्य के दक्षिण में महाराष्ट्र आदि प्रदेश में रहा है।[7]

---

१. अष्टाङ्गहृदय, वाग्भट्ट-विमर्श, पृष्ठ १७।

२. कात्यायनसुतं प्राप्य वेदसूत्रस्य कारकम्। ३. कात्यायनाभिधं च यज्ञविद्याविचक्षणम्। पुत्रो वररुचिर्यस्य बभूव गुणसागरः। अ० १३१, श्लोक ४८, ४९।

४. वाजसनेयों के दो अयन हैं—द्व्यान्येव यजूंषि, आदित्यानामङ्गिरसानां। प्रतिज्ञासूत्र कण्डिका ६, सूत्र ४। इन दोनों का निर्देश माध्यन्दिन शतपथ, ४।४५।१९, २० में भी मिलता है।

५. प्रतिज्ञापरिशिष्ट के व्याख्याता अण्णा शास्त्री ने 'शिष्य' पद का सम्बन्ध भी कौशिक के साथ लगाया है, परन्तु हमारा विचार है कि शिष्य पद का संबन्ध 'आङ्गिरसानां वर्णानां' के साथ है। उन्होंने याज्ञवल्क्यचरित (पृष्ठ ५५) में याज्ञवल्क्यपुत्र कात्यायन और शाखाप्रवर्तक कात्यायन में भिन्नता दर्शाने के लिये प्रवरभेद का निर्देश किया है, परन्तु वह ठीक नहीं। आङ्गिरसायन को स्वीकार कर लेने पर आङ्गिरस आदि भिन्न प्रवरों का निर्देश युक्त है।

हमारा विचार है कि याज्ञवल्क्य का पौत्र, कात्यायन का पुत्र वररुचि कात्यायन अष्टाध्यायी का वार्तिककार है। इसमें निम्न हेतु हैं—

१— काशिकाकार ने "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु"[1] सूत्र पर आख्यानों के आधार पर शतपथ ब्राह्मण को अचिरकालकृत लिखा है। परन्तु वार्तिककार ने 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधस्तुल्यकालत्वात्"[2] से याज्ञवल्क्यप्रोक्त शतपथ ब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणों का समकालिक कहा है। इस से प्रतीत होता कि वार्तिककार का याज्ञवल्क्य के साथ कोई विशेष सम्बन्ध था। अत एव उसने तुल्यकालत्वहेतु से शतपथ को पुराणप्रोक्त सिद्ध करने की चेष्टा की है। अन्यथा पुराणप्रोक्त होने पर भी उक्त हेतु निर्देश के बिना "याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः" इतने वार्तिक से ही कार्य चल सकता था।

२— महाभाष्य से विदित होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य था।[3] कात्यायन शाखा का अध्ययन भी प्रायः महाराष्ट्र में रहा है। यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

३— शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के अनेक सूत्र कात्यायनीय वार्तिकों से समानता रखते हैं। यह समानता भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को पुष्ट करती है।

४— पाणिनि जहां समासाभाव अथवा एक पदत्वाभाव अर्थात् स्वतन्त्र अनेक पद मान कर कार्यों का विधान करता है, वहां वार्तिककार शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के समान समासवत् अथवा एकपदवत् मानकर कार्यविधान करता है। यथा—

क— पाणिनि तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) से गति और तिङन्तों को पृथक् पृथक् दो पद मानकर गति को अनुदात्त विधान करता है, वहां कात्यायन उदात्तगतिमता च तिङा (२।२।१८) वार्तिक द्वारा समास का विधान करता है।

ख— पाणिनि सर्वस्य द्वे, अनुदात्तं च (८।१।१-३) द्वारा द्विर्वचन

में दोनों को स्वतन्त्र पद मानता है, परन्तु कात्यायन अव्ययमव्ययेन (२।२।१८) वार्तिक द्वारा समास का विधान करता है।

ग—पाणिनि इव शब्द के प्रयोग में दोनों को स्वतन्त्र पद मानता है और इव को चादयोऽनुदात्ताः नियमानुसार अनुदात्त स्वीकार करता है, परन्तु कात्यायन इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (२।२।१८) वार्तिक द्वारा उसके समास विधान करता है और पूर्वपदप्रकृतिस्वर का विधान करके इव को अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५८) नियम से अनुदात्त मानता है।

शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में उदात्ततिङयुक्त गति (उपसर्ग), द्विर्वचन और इव पद के प्रयोग को समासरूप मानकर पदपाठ में अन्य समासों के समान अवग्रह से निर्देश करने का विधान करता है। यथा—

अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते।५।१६॥ उपस्तृणन्तीत्युप स्तृणन्ति। अवधावतीत्यव धावति।

इवकाराम्रेडितायनेषु च।५।१८॥ शुचीवेति शुचि इव। प्रप्रेति प्र प्र।

पाणिनि का शिष्य—पूर्व पृष्ठ १८१ पर लिख चुके हैं कि वार्तिककार कात्यायन पाणिनि का साक्षात् शिष्य है।

देश—महाभाष्य पस्पशाह्निक में 'यथा लौकिकवैदिकेषु' वार्तिक की व्याख्या करते हुए लिखा है—

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे च प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेषु प्रयुञ्जते।[1]

इस से विदित होता है कि वार्त्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य था।

कथासरित्सागर में वार्त्तिककार कात्यायन को कौशाम्बी का निवासी लिखा है,[2] वह प्रमाणभूत पतञ्जलि के वचन से विरुद्ध होने के कारण अप्रमाण है।

स्कन्द पुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य का आश्रम आनर्त=गुजरात में

था।[1] सम्भव है याज्ञवल्क्य के मिथिला चले जाने पर उसका पुत्र कात्यायन महाराष्ट्र की ओर चला गया हो।

कात्यायन की प्रामाणिकता—पतञ्जलि ने कात्य (कात्यायन) के लिए 'भगवान्' शब्द का प्रयोग किया है।[2] इससे वार्तिककार की प्रामाणिकता स्पष्ट है। न्यासकार भी लिखता है—

एतच्च कात्यायनप्रभृतीनां प्रमाणभूतानां वचनाद् विज्ञायते।[3]

कात्यायनवचनप्रामाण्याद् धातुत्वं वेदितव्यम्।[4]

कात्यायन और शबरस्वामी—ऐसे प्रमाणभूत आचार्य के विषय में मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी लिखता है—**सद्वादित्वात् पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य।**[5]

शबरस्वामी का कात्यायन के लिये '**असद्वादी**' शब्द का प्रयोग करना चिन्त्य है।

शबर के दोषारोपण का कारण—शबर ने वार्तिककार कात्यायन के लिए जो **असद्वादी** विशेषण का प्रयोग किया है, उसका कारण सम्भवतः यह है कि शबर ने कात्यायन के प्रकृत वार्तिक का अभिप्राय नहीं समझा। अथवा दूसरा कारण यह हो सकता है कि महाभाष्य (१।१।७३) में **जिह्वाकात्य** पद का निर्देश मिलता है और न्यासकार आदि इसका अर्थ **जिह्वाचपलः कात्यः** करते हैं। (जैन शाकटायन २।४।२ की व्याख्या में भी यही अर्थ लिखा)। इस चापल्य से प्रभावित होकर शबर ने कात्यायन को असद्वादी कहा हो।

कात्यायन का जिह्वाचापल्य=आवश्यकता से अधिक कहने का स्वभाव उसके वार्तिकों से भी व्यक्त होता है।

काल

यदि हमारा पूर्व विचार ठीक हो अर्थात् वार्त्तिककार याज्ञवल्क्य का पौत्र हो तो वार्त्तिककार पाणिनि से कुछ उत्तरवर्ती होगा। यदि वह पाणिनि

---

१. नागर खण्ड १७४।५५॥ २. प्रोवाच भगवांस्तु कात्यः। ३।२।३॥

३. न्यास ६।३।५०, भाग० २ पृष्ठ ४५३, ४५४॥

समकालिक होगा। अतः वार्तिककार कात्यायन का काल विक्रम से लगभग २९००-३००० सौ वर्ष पूर्व है।

आधुनिक ऐतिहासिकों की भूल—अनेक आधुनिक ऐतिहासिक "**वहीनरस्येद् वक्तव्यम्**"[1] वार्तिक में वहीनर शब्द का प्रयोग देखकर वार्तिककार कात्यायन को उदयनपुत्र वहीनर से अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु यह मत सर्वथा अयुक्त है। वैहिनरि अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति है। इसका उल्लेख बौधायन श्रौतसूत्र के प्रवराध्याय (३) में मिलता है।[2] वहां उसे भृगुवंश्य कहा है। मत्स्य पुराण १९४। १९ में भी भृगुवंश्य वैहिनरि का उल्लेख है। वहां उसका अपना नाम "विरूपाक्ष" लिखा है।[3] महाभाष्यकार ने उपर्युक्त वार्तिक की व्याख्या में लिखा है—

कुणरवाडवस्त्वाह—नैष वहीनरः, कस्तर्हि ? विहीनर एषः। विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्। विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः।

अर्थात् वैहीनरि प्रयोग वहीनर से नहीं बना, इस की प्रकृति विहीनर है। कामभोग से रहित=विहीनर का पुत्र वैहीनरि है।

इस वार्तिक में उदयनपुत्र वहीनर का निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि उदयनपुत्र वहीनर भी महाभाष्यकार से कुछ शताब्दी पूर्ववर्ती है।[4] अतः निश्चय ही पतञ्जलि को उदयनपुत्र का वास्तविक नाम ज्ञात रहा होगा। ऐसी अवस्था में वह कुणरवाडव की व्युत्पत्ति को कभी स्वीकार न करता। कुणरवाडव के 'काम भोग से विहीन' अर्थ से प्रतीत होता है कि वैहीनरि का पिता ऋषि था, राजा नहीं। वैहीनरि पद की व्युत्पत्ति 'वहीनर' और 'विहीनर' दो पदों से दर्शाई है। इस से प्रतीत होता है कि वहीनर और विहीनर दोनों नाम एक ही व्यक्ति के थे। वहीनर वास्तविक नाम था और विहीनर **विहीनो नरः काम भोगाभ्याम्** निर्देशानुसार औपाधिक। अपत्यार्थक शब्दों के प्रयोग अनेक बार अप्रसिद्ध शब्दों से भी निष्पन्न होते हैं। यथा व्यासपुत्र शुक के लिए वैयासकि का सम्बन्ध अप्रसिद्ध

---

१. महाभाष्य ७।३।१॥ २. देखो पूर्व पृष्ठ १३६ टि० २ में उद्धृत पाठ।

३. वैहिनरिर्विरूपाक्षो रौहित्यायनिरेव च।

४. पाश्चात्यों के मतानुसार। हमारे मत में महाभाष्यकार उदयनपुत्र वहीनर से पूर्ववर्ती है। इस के लिए महाभाष्यकार पतञ्जलि का प्रकरण देखें।

व्यासक प्रकृति के साथ है, प्रसिद्ध व्यास के साथ नहीं। जिस प्रकार कात्यायन ने वैयासकि पद का संबंध व्यास से जोड़कर अकङ् का विधान किया, इसी प्रकार वैहीनरि का भी वहीनर से संबन्ध व्यक्त करके इत्व का विधान किया। परन्तु जैसे पतञ्जलि ने वैयासकि की मूल प्रकृति व्यासक बताई, उसी प्रकार कुणरवाडव ने भी वैहीनरि की मूल प्रकृति विहीनर है इस ओर संकेत किया।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक के प्रमाण से वार्त्तिककार कात्यायन और कुणरवाडव दोनों उदयनपुत्र वहीनर से अर्वाचीन नहीं हो सकते। कथासरित्सागर आदि में उल्लिखित श्रुतधर कात्यायन वार्त्तिककार कात्यायन से भिन्न व्यक्ति है।

वार्तिकपाठ

कात्यायन का वार्त्तिकपाठ पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इस के बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा रहता है। पतञ्जलि ने कात्यायनीय वार्तिकों के आधार पर अपना महाभाष्य रचा है। कात्यायन का वार्तिक-पाठ स्वतन्त्ररूप में उपलब्ध नहीं होता। महाभाष्य से कात्यायन के वार्त्तिकों की निश्चित संख्या की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि उस में बहुत अन्य वार्तिककारों के वचन भी संगृहीत हैं। महाभाष्यकार ने प्रायः उनके नाम का निर्देश नहीं किया।

प्रथम वार्त्तिक—आधुनिक वैयाकरण 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[1] को कात्यायन का प्रथम वार्तिक समझते हैं, यह उनकी भूल है। इस भूल का कारण भी वही है जो हमने पृष्ठ २०५ पर पाणिनीय आदि-सूत्र के के संबन्ध में दर्शाया है। महाभाष्य में लिखा है—

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते।[2]

हमारा विचार है यहां भी 'आदि' पद मुख्यार्थ का वाचक नहीं है। कात्यायन का प्रथम वार्तिक 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्'[3] है। इस में निम्न प्रमाण हैं—

१—सायण अपने ऋग्भाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् इति। एतानि रक्षादीनि प्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि।[1]

अर्थात् वररुचि=कात्यायन ने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन 'रक्षोहागम' आदि वार्तिक में दर्शाए हैं।

२—व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का अन्वाख्यान करके पतञ्जलि ने लिखा है—

एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद् भूत्वाऽऽचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे, इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणम् इति।[2]

यहां आचार्य पद निश्चय ही कात्यायन का वाचक है और **इदं शास्त्रं** का अर्थ प्रयोजनान्वाख्यान शास्त्र ही है।[3] आचार्य पद महाभाष्य में केवल पाणिनि और कात्यायन के लिए ही प्रयुक्त होता है यह हम पूर्व[4] कह चुके हैं। यदि व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों का निर्देशक **रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्** वार्तिककार का न माना जाए तो यह आचार्य पद भाष्यकार का बोधक होगा, तो क्या भाष्यकार अपने लिए स्वयं आचार्य पद का प्रयोग कर रहे हैं?

३—महाभाष्य के इस प्रकरण की तुलना '**क्ङिति च**'[5] सूत्र के महाभाष्य से की जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि रक्षादि पांच प्रयोजन वार्तिककार कथित हैं और '**इमानि च भूयः**' वाक्यनिर्दिष्ट १३ प्रयोजन भाष्यकार द्वारा प्रतिपादित हैं। '**क्ङिति च**' सूत्र पर प्रयोजनवार्तिक इस प्रकार है—**क्ङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणमुपधारोरवीत्यर्थम्।**

महाभाष्यकार ने इस वार्तिक में निर्दिष्ट प्रयोजनों की व्याख्या करके लिखा है—**इमानि च भूयः तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि।**

---

१. षडङ्ग प्रकरण, पृष्ठ २६, पूना संस्क०। तुलना करो—कात्यायनोऽपि व्याकरणप्रयोजनान्युदाजहार—रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्। तै० सं० सायण-भाष्य, भाग १ पृष्ठ ३०। २. महा० १।१। आ० १॥

३. इदं शास्त्रमिति—प्रयोजनान्वाख्यानमित्यर्थः। कैयट, महाभाष्यप्रदीप

इन दोनों स्थलों पर 'इमानि च भूयः······प्रयोजनानि' पद समान लेखनशैली के निर्देशक हैं, और दोनों स्थलों पर 'इमानि च भूयः' वाक्यनिर्दिष्ट प्रयोजन महाभाष्यकार प्रदर्शित हैं, यह सर्वसम्मत है। इसी प्रकार क्ङिति च सूत्र के प्रारम्भिक दो प्रयोजन वार्तिककार निर्दिष्ट हैं, यह भी निर्विवाद है। अतः उसी शैली से लिखे हुए 'रक्षोहागम' आदि वाक्यनिर्दिष्ट पांच प्रयोजन निस्सन्देह कात्यायन के समझने चाहियें। इसलिये कात्यायन के वार्तिकपाठ का आरम्भ—'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' से ही होता।

महाभाष्य में व्याख्यात वार्त्तिक अनेक आचार्यों के हैं

महाभाष्य में जितने वार्तिक व्याख्यात हैं वे सब कात्यायनविरचित नहीं हैं। पतञ्जलि ने अनेक आचार्यों के उपयोगी वचनों का संग्रह अपने ग्रन्थ में किया है। कुछ स्थानों पर पतञ्जलि ने विभिन्न वार्तिककारों के नामों का उल्लेख किया है, परन्तु अनेक स्थानों पर नामनिर्देश किये विना ही अन्य आचार्यों के वार्तिक उद्धृत किये हैं। यथा—

१—महाभाष्य ६।१।१४४ में एक वार्तिक पढ़ा है—समो हितततयोर्वा लोपः। यहां वार्तिककार के नाम का उल्लेख न होने से यह कात्यायन का वार्तिक प्रतीत होता है, परन्तु "सर्वादीनि सर्वनामानि"[1] सूत्र के भाष्य में विदित होता है कि यह वचन अन्य वैयाकरणों का है। वहां स्पष्ट लिखा है—इहान्ये वैयाकरणाः समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते—समो हिततयोर्वा इति।

२. महाभाष्य ४।१।१५ में वार्तिक पढ़ा है—नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्। यहां वार्तिककार के नाम का निर्देश न होने से यह कात्यायन का वचन प्रतीत होता है, परन्तु महाभाष्य ३।२।५६ तथा ४।१।८७ में इसे सौनागों का वार्तिक कहा है।

इस विषय पर अधिक विचार हम ने इस अध्याय के अन्त में 'महाभाष्यस्थ वार्तिकों पर एक दृष्टि' प्रकरण में किया है।

अन्य ग्रन्थ

१. स्वर्गारोहण काव्य—महाभाष्य ४।३।१०१ में वाररुच काव्य का उल्लेख मिलता है। वररुचि कात्यायन का पर्याय है, यह हम पूर्व

लिख चुके हैं। महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित के मुनिकविवर्णन में लिखा है—

> यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।
> काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः॥
>
> न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
> काव्येऽपि भूयोऽनु चकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥

अर्थात्—जो स्वर्ग में जाकर (श्लेष से स्वर्गारोहण संज्ञक काव्य रचकर) स्वर्ग को पृथिवी पर ले आया, वह वररुचि अपने मनोहर काव्य से विख्यात है। उस महाकवि कात्यायन ने केवल पाणिनीय व्याकरण को ही अपने वार्तिकों से पुष्ट नहीं किया, अपितु काव्यरचना में भी उसी का अनुकरण किया है।

कात्यायन के स्वर्गारोहण काव्य का उल्लेख जल्हणकृत सूक्तिमुक्तावली में भी मिलता है। उस में राजशेखर के नाम से निम्न श्लोक उद्धृत है—

> यथार्थता कथं नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह।
> व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः॥

इस श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठ कुछ विकृत है। वहां 'सदारोहणप्रियः' के स्थान में 'स्वर्गारोहणप्रियः' पाठ होना चाहिये।

आचार्य वररुचि के अनेक श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति, सदुक्तिकर्णामृत और सुभाषितमुक्तावली आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

कात्यायन मुनि विरचित काव्य के लिए इस ग्रन्थ का "काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि" नामक ३० वां अध्याय देखिए।

२. भ्राज-संज्ञक श्लोक—महाभाष्य अ० १, पाद १, आह्निक १ में 'भ्राज' संज्ञक श्लोकों का उल्लेख मिलता है।[1] कैयट,[2] हरदत्त,[3] और नागेश भट्ट[4] आदि का मत है कि भ्राजसंज्ञक श्लोक वार्तिककार कात्यायन की रचना

---

१. क्व पुनरिदं पठितम्? भ्राजा नाम श्लोकाः। २. कात्यायनोपनिबद्धभ्राजाख्यश्लोकमध्यपठितस्य……। महाभाष्यप्रदीप, नवाह्निक निर्णयसागर सं० पृष्ठ ३४।

३. कात्यायनप्रणीतेषु भ्राजाख्यश्लोकेषु मध्ये पठितोऽयं श्लोकः। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ १०। ४. भ्राजा नाम कात्यायनप्रणीताः श्लोका इत्याहुः।

हैं। ये श्लोक इस समय अप्राप्य हैं। इन श्लोकों में से 'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे' श्लोक पतञ्जलि ने महाभाष्य में उद्धृत किया है।[1]

अन्य श्लोक—महाभाष्यप्रदीप ३।१।१ में पठित अर्थविशेष उपाधिः श्लोक भी भ्राजान्तर्गत है। ऐसा पं० रामशंकर भट्टाचार्य का मत है।[2]

३.—छन्दः-शास्त्र वा साहित्य-शास्त्र—कात्यायन ने कोई छन्दः शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा था। इस के लिए इसी ग्रन्थ का भाग २, पृष्ठ ३८० पर अभिनव गुप्त का उद्धरण देखें।

४. स्मृति—षड्गुरु-शिष्य ने कात्यायन स्मृति और भ्राजसंज्ञक श्लोकों का कर्ता वार्तिककार को माना है।[3] वर्तमान में जो कात्यायन स्मृति उपलब्ध होती है, वह संभवतः अर्वाचीन है।

५. उभयसारिका-भाण—मद्रास से चतुर्भाणी प्रकाशित हुई है। उसमें वररुचिकृत 'उभयसारिका' नामक एक भाण छपा है। उसके अन्त में लिखा है—

इति श्रीमद्वररुचिमुनिकृतिरुभयसारिकानाम भाणः समाप्तः।

इस वाक्य में यद्यपि वररुचि का विशेषण 'मुनि' लिखा है, तथापि यह वार्तिककार वररुचिकृत प्रतीत नहीं होता। महाभाष्य पस्पशाह्निक में वार्तिककार को 'तद्धितप्रिय' लिखा है, परन्तु उभयसारिका में तद्धितप्रियता उपलब्ध नहीं होती। उसमें तद्धितप्रयोग अत्यल्प हैं, कृत्-प्रयोगों का बाहुल्य है। अतः 'कृतप्रयोगरुचय उदीच्याः'[4] इस नियम के अनुसार उपर्युक्त भाण का कर्ता कोई औदीच्य कवि है। सम्भव है यह भाण विक्रमसमकालिक वररुचि कवि कृत हो।

अनेक ग्रन्थ—आफ्रेक्ट कृत बृहत् हस्तलेख-सूचीपत्र में कात्यायन तथा वररुचि के नाम से अनेक ग्रन्थ उद्धृत हैं। उनमें से कितने ग्रन्थ वार्तिककार कात्यायन कृत हैं, यह अभी निश्चेतव्य है। हमें उनमें अधिक ग्रन्थ विक्रमकालिक वररुचि कृत प्रतीत होते हैं।

---

१. महाभाष्य प्रथमाह्निक। २. द्र० पूना ओरियण्टलिस्ट, भाग XIII में

भगवान् पतञ्जलि ने भारद्वाजीय वार्तिकों का उल्लेख महाभाष्य में अनेक स्थानों पर किया है।[1] ये वार्तिक पाणिनीयाष्टक पर ही रचे गये थे, यह बात महाभाष्य में उद्धृत भारद्वाजीय वार्तिकों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से स्पष्ट हो जाती है।[2]

भारद्वाजीय वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों से कुछ विस्तृत थे। यथा—

कात्या०—**घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम्**।[1]

भार०—**घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्**।[2]

कात्या०—**यङ्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमण्णिश्रिब्रूञामुपसंख्यानम्**।[3]

भार०—**यङ्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रिग्रन्थिग्रन्थिब्रूञामात्मनेपदा-कर्मकाणामुपसंख्यानम्**।[4]

इन भारद्वाजीय वार्तिकों का रचयिता कौन भारद्वाज है, यह अज्ञात है। यदि ये वार्तिक पाणिनीय व्याकरण पर नहीं लिखे गये हों, तो अवश्य ही पूर्वनिर्दिष्ट भारद्वाज व्याकरण पर रहे होंगे। ऐसी अवस्था में भारद्वाज व्याकरण और पाणिनीय व्याकरण में बहुत समानता माननी होगी।

३—सुनाग

महाभाष्य में अनेक स्थानों पर सौनाग वार्तिक उद्धृत है।[5] हरदत्त के लेखानुसार इन वार्तिकों के रचयिता का नाम सुनाग था।[6] कैयट

---

१. महाभाष्य १।१।२०, ५६॥ १।२।२२॥ १।३।६७॥ ३।१।३८, ४८, ८९॥ ४।१।७९॥ ६।४।४७, १५५॥

२. भारद्वाजीयाः पठन्ति—नित्यमकित्त्वमिडाद्योः, क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम्। महाभाष्य १।२।२२॥ न्यासकार लिखता है—पूङश्चेत्यत्र सूत्रे द्वयोर्विभाषयोर्मध्ये ये विधयस्ते नित्या भवन्तीति मन्यमानैर्भारद्वाजीयैरिदमुक्तम्—नित्यमकित्त्वमिडाद्योरिति। भाग १, पृष्ठ १६२। भारद्वाजीयाः पठन्ति—भ्रस्जो रोपधयोर्लोपः, आगमो रम् विधीयते। महाभाष्य ६।४।४७॥ ३. महाभाष्य १।१।२०॥

४. महाभाष्य ३।१।८९॥ ५. महाभाष्य २।२।१८॥ ३।२।५६॥ ४।१।७४, ८७॥ ३।१।५६॥ ६।१।९५॥ ६।३।४३॥

६. सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः। पदमञ्जरी भाग , पृष्ठ ७१।

विरचित महाभाष्यप्रदीप २।२।१८ से विदित होता है कि सुनाग आचार्य कात्यायन से अर्वाचीन है।[1]

सौनाग वार्तिक अष्टाध्यायी पर थे।

महाभाष्य ४।३।११५ से प्रतीत होता है कि सौनाग वार्तिक पाणिनीय अष्टक पर रचे गये थे। पतञ्जलि ने लिखा है—'इह हि सौनागाः पठन्ति—वुञश्छाञकृतप्रसंगः। इस पर कैयट लिखता है—पाणिनीयलक्षणे दोषोद्भावनमेतत्।

इसी प्रकार पतञ्जलि ने 'ओमाङोश्च' सूत्रस्थ चकार का प्रत्याख्यान करके लिखा है—**एवं हि सौनागाः पठन्ति—चोऽनर्थकोऽधिकारादेङः।**[2]

श्री पं० गुरुपद हालदार ने सुनाग को पाणिनि से पूर्ववर्ती माना है।[3] उनका मत ठीक नहीं, यह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। हालदार महोदय ने सुनाग आचार्य को नागवंशीय लिखा है, वह सम्भवतः नाम सादृश्य मूलक है।

सौनाग वार्तिकों का स्वरूप

सौनाग वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों की अपेक्षा बहुत विस्तृत हैं। अत एव महाभाष्य २।२।१७ में कात्यायनीय वार्तिक की व्याख्या के अनन्तर पतञ्जलि ने लिखा है—एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्।

महाभाष्य ४।१।१५ में लिखा—अत्यल्पमिदमुच्यते—ख्युन इति। **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्।**

यद्यपि महाभाष्य में यहां 'नञ्स्नञ्' आदि वार्तिक के कर्ता का नाम नहीं लिखा, तथापि महाभाष्य ३।२।५६ तथा ४।१।८७ में इसे सौनागों का वार्तिक कहा है।[4] अतः यह सौनाग वार्तिक है, यह स्पष्ट है। यह वार्तिक भी कात्यायनीय वार्तिक से बहुत विस्तृत है।

महाभाष्यस्थ सौनाग वार्तिकों की पहचान

पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि सौनाग वार्तिक कात्यायनीय वार्तिकों से अत्यधिक विस्तृत थे। महाभाष्य ४।१।१५ में 'अत्यल्पमिदमुच्यते'

---

१. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः

लिख कर उद्धृत किया हुआ वार्तिक सौनागों का है, यह पूर्व लेख से स्पष्ट है। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर 'अस्यद्वपमिदमुच्यते' लिखकर कात्यायनीय वार्तिकों से विस्तृत वार्तिक उद्धृत किये हैं।[1] बहुत सम्भव है वे सब सौनाग वार्तिक हों।

शृङ्गारप्रकाश में महावार्तिककार के नाम से महाभाष्य २।१।५१ में पठित एक वार्तिक उद्धृत है।[2] क्या यह महावार्तिककार सौनाग है?

महाभाष्य ४।२।६५ में महावार्तिक के अध्येताओं के लिए प्रयुज्यमान माहावार्तिक पद का निर्देश मिलता है।[3] ये महावार्तिक कौन से हैं यह विवेचनीय है।

सौनाग मत का अन्यत्र उल्लेख

महाभाष्य के अतिरिक्त काशिका,[4] भाषावृत्ति,[5] क्षीरतरङ्गिणी,[6] धातुवृत्ति[7] तथा मल्लवादिकृत द्वादशारनयचक्र की सिंहसूरि गणि की टीका[8] आदि ग्रन्थों में सौनागों के अनेक मत उद्धृत हैं।

४—क्रोष्टा

इस आचार्य के वार्तिक का उल्लेख महाभाष्य १।१।३ में केवल एक स्थान पर मिलता है। पतञ्जलि लिखता है—

---

१. महाभाष्य २।४।४६॥ ३।१।१४, २२, २५, ६७॥ ३।२।२६ इत्यादि॥

२. ननु च 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनमिति महावार्तिककारः पठति। शृङ्गारप्रकाश, पृष्ठ २६। ३. इह मा भूत्-माहावार्तिकः।

४. सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन, अस्यतेर्भावे। ७।२।१७॥

५. निष्ठायां कर्मणि शकेरिड् वेति सौनागाः। ७।२।१७॥

६. धातूनामर्थनिर्देशोऽयं प्रदर्शनार्थ इति सौनागाः। यदाहुः—क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोऽत्रार्थः प्रदर्शितः। प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः। देखो मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र पृष्ठ १८४६। रोमनाक्षर मुद्रित जर्मन संस्करण में "धातूना......यदाहुः" पाठ नहीं है। 'क्रियावाचित्वमाख्यातुम्' श्लोक चान्द्र धातुपाठ के अन्त में भी मिलता है। द्र० क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ३, हमारा संस्क०।

७. शक धातु पृष्ठ २०१, अस् धातु पृष्ठ ३०७, शवल् धातु पृष्ठ ३१६।

परिभाषान्तरमिति च कृत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति—नियमादिको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन।

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि क्रोष्ट्रीय वार्तिक पाणिनीय अष्टाध्यायी पर ही थे। क्रोष्ट्रीय वार्तिकों का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

५—वाडव (कुणरवाडव ?)

महाभाष्य ८।२।१०६ में लिखा है—अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति। इस पर नागेश भट्ट महाभाष्यप्रदीपोद्योत में लिखता है—सिद्धं त्विद्वितो-रिति' वार्तिकं वाडवस्य।

इस वार्तिककार के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

क्या वाडव और कुणरवाडव एक है ?

महाभाष्य ३।२।१४ में लिखा है—

कुणरवाडवस्त्वाह—नैषा शंकरा, शंगरैषा। गृणातिः शब्दकर्मा तस्यैष प्रयोगः।

पुनः महाभाष्य ७।३।१ में लिखा है—

कुणरवाडवस्त्वाह—नैष वहीनरः, कस्तर्हि ? विहीनर एषः। विहीनो नरः कामभोगाभ्याम्। विहीनरस्यापत्यं वैहीनरिः।

महाभाष्य के इन उद्धरणों में "कुणरवाडव" आचार्य का उल्लेख मिलता है। क्या महाभाष्य ८।२।१०६ में स्मृत वाडव "पदेषु पदैक-देशान्" नियम से कुणरवाडव हो सकता है ? कुणरवाडव का उल्लेख आगे किया जायगा।

६—व्याघ्रभूति

महाभाष्य में व्याघ्रभूति आचार्य का साक्षात् उल्लेख नहीं है। महाभाष्य २।४।३६ में 'अग्धिक्तिदिर्ल्यपि' इत्यादि एक श्लोकवार्तिक उद्धृत है। कैयट के मतानुसार यह श्लोकवार्तिक व्याघ्रभूति-विरचित है।[२]

---

१. भाष्य, कैयटकृत प्रदीप आदि ग्रन्थों के पर्यालोचन से हमें 'तत्रायथेष्ट-

काशिका ७। १। ९४ में एक श्लोक उद्धृत है।[1] कातन्त्रवृत्ति-पञ्जिका का कर्त्ता त्रिलोचनदास उसे व्याघ्रभूति के नाम से उद्धृत करता है। वह लिखता है—

तथा च व्याघ्रभूतिः—संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तमिति।[2]

सुपद्ममकरन्दकार ने भी इसे व्याघ्रभूति का वचन माना है।[3] न्यासकार इसे आगम वचन लिखता है।[4]

काशिका ७। २। १० में उद्धृत अनिट् कारिकाएं भी व्याघ्रभूति-विरचित मानी जाती हैं।[5] पं० गुरुपद हालदार ने इसे पाणिनि का साक्षात् शिष्य लिखा है।[6] इसमें प्रमाण अन्वेषणीय है।

७—वैयाघ्रपद्य

आचार्य वैयाघ्रपद्य का नाम उदाहरणरूप में महाभाष्य में बहुधा उद्धृत है। वैयाघ्रपद्य ने एक व्याकरणशास्त्र रचा था। उसका उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।[7]

काशिका ८। २। १ पर "शुष्किका शुष्कजङ्घा च" एक श्लोक उद्धृत है। भट्टोजिदीक्षित ने इसे वैयाघ्रपद्य-विरचित वार्तिक लिखा है।[8] यदि भट्टोजिदीक्षित का लेख ठीक हो और उक्त श्लोक अष्टाध्यायी ८। २। १ का प्रयोजननिदर्शक वार्तिक ही हो तो निश्चय ही यह पाणिनि से अर्वाचीन होगा। हमारा विचार है, यह श्लोक वैयाघ्रपदीय व्याकरण का है, परन्तु पाणिनीय सूत्र के साथ भी संगत होने से प्राचीन वैयाकरणों ने इसका

---

१. संबोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्। माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणन्त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः।

२. कातन्त्र, चतुष्टय। ३. सुपद्म, सुबन्त २४। ४. न्यास ७।१।९४॥

५. यभिर्जमन्तेष्वनिडेक इष्यते इति व्याघ्रभूतिना व्याहृतस्य……। शब्दकौस्तुभ अ० १, पाद १, आ० २, पृष्ठ ८२। तपिं तिपमिति व्याघ्रभूतिवचनविरोधाच्च। धातुवृत्ति पृष्ठ ८२। ६. व्याक० दर्श० इति० पृष्ठ ४४४।

७. पूर्व पृष्ठ १२२। ८. अत एव शुष्किका……इति वैयाघ्रपदीयवार्तिके

सम्बन्ध अष्टाध्यायी ८।२।१ से जोड़ दिया। महाभाष्य में यह श्लोक नहीं है। अथवा वैयाघ्रपद्य नाम के दो आचार्य मानने होंगे, एक व्याकरण-शास्त्र का प्रवक्ता और दूसरा वार्तिककार।

आचार्य वैयाघ्रपद्य के विषय में हम पूर्व पृष्ठ १२२-१२३ पर लिख चुके हैं।

महाभाष्य में स्मृत अन्य वैयाकरण

उपर्युक्त वार्तिककारों के अतिरिक्त निम्न वैयाकरणों के मत महाभाष्य में उद्धृत हैं—

१. गोनर्दीय   २. गोणिकापुत्र   ३. सौर्य भगवान्

४. कुणरवाडव   ५. भवन्तः ?

ये आचार्य अष्टाध्यायी के वार्तिककार थे वा वृत्तिकार वा इनका संबन्ध किसी अन्य व्याकरण के साथ था, यह अज्ञात है।

१—गोनर्दीय

गोनर्दीय आचार्य के मत महाभाष्य में निम्न स्थानों में उद्धृत हैं—

गोनर्दीयस्त्वाह—सत्यमेतत् 'सति त्वन्यस्मिन्निति ।[1]

गोनर्दीयस्त्वाह—अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ । त्वकत्पितृको मकत्पितृक इत्येव भवितव्यमिति ।[2]

न तर्हि इदानीमिदं भवति—इच्छाम्यहं काशकटीकारमिति । इष्टमेवैतद् गोनर्दीयस्य ।[3]

गोनर्दीयस्त्वाह—इष्टमेवैतत् संगृहीतं भवति—अतिजरमतिजरैरिति भवितव्यम् ।[4]

परिचय

गोनर्दीय नाम देशनिमित्तक है। इससे प्रतीत होता है कि गोनर्दीय आचार्य गोनर्द देश का है। इसका वास्तविक नाम अज्ञात है।

गोनर्द देश—उत्तर प्रान्त का वर्तमान गोंडा जिला सम्भवतः प्राचीन गोनर्द है। काशिका १।१।७५ में गोनर्द को प्राच्य देश लिखा है। कई

---

१. महाभाष्य १।१।२१।   २. महाभाष्य १।१।२९।

ऐतिहासिक गोनर्द को कश्मीर में मानते हैं। राजतरङ्गिणी नामक कश्मीर के ऐतिहासिक ग्रन्थ में गोनर्द नामक तीन राजाओं का उल्लेख है। सम्भव है उनके संबन्ध से कश्मीर का भी कोई प्रान्त गोनर्द नाम से प्रसिद्ध रहा हो। ऐसी अवस्था में गोनर्द नाम के दो देश मानने होंगे।

गोनर्दीय शब्द में विद्यमान तद्धित प्रत्यय से स्पष्ट है कि गोनर्दीय आचार्य प्राच्य गोनर्द देश का था।

गोनर्दीय और पतञ्जलि

कैयट[1] राजशेखर[2] आदि ग्रन्थकार गोनर्दीय शब्द को पतञ्जलि का नामान्तर मानते हैं। वैजयन्ती-कोषकार भी इसे पतञ्जलि का पर्याय लिखता है।[3] वात्स्यायन कामसूत्र में गोनर्दीय आचार्य का उल्लेख बहुधा मिलता है।[4] कामन्दकनीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षिणी नाम्नी प्राचीन टीका का रचयिता कामसूत्र को आचार्य कौटिल्य की कृति मानता है।[5] डा० कीलहार्न का मत है कि गोनर्दीय आचार्य महाभाष्यकार से भिन्न व्यक्ति है।

हमारे मत में भी गोनर्दीय आचार्य महाभाष्यकार पतञ्जलि नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि कश्मीरदेशज है, यह हम अगले प्रकरण में लिखेंगे।

---

१. भाष्यकारस्त्वाह—प्रदीप १। १। २१॥ गोनर्दीयपदं व्याचष्टे—भाष्यकार इति। उद्योत १। १। २१॥ २. यस्तु प्रयुङ्क्ते''तत्प्रमाणमेवेति गोनर्दीयः। काव्यमीमांसा पृष्ठ २६। ३. गोनर्दीयः पतञ्जलिः। पृष्ठ ९६ श्लोक १५७।

४. १। १। १५॥ १। ५। २५॥ ४। २। २५॥ यह संख्या दुर्गा प्रिंटिंग प्रेस अजमेर में मुद्रित कामसूत्र हिन्दी अनुवाद के अनुसार है। यह कामसूत्र का संक्षिप्त संस्करण है। ५. न्यास-कौटिल्य-वात्स्यायन-गौतमीयस्मृति-भाष्य-चतुष्टयेन प्रकाशितः, प्रकाशितपुरुषार्थचतुष्टयोपाय इति भुवि महीतले प्रख्यातः। अलवर राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र, परिशिष्ट पृष्ठ ११०। भाष्य शब्द का प्रत्येक के साथ संबन्ध है। न्यायभाष्य, कौटिल्यभाष्य (अर्थशास्त्र), वात्स्यायनभाष्य (कामशास्त्र) और गौतमस्मृतिभाष्य। अर्थशास्त्र और कामशास्त्र का प्रथमाध्याय सूत्र ग्रन्थ है, शेष संपूर्ण ग्रन्थ उन सूत्रों का भाष्य है। कामन्दकनीतिसार १। ५ में चाणक्य का विशेषण 'एकाकी' है। गौतम धर्मसूत्र के मस्करीभाष्य में असहायभाष्य बहुधा

यदि कोषकारों की प्रसिद्धि को प्रामाणिक माना जाय तो यह पतञ्जलि महाभाष्यकार न होकर निदान सूत्रकार पतञ्जलि हो सकता है। सम्भव है कैयट आदि को नाम-सादृश्य से भ्रम हुआ हो।

२—गोणिकापुत्र

इस आचार्य का मत पतञ्जलि ने महाभाष्य १।४।५१ में उद्धृत किया है—**उभयथा गोणिकापुत्र इति।** इस पर नागेश लिखता है—**गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः।** 'आहुः' पद से प्रतीत होता है कि नागेश को यह मत अभीष्ट नहीं है। वात्स्यायन कामसूत्र में गोणिकापुत्र का भी उल्लेख मिलता है।[1] कोशकार पतञ्जलि के पर्यायों में इस नाम को नहीं पढ़ते। अतः यह निश्चय ही महाभाष्यकार से भिन्न व्यक्ति है।

३—सौर्य भगवान्

पतञ्जलि महाभाष्य ८।२।१०६ में लिखता है—**तत्र सौर्यभगवता उक्तम्—अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति।**

कैयट के मतानुसार यह आचार्य 'सौर्य' नामक नगर का निवासी था।[2] सौर्य नगर का उल्लेख काशिका २।४।७ में मिलता है।[3] महाभाष्यकार ने इस आचार्य के नाम के साथ भगवान् शब्द का प्रयोग किया है। इससे इस आचार्य की महती प्रामाणिकता प्रतीत होती है। पतञ्जलि के लेख से यह भी विदित होता है कि सौर्य आचार्य वाडव आचार्य से अर्वाचीन है।

४—कुणरवाडव

कुणरवाडव आचार्य का मत महाभाष्य ३।२।१४ तथा ७।३।१ में उद्धृत है।[4] क्या यह पूर्वोक्त वार्तिककार वाडव हो सकता है?

---

१. गोणिकापुत्रः पारदारिकम्।१।१।१६॥ संबन्धिसखिश्रोत्रियराजदारवर्जमिति गोणिकापुत्रः।१।५।३१॥ २. सौर्यं नाम नगरं तत्रत्येनाचार्येणेदमुक्तम्। भाष्यप्रदीप ८।२।१०६॥ ३. सौर्यं च नगरं कैतवतं च ग्रामः।

४. कुणरवाडवस्त्वाह—नैषा शंकरा, शंगरैषा। कुत एतत्? गृणातिः शब्द-

५—भवन्तः ?

महाभाष्य ३।१।८ में लिखा है—इह भवन्तस्त्वाहुः—न अविवक्षितेति। पतञ्जलि ने यहां 'भवन्तः' पद से किस आचार्य वा किन आचार्यों का स्मरण किया है, यह अज्ञात है।

भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्यदीपिका में चार स्थानों में 'इह भवन्तस्त्वाहुः'[1] निर्देश करके कुछ मत उद्धृत किये हैं। महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २६९ में 'इन्द्रभवन्तस्त्वाहुः' पाठ है। यह अशुद्ध प्रतीत होता है, यहां भी कदाचित् 'इहभवन्तस्त्वाहुः' पाठ हो। पतञ्जलि और भर्तृहरि किसी एक ही आचार्य के मत उद्धृत करते हैं वा भिन्न भिन्न के, यह भी विचारणीय है।

न्यायवार्तिक ४।१।२१ में भी इह भवन्तः का निर्देश करके सांख्य मत का निर्देश किया है।[2]

इनके अतिरिक्त महाभाष्य में अन्य अपर आदि शब्दों से अनेक आचार्यों के मत उद्धृत हैं, परन्तु उनके नाम अज्ञात हैं।

महाभाष्यस्थ वार्तिकों पर एक दृष्टि

यद्यपि महाभाष्य में प्रधानतया कात्यायनीय वार्तिकों का उल्लेख है, तथापि उस में अन्य वार्तिककारों के वार्तिक भी उद्धृत हैं। कुछ वार्तिकों के रचयिताओं के नाम महाभाष्य से विदित हो जाते हैं, अनेक वार्तिकों के रचयिताओं के नाम महाभाष्य में नहीं लिखे, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इन सब वार्तिकों के अतिरिक्त महाभाष्य में बहुत से ऐसे वचनों का संग्रह है जो वार्तिक प्रतीत होते हैं, परन्तु वार्तिक नहीं हैं। महाभाष्यकार ने अन्य व्याकरणों से उन उन नियमों का संग्रह किया है, कहीं पूर्वाचार्यों के शब्दों में और कहीं स्वल्प शब्दान्तर से। यथा—

१—महाभाष्य ६।१।१४४ में एक वचन है—समो हिततयोर्वालोपः। यह वार्तिक प्रतीत होता है, परन्तु महाभाष्य १।१।२७ में इसे अन्य वैयाकरणों का वचन लिखा है—इहान्ये वैयाकरणाः समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते, समो हिततयोर्वा इति।

वैयाकरणों के ग्रन्थों से संगृहीत प्रतीत होते हैं। महाभाष्यकार ने इन नियमों का संग्रह जिस प्राचीन कारिका के आधार पर किया है, वह काशिका ६। १। १४४ में उद्धृत है।[2]

२—महाभाष्य ४। २। ६० में लिखा है—**सर्वसादेर्द्विगोश्च लः।** यह वचन प्राचीन वैयाकरणों की किसी कारिका का अंश है। महाभाष्य के कई हस्तलेखों में इस सूत्र के अन्त में कारिका का पूरा पाठ मिलता है।[3] वह निम्न प्रकार है—

अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्च लः।

इकन् पदोत्तर पदात् शतषष्टेः षिकन् पथः॥

३—महाभाष्य ४। १। २७ में पढ़ा है—**हायनो वयसि स्मृतः।** यह पाठ भी किसी प्राचीन कारिका का एकदेश है। कारिका में ही '**स्मृतः**' पद श्लोकपूर्त्यर्थ लगाया जा सकता है, अन्यथा वह व्यर्थ होगा।

४—महाभाष्य में कहीं कहीं पूरी पूरी कारिकाएं भी प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत हैं। यथा—

इष्णुच इकारादित्वमुदात्तत्वात् कृतं भुवः।

नञस्तु स्वरसिद्ध्यर्थमिकारादित्वमिष्णुचः॥[4]

डावतावर्थवैशिष्यान्निर्देशः पृथगुच्यते।

मात्राद्यप्रतिघाताय भावः सिद्धश्च डावतोः॥[5]

इन कारिकाओं में '**इष्णुच्**' और '**डावतु**' प्रत्यय पर विचार किया है। अष्टाध्यायी में ये प्रत्यय नहीं हैं। उस में इनके स्थान में क्रमशः '**खिष्णुच्**' और '**वतुप्**' प्रत्यय हैं। परन्तु इन कारिकाओं में जो विचार

---

१. समो हिततयोर्वा लोपः। संतुमुनोः कामे मनसि च। अवश्यमः कृत्ये।

२. लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्काममनसोरपि। समो हिततयोर्वा मांसस्य पचि युड्घञोः॥

३. कैयट ने पूरी कारिका की व्याख्या की है, परन्तु महाभाष्य के कई हस्तलेखों में पूरी कारिका उपलब्ध नहीं होती।

४. महाभाष्य ३। २। ५७॥

५. महाभाष्य ५। २। ५६॥ देखो "डावतावित्ति—पूर्वाचार्यप्रक्रियापेक्षो निर्देशः" इसी सूत्र पर कैयट।

"वृत्तिसूत्र" पद का प्रयोग अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] भाष्यसूत्र और वृत्तिसूत्र पदों की पारस्परिक तुलना से व्यक्त होता है कि पाणिनीय सूत्रों पर केवल वृत्तियां ही लिखी गई थीं, अत एव उनका 'वृत्तिसूत्र' पद से व्यवहार होता है। वार्तिकों पर सीधे भाष्य ग्रन्थ लिखे गये, इसलिये वार्तिकों को 'भाष्यसूत्र' कहते हैं। वार्तिकों के लिये 'भाष्यसूत्र' नाम का व्यवहार इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि वार्तिकों पर जो व्याख्यानग्रन्थ रचे गये वे 'भाष्य' कहाते थे।

अनेक भाष्यकार

महाभाष्य के अवलोकन से विदित होता है कि उस से पूर्व वार्तिकों पर अनेक भाष्य ग्रन्थ लिखे गये थे। वे इस समय अनुपलब्ध हैं। महाभाष्य में अनेक स्थानों पर 'अपर आह' लिख कर वार्तिकों की कई विभिन्न व्याख्याएं उद्धृत की हैं। यथा—

अभ्रुकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रुकुंसः भ्रूकुंसः, भ्रुकुटिः भ्रूकुटिः।

अपर आह—अकारो भ्रूकुंसादीनामिति वक्तव्यम्। भ्रकुंसः, भ्रकुटिः।[3]

यहां एक व्याख्या में वार्तिकस्थ 'अ' वर्ण निषेधात्मक है, दूसरी व्याख्या में 'अ' का विधान किया है।

इसी प्रकार महाभाष्य १।१।१० में '**सिद्धमनच्त्वाद् वाक्यापरिसमाप्तेर्वा**' वार्तिक की दो व्याख्याएं उद्धृत की हैं।

महाभाष्य २।१।१ में '**समर्थतराणां वा**' वार्तिक की '**अपर आह**' लिखकर तीन व्याख्याएं उद्धृत की हैं।

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि महाभाष्य से पूर्व वार्तिकों पर अनेक व्याख्याएं लिखी गई थीं। केवल कात्यायन के वार्तिक पाठ पर न्यूनातिन्यून तीन व्याख्याएं महाभाष्य से पूर्व अवश्य विद्यमान थीं। इसी प्रकार

---

१ देखो पूर्व पृष्ठ २८२, टिप्पणी ६। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पूर्व पृष्ठ २८२, टि० ७। २. पृष्ठ २१३। ३. महाभाष्य ६।३।६१॥

भारद्वाज, सौनाग आदि के वार्तिकों पर भी अनेक भाष्य ग्रन्थ लिखे गये होंगे। यह प्राचीन महती ग्रन्थराशि इस समय सर्वथा लुप्त हो चुकी है, इन ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों के नाम तक भी ज्ञात नहीं हैं।

अर्वाचीन वार्तिक-व्याख्याकार

महाभाष्य की रचना के अनन्तर भी कई विद्वानों ने वार्तिकों पर व्याख्याएं लिखीं, परन्तु हमें उन में से केवल तीन व्याख्याकारों का ज्ञान है।

---

१. हेलाराज

हेलाराजकृत वाक्यपदीय की टीका से विदित होता है कि उसने वार्तिकपाठ पर 'वार्तिकोन्मेष' नाम्नी एक व्याख्या लिखी थी। वह लिखता है—

वाक्यकारस्यापि तदेव दर्शनमिति वार्तिकोन्मेषे कथितमस्माभिः।[1]

वार्तिकोन्मेषे विस्तरेण यथालक्ष्यमस्माभिर्व्याख्यातमिति तत एवावधार्यम्।[2]

वार्तिकोन्मेषे यथागमं व्याख्यातम्, तत एवावधार्यम्।[3]

वार्तिकोन्मेष ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। हेलाराज का विशेष वर्णन आगे व्याकरण के 'दार्शनिक ग्रन्थकार' नामक अध्यायान्तर्गत वाक्यपदीय के प्रकरण में किया जायगा।

---

२. राघवसूरि

राघवसूरि ने वार्तिकों की 'अर्थप्रकशिका' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ C. पृष्ठ ५८०४ ग्रन्थाङ्क ३३१२ B.।

किया है वह अष्टाध्यायी के तत् तत् प्रकरणों में भी उपयोगी है। अतः महाभाष्यकार ने वहां वहां विना किसी परिवर्तन के इन प्राचीन कारिकाओं को उद्धृत कर दिया है।

५—महाभाष्य ४।३।६० में किसी प्राचीन व्याकरण की निम्न तीन कारिकाएं उद्धृत हैं —

> समानस्य तदादेश्चाध्यात्मादिषु चेष्यते।
> ऊर्ध्वं दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदस्य च॥
>
> मुखपार्श्वतसोरीयः कुग्जनपरस्य च।
> ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ चापि प्रत्ययौ॥
>
> मध्यो मध्यं दिनण् चास्मात् स्थाम्नो लुगजिनात्तथा।
> बाह्यो दैव्यः पाञ्चजन्यः गम्भीराञ्ञ्य इष्यते॥

कैयट नागेश आदि टीकाकारों ने इन कारिकाओं को अष्टाध्यायी ४।३।६० पर वार्तिक समझ कर इनकी पूर्वापर सङ्गति लगाने के लिये अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं। क्लिष्ट कल्पनाएं करने पर भी इन्हें अष्टाध्यायी पर वार्तिक मानने से जो अनेक पुनरुक्ति दोष उपस्थित होते हैं, उनका वे पूर्ण परिहार नहीं कर सके। इन्हें वार्तिक मानने पर तृतीय कारिका का चतुर्थ चरण स्पष्टतया व्यर्थ है, क्योंकि अष्टाध्यायी ४।३।५८ में 'गम्भीराञ्ञ्यः' सूत्र विद्यमान है। इसी प्रकार गहादि गण (४।२।१३८) में "मुखपार्श्वतसोर्लोपः, जनपरयोः कुक् च" गणसूत्र पढ़े हैं। अतः द्वितीय कारिका का पूर्वार्ध भी पिष्टपेषणवत् व्यर्थ है। इसलिये ये निश्चय ही किसी प्राचीन व्याकरण की कारिकाएं हैं। इनमें अपूर्व विधायक अंश की अधिकता होने से महाभाष्यकार ने इनका पूरा पाठ उद्धृत कर दिया।

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि महाभाष्य में उद्धृत अनेक वचन वार्तिककारों के वार्तिक नहीं हैं।

इस अध्याय में हमने पाणिनीयाष्टक पर वार्तिक रचने वाले सात वार्तिककारों और पांच अन्य वैयाकरणों (जिनके मत महाभाष्य में उद्धृत हैं) का संक्षेप से वर्णन किया है। अगले अध्याय में वार्तिकों के भाष्यकारों का वर्णन होगा।

नवमां अध्याय

वार्तिकों के भाष्यकार

पतञ्जलि-विरचित महाभाष्य में दो स्थानों पर लिखा है—**उक्तो भावभेदो भाष्ये**।[1]

इस पर कैयट आदि टीकाकार लिखते हैं कि यहां '**भाष्य**' पद से '**सार्वधातुके यक्**'[2] सूत्र के महाभाष्य की ओर संकेत है,[3] परन्तु हमारा विचार है कि पतञ्जलि का संकेत किसी प्राचीन भाष्यग्रन्थ की ओर है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१. महाभाष्य के '**उक्तो भावभेदो भाष्ये**' वाक्य की तुलना '**संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्**'[4] '**संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे**'[5] इत्यादि महाभाष्यस्थ-वचनों से की जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य में संग्रह के समान कोई प्राचीन '**भाष्य**' ग्रन्थ अभिप्रेत है। अन्यथा पतञ्जलि अपनी शैली के अनुसार '**उक्तो भावभेदो भाष्ये**' न लिखकर '**उक्तम्**' शब्द से संकेत करता।

२. क्षीरतरङ्गिणी में क्षीरस्वामी लिखता है—**भाष्ये नत्वं नेष्यते**।[6] वह मत महाभाष्य में नहीं मिलता।

३. महाभाष्य शब्द में "**महत्**" विशेषण इस बात का द्योतक है कि उस से पूर्व कोई भाष्य ग्रन्थ विद्यमान था। अन्यथा "**महत्**" विशेषण व्यर्थ है। यथा भारत-महाभारत, ऐतरेय-महैतरेय,[7] कौषीतक-महाकौषीतक।[8]

---

१. ३।३।१९ ॥ ३।४।६७ ॥ २. अष्टा० ३।१।६७ ॥

३. सार्वधातुके भावभेदः। ३।३।१९ ॥ सार्वधातुके यगित्यत्र बाह्याभ्यन्तरयोर्भावयोर्विशेषो दर्शितः। ३।४।६७ ॥ ४. महाभाष्य अ० १, पा० १ आ० १, पृष्ठ ६। ५. महाभाष्य अ० १, पा० १, आ० १, पृष्ठ ६।

६. क्षीरत० १।६४६, पृष्ठ १३२, हमारा संस्क०।

गोणिका-पुत्र—महाभाष्य १।४।५१ में गोणिकापुत्र का एक मत निर्दिष्ट है।[1] नागेश की व्याख्या से प्रतीत होता है कि कई प्राचीन टीकाकार गोणिकापुत्र का अर्थ यहां पतञ्जलि समझते थे।[2] वात्स्यायन कामसूत्र में भी गोणिका-पुत्र का निर्देश मिलता है।[3] हमारा विचार है कि गोणिकापुत्र भी पतञ्जलि से पृथक् व्यक्ति है।

नागनाथ—कैयट ने महाभाष्य ४।२।९२ की व्याख्या में पतञ्जलि के लिये नागनाथ नाम का प्रयोग किया है।[4]

अहिपति—चक्रपाणि ने चरकटीका के प्रारम्भ में अहिपति नाम से पतञ्जलि को नमस्कार किया है।[5]

फणिभृत्—भोजराज ने योगसूत्र-वृत्ति के प्रारम्भ में फणिभृत् पद से पतञ्जलि का निर्देश किया है।[6]

शेषराज—अमरचन्द्र सूरि ने हैम-बृहद्वृत्त्यवचूर्णि में महाभाष्य का एक पाठ शेषराज के नाम से उद्धृत किया है।[7]

शेषाहि—वल्लभदेव ने शिशुपालवध २।११२ की टीका में पतञ्जलि को शेषाहि नाम से स्मरण किया है।[8]

चूर्णिकार—भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका में तीन बार चूर्णिकार पद से पतञ्जलि का उल्लेख मिलता है।[9] सांख्यकारिका की युक्ति-दीपिका टीका में महाभाष्य १।४।२१ का वचन चूर्णिकार के नाम

---

१. उभयथा गोणिकापुत्र इति। २. गोणिकापुत्रो भाष्यकार इत्याहुः।

३. पूर्व पृष्ठ ३०३ टि० १। ४. तत्र जात इत्यत्र तु सूत्रेऽस्य लक्षणत्व-माश्रित्यैतेषां सिद्धिमभिधास्यति नागनाथः।

५. पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥ ६. वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृता भर्त्रेव येनोद्धृतः।

७. यदाह श्रीशेषराजः—नहि गोधाः सर्पन्तीति सर्पणादहिर्भवति। (महाभाष्य में अनेकत्र यह पाठ है)। ८. पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्।

९. हमारा हस्तलेख पृष्ठ १७९, १९९, २१६।

से उद्धृत है।[1] स्कन्दस्वामी निरुक्त ३।१६ की व्याख्या में चूर्णिकार के नाम से महाभाष्य १।१।५७ का पाठ उद्धृत करता है।[2] स्कन्दस्वामी की निरुक्त टीका ८।२ में चूर्णिकार के नाम से एक पाठ और उद्धृत है,[3] परन्तु वह पाठ महाभाष्य का नहीं है, वह मीमांसा १।३।३० के शाबर भाष्य का पाठ है। आधुनिक पाणिनीयशिक्षा का शिक्षाप्रकाश-टीकाकार शाबर भाष्य के इस पाठ को महाभाष्य के नाम से उद्धृत करता है।[4] बौद्ध चीनी यात्री इत्सिग ने महाभाष्य का चूर्णि नाम से उल्लेख किया है।[5]

चूर्णिशब्द का अर्थ—क्षीरस्वामी ने अमरटीका में चूर्णि और भाष्य को पर्याय माना है।[6] श्री गुरुपद हालदार ने वृद्धत्रयी पृष्ठ २९० पर चूर्णि का अर्थ दुर्गसिंह कृत उणादि वृत्ति ३।१८३ के अनुसार सूत्रवार्तिकभाष्य—लिखा है। परन्तु छपी हुई कातन्त्र उणादि वृत्ति (३।५१) में चरतीति चूर्णिः ग्रन्थविशेषः पाठ मिलता है।

पदकार—स्कन्दस्वामी ने निरुक्तटीका १।३ में पदकार के नाम से महाभाष्य ५।२।२८ का पाठ उद्धृत किया है।[7] उव्वट ने भी ऋक्प्रातिशाख्य १३।१९ की टीका में पदकार शब्द से महाभाष्य १।१।९ का पाठ उद्धृत किया है।[8] आत्मानन्द ने अस्यवामीयसूक्त के भाष्य में पदकार के नाम से महाभाष्य १।१।४७ की ओर संकेत किया है।[9] भामह ने अपने अलङ्कार ग्रन्थ में सूत्रकार के साथ पदकार

१. कदाचित् गुणो गुणिविशेषको भवति कदाचित् गुणिना गुणो विशेष्यते इति चूर्णिकारस्य प्रयोगः। पृष्ठ ७।

२. तथा च चूर्णिकारः पठति—वर्तिनिर्देशोऽयं सन्ति न सन्तीति।

३. चूर्णिकारो ब्रूते—य एव लौकिकाः शब्दा इति।

४. य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्था इति महाभाष्योक्तेः। शिक्षासंग्रह पृष्ठ ३८६ काशी सं०। ५. इत्सिग की भारतयात्रा पृष्ठ २७२।

६. भाष्यं चूर्णिः। ३।५।३१॥ पृष्ठ ३५३।

७. पदकार आह—उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मकाः......क्रियामाहुः।

८. पदकारेणाप्युक्तम्—प्रथमद्वितीयाः......महाप्राणा इति।

का स्मरण किया है।[1] क्षीरस्वामी ने अमरकोश ३।१।३५ की टीका में पदकार के नाम से एक पाठ उद्धृत किया है,[2] परन्तु वह महाभाष्य में नहीं मिलता। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका टीका में पदकार के नाम से एक वार्त्तिक उद्धृत है।[3] न्यास ३।२।२१ में जिनेन्द्रबुद्धि ने एक पदकार का पाठ उद्धृत किया है[4] वह वार्तिक और उसके भाष्य से अक्षरशः नहीं मिलता है।[5]

दुर्घटवृत्ति पृष्ठ १२९ पर अनुपदकार के एक मत का उल्लेख मिलता है।[6] मैत्रेयरक्षित ने भी तन्त्रप्रदीप ७।४।१ में अनुपदकार का मत उद्धृत किया है।[7] ये अनुपदकार के नाम से उद्धृत मत महाभाष्य में नहीं मिलते। काशिका ७।२।५८ में पदशेषकार का एक मत उद्धृत है वह भी महाभाष्य में नहीं मिलता।[8] पदशेषकार का एक उद्धरण पुरुषोत्तमदेव-विरचित महाभाष्य लघुवृत्ति की 'भाष्यव्याख्या प्रपञ्च' नाम्नी टीका में भी उपलब्ध होता है।[9] हमारा विचार है अनुपदकार और पदशेषकार दोनों एक ही हैं।

महाभाष्यकार को पदकार क्यों कहते हैं ? इस विषय में हम निश्चित

---

१. सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद् योऽन्यथा भवेत् ।४।२२। यहां पदकार शब्द महाभाष्यकार के लिये प्रयुक्त हुआ है। मुद्रितग्रन्थ में 'पादकार' छपा है वह अशुद्ध है।

२. यजजप इत्यत्र वदेरनुपदेशः कार्य इति पदकारवाक्याद्दूकः।

३. पदकारस्त्वाह—जातिवाचकत्वात्। पृष्ठ ७। तुलना करो—दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम्। वार्तिक। १।२।१०॥ हो सकता है यह वार्तिक न हो, भाष्य वचन ही हो। ४. तथाहि पदकारः पठति—उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयतीति। ५. उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणम्। उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं प्रयोजनम्। महाभाष्य १।१।७२॥

६. प्रेन्वनमिति अनुपदकारेणानुम उदाहरणमुपन्यस्तम्।

७. एवं च युवानमाख्यत् अचीकलदित्यादिप्रयोगोऽनुपदकारेण नेष्यत इति लक्ष्यते। देखो, भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८६४ की टिप्पणी में उद्धृत।

८. पदशेषकारस्य पुनरिदं दर्शनम्………॥ पदशेषो ग्रन्थविशेष इति पदमञ्जरी। काशिका का उद्धृत पाठ धातुवृत्ति में भी उद्धृत है। देखो गम धातु,

[illegible]

रूप से कुछ नहीं कह सकते। महाभाष्य में पाणिनीय सूत्रों के प्रायः प्रत्येक पद पर विचार किया है। संभव है इसलिए महाभाष्यकार को पदकार कहा जाता हो। शिशुपालवध के **'अनुत्सूत्रपदन्यासा'**[1] इत्यादि श्लोक की व्याख्या में वल्लभदेव लिखता है—**पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्**। वल्लभदेव ने "पद" का अर्थ 'पतञ्जलिविरचित महाभाष्य' किस आधार पर किया यह अज्ञात है। यदि यह अर्थ ठीक हो तो काशिका और भाष्यव्याख्याप्रपञ्च मे निर्दिष्ट 'पदशेषकार' का अर्थ 'महाभाष्य-शेष का रचयिता' होगा। इस ग्रन्थ का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

वंश और देश—पतञ्जलि ने महाभाष्य जैसे विशालकाय ग्रन्थ में अपना किञ्चिन्मात्र परिचय नहीं दिया। अतः पतञ्जलि का इतिवृत्त सर्वथा अन्धकारावृत है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि महाभाष्य के कुछ व्याख्याकार **"गोणिका-पुत्र'** शब्द का अर्थ पतञ्जलि मानते हैं, यदि वह ठीक हो तो पतञ्जलि की माता का नाम **"गोणिका"** होगा, परन्तु हमें यह ठीक प्रतीत नहीं होता।

कुछ ग्रन्थकार 'गोनर्दीय' को पतञ्जलि का पर्याय मानते हैं। यदि उनका मत प्रामाणिक हो तो महाभाष्यकार की जन्मभूमि गोनर्द होगी। गोनर्द देश वर्तमान गोंडा जिले का आसपास का प्रदेश है। एक गोनर्द देश कश्मीर में भी है। परन्तु गोनर्दीय को पतञ्जलि का पर्याय मानने पर उसे प्राग्देशवासी मानना होगा, क्योंकि गोनर्दीय पद में गोनर्द की **'एङ् प्राचां देशे'**[2] से वृद्ध संज्ञा होकर छ = ईय प्रत्यय होता है।[3] हमारा विचार है गोनर्दीय पतञ्जलि से भिन्न व्यक्ति है और महाभाष्यकार भी प्राग्देशान्तर्गत गोनर्द का नहीं है। वह कश्मीरज है, यह अनुपद लिखेंगे।

महाभाष्य ३। २।११४ में **"अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः, तत्र सक्तून् पास्यामः"** इत्यादि उदाहरणों में अनेकृत् कश्मीर गमन का उल्लेख मिलता है। इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि कश्मीर जाने की बड़ी उत्कण्ठा हो रही हो। इन उदाहरणों के आधार पर कुछ एक विद्वानों का मत है कि पतञ्जलि की जन्मभूमि कश्मीर थी।

महाभाष्य में [illegible] से प्रतीत होता है कि पतञ्जलि अधिकतर पाटलिपुत्र में निवास करता था। महाभाष्य के विविध निर्देशों से व्यक्त होता है कि पतञ्जलि मथुरा, साकेत, कौशाम्बी और पाटलिपुत्र आदि से भले प्रकार विज्ञ था। अतः पतञ्जलि की जन्मभूमि कौन सी थी, यह सन्दिग्ध है।

अनेक पतञ्जलि

पतञ्जलि-विरचित तीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध हैं—सामवेदीय निदानसूत्र, योगसूत्र और महाभाष्य। सामवेद की एक पातञ्जलशाखा भी थी, इस का निर्देश कई ग्रन्थों में मिलता है।[1] योगसूत्र के व्यासभाष्य में किसी पतञ्जलि का एक मत उद्धृत है।[2] वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक-तात्पर्य-टीका में योगदर्शन के व्यासभाष्य ४।१० के पाठ को स्वशब्दों में उद्धृत करते हुए पतञ्जलि के नाम से स्मरण किया है।[3] सांख्यकारिका की युक्तिदीपिकाटीका में पतञ्जलि के सांख्यसिद्धान्त-विषयक अनेक मत उद्धृत हैं।[4] आयुर्वेद की चरकसंहिता भी पतञ्जलि द्वारा परिष्कृत मानी जाती है। समुद्रगुप्तविरचित कृष्णचरित के अनुसार पतञ्जलि ने चरक में कुछ धर्माविरुद्ध-योगों का सन्निवेश किया था।[5] चक्रपाणि[6]

---

१. देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, पृष्ठ २०७ (प्र० सं०)।

२. अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः ।३।४४॥ तुलना करो—सेश्वरसांख्यानामाचार्यस्य पतञ्जलेरित्यर्थः। 'गुणसमूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः' इति योगभाष्ये स्पष्टम्। नागेश, उद्योत ४।१।४॥

३. यथाहुस्तत्र भवन्तः पतञ्जलिपादाः—"को हि योगप्रभावादृते अगस्त्यइव समुद्रं पिबति स इव च दण्डकारण्यं सृजति" इति। न्या० वा० ता० टी० १।१।१। पृष्ठ ६॥ तुलना करो व्यासभाष्य ४।१०—दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत, समुद्रमगस्त्यवद् वा पिबेत्।

हमारे विचार में योग दर्शन का व्यासभाष्य पतञ्जलि प्रोक्त है। व्यास शब्द का अर्थ है विस्तृत। इस से यह भी ध्वनित होता है कि पतञ्जलि ने स्वदर्शन पर व्यास (= विस्तृत) तथा समास (=संक्षिप्त) दो भाष्य रचे थे।

४. पृष्ठ ३२, १००, १३६, १४५, १४६, १७५।

५. धर्मावियुक्ताश्चरके योगा रोगमुषः कृताः। मुनिकविवर्णन। आयुर्वेदीय चरक संहिता में पतञ्जलिने योगों का सन्निवेश किस प्रकार किया, इस का निर्देश

पुण्यराज[1] और भोजदेव[2] आदि अनेक ग्रन्थकार महाभाष्य, योगसूत्र और चरकसंहिता इन तीनों का कर्त्ता एक मानते हैं। मैक्समूलर ने षड्गुरुशिष्य का एक पाठ उद्धृत किया है, जिसके अनुसार योगदर्शन और निदानसूत्र का कर्त्ता एक व्यक्ति है।[3]

महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित की प्रस्तावना में पतञ्जलि के लिये लिखा है—

> विद्ययोद्रिक्तगुणतया भूमावमरतां गतः।
> पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा॥
> कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम्।
> धर्माविप्रयुक्ताश्चरके योगारोगमुषः कृताः॥
> महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्।
> योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम्॥

अर्थात् महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि ने चरक में धर्मानुकूल कुछ योग सम्मिलित किये, और योग की विभूतियों का निदर्शक योगव्याख्यान भूत 'महानन्दकाव्य' रचा।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि का चरकसंहिता और योगदर्शन के साथ कुछ सम्बन्ध अवश्य है। चक्रपाणि आदि ग्रन्थकारों का लेख सर्वथा काल्पनिक नहीं है। हमारा विचार है पातञ्जल शाखा, निदानसूत्र और योगदर्शन का रचयिता पतञ्जलि एक ही व्यक्ति है, यह अति प्राचीन ऋषि है। आङ्गिरस पतञ्जलि का उल्लेख मत्स्य पुराण १९५। २९ में मिलता है।[4] पाणिनि ने २। ४। ६९ के उपकादिगण में पतञ्जलि

---

१. तदेवं ब्रह्मकाण्डे 'कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः' (कारिका १४७) इत्यादि-श्लोकेन भाष्यकारप्रशंसोक्ता। वाक्यपदीयटीका काण्ड २, पृष्ठ २८४ काशी संस्क०। वस्तुतः इस कारिका में भाष्यकार की प्रशंसा का न कोई प्रसङ्ग ही है और न भर्तृहरि ने अपनी स्वोपज्ञव्याख्या में इसकी भाष्यकार की प्रशंसापरक व्याख्या ही की है। अतः पुण्यराज की यह अप्रासंगिक क्लिष्ट कल्पना है।

२. पूर्व पृष्ठ ३१२ टि० ६। ३. योगाचार्यः स्वयं कर्त्ता योगशास्त्रनिदानयोः।

[illegible] पृष्ठ ३३९ में द्रष्टव्य।

काल

पतञ्जलि का इतिवृत्त अन्धकारावृत है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। पतञ्जलि के काल निर्णय में जो सहायक सामग्री महाभाष्य में उपलब्ध होती है, वह इस प्रकार है—

१. अनुशोणं पाटलिपुत्रम्। २। १। १५॥

२. जेयो वृषलः। १। १। ५०॥

३. काण्डीभूतं वृषलकुलम्। कुडचीभूतं वृषलकुलम्। ६।३।६१॥

४. मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। ५। ३। ९९॥

५. अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।
३। २। १११॥

६. पुष्यमित्रसभा, चन्द्रगुप्तसभा। १। १। ६८॥

७. महीपालवचः श्रुत्वा जुघुषुः पुष्यमाणवाः। एष प्रयोग उपपन्नो भवति। ७। २। २३॥

८. इह पुष्यमित्रं याजयामः। ३। २। १२३॥

९. पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। ३। १। २६॥

१०. यदा भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। ३। ३। १४७॥

इन उद्धरणों से निम्न परिणाम निकलते हैं—

१—प्रथम उद्धरण में पाटलिपुत्र का उल्लेख है। महाभाष्य में पाटलिपुत्र का नाम अनेक बार आया है। वायु पुराण ९९। ३१८ के अनुसार महाराज उदयी (उदायी) ने गंगा के दक्षिण कूल पर कुसुमपुर बसाया था।[1] साम्प्रतिक ऐतिहासिकों का मत है कि कुसुमपुर पाटलिपुत्र का ही नामान्तर है। अतः उनके मत में महाभाष्यकार महाराज उदयी से अर्वाचीन है।

---

१. उदायी भविता यस्मात् त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः। स वै पुरवरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्। गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति॥

वृषल को 'जीतने योग्य' कहा है। संख्या ३ में किसी महान् वृषलकुल के कुड्य के सदृश अतिसंकीर्ण होने का संकेत है। यह वृषलकुल मौर्यकुल है। मुद्राराक्षस में चाणक्य चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' नाम से संबोधित करता है। महाभाष्य के इन दो उद्धरणों की ओर श्री पं० भगवद्दत्तजी ने सब से प्रथम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है।[1]

वृषल शब्द का अर्थ—सम्प्रति वृषल शब्द का अर्थ शूद्र समझा जाता है। विश्वप्रकाश-कोश में वृषल का अर्थ शूद्र, चन्द्रगुप्त और अश्व लिखा है।[2] वस्तुतः वृषलशब्द **देवानांप्रियः**[3] के समान द्व्यर्थक है, उसका एक अर्थ है पापी और दूसरा धर्मात्मा। निरुक्त ३। १६ में वृषलशब्द का अर्थ लिखा है—

ब्राह्मणवद् वृषलवद्। ब्राह्मणा इव वृषला इव। वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा।

अर्थात्—वृषल का अर्थ वृष=धर्म[4]+शील और वृष=धर्म+अशील है। द्वितीय अर्थ में शकन्धु[5] के समान अकार का पररूप होगा।

इन्हीं दो अर्थों में वृषलशब्द की दो व्युत्पत्तियां भी उपलब्ध होती हैं। एक-**वृषं धर्मं लाति आदत्ते इति वृषलः** है। इसी में '**वृषादिभ्यश्चित्**।[6] इस उणादि सूत्र से वृष धातु से कर्ता में कल प्रत्यय होने पर '**वर्षतीति वृषलः**' व्युत्पत्ति होती है। दूसरी व्युत्पत्ति मनुस्मृति में लिखी है—

वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥[7]

---

१. भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ २६३, २७४ द्वितीय संस्क०।

२. वृषलः कथितः शूद्रे चन्द्रगुप्ते च वाजिनि। पृष्ठ १५६, श्लोक ६०। 'वाजिनि' के स्थान पर 'राजिनि' पाठ युक्त प्रतीत होता है। ३. देवताओं का प्यारा और मूर्ख। इस को न समझकर भट्टोजि दीक्षित ने 'देवानां प्रिय इति चोपसंख्यानम्' (महाभाष्य ६। ३। २१) वार्तिक में 'मूर्खे' पद का प्रक्षेप कर दिया। सि० कौ० सूत्रसंख्या ६७६। ४. वृषो हि भगवान् धर्मः। मनु० ८। १६॥

५. शक+अन्धुः=शकन्धुः। शकन्ध्वादिषु च। वार्तिक ६। १। ६४।

इन्हीं विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तों को दर्शाने के लिये निरुक्तकार ने दो निर्वचन दर्शाये हैं। अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने मौर्य चन्द्रगुप्त के लिये वृषल शब्द का प्रयोग देख कर 'मुरा' नाम्नी शूद्रा स्त्री से चन्द्रगुप्त के उत्पन्न होने की कल्पना की है। यह कल्पना ऐतिह्य-विरुद्ध होने से त्याज्य है। मौर्य क्षत्रिय वंश था।[2] व्याकरण के नियमानुसार मुरा की संतति मौरेय कहाएगी,[3] मौर्य नहीं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि महाभाष्य के संख्या २, ३ के उद्धरणों में मौर्य बृहद्रथ समकालिक मौर्यकुल की हीनता का उल्लेख है। संख्या ४ के उद्धरण में स्पष्ट मौर्यशब्द का उल्लेख है।[4] अतः महाभाष्यकार मौर्य राज्य के अनन्तर हुआ होगा।

३—संख्या ५ में अयोध्या और माध्यमिका[5] नगरी पर किसी यवन के आक्रमण का उल्लेख है। गार्गीसंहिता के अनुसार इस यवनराज का नाम धर्ममीत था। व्याकरण के नियमानुसार 'अरुणत्' शब्द का प्रयोगकर्त्ता भाष्यकार यवनराज धर्ममीत का समकालिक होना चाहिये।[6]

४—संख्या ६—९ चार उद्धरणों में स्पष्ट पुष्यमित्र का उल्लेख है। कई विद्वानों का मत है कि संख्या ८ में महाभाष्यकार के पुष्यमित्रीय अश्वमेध का ऋत्विक् होने का संकेत है। संख्या १० से इसकी पुष्टि होती है। इस में क्षत्रिय को यज्ञ कराने की निन्दा की है। पतञ्जलि का यजमान पुष्यमित्र ब्राह्मण वंश का था।

५—**महाराज समुद्रगुप्त** के कृष्णचरित का अंश हमने पूर्व उद्धृत किया है। उस से ज्ञात होता है कि महामुनि पतञ्जलि ने कोई **'महानन्दमय'** काव्य बनाया था। यदि महानन्द शब्द श्लेष से महानन्द पद्म का वाचक हो तो निश्चय ही पतञ्जलि महानन्द पद्म का उत्तरवर्त्ती होगा।

---

२. चन्द्रगुप्ताय मौर्यकुलप्रसूताय। कामन्दक नीतिसार की उपाध्यायनिरपेक्षा टीका। अलवर राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र, परिशिष्ट पृष्ठ ११०।

३. अष्टा० ४।१।१२१॥ ४. नागेश इस उद्धरणान्तर्गत मौर्य पद का अर्थ 'विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्तः' करता है।

५. यह चित्तौड़गढ़ से ६ मील पूर्वोत्तर दिशा में है। सम्प्रति 'नगरी' नाम से प्रसिद्ध है। ६. [illegible]

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि शुङ्गवंश्य महाराज पुष्यमित्र का समकालीन है।[1] पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय ऐतिहासिक पुष्यमित्र का काल विक्रम से लगभग १५० वर्ष पूर्व मानते हैं, परन्तु अनेक प्रमाणों से यह मत युक्त प्रतीत नहीं होता। इस में संशोधन की पर्याप्त आवश्यकता है। भारतीय पौराणिक कालगणनानुसार पुष्यमित्र का काल विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्व ठहरता है। चीनी विद्वान् महात्मा बुद्ध का निर्वाण विक्रम से ९०० से १५०० वर्ष पूर्व विभिन्नकालों में मानते हैं।[2] इसी प्रकार जैन ग्रन्थों में महावीर स्वामी के निर्वाण की विभिन्न तिथियां दी हुई हैं।[2] अतः बिना विशेष परीक्षा किये पाश्चात्य ऐतिहासिकों द्वारा निर्धारित कालक्रम माननीय नहीं हो सकता।

अब हम महाभाष्यकार के कालनिर्णय के लिये बाह्य साक्ष्य उपस्थित करते हैं।

चन्द्राचार्य द्वारा महाभाष्य का उद्धार

आचार्य भर्तृहरि और कल्हण के लेख से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने विलुप्तप्राय महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था।[3] अतः महाभाष्यकार के कालनिर्णय में चन्द्राचार्य का कालज्ञान महान् सहायक है। चन्द्राचार्य का काल भी विवादास्पद है, इसलिये हम प्रथम चन्द्राचार्य के काल के विषय में लिखते हैं—

चन्द्राचार्य का काल

कल्हण के लेखानुसार चन्द्राचार्य कश्मीराधिपति महाराज अभिमन्यु का समकालिक था।[4] उस के मतानुसार अभिमन्यु कनिष्क का उत्तरवर्ती है। कल्हण ने कनिष्क को बुद्धनिर्वाण के १५० वर्ष पश्चात् लिखा है।[5] बुद्धनिर्वाण के विषय में अनेक मत हैं। कल्हण ने बुद्धनिर्वाण की कौन सी तिथि मान कर कनिष्क को १५० वर्ष पश्चात् लिखा है, यह अज्ञात

---

१. यह लोकप्रसिद्ध मतानुसार लिखा है। अपना मत हम आगे लिखेंगे।

२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १ पृष्ठ १२१, १२२ (द्वि० सं०)।

३. पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः। स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥ वाक्यपदीय २। ४८६ ॥ चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्। प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्। राजतरङ्गिणी, तरङ्ग १, श्लोक १७६ ॥

... [illegible] अनुमान लिखता है — "बुद्ध की मृत्यु से ठीक ४०० वर्ष पीछे कनिष्क संपूर्ण जम्बू द्वीप का सम्राट् बना।" चीनी ग्रन्थकार बुद्धनिर्वाण को विक्रम से ९००–१५०० वर्ष पूर्व अनेक विभिन्न तिथियां मानते हैं। कल्हणविरचित राजतरङ्गिणी के अनुसार अभिमन्यु से प्रतापादित्य तक २१ राजा हुए (कई प्रतापादित्य को विक्रमादित्य मानते हैं)। राजतरङ्गिणी के अनुसार इनका राज्यकाल १०१४ वर्ष ९ मास ९ दिन था। कल्हण के लेखानुसार विक्रमादित्य ने मातृगुप्त को कश्मीर का राजा बनाया था। मातृगुप्त अभिमन्यु से ३१ पीढ़ी पश्चात् हुआ है। उस का काल अभिमन्यु से १३०० वर्ष ११ मास और ९ दिन उत्तरवर्ती है। कल्हण ने प्राचीन ऐतिहासिक आधार पर प्रत्येक राजा का वर्ष, मास और दिनों तक की पूरी पूरी संख्या दी है। अतः उस के काल को सहसा अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने अभिमन्यु का काल बहुत अर्वाचीन और भिन्न भिन्न माना है। बिलफर्ड ४२३ वर्ष ईसापूर्व, बोथलिंग १०० वर्ष ईसापूर्व, प्रिंसिप ७३ वर्ष ईसापूर्व, लासेन ४० वर्ष ईसापश्चात् और स्टाईन ४००–५०० वर्ष ईसापश्चात् अभिमन्यु को रखते हैं।[1] पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित कालक्रम की अपेक्षा भारतीय पौराणिक और राजतरङ्गिणी की कालगणना अधिक विश्वसनीय है। राजतरङ्गिणी की कालगणना में थोड़ी सी भूल है, यदि उसे दूर कर दिया जाय तो दोनों गणनाएं लगभग समान हो जाती हैं।

चन्द्राचार्य के कालनिर्णय में एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। चान्द्रव्याकरण १।२।८१ का उदाहरण—**अजयत् जर्त्तो हूणान्**। अर्थात् जर्त ने हूणों को जीता। जर्त एक सीमान्त की पुरानी जाति है। महाभारत सभापर्व ४७।२६ में जर्तों के लिए **'लोमशाः शृङ्गिणो नराः'** पाठ मिलता है। दुर्गसिंह ने उणादि २।६८ की वृत्ति में **'जर्तः दीर्घरोमा'**[2] लिखा है। वर्धमान गणरत्नमहोदधि कारिका २०१ में 'शक' और 'खस' के साथ 'जर्त' शब्द पढ़ता है। हेमचन्द्र उणादिवृत्ति (सूत्र २००) में जर्त का अर्थ राजा करता है। सम्भव है, हेमचन्द्र का संकेत उसी जर्त राजा की ओर हो जिस की हूणों की विजय का उल्लेख चान्द्रव्याकरण की वृत्ति में मिलता है। रमेशचन्द्र मजुम्दार ने चान्द्रव्याकरण के 'अजयत्

१. [illegible] पृ० ६१ द्रष्टव्य। २. 'जर्त' शब्द का निर्देश पञ्च० [illegible]

जर्ता हूणान्' पाठ को बदल कर 'अजयद्द गुप्तो हूणान्' बना दिया है।[1] यह भयङ्कर भूल है।[2] अनेक विद्वानों ने मजुम्दार महोदय का अनुकरण करके चन्द्रगोमी के आश्रयदाता अभिमन्यु का काल गुप्तकाल के अन्त में विक्रम की पांचवी शताब्दी में माना है।[3] और उसी के आधार पर वाक्यपदीयकार भर्तृहरि को भी बहुत अर्वाचीन बना दिया है।

इस प्रकार महाभाष्यकार को महाराज पुष्यमित्र का समकालिक मानने पर भी वह भारतीय गणनानुसार विक्रम से लगभग १२०० वर्ष पूर्ववर्ती अवश्य है।

महाभाष्यकार को पुष्यमित्र का समकालिक मानने में एक कठिनाई भी है। उस का यहां निर्देश करना आवश्यक है। इससे भावी इतिहास-शोधकों को विचार करने में सुगमता होगी।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वायुपुराण ९९। ३१९ के अनुसार महाराज उदयी ने गङ्गा के दक्षिणकूल पर कुसुमपुर नगर बसाया था, वही कालान्तर में पाटलिपुत्र के नाम से विख्यात हुआ, ऐसा साम्प्रतिक ऐतिहासिकों का मत है। मुद्राराक्षस नाटक में मौर्य चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र की स्थिति अनुगङ्ग कही है, और इस समय भी अनुगङ्ग ही है। परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखता है। यदि महाभाष्यकार को शुङ्गकाल में माना जाय तो उसका पाटलिपुत्र को अनुशोण लिखना उपपन्न नहीं हो सकता।

अनेक पाटलिपुत्र

नागेश महाभाष्य २।१।१ के **'कुतो भवान् पाटलिपुत्रात्'** वचन की व्याख्या में लिखता है—**कस्मात् पाटलिपुत्राद् भवानागत इत्यर्थः,**

---

१. ए न्यू हि० आफ दि० इ० पी० भाग ६, पृष्ठ १६७। यही भूल डा० बेल्वाल्कर ने सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर पृष्ठ ५८ पर, विश्वेश्वरनाथ रेऊ ने भारत के प्राचीन राजवंश पृष्ठ २८८ पर की है। 'जैन सत्यप्रकाश' वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक पृष्ठ ८० पर भी यही भूल है। आश्चर्य की बात तो यह है कि चान्द्रवृत्ति में स्पष्ट जर्त पाठ है। उस मूल पाठ को किसी ने भी देखने का यत्न नहीं किया। इसी का नाम है अन्धपरम्परा अथवा 'गतानुगतिको लोकः'।

अनेकत्वात् पाटलिपुत्रस्य, तदवयवानां वा प्रश्नः। इससे सन्देह होता है कि पाटलिपुत्र नाम कदाचित् अनेक नगरों का रहा हो।

पाटलिपुत्र का अनेक बार बसना

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने महावंश नामक बौद्धग्रन्थ के आधार पर लिखा है—'शाक्यमुनि के जीवन काल में सोन के किनारे पाटली ग्राम में आजातशत्रु ने दुर्गनिर्माण किया, उसे देखकर भगवान् बुद्ध ने भविष्य-वाणी की—'यह भविष्य में प्रधान नगर होगा'।[1] महाराज अजातशत्रु उदयी का पूर्वज है। इस से स्पष्ट है कि उदयी के कुसुमपुर बसाने से पूर्व कोई पाटली ग्राम विद्यमान था।

हमारा विचार है पाटलिपुत्र अत्यन्त प्राचीन नगर है और वह इन्द्रप्रस्थ के समान अनेक बार उजड़ा और बसा है।

पाणिनि से पूर्व पाटलिपुत्र का उजड़ना

पाटलिपुत्र पाणिनि से बहुत प्राचीन नगर है। वह पाणिनि से पूर्व एक बार उजड़ चुका था। गणरत्नमहोदधि में वर्धमान लिखता है—

पुरगा नाम काचिद् राक्षसी तया भक्षितं पाटलिपुत्रम्, तस्या निवासः।[2]

अर्थात् किसी पुरगा नाम की राक्षसी ने पाटलिपुत्र को उजाड़ दिया था।

यह इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इस को सुरक्षित रखने का श्रेय वर्धमान सूरि को है। पाटलिपुत्र के उजड़ने की यह घटना पाणिनि से प्राचीन है, क्योंकि पाणिनि ने ८।४।४ में साक्षात् पुरगावण का उल्लेख किया है।[3] सम्भव है, इसलिये महाभारत आदि में पाटलिपुत्र का वर्णन नहीं मिलता। इस से स्पष्ट है कि पाटलिपुत्र को उदयी ने ही नहीं बसाया। वह प्राचीन नगर है और कई बार उजड़ा और कई बार बसा। भगवान् तथागत के समय पाटली ग्राम की विद्यमानता भी इसी को पुष्ट करती है। अतः महाभाष्य में पाटलिपुत्र का उल्लेख होने मात्र से वह उदयी के अनन्तर नहीं हो सकता।

---

१. निरुक्तालोचन पृष्ठ ७१। २. पृष्ठ १७६।

१—महाभाष्य में कहीं पर भी पुष्यमित्र का शुङ्ग वा राजा विशेषण उपलब्ध नहीं हो सकता और न कहीं पुष्यमित्र के अश्वमेध करने का ही संकेत है। अतः यह नाम भी देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र आदि के तुल्य सामान्य पद नहीं है, इस में कोई हेतु नहीं।

२—यदि "**इह पुष्यमित्रं याजयामः**" वाक्य में "**इह**" पद को पाटलिपुत्र का निर्देशक माना जाय तो उस से उत्तरवर्ती "**इह अधीमहे**" वाक्य से मानना होगा कि पतञ्जलि पुष्यमित्र के अश्वमेध के समय पाटलिपुत्र में अध्ययन कर रहा था। यह अर्थ मानने पर अश्वमेध कराना और गुरुमुख से अध्ययन करना दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते। अतः इन वाक्यों का किसी अर्थविशेष में संकेत मानना अनुपपन्न होगा।

३—"**चन्द्रगुप्तसभा**" उदाहरण अनेक हस्तलेखों में उपलब्ध नहीं होता, और जिन में मिलता है उनमें भी "**पुष्यमित्रसभा**" के अनन्तर उपलब्ध होता है। यह पाठक्रम ऐतिहासिक दृष्टि से अयुक्त है।

४—महाभाष्य के पूर्व उद्धृत उद्धरण में वृषल शब्द का बहुप्रसिद्ध अधर्मात्मा अर्थ भी हो सकता है। वृषल का केवल अर्थ चन्द्रगुप्त ही नहीं है।

५—मौर्यवंश प्राचीन है, उसका आरम्भ चन्द्रगुप्त से ही नहीं हुआ। अतः केवल मौर्यपद का उल्लेख होने से विशेष परिणाम नहीं निकाला जा सकता। महाभाष्य के टीकाकारों के मत में मौर्य शब्द शिल्पिवाचक है।[1]

६—"**अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्**" में किसी यवन राजविशेष का साक्षात् उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं, कालयवन नामक अति प्राचीन यवन सम्राट् ने भारत के एक बड़े भाग पर आक्रमण किया था और इस देश पर भारी अत्याचार किए थे। इसे श्रीकृष्ण ने मारा था।[2] भारतीय आर्य बहुत प्राचीन काल से यवनों से परिचित थे। रामायण महाभारत आदि में यवनों का बहुधा उल्लेख उपलब्ध होता है। अतः केवल इतने निर्देश से कालविशेष की सिद्धि नहीं हो सकती।

---

१. मौर्याः—विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवन्तः। नागेश, भाष्यप्रदीपोद्योत। ५। ३।

७—भर्तृहरि और कल्हण के प्रमाण से हम पूर्व लिख चुके हैं कि चन्द्राचार्य ने नष्ट हुए महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था। महान् प्रयत्न करने पर उसे दक्षिण से एक मात्र प्रति उपलब्ध हुई थी। बहुत सम्भव है चन्द्राचार्य ने नष्ट हुए महाभाष्य का उसी प्रकार परिष्कार किया हो जैसे नष्ट हुई अग्निवेश संहिता का चरक और दृढबल ने तथा काश्यप संहिता का जीवक ने परिष्कार किया।

समुद्रगुप्त कृत कृष्णचरित का संकेत

समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित का जो अंश उपलब्ध हुआ है उस में मुनिकवियों और राजकवियों का जो भी वर्णन किया गया है वह कालक्रमानुसार है। यह बात दोनों प्रकार के कविवर्णनों से स्पष्ट है। समुद्रगुप्त ने पतञ्जलि का वर्णन देवल के पश्चात् और भास से पूर्व किया है।

यद्यपि भास का काल भी विवादास्पद ही है। तथापि भास के प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण नाटक के एक श्लोक का निर्देश कौटल्य अर्थशास्त्र में होने[1] से इतना स्पष्ट है कि भास आचार्य चाणक्य से अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्वभावी है। अधिक सम्भावना यही है कि वह महाराज उदयन का समकालिक हो। अतः भारतीय इतिहास के अनुसार भास का काल विक्रम से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है।

यतः समुद्रगुप्त ने पतञ्जलि का वर्णन भास से पूर्व किया है, इसलिए उसका काल १५०० वि० पूर्व से अवश्य ही पूर्व होना चाहिए।

उक्त मत का साधक प्रमाणान्तर

आयुर्वेदीय चरक संहिता में लिखा है कि इस काल में अर्थात् कलि के आरम्भ में मनुष्यों की औसत आयु १०० वर्ष है।[2] प्रत्येक १०० वर्ष के पश्चात् मनुष्य की औसत आयु में एक वर्ष का ह्रास होता है।[3]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने प्रथमाह्निक में लिखा है—

किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति।

इस से स्पष्ट है कि भाष्यकार के समय मनुष्य की प्रायिक आयु १०० वर्ष नहीं थी।

---

१. नवं शरावं सलिलस्य, पूर्णं ………। प्र० यौ० ४।२। अर्थशास्त्र १०।३॥

२. वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले। शारीर ६। २६॥

का आयु का जो निर्देश किया है और उत्तरोत्तर आयु ह्रास के जिस वैज्ञानिक तत्त्व का संकेत किया है, उस का साक्ष्य अभारतीय ग्रन्थों में भी मिलता है। बाइबल में लिखा है—

हमारी आयु के बरस सत्तर तो होते हैं और चाहे बल के कारण अस्सी बरस भी हों तो भी उन पर का घमण्ड कष्ट और व्यर्थवात ठहरता है।[1]

इस से स्पष्ट है कि ईसामसीह के समय मनुष्य की प्रायिक आयु ७० वर्ष की मानी जाती थी। भारतीय ऐतिहासिक काल गणनानुसार ईसामसीह का काल कलि संवत् ३१०० में है। इस प्रकार कलि आरम्भ से लेकर ईसामसीह तक ३००० वर्ष में चरक के प्रति सौ वर्ष में १ वर्ष का ह्रास के नियमानुसार ३० वर्ष का ह्रास होना स्वाभाविक है। इस से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि चरक संहिता ईसामसीह से ३००० वर्ष प्राचीन तो अवश्य है। अर्थात् भारतीय कालगणना ठीक है और पाश्चात्य विद्वानों ने ईसा से १४०० वर्ष पूर्व जो भारतयुद्ध की स्थापना की है, वह नितान्त अशुद्ध है।

उक्त नियमानुसार भाष्यकार का काल—पतञ्जलि ने **यः सर्वथा चिरं जीवति** शब्दों से जिस भाव को व्यक्त किया है उसी भाव को बाइबल में **चाहे बल के कारण** शब्दों से प्रकट किया गया है। इसलिए इन दोनों वर्णनों की तुलना से स्पष्ट है कि सामान्य आयु को प्रयत्न पूर्वक १० वर्ष और बढ़ाया जा सकता है। इसी नियम के अनुसार भाष्यकार के शब्दों से यही अभिप्राय निकलता है कि भाष्यकार के समय **सामान्य आयु ९० वर्ष** की थी और चिरजीवी १०० वर्ष तक भी जीते थे। इस प्रकार चरक के आयुर्विज्ञान के नियमानुसार पतञ्जलि का काल २००० विक्रम पूर्व होना चाहिए उस से उत्तरवर्ती नहीं माना जा सकता।

२००० वि० पू० मानने में आपत्ति—महाभाष्यकार को २००० वि० पूर्व मानने में सब से बड़ी आपत्ति यही आती है कि महाभाष्य में **पाटलिपुत्र वृषलकुल (=चन्द्रगुप्त मौर्यकुल), साकेत और माध्यमिका पर यवन**

---

१. पुराना नियम, भजनसंहिता अ० ९०, पृष्ठ ५९७, मशीन प्रेस इलाहाबाद,

आक्रमण, पुष्यमित्र, चन्द्रगुप्त आदि का वर्णन मिलता है[1]। इस कारण महाभाष्यकार को शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र से पूर्व का नहीं माना जा सकता।

समाधान—इन आपत्तियों का सामान्य समाधान हम ने पूर्व पृ० ३२३—३२६ तक किया है। विशेष यहां लिखते हैं—

महाभाष्य का परिष्कार—महाभाष्य का जो पाठ इस समय मिलता है वह अक्षरशः पञ्जतलिविरचित ही है ऐसा कहना भारतीय ऐतिहासिक परम्परा से मुह मोड़ना है। भारतीय परम्परा में पचासों ग्रन्थ ऐसे हैं जिन का उत्तरोत्तर आचार्यों द्वारा परिष्कार होने पर भी ग्रन्थ मूल ग्रन्थकार अथवा आद्य परिष्कारक के नाम से ही विख्यात हैं।

मानव धर्मशास्त्र का न्यूनातिन्यून तीन बार परिष्कार हुआ पुनरपि वह मूलतः मनुस्मृति नाम से ही प्रसिद्ध है। महाभारत का वर्तमान स्वरूप भी व्यासप्रणीत भारत के तीन परिष्कारों के अनन्तर सम्पन्न हुआ है परन्तु इसे व्यास विरचित ही कहा जाता है। वाल्मीकि रामायण के तीन पाठ सम्प्रति प्रत्यक्ष हैं ये परिष्कार भेद से सम्पन्न हुए हैं, परन्तु तीनों वाल्मीकि विरचित कहे जाते हैं। चरक संहिता के भी ३-४ बार परिष्कार हुए। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों की भी व्यवस्था समझनी चाहिए।

महाभाष्य के वर्तमान पाठ का परिष्कारक—महाभाष्य का वर्तमान में जो पाठ मिलता है उस का प्रधान परिष्कारक है आचार्य चन्द्रगोमी। भर्तृहरि और कल्हण के प्रमाण हम पूर्व (पृष्ठ ३२१, टि० २) उद्धृत कर चुके हैं (और अनुपद पुनः उद्धृत करेंगे)। उनमे स्पष्ट है कि कश्मीराधिपति महाराज अभिमन्यु के पूर्व महाभाष्य का न केवल पठन ही लुप्त हो गया था अपितु उस के हस्तलेख भी नष्टप्राय हो चुके थे। चन्द्राचार्य ने महान् प्रयत्न करके दक्षिण के किसी पार्वत्य प्रदेश से इसका एकमात्र हस्तलेख प्राप्त किया।

ग्रन्थ के पठनपाठन के लुप्त हो जाने से तथा हस्तलेखों के दुर्लभ हो जाने पर ग्रन्थों की क्या दुर्दशा होती है[2] यह किसी भी विज्ञ विद्वान् से

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ ३१८। २. दृढबल ने जब चरक का परिष्कार किया उस समय चरक के चिकित्सास्थान के १३ वें अध्याय से आगे के ४० अध्याय नष्ट हो चुके थे। उन्हें दृढबल ने अनेक तन्त्रों के साहाय्य से पूरा किया। परन्तु शैली वही रखी जो ग्रन्थ में आरम्भ से विद्यमान थी। दृढबल स्वयं लिखता है—

परिष्कार अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। उस परिष्कार में परिष्कर्त्ता द्वारा नवीन अंशों का समावेश साधारण बात है। इसलिए हमारा दृढ़ मत है कि महाभाष्य में जो पूर्व निर्दिष्ट प्रसंग आए हैं वे परिष्कर्त्ता चन्द्राचार्य द्वारा सन्निविष्ट हुए हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र से बहुत प्राचीन हैं, अन्यथा भारतीय ऐतिह्य-परम्परा का महान् ज्ञाता महाराज समुद्रगुप्त अपने कृष्णचरित में पतञ्जलि का वर्णन महाकवि भास से पूर्व कदापि न करता।

इस विवेचना का सार यही है कि महाभाष्य के चन्द्रगोमी द्वारा परिष्कृत वर्तमान पाठ के आधार पर भाष्यकार पतञ्जलि के काल का निर्धारण करना अन्याय्य है। यदि हमारे द्वारा प्रदर्शित २००० वि० पूर्व काल न भी माना जाए और उसे शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र का समकालिक ही माना जाए, तब भी वह विक्रम पूर्व १२०० वर्ष से उत्तरवर्त्ती नहीं हो सकता। पाश्चात्य विद्वानों का पुष्यमित्र को १५० ईसा पूर्व में रखना सर्वथा भारतीय सत्य ऐतिहासिक काल गणना के विपरीत है। निश्चय ही पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित भारत के प्राचीन इतिहास की रूपरेखा ईसायत के पक्षपात और राजनैतिक दुरभिसन्धि के कारण बड़े प्रयत्न से निर्मित है। अतः वह आँख मूंद कर किसी भी सत्य भारतीय द्वारा स्वीकृत नहीं की जा सकती। उसे आप्तोपदेश-वाक्य के समान स्वीकार करना भारतीय ज्ञान विज्ञान और स्वीय सामर्थ्य का अपमान करना है।

महभाष्य की रचनाशैली

यद्यपि महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का ग्रन्थ है, तथापि अन्य व्याकरण-ग्रन्थों के सदृश वह शुष्क और एकाङ्गी नहीं है। इस में व्याकरण जैसे क्लिष्ट और शुष्क विषय को अत्यन्त सरल और सरस ढंग से हृदयंगम कराया है। इसकी भाषा लम्बे लम्बे समासों से रहित, छोटे छोटे वाक्यों से युक्त, अत्यन्त सरल, परन्तु बड़ी प्राञ्जल और सरस है। कोई भी असंस्कृतज्ञ व्यक्ति दो तीन मास के परिश्रम से इसे समझने योग्य संस्कृत सीख सकता

दर्पं। पत्त्रकृंकरं भूतपति समप्रसाद्य समापयत् ॥ ब्रह्मणत्वार्थं दृढव्रतो जातः पञ्चनदे पुरे ॥ भवि० १२। ६६-६८ ॥

है। लेखनशैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में सब से अद्भुत है। कोई भी ग्रन्थ इसकी रचनाशैली की समता नहीं कर सकता। शबरस्वामी ने महाभाष्य के आदर्श पर अपना मीमांसाभाष्य लिखने का प्रयास किया, परन्तु उसकी भाषा इतनी प्राञ्जल नहीं है, वाक्यरचना लड़खड़ाती है और अनेक स्थानों में उस की भाषा अपने भाव को व्यक्त करने में असमर्थ है। स्वामी शंकराचार्यकृत वेदान्तभाष्य की भाषा यद्यपि प्राञ्जल और भाव व्यक्त करने में समर्थ है, तथापि महाभाष्य जैसी सरल और स्वाभाविक नहीं है। चरकसंहिता के गद्यभाग की भाषा यद्यपि महाभाष्य जैसी सरल प्राञ्जल, और स्वाभाविक है, तथापि उसकी विषय-प्रतिपादन-शैली महाभाष्य जैसी उत्कृष्ट नहीं है। अतः भाषा की सरलता, प्राञ्जलता, स्वाभाविकता और विषय-प्रतिपादनशैली की उत्कृष्टता आदि की दृष्टि से यह ग्रन्थ समस्त संस्कृत वाङ्मय में आदर्शभूत है।

महाभाष्य की महत्ता

महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। क्या प्राचीन, क्या नवीन समस्त पाणिनीय वैयाकरण महाभाष्य के सन्मुख नतमस्तक हैं। महामुनि पतञ्जलि के काल में पाणिनीय और अन्य प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों की महती ग्रन्थराशि विद्यमान थी। पतञ्जलि ने पाणिनीय व्याकरण के व्याख्यानमिष से महाभाष्य में उन समस्त ग्रन्थों का सारसंग्रह कर दिया। महाभाष्य में उल्लिखित प्राचीन आचार्यों का निर्देश हम वार्त्तिककार के प्रकरण में कर चुके हैं। इसी प्रकार महाभाष्य में अन्य प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों से उद्धृत कतिपय वचनों का उल्लेख भी पूर्व हो चुका है। महाभाष्य का सूक्ष्म पर्यालोचन करने से विदित होता है कि यह ग्रन्थ केवल व्याकरणशास्त्र का ही प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है, अपितु समस्त विद्याओं का आकर ग्रन्थ है। अत एव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय (२। ४८६) लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥

महाभाष्य का अनेक बार लुप्त होना

है। इतने सुदीर्घ काल में महाभाष्य के पठनपाठन का अनेक बार उच्छेद हुआ। इतिहास से विदित होता है कि महाभाष्य का लोप न्यूनातिन्यून तीन बार अवश्य हुआ है। यथा—

प्रथम वार—भर्तृहरि के लेख से विदित होता है कि वैजि, सौभव और हर्यक्ष आदि शुष्क तार्किकों ने महाभाष्य का प्रचार नष्ट कर दिया था। चन्द्राचार्य ने महान् परिश्रम करके दक्षिण के किसी पार्वत्य प्रदेश से एक हस्तलेख प्राप्त कर उसका पुनः प्रचार किया। भर्तृहरि का लेख इस प्रकार है—

> **वैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।**
> **आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके॥**
> **यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।**
> **काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥**
> **पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।**
> **स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥**[1]

कल्हण ने लिखा है कि चन्द्राचार्य ने महाराज अभिमन्यु के आदेश से महाभाष्य का उद्धार किया था।[2]

द्वितीय वार—कल्हण की राजतरङ्गिणी से ज्ञात होता है कि विक्रम की ८ वीं शताब्दी में महाभाष्य का प्रचार पुनः नष्ट हो गया था। कश्मीर के महाराज जयापीड ने देशान्तर से 'क्षीर' संज्ञक शब्दविद्योपाध्याय को बुलाकर विछिन्न महाभाष्य का प्रचार पुनः कराया। कल्हण का लेख इस प्रकार है—

> **देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।**
> **प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले॥**
> **क्षीराभिधानाच्छब्दविद्योपाध्यायात् संभृतश्रुतः।**
> **बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः॥**[3]

महाराज जयापीड का शासन काल विक्रम सं ८०८—८३९ तक है। एक वैयाकरण क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी, अमरकोशटीका आदि अनेक

---

१. वाक्यपदीय २।४८७, ४८८, ४८९॥ २. चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वादेशं तस्मात्तदागमम्। प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं च व्याकरणं कृतम्॥ राजतरङ्गिणी १। १७६॥

व्यक्ति है। क्षीरस्वामी अपने ग्रन्थों में महाराज भोज और उसके सरस्वती-कण्ठाभरण को बहुधा उद्धृत करता है। अतः इस क्षीरस्वामी का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।[1]

तृतीय बार—विक्रम की १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में सिद्धान्त-कौमुदी और लघुशब्देन्दुशेखर आदि अर्वाचीन ग्रन्थों के अत्यधिक प्रचार के कारण महाभाष्य का पठन पाठन प्रायः लुप्त हो गया था। काशी के अनेक वैयाकरणों की अभी तक धारणा है—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

पहिले दो बार आचार्य चन्द्र और क्षीर ने महाभाष्य का उद्धार तात्कालिक सम्राटों की सहायता से किया, परन्तु इस बार महाभाष्य का उद्धार कौपीनमात्रधारी परमहंस दण्डी स्वामी विरजानन्द और उन के शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। श्री स्वामी विरजानन्द ने तात्कालिक पण्डितों की पूर्वोक्त धारणा के विपरीत घोषणा की थी—

अष्टाध्यायीमहाभाष्ये द्वे व्याकरणपुस्तके।
ततोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत्सर्वं धूर्तचेष्टितम्॥

आज भारतवर्ष में यत्र तत्र जो कुछ थोड़ा बहुत महाभाष्य का पठन पाठन उपलब्ध होता है, उसका श्रेय इन्हीं दोनों गुरु-शिष्यों को है।

महाभाष्य के पाठ की अव्यवस्था

हमारे पूर्व लेख से स्पष्ट है कि महाभाष्य के पठन-पाठन का अनेक वार उच्छेद हुआ है। इस उच्छेद के कारण महाभाष्य के पाठों में बहुत अव्यवस्था उत्पन्न होगई है। भर्तृहरि, कैयट और नागेश आदि टीकाकार अनेक स्थानों पर पाठान्तरों को उद्धृत करते हैं। नागेश कई स्थानों में महाभाष्य के अपपाठों का निदर्शन कराता है। अनेक स्थानों में महाभाष्य का पाठ पूर्वापर व्यस्त हो गया है। टीकाकारों ने कहीं कहीं उसका निर्देश किया है, कई स्थान विना निर्देश किये छोड़ दिये हैं। सम्भव है टीकाकारों

---

१. क्षीरतरङ्गिणी की रचना जयसिंह के राज्यकाल (वि० सं० ११८५—

के समय व पाठ ठीक रहे हों और पीछे से मूल तथा टीका का पाठ खण्डित हो गया हो। इसी प्रकार अनेक स्थानों में महाभाष्य के पाठ नष्ट हो गये हैं। हम उनसे से कुछ स्थलों का निर्देश करते हैं—

१—अष्टाध्यायी के 'अव्ययीभावश्च'[1] सूत्र के भाष्य में लिखा है—

अस्य च्वौ–अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते, दोषाभूतमहर्दिवाभूता रात्रिरित्येवमर्थम्। स इहापि प्राप्नोति–उपकुम्भीभूतम्। उपमणिकीभूतम्।

महाभाष्यकार ने '**अस्य च्वौ**' सूत्र के विषय में '**अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते**' लिखा है। सम्प्रति महाभाष्य में '**अस्य च्वौ**' सूत्र का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। सम्पूर्ण महाभाष्य में कहीं अन्यत्र भी '**अस्य च्वौ**' के विषय में '**अव्ययप्रतिषेध**' का विधान नहीं। अतः स्पष्ट है कि महाभाष्य में '**अस्य च्वौ**' सूत्र सम्बन्धी भाष्य नष्ट हो गया है।

२—महाभाष्य ४। २। ६० के अन्त में निम्न कारिका उद्धृत है—

अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादेर्द्विगोश्च लः।
इकन् पदोत्तरपदात् शतषष्टेः षिकन् पथः॥

महाभाष्य में इस कारिका के केवल द्वितीय चरण की व्याख्या उपलब्ध होती है। इस से प्रतीत होता है, कभी महाभाष्य में शेष तीन चरणों की व्याख्या भी अवश्य रही होगी, जो इस समय अनुपलब्ध है।

३—पतञ्जलि ने '**क्रमेजन्तः**'[2] सूत्र के भाष्य में '**सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य**' परिभाषा के कुछ दोष गिनाए हैं। कैयट इस सूत्र के प्रदीप के अन्त में उन दोषों का समाधान दर्शाता हुआ सब से प्रथम '**कष्टाय**' पद में दीर्घत्व की अप्राप्ति का समाधान करता है। महाभाष्य में पूर्वोक्त परिभाषा के दोष-परिगणन प्रसंग में कष्टाय पद संबन्धी 'दीर्घत्व की अप्राप्ति' दोष का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। अतः नागेश लिखता है—

कष्टायेति यादेशो दीर्घत्वस्येति ग्रन्थो भाष्यपुस्तकेषु भ्रष्टोऽतो न दोषः।

अर्थात्—दोष निदर्शन प्रसंग में '**कष्टायेति यादेशो दीर्घत्वस्य**' इत्यादि पाठ भाष्य में खण्डित हो गया है। अतः कैयट का दोष परिहार करना अयुक्त नहीं है।

४—कैयट ८।४।४७ के महाभाष्य-प्रदीप में लिखता है—

'नायं प्रसज्यप्रतिषेधः' इति **पाठोऽयं लेखकप्रमादान्नष्टः ।**

अर्थात् महाभाष्य में **'नायं प्रसज्यप्रतिषेधः'** पाठ लेखक प्रमाद से नष्ट होगया अर्थात् अपभ्रष्ट होगया ।

५—वाक्यपदीय २।४२ की स्वोपज्ञ व्याख्या में भर्तृहरि भाष्य के नाम से एक लम्बा पाठ उद्धृत करता है । यह पाठ महाभाष्य में सम्प्रति उपलब्ध नहीं होता ।[1]

इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभाष्य का जो पाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह कई स्थानों पर खण्डित है ।

महाभाष्य का प्रकाशन यद्यपि कई स्थानों से हुआ है, तथापि इसका अभी तक जैसा उत्कृष्ट परिशुद्ध संस्करण होना चाहिये वैसा प्रकाशित नहीं हुआ । डा० कीलहार्न का संस्करण ही इस समय सर्वोत्कृष्ट है, परन्तु उस में अभी संशोधन की पर्याप्त अपेक्षा है । डा० कीलहार्न के अनन्तर महाभाष्य के अनेक प्राचीन हस्तलेख और टीकाएं उपलब्ध हो गई हैं, उनका भी पूरा पूरा उपयोग नये संस्करण में होना चाहिये ।

अन्य ग्रन्थ

हम प्रारम्भ में लिख चुके हैं कि पतञ्जलि के नाम से सम्प्रति तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—निदानसूत्र, योगदर्शन और महाभाष्य । इनमें से निदानसूत्र और योगदर्शन दोनों किसी प्राचीन पतञ्जलि की रचनाएं हैं ।

१—**महानन्द काव्य**—महाराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के तीन पद्य हमने ऊपर उद्धृत किये हैं । उनसे विदित होता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **'महानन्द'** वा **'महानन्दमय'** नाम का महाकाव्य रचा था । इस काव्य में पतञ्जलि ने काव्य के मिष से योग की व्याख्या की थी । इसका 'महानन्द' काव्य का मगधसम्राट् महानन्द से कोई संबन्ध नहीं था ।

२—**चरक का परिष्कार**—हम पूर्व लिख चुके हैं कि चक्रपाणि, पुण्यराज और भोजदेव आदि अनेक ग्रन्थकार पतञ्जलि को चरक संहिता का प्रतिसंस्कारक मानते हैं । समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के पूर्व

उद्धृत श्लोकों से भी प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने चरक संहिता में कुछ धर्माविरुद्ध योगों का सन्निवेश किया था। चरक संहिता के प्रत्येक स्थान के अन्त में लिखा है—**अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते**। क्या चरक पतञ्जलि का ही नामान्तर है?

हमने महाभाष्य में उद्धृत कुछ वैदिक पाठों की उपलब्ध शाखाओं के पाठों से तुलना की है। उस से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पतञ्जलि अधिकतर काठक संहिता के पाठों को उद्धृत करता है। काठक संहिता 'चरक' चरणान्तर्गत है। हम महाभाष्य में निर्दिष्ट दो पाठ उद्धृत करते हैं—

(क)—महाभाष्य २। १। ४–**पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनर्निष्कृतो रथः**। तुलना करो—

काठक सं०—**पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनरुत्सृष्टोऽनड्वान्, पुनर्निष्कृतो रथः**। ८। १५॥

मैत्रायणी सं०—**पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनर्णवो रथः, पुनरुत्सृष्टोऽनड्वान्**। १। ७। २॥

तैत्तिरीय सं०—**पुनर्निष्कृतो रथो दक्षिणा, पुनरुत्स्यूतं वासः**। १। ५। २॥

कैयट महाभाष्य में उद्धृत उद्धरण को काठक संहिता का वचन मानता है। वह लिखता है—**काठकेऽन्तोदात्तः पठ्यते, तदभिप्रायेण पुनःशब्दस्य गतित्वाभावादिदमुदाहरणम्**।

(ख) महाभाष्य ८। २। २५–**आम्बानां चरुः, नाम्बानां चरुरिति प्राप्ते**। तुलना करो—

काठक सं०—**आम्बानां चरुः**। १५। ५॥

तैत्तिरीय सं०—**आम्बानां चरुम्**। १। ८। १०॥

मैत्रायणी सं०—**नाम्बानां चरुम्**। २। ६। ६॥

यदि हमारा उपर्युक्त विचार ठीक हो तो पतञ्जलि का एक नाम चरक भी होगा। इस विचार की पुष्टि के लिये सब वैदिक पाठों की तुलना करना आवश्यक है।

इस वार्तिक का कर्ता भाष्यकार पतञ्जलि है। पण्डित गुरुपद हालदार ने रस-रसायन-धातु-व्यापार विषयक पतञ्जलि के कई वचन भी उद्धृत किए हैं।[1]

३—**सिद्धान्त-सारावली** वातस्कन्धपैत्तस्कन्धोपेत सिद्धान्त-सारावली नाम का वैद्यक ग्रन्थ पतञ्जलि विरचित है। ऐसा पं० गुरुपद हालदार ने भी लिखा है।[2]

४—**कोष**—कोष ग्रन्थों की अनेक टीकाओं में वासुकि, शेष, भोगीन्द्र, फणिपति आदि नामों से किसी कोष-ग्रन्थ के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। हेमचन्द्र अपने अभिधानचिन्तामणि कोष की टीका के प्रारम्भ में अन्य कोषकारों के साथ वासुकि का निर्देश करता है, परन्तु ग्रन्थ में उस के अनेक पाठ शेष के नाम से उद्धृत करता है। अतः शेष और वासुकि दोनों एक हैं। विश्वप्रकाश कोष के आरम्भ (१। १६, १९) में भोगीन्द्र और फणिपति दोनों नाम मिलते हैं। राघव नानार्थमञ्जरी के प्रारम्भ में शेष-कार का नाम उद्धृत करता है। कैयट महाभाष्य ४। २। ९२ के प्रदीप में पतञ्जलि को नागनाथ के नाम से स्मरण करता है।[3] चक्रदत्त चरकटीका के आदि में पतञ्जलि का अहिपति नाम से निर्देश करता है।[4] अतः शेष, वासुकि, भोगीन्द्र, फणिपति, अहिपति और नागनाथ आदि सब नाम पर्याय हैं। अनेक ग्रन्थकार पतञ्जलि को पदकार के नाम से स्मरण करते हैं।[5] इस से प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने कोई कोष ग्रन्थ रचा था। हेमचन्द्र द्वारा अभिधानचिन्तामणि की टीका (पृष्ठ १०१) में शेष के नाम से उद्धृत पाठ में बुद्ध के पर्यायों का निर्देश उपलब्ध होता है।[6] सम्भव है यह कोष आधुनिक हो।

५—**सांख्य शास्त्र**—शेष ने सेश्वर सांख्य का एक कारिका ग्रन्थ रचा था। उसका नाम था "**आर्यापञ्चाशीति**"। अभिनवगुप्त ने इसी में कुछ परिवर्तन करके इस का नाम "**परमार्थसार**" रक्खा है। सांख्यकारिका की

---

१. वृद्धत्रयी, पृ० २६, ३०। २. वृद्धत्रयी, पृष्ठ २६।

३. पूर्व पृष्ठ ३१२, टि० ४। ४. पूर्व पृष्ठ ३१२, टि० ५।

५. पूर्व पृष्ठ ३१३, टि० ७–६; पृष्ठ ३१४, टि० १–३

६. बुद्धे तु भगवान् योगी बुधो विज्ञानदेशनः। महासत्त्वो लोकनाथो बोधिरर्हन्

पतञ्जलि का एक मत योगसूत्र के व्यासभाष्य में भी उद्धृत है।[1]

६—**साहित्यशास्त्र**—गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन के पृष्ठ ३७, ४७ में वासुकि विरचित किसी साहित्यशास्त्र से भावों द्वारा रसोत्पत्ति का उल्लेख उपलब्ध होता है।[3]

७—**लोहशास्त्र**—शिवदास ने चक्रदत्त की टीका में पतञ्जलिविरचित लोहशास्त्र का उल्लेख किया है।[4]

संख्या ५, ६, ७ ग्रन्थों में से कौन-कौन सा ग्रन्थ महाभाष्यकार पतञ्जलि विरचित है, यह अज्ञात है।

अब हम अगले अध्याय में महाभाष्य के टीकाकारों का वर्णन करेंगे।

१. पूर्व पृष्ठ ३१६, टि० ४। २. पूर्व पृष्ठ ३१४, टि० २।

३. उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता। नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा॥ एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह। इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः॥ ४. यदाह पतञ्जलिः—'दिव्यं दारुं समादाय लौहकर्म समाचरेत्' इति। द्र० वृद्धत्रयी, पृष्ठ २६।

ग्यारहवां अध्याय

महाभाष्य के टीकाकार

महाभाष्य पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं। उन में से अनेक टीकाएं संप्रति अनुपलब्ध हैं। बहुत से टीकाकारों के नाम भी अज्ञात हैं। महाभाष्य पर रची गई जितनी टीकाओं का हमें ज्ञान हो सका, उनका संक्षिप्त वर्णन हम आगे करते हैं।

भर्तृहरि से प्राचीन टीकाएं

भर्तृहरिविरचित महाभाष्य की टीका का जितना भाग इस समय उपलब्ध है उसके अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस से पूर्व भी महाभाष्य पर अनेक टीकाएं लिखी गई थीं। भर्तृहरि ने अपनी टीका में 'अन्ये अपरे, केचित्' आदि शब्दों द्वारा अनेक प्राचीन टीकाओं के पाठ उद्धृत किये हैं।[1] परन्तु टीकाकारों के नाम अज्ञात होने से उनका वर्णन सम्भव नहीं है। भर्तृहरि विरचित भाष्यटीका के अवलोकन से हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि उस से पूर्व महाभाष्य पर न्यूनातिन्यून तीन टीकाएं अवश्य लिखी गई थीं। यदि महाभाष्य की ये प्राचीन टीकाएं उपलब्ध होतीं तो अनेक ऐतिहासिक भ्रम अनायास दूर हो जाते।

१—भर्तृहरि (सं० ४०० से पूर्व)

महाभाष्य की उपलब्ध तथा ज्ञात टीकाओं में भर्तृहरि की टीका सब से प्राचीन और प्रामाणिक है। वैयाकरण निकाय में पतञ्जलि के अनन्तर भर्तृहरि ही ऐसा व्यक्ति है, जिसे सब वैयाकरण प्रमाण मानते हैं।

परिचय

भर्तृहरि ने अपने किसी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः भर्तृहरि के विषय में हमारा ज्ञान अत्यल्प है।

---

१. हमारे हस्तलेख की पृष्ठ संख्या—अन्ये ४, ५७, ७०, १५४ इत्यादि। अपरे ७०, ७६, १७६ इत्यादि। केचित् ४, ६१, १६७, १७६ इत्यादि।

पुण्यराज ने भर्तृहरि के गुरु का नाम 'वसुरात' लिखा है। वह लिखता है—

न तेनास्मद्गुरोस्तत्र भवतो वसुरातादन्यः। पृष्ठ २८४।

पुनः 'प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः' श्लोक की अवतरणिका में लिखता है—तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः। पृष्ठ २८६।

पुनः पृष्ठ २९० पर लिखता है—

आचार्यवसुरातेन न्यायमार्गान् विचिन्त्य सः।
प्रणीतो विधिवच्चायं मम व्याकरणागमः॥

क्या भर्तृहरि बौद्ध था ?

चीनी यात्री इत्सिंग लिखता है कि "वाक्यपदीय और महाभाष्यव्याख्या का रचयिता आचार्य भर्तृहरि बौद्धमतानुयायी था, उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी।"[1]

इत्सिंग की भूल—वाक्यपदीय और महाभाष्य टीका के पर्यनुशीलन से विदित होता है कि भर्तृहरि वैदिकधर्मी था। वह वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में लिखता है—

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते॥ ४६॥

पुनः लिखता है—

वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्। १। १३६॥

वेद के विषय में ऐसे उद्गार वेदविरोधी बौद्ध विद्वान् कभी व्यक्त नहीं कर सकता। जैन विद्वान् वर्धमानसूरि भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीका का एक उद्धरण देकर लिखता है—

यस्त्वयं वेदविदामलङ्कारभूतो वेदाङ्गत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः सर्वज्ञमन्य उपमीयते तेन कथमेतत् प्रयुक्तम्।[2]

उत्पल ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में 'तत्र भगवद्भर्तृहरिणाऽपि—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके……' इत्यादि वाक्यपदीय की ३ कारिकाएं उद्धृत करके लिखता है—

---

१. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७४। २. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३।

बौद्धैरपि अध्यवसायादेवं प्रकाशस्य प्रामाण्यं वदद्भिरुपगतप्राय एवायमर्थः ।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि भर्तृहरि बौद्धमतावलम्बी नहीं था । श्री डा० के० माधवशर्मा का भी यही मत है ।[1] इत्सिग को यह भ्रान्ति क्यों हुई, इसका निरूपण हम आगे करेंगे ।

काल

भर्तृहरि का काल अभी तक विवादास्पद है। कई विद्वान् इत्सिग के लेखानुसार भर्तृहरि का काल विक्रम की सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध मानते हैं। अब अनेक विद्वान् इत्सिग के लेख को भ्रमपूर्ण मानने लगे हैं। भारतीय जनश्रुति के अनुसार भर्तृहरि महाराज विक्रमादित्य का सहोदर भ्राता है । इसमें कोई विशिष्ट साधक बाधक प्रमाण नहीं है । अतः हम ग्रन्थान्तरों में उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर भर्तृहरि के काल-निर्णय का प्रयत्न करते हैं—

१—प्रसिद्ध बौद्ध चीनी यात्री इत्सिग लिखता है—'उस (भर्तृहरि) की मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए ।'[2] ऐतिहासिकों के मतानुसार इत्सिग ने अपना भारतयात्रा वृत्तान्त विक्रम संवत् ७४९ के लगभग लिखा था । तदनुसार भर्तृहरि की मृत्यु संवत् ७०८, ७०९ के लगभग माननी होगी ।

२—काशिका ४ । ३ । ८८ के उदाहरणों में भर्तृहरिकृत 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ का उल्लेख है । काशिका की रचना सं० ६८०-७०१ के मध्य में हुई थी, यह हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में सप्रमाण लिखेंगे । इस से स्पष्ट है कि वाक्यपदीय ग्रन्थ काशिका से पूर्व लिखा गया है ।

३—कातन्त्र व्याकरण की दुर्गसिंहकृत वृत्ति काशिका से प्राचीन है । धातुवृत्तिकार सायण के मतानुसार वामन ने काशिका ७ । ४ । ९३ में दुर्गवृत्ति का प्रत्याख्यान किया है ।[3] दुर्गसिंह कातन्त्र १ । १ । ९ की वृत्ति में लिखता है—

---

१. 'भर्तृहरि नाट बुद्धिस्ट', दि पूना ओरियण्टलिस्ट, अप्रेल १९४० ।

२. इत्सिग की भारतयात्रा पृष्ठ २७५ । ३. यत्तु कातन्त्रे मतान्तरेणो-क्तम्—इत्वदीर्घौ ... अजीजागरत् इति ...

तथा चोक्तम्—यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेन प्रतीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते ॥

यह कारिका वाक्यपदीय की है।[1] दुर्गसिंह पुनः ३। २। ४१ की वृत्ति में वाक्यपदीय की एक कारिका उद्धृत करता है।[2] अतः भर्तृहरि काशिका से पूर्वभावी दुर्गसिंह से भी पूर्ववर्ती है।

४—शतपथ ब्राह्मण का व्याख्याता हरिस्वामी प्रथम काण्ड की व्याख्या में वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध के एकदेश को उद्धृत करता है—अन्ये तु **शब्दब्रह्मैवेदं 'विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया'**[3] इत्यत आहुः।

हरिस्वामी अपनी शतपथ-व्याख्या के प्रथम काण्ड के अन्त में लिखता है—

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः ।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै ।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

द्वितीय श्लोक के अनुसार कलि संवत् ३७४० अर्थात् वि० सं० ६९५ में हरिस्वामी ने शतपथ प्रथम काण्ड की रचना की। अभी अभी ग्वालियर से प्रकाशित विक्रम द्विसहस्राब्दी स्मारक ग्रन्थ में पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे का एक लेख मुद्रित हुआ है, उस में पूर्वोक्त दोनों श्लोकों का सामञ्जस्य करने के लिये द्वितीय श्लोक का अर्थ "**कलि संवत् २०४७**" किया है। उन्होंने '**सप्त**' को पृथक् पद माना है। '**वै**' पद का प्रयोग होने से इस प्रकार कालनिर्देश हो सकता है। यदि यह व्याख्या ठीक हो तो द्वितीय श्लोक की पूर्व श्लोक के साथ संगति ठीक बैठ जाती है। विक्रम संवत् का आरम्भ कलि संवत् ३०४५ से होता है। ३७४० कल्यब्द अर्थ करने में सब से बड़ी आपत्ति यह है कि उस काल अर्थात् संवत् ६९५ में अवन्ति=

---

१. काण्ड ३, क्रियासमुद्देश कारिका १। वाक्यपदीय में द्वितीय चरण का 'साध्यत्वेनाभिधीयते' और चतुर्थ चरण का 'सा क्रियेति प्रतीयते' पाठ है।

२. क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिद्ध्यति। सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्तुः कर्मकर्तेति

हरिस्वामी से पूर्ववर्ती है।

५—हरिस्वामी ने शतपथ की व्याख्या में प्रभाकर मतानुयायियों के मत को उद्धृत किया है।[1] प्रभाकर भट्ट कुमारिल का शिष्य माना जाता है। कुमारिल तन्त्रवार्तिक अ० १ पा० ३ अधि० ८ में वाक्यपदीय १।१३ के वचन को उद्धृत करके उसका खण्डन करता है।[2] इससे विस्पष्ट है कि हरिस्वामी से पूर्ववर्ती प्रभाकर, उससे पूर्ववर्ती कुमारिल और उससे प्राचीन भर्तृहरि है।

६—हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने निरुक्त टीका १।२ में वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड का "**पूर्वामवस्थामजहत्**" इत्यादि पूर्ण श्लोक उद्धृत किया है। इसी प्रकार निरुक्त टीका भाग १ पृष्ठ १० पर क्रिया के विषय में जितने पक्षान्तर दर्शाये हैं, वे सब वाक्यपदीय के क्रियासमुद्देश के आधार पर लिखे हैं। निरुक्त टीका ५।१६ में उद्धृत "**साहचर्यं विरोधिना**" पाठ भी वाक्यपदीय २।३१७ का है। यहां '**साहचर्यं विरोधिता**' पाठ होना चाहिये। अतः वाक्यपदीय की रचना स्कन्द के निरुक्तभाष्य से पूर्व हो चुकी थी, यह स्पष्ट है।

७—स्कन्द का सहयोगी महेश्वर निरुक्त टीका ८।२ में एक वचन उद्धृत करता है—

तथा चोक्तम् भट्टारकेणापि—

पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचः श्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते॥

यह श्लोक भट्ट कुमारिल कृत श्लोकवार्तिक का है।[3] निरुक्त टीका का मुद्रित पाठ अशुद्ध है। भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में वाक्यपदीय का श्लोक उद्धृत करके उस का खण्डन किया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] इससे भी स्पष्ट है कि भर्तृहरि संवत् ६९५ से बहुत पूर्ववर्ती है। आधुनिक

---

१. अथवा सूत्राणि यथा विध्युद्देश इति प्राभाकराः—अपः प्रणयतीति यथा। हमारा हस्तलेख पृष्ठ ५। २. यदपि केनचिदुक्तम्—तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते। तद्रपरसगन्धेष्वपि वक्तव्यमासीत् इत्यादि। पूना संस्क० भा० १ पृष्ठ २६६ ३. काशी संस्क० पृष्ठ ४६३। ४. यही पृष्ठ, टि० २।

ऐतिहासिक भट्ट कुमारिल का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी मानते हैं, वह अशुद्ध है' यह भी प्रमाण संख्या ५, ७ स्पष्ट है।

८—इत्सिंग अपनी भारतयात्रा में लिखता है—"इस के अनन्तर 'पेइ-न' है, इस में ३००० श्लोक हैं और इस का टीका भाग १४००० श्लोकों में है। श्लोक भाग भर्तृहरि की रचना है और टीका भाग शास्त्र के उपाध्याय धर्मपाल का माना जाता है।"[1]

कई ऐतिहासिक 'पेइ-न' को वाक्यपदीय का तृतीय 'प्रकीर्ण' काण्ड मानते हैं। यदि यह ठीक हो तो वाक्यपदीय की रचना धर्मपाल से पूर्व माननी होगी। धर्मपाल की मृत्यु संवत् ६२७ वि० (सन् ५७०) में हो गई थी।[2] अतः वाक्यपदीय की रचना निश्चय ही संवत् ६०० से पूर्व हुई होगी।

९—अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार वाग्भट्ट का साक्षात् शिष्य इन्दु उत्तरतन्त्र अ० ५० की टीका में लिखता है—

पदार्थयोजनान्तु व्युत्पन्नानां प्रसिद्ध एवेत्यत आचार्येण नोक्ताः। तास्तु च तत्र भवतो हरेः श्लोकौ—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥ अनयोरर्थः…।

इन में प्रथम कारिका भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय २।३१७ में उपलब्ध होती है। दूसरी कारिका यद्यपि काशीसंस्करण में उपलब्ध नहीं होती, तथापि प्रथम कारिका की पुण्यराज की टीका पृष्ठ २१६ पङ्क्ति १६ से द्वितीय कारिका की व्याख्या छपी हुई है। इस से प्रतीत होता है कि द्वितीय कारिका मुद्रित ग्रन्थ में टूट गई है। वाक्यपदीय के कई हस्तलेखों में द्वितीय कारिका उपलब्ध है।

वाग्भट्ट का काल प्रायः निश्चित सा है। अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतंत्र अ० ४९ के पलाण्डु-रसायन प्रकरण में लिखा है—

---

१. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७६। २. Introduction to

यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम् ।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥

इस श्लोक के आधार पर अनेक ऐतिहासिक वाग्भट्ट को चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में मानते हैं।[1] पाश्चात्य ऐतिहासिक चन्द्रगुप्त द्वितीय का काल विक्रम संवत् ४३७–४७० तक स्थिर करते हैं। पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' में ७६ प्रमाणों से सिद्ध किया है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रम संवत् प्रवर्तक प्रसिद्ध विक्रमादित्य था।[2] अष्टाङ्गहृदय की इन्दुटीका के सम्पादक ने भूमिका में लिखा है—कई जर्मन विद्वान् वाग्भट्ट को ईसा की द्वितीय शताब्दी में मानते हैं।[3] इन्दु के उपर्युक्त उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि किसी प्रकार वि० सं० ४०० से अर्वाचीन नहीं है।

१०—श्री पं० भगवद्दत्तजी ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १ खण्ड २ पृष्ठ २०६ पर लिखा है—

"अभी अभी अध्यापक रामकृष्ण कवि ने सूचना भेजी है कि भर्तृहरि की मीमांसावृत्ति के कुछ भाग मिले हैं, वे शबर से पहिले के हैं।

इस के अनन्तर 'आचार्य पुष्पाञ्जलि वाल्यूम' में पं० रामकृष्ण कवि का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें पृष्ठ ५१ पर लिखा—वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कृत जैमिनीय मीमांसा की वृत्ति शबर से प्राचीन है।"

भर्तृहरिकृत महाभाष्य-दीपिका के अवलोकन से स्पष्ट विदित होता है कि भर्तृहरि मीमांसा का महान् पण्डित था। भर्तृहरि शबर स्वामी से प्राचीन है, इसकी पुष्टि महाभाष्य-दीपिका से भी होती है। भर्तृहरि लिखता है—

धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसकदर्शनम् । अवस्थित एव धर्मः, स

---

१. अष्टाङ्गहृदय की भूमिका पृष्ठ १४, १५ निर्णयसागर संस्क० ।

२. भारतवर्ष का इतिहास द्वि० सं० पृष्ठ ३२६—३४८। भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग २, पृष्ठ ३२४—३४३ ।

३. अष्टाङ्गहृदय की भूमिका भाग १ पृष्ठ ५—केषांचिज्जर्मनदेशीयविपश्चितां मते खीस्ताब्दस्य द्वितीयशताब्द्यां वाग्भट्टो बभूव ।

यागादिभिरभिव्यज्यते, तत्प्राप्तिस्तु फलदो भवति। यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते।[1]

इसकी तुलना न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त के निम्न वचन के साथ करनी चाहिये—

वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति। यागादिकमेव शाबरा ब्रुवते।[2]

इन दोनों पाठों की तुलना से व्यक्त होता है कि धर्म के विषय में मीमांसकों में तीन मत हैं।

१—भर्तृहरि के मत में धर्म नित्य है, यागादि से उसकी अभिव्यक्ति होती है—

२—वृद्धमीमांसक यागादि से उत्पन्न होने वाले अपूर्व को धर्म मानते हैं।

३—शबर स्वामी यागादि कर्म को ही धर्म मानता है। वह मीमांसा-भाष्य १।१।२ में लिखता है—

यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते।

धर्म के उपर्युक्त स्वरूपों पर विचार करने से स्पष्ट है कि भट्ट जयन्तोक्त वृद्ध मीमांसक शबर से पूर्ववर्ती हैं, और भर्तृहरि उन वृद्धमीमांसकों से भी प्राचीन है। भर्तृहरि की महाभाष्यदीपिका में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर जो मीमांसक मतों का उल्लेख मिलता है, वे शाबर मत से नहीं मिलते।

११—भारतीय जनश्रुति के अनुसार भर्तृहरि विक्रम का सहोदर भाई है। **'नामूला जनश्रुतिः'** के नियमानुसार इस में कुछ तथ्यांश अवश्य है।

१२—काशी के समीपवर्ती चुनारगढ़ के किले में भर्तृहरि की एक गुफा विद्यमान है। यह किला विक्रमादित्य का बनाया हुआ है, ऐसी वहां प्रसिद्धि है। इसी प्रकार विक्रम की राजधानी उज्जैन में भी भर्तृहरि की गुफा प्रसिद्ध है। इस से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि और विक्रमादित्य का कुछ पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य था।

१. महाभाष्यदीपिका

१३—प्रबन्ध-चिन्तामणि में भर्तृहरि को महाराज शूद्रक का भाई लिखा है।[1] महाराजाधिराज समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के अनुसार शूद्रक किसी विक्रम संवत् का प्रवर्तक था।[2] पण्डित भगवद्दत्त जी ने अनेक प्रमाणों से शूद्रक का काल विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। देखो भारतवर्ष का इतिहास पृष्ठ २९१-३०६ द्वितीय संस्करण।[3]

१४—हमारे मित्र पं० साधुराम एम. ए. ने अनेक प्रमाणों के आधार पर भर्तृहरि का काल ईसा की तृतीयशती दर्शाया है।[4]

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि निश्चय ही बहुत प्राचीन ग्रन्थकार है। जो लोग इत्सिंग के वचनानुसार इसे विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानते हैं, वे भूल करते हैं। यदि किन्हीं प्रमाणान्तरों से योरोपियन विद्वानों द्वारा निर्धारित चीनी-यात्रियों की तिथियां पीछे हट जावें तो इस प्रकार के विरोध अनायास दूर हो सकते हैं। अन्यथा इत्सिंग का वचन अप्रामाणिक मानना होगा। भर्तृहरिविषयक इत्सिंग की एक भूल का निर्देश पूर्व कराया जा चुका है। इत्सिंग के वर्णन को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उस ने भर्तृहरि का कोई ग्रन्थ नहीं देखा था। भर्तृहरिविरचित-ग्रन्थों के विषय में उसका दिया हुआ परिचय अत्यन्त भ्रमपूर्ण है।

अनेक भर्तृहरि

हमारा विचार है कि भर्तृहरि नाम के अनेक व्यक्ति हो चुके हैं। उन का ठीक ठीक विभाग ज्ञात न होने से इतिहास में अनेक उलझनें पड़ी हैं। विक्रमादित्य, सातवाहन, कालिदास और भोज आदि के विषय में भी ऐसी ही अनेक उलझनें हैं। पाश्चात्य विद्वान् उन उलझनों को सुलझाने का प्रयत्न नहीं करते, किन्तु अपनी मनमानी कल्पना के अनुसार काल निर्धारण करने की चेष्टा करते हैं। उन में जो बाधक प्रमाण उपस्थित होते हैं उन्हें अप्रामाणिक कह कर टाल देते हैं। भर्तृहरि नाम का एक व्यक्ति हुआ है वा अनेक, अब इस के विषय में विचार करते हैं।

---

१. पृष्ठ १२१। २. वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत वैक्रमम्। राजकविवर्णन ११। ३. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ २६१-३०५।

भर्तृहरि-विरचित ग्रन्थ

संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि-विरचित निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१. महाभाष्य-दीपिका।
२. वाक्यपदीय काण्ड १, २, ३।
३. वाक्यपदीय काण्ड १, २ की स्वोपज्ञटीका।
४. भट्टिकाव्य।
५. भागवृत्ति।
६. शतक त्रय—नीति, शृंगार, वैराग्य (तथा 'विज्ञान' भी)।

इन के अतिरिक्त भर्तृहरि-विरचित तीन ग्रन्थ और ज्ञात हुए हैं—

७. मीमांसाभाष्य ८. वेदान्तसूत्रवृत्ति ९. शब्दधातुसमीक्षा

भर्तृहरि विषयक उलझन को सुलझाने के लिये हमें इन ग्रन्थों की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षा करनी होगी।

महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय और उसकी टीका समानकर्तृक हैं

महाभाष्यदीपिका, वाक्यपदीय और उसकी स्वोपज्ञटीका की परस्पर तुलना करने से विदित होता है कि इन तीनों ग्रन्थ का कर्त्ता एक व्यक्ति है। यथा—

महाभाष्यदीपिका—यथैव गतं गोत्वमेकमभिव्यक्तिभ्योऽप्यर्थतः सास्नादिषु दृष्टं व्युत्पत्त्यापि कर्मण्याश्रीयमाणो गमिवत्, विशेषणं कुगन्तव्याख्यानम्, उपाददानो गच्छति गर्जति गदति वा गौरिति।[1]

वाक्यपदीय—कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्र प्रदर्शितम्॥[2]

वाक्यपदीय स्वोपज्ञटीका—यथैव हि गमिक्रिया जात्यन्तरैकसमवायिनीभ्यो गमिक्रियाभ्योऽत्यन्तभिन्ना तुल्यरूपत्वाद्विशेष्यन्तरेणैव गमिमभिधीयमाना गौरिति शब्दव्युत्पत्तिकर्मणि निमित्तत्वेनाश्रीयते तथैव

इसी प्रकार अन्यत्र भी तीनों ग्रन्थों में परस्पर महती समानता है, जिन से इन तीनों ग्रन्थों का एककर्तृत्व सिद्ध है। वाक्यपदीय की रचना वि० सं० ४०० से आर्वाचीन नहीं है, यह हम पूर्व सप्रमाण निरूपण कर चुके। अतः महाभाष्य की टीका भी वि० सं० ४०० से अर्वाचीन नहीं है।

भट्टिकाव्य—भट्टिकाव्य के विषय में दो मत हैं। भट्टि का जयमंगला-टीका का रचयिता ग्रन्थकार का नाम भट्टिस्वामी लिखता है। मल्लीनाथ आदि अन्य सब टीकाकार भट्टिकाव्य को भर्तृहरिविरचित मानते हैं। पञ्चपादी उणादिवृत्तिकार श्वेतवनवासी भट्टि को भर्तृहरि के नाम से उद्धृत करता है।[1] हमारा विचार है, ये दोनों मत ठीक हैं। ग्रन्थकार का अपना नाम भट्टिस्वामी है, परन्तु उसके असाधारण वैयाकरणत्व के कारण वह औपाधिक भर्तृहरि नाम से विख्यात हुआ।[2] संस्कृत वाङ्मय में दो तीन कालिदास इसी प्रकार प्रसिद्ध हो चुके हैं। महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित से व्यक्त होता है कि शाकुन्तल नाटक का कर्त्ता आद्य कालिदास था,[3] परन्तु रघुवंश महाकाव्य का रचयिता हरिषेण कालिदास नाम से प्रसिद्ध हुआ।[4] भट्टिकाव्य की रचना वलभी के राजा श्रीधरसेन के काल में हुई है।[5] वलभी के राजकुल में श्रीधरसेन नाम के चार राजा हुए हैं, जिनका राज्यकाल संवत् ५५० से ७०५ तक माना जाता है। अतः भट्टिकाव्य का कर्त्ता भर्तृहरि वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि नहीं हो सकता। भट्टिकाव्य के विषय में विशेष विचार **'व्याकरण प्रधान महाकाव्य'** के प्रकरण में किया है।[2]

भागवृत्ति—भागवृत्ति अष्टाध्यायी की प्राचीनवृत्ति है। इसके उद्धरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं।[6] भाषावृत्ति का टीकाकार सृष्टिधरा-

१. तथा च भर्तृकाव्ये प्रयोगः। पृष्ठ ८३, १२६।

२. इस विषय में हमने विस्तार से इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में (पृष्ठ ३८६—३८८ तक) विचार किया है।

३. राजकविवर्णन श्लोक १५, १६। ४. राजकविवर्णन श्लोक २४, २६।

५. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्। २२।२५॥

चार्य लिखता है—भर्तृहरि ने श्रीधरसेन की आज्ञा से भागवृत्ति की रचना की।[1] कातन्त्र-परिशिष्ट के कर्त्ता श्रीपतिदत्त ने भागवृत्ति के रचयिता का नाम विमलमति लिखा।[2] क्या सम्भव हो सकता है कि भागवृत्ति के कर्त्ता का वास्तविक नाम विमलमति हो, और भर्तृहरि उस का औपाधिक नाम हो। भागवृत्ति की रचना काशिका के अनन्तर हुई है। अतः भागवृत्तिकार भर्तृहरि वाक्यपदीयकार से भिन्न है। इस पर विशेष विवेचन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में करेंगे।

भट्टिकार और भागवृत्तिकार में भेद—यदि भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के रचयिता का नाम भर्तृहरि स्वीकार कर लें, तब भी ये दोनों ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकते। इन दोनों की विभिन्नता में निम्न हेतु हैं—

१—भाषावृत्ति २।४।७४ में पुरुषोत्तमदेव ने भागवृत्ति का खण्डन करते हुए स्वपक्ष की सिद्धि में भट्टिकाव्य का प्रमाण उपस्थित किया है।

२—भाषावृत्ति ५।२।११२ के अवलोकन करने से विदित होता है कि भागवृत्तिकार भट्टिकाव्य के छन्दोभङ्ग दोष का समाधान करता है।[3]

३—भागवृत्ति के जितने उद्धरण उपलब्ध हुए हैं, उनके देखने से ज्ञात होता है कि भागवृत्तिकार महाभाष्य के नियम से किञ्चिन्मात्र भी इतस्ततः नहीं होता, परन्तु भट्टिकाव्य में अनेक प्रयोग महाभाष्य के विपरीत हैं।[4]

---

१. भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता। ८।४।६८॥

२. तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिना निपातितः। सन्धि सूत्र १४२।

३. भागवृत्ति के जितने उद्धरण उपलब्ध हुए, उनका संग्रह 'भागवृत्तिसंकलनम्' के नाम से ओरियण्टल कालेज लाहौर के मेगजीन नवम्बर १९४० के अंक में हमने प्रकाशित किये थे। देखो पृष्ठ ६८—८२। उस का परिबृंहित संस्करण संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी की सारस्वती सुषमा पत्रिका के वर्ष ८ अंक १-४ अङ्कों में छपा है। इस का पुनः परिष्कृत संस्करण पृथक् प्रकाशित हो रहा है।

४. उद्वां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्। ३।५॥ बिभयां प्रचकारासौ। ६।२॥ 'व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च' इस वार्तिक (महाभाष्य ३।१।४०) के अनुसार व्यवहित

महाभाष्य व्याख्याता और भागवृत्तिकार में भेद—भागवृत्ति को भर्तृहरि की कृति मानने पर भी वह भर्तृहरि महाभाष्य-व्याख्याता आद्य भर्तृहरि से भिन्न व्यक्ति है। इस में निम्न प्रमाण हैं—

१—**गततच्छील्ये इति भागवृत्तिः। गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः।**[1]

२—**यथालक्षणमप्रयुक्ते इति उद्याम उपराम इत्येव भवतीति भर्तृहरिणा भागवृत्तिकृता च्योक्तम्।**[2]

३—**भर्तृहरिणा च नित्यार्थतैवास्योक्ता, तथा च भागवृत्तिकारेण प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्, तन्त्र उतम्—तन्त्रयुतम्।**[3]

४—**भर्तृहरिणा तूक्तम्—'यः प्रातिपदिकान्तो नकारो न भवति तदर्थं नुम्ग्रहणं प्राहिणवदिति। अत्र हि द्विवेर्लुङि नुमो णत्वमिति।' 'तत्र पूर्वपदाधिकारः, समासे च पूर्वोत्तरपदव्यवहारः, तत्कथं णत्व-मिति न व्यक्तीकृतम्' इति भागवृत्तिकारेणोक्तम्।**[4]

इन उद्धरणों में भर्तृहरि और भागवृत्तिकार का भेद स्पष्ट है। चतुर्थ उद्धरण से व्यक्त होता है कि भागवृत्तिकार ने किसी भर्तृहरि का कहीं-कहीं खण्डन भी किया था।

शतक-त्रय—नीति, शृङ्गार और वैराग्य ये तीन शतक भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका रचयिता कौन सा भर्तृहरि है, यह अज्ञात है। जैन ग्रन्थकार वर्धमानसूरि गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

वार्त्तैव वार्तम्। यथा—हरिणाकुमारमखिलाभिधानवित्
स्वजनस्य वार्तमन्वयुङ्क्त सः।[5]

क्या गणरत्नमहोदधि में उद्धृत पद्य का संकेत नीतिशतक के '**यां चिन्तयामि मयि सा विरक्ता**'[6] श्लोक की ओर हो सकता है? यदि यह

---

१. दुर्घटवृत्ति, पृष्ठ १६।
२. दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ११७।
३. तन्त्रप्रदीप ८।३।११॥
४. सीरदेवीय परिभाषावृत्ति पृष्ठ १२।
५. पृष्ठ १२०।
६. श्लोक २। पुरोहित गोपीनाथ एम० ए० संपादित, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, सन् १८९५। कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं है।

कल्पना ठीक हो तो नीतिशतक आद्य भर्तृहरिकृत होगा, क्योंकि इसमें हरि का विशेषण '**अखिलाभिधानवित्**' लिखा है। वर्धमान अन्यत्र भी आद्य भर्तृहरि के लिये 'वेदविदामलंकारभूतः', 'प्रमाणितशब्दशास्त्रः' आदि विशेषणों का प्रयोग करता है।[1]

मीमांसा-सूत्रवृत्ति—यदि पण्डित रामकृष्ण कवि का पूर्वोक्त लेख ठीक हो तो निश्चय ही यह वृत्ति आद्य भर्तृहरि विरचित होगी।

वेदान्त-सूत्रवृत्ति—यह वृत्ति अनुपलब्ध है। यामुनाचार्य ने एक सिद्धित्रय नामक ग्रन्थ लिखा है। उस मे वेदान्तसूत्र व्याख्याता टङ्क, भर्तृप्रपञ्च, भर्तृमित्र, ब्रह्मदत्त, शंकर, श्रीवत्सांक और भास्कर के साथ भर्तृहरि का भी उल्लेख किया है।[2] इस से भर्तृहरिकृत वेदान्तसूत्रवृत्ति की कुछ सम्भावना प्रतीत होती है।

शब्दधातुसमीक्षा—यह ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। इसका उल्लेख हमारे मित्र पं० के माधव-कृष्ण शर्मा ने अपने 'भर्तृहरि नाट ए बौद्धिस्ट' नामक लेख में किया है। यह लेख 'दि पूना ओरियण्टलिस्ट' पत्रिका अप्रैल सन् १९४० में छपा है।

इत्सिंग की भूल का कारण

भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के रचयिताओं के वास्तविक नाम चाहे कुछ रहे हों, परन्तु इतना स्पष्ट है कि ये ग्रन्थ भी भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में न्यून से न्यून तीन भर्तृहरि अवश्य हुए हैं। इन का काल पृथक् पृथक् है। इन की ऐतिहासिक शृङ्खला जोड़ने से इत्सिंग के वचन मे इतनी सत्यता अवश्य प्रतीत होती है कि वि० सं० ७०७ के लगभग कोई भर्तृहरि नामा विद्वान् अवश्य विद्यमान था। इत्सिंग स्वयं वलभी नहीं गया था। अतः सम्भव हो सकता है कि उसने वलभीनिवासी किसी भर्तृहरि की मृत्यु सुन कर उसका उल्लेख वाक्यपदीय

---

१. यस्त्वयं वेदविदामलंकारभूतो वेदाङ्गत्वात् प्रमाणितशब्दशास्त्रः सर्वज्ञंमन्य उपमीयते। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १२३।

२. तथापि आचार्यटङ्क-भर्तृप्रपञ्च-भर्तृमित्र-भर्तृहरि-ब्रह्मदत्त-शंकर-श्रीवत्साङ्क-

आदि प्राचीन ग्रन्थों के रचयित्ता के प्रसंग में कर दिया हो। इत्सिग ने भर्तृहरि को बौद्ध लिखा है, वह भागवृत्तिकार विमलमति उपनाम भर्तृहरि के लिये उपयुक्त हो सकता है, क्योंकि विमलति एक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थकार है।

भर्तृहरि-त्रय के उद्धरणों का विभाग

अनेक व्यक्तियों का भर्तृहरि नाम होने पर एक बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृहरि के नाम से उपलभ्यमान उद्धरण किस भर्तृहरि के समझे जावें। हमने वाक्यपदीय, उसकी स्वोपज्ञ-टीका, महाभाष्यदीपिका, भट्टिकाव्य और भागवृत्ति के उपलभ्यमान उद्धरणों की महती सूक्ष्मता से विचार करके निम्न परिणाम निकाले हैं—

१—प्राचीन ग्रन्थों में भर्तृहरि वा हरि के नाम से जितने उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे सब आद्य भर्तृहरि के हैं।

२—भट्टिकाव्य के सभी उद्धरण भट्टि के नाम से दिये गये हैं। केवल श्वेतवनवासी विरचित उणादिवृत्ति के एक हस्तलेख में भट्टिकाव्य के उद्धरण भर्तृकाव्य के नाम से दिये हैं। दूसरे हस्तलेख में उसके स्थान में भट्टिकाव्य पाठ है।[1]

३—भागवृत्ति के उद्धरण भागवृत्ति, भागवृत्तिकृत् अथवा भागवृत्तिकार नाम से दिये गये हैं। भागवृत्ति का कोई उद्धरण भर्तृहरि के नाम से नहीं दिया गया।

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि अर्वाचीन वैयाकरणों ने तीनों के उद्धरण सर्वत्र पृथक् पृथक् नामों से उद्धृत किये हैं, उन्होंने कहीं पर सांकर्य नहीं किया। भाषावृत्ति के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने इस विभाग को न समझ कर अनेक भूलें की हैं।[2] भावी ग्रन्थसंपादकों को इस

---

१. देखो पृष्ठ ८३, पाठान्तर ४।

२. भाषावृत्ति के सम्पादक ने 'गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः' इस उद्धरण को 'भागवृत्ति के रचयिता' का लिखा है। देखो भाषावृत्ति पृष्ठ ३२, टि० ३०। परन्तु दुर्घटवृत्ति में भागवृत्ति और भर्तृहरि के भिन्न भिन्न पाठ उद्धृत किये हैं। यथा—गतताच्छील्ये इति भागवृत्तिः, गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः।

विभाग का परिज्ञान अवश्य होना चाहिये, अन्यथा भयङ्कर भूलें होने की सम्भावना है।

भर्तृहरि के विषय में इतना लिखने के अनन्तर प्रकृत विषय का निरूपण किया जाता है।

महाभाष्यदीपिका का परिचय

आचार्य भर्तृहरि ने महाभाष्य की एक विस्तृत और प्रौढ व्याख्या लिखी है। इसका नाम 'महाभाष्यदीपिका' है।[1] इस व्याख्या के उद्धरण व्याकरण के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। वर्तमान में महाभाष्यदीपिका का सर्वप्रथम परिचय देने का श्रेय डा० कीलहार्न को है।

महाभाष्यदीपिका का परिमाण—इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रा-विवरण में दीपिका का परिमाण २५००० श्लोक लिखा है। परन्तु इस लेख से यह विदित नहीं होता कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी थी, अथवा कुछ भाग पर। विक्रम की १२ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार वर्धमान लिखता है—

भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्त्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।

इसी प्रकार प्रकीर्णकाण्ड की व्याख्या की समाप्ति पर हेलाराज भी लिखता है—

त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।
तस्मै समस्तविद्याश्रीकान्ताय हरये नमः॥

इस श्लोक में त्रिपदी पद त्रिकाण्डी वाक्यपदीय का विशेषण भी हो सकता है, अतः यह प्रमाण सन्दिग्ध है।

वर्तमान में उपलब्ध महाभाष्यदीपिका का जितना परिमाण है, उसे देखते हुए २५००० श्लोक परिमाण तीन पाद से अधिक ग्रन्थ का नहीं हो सकता। डा० कीलहार्न का भी यही मत है।

द्वितीय तृतीय पाद की दीपिका के उद्धरण—पुरुषोत्तमदेव ने

पुनः १।३।२१ की भाषावृत्ति में पुरुषोत्तमदेव लिखता है—

गतविधप्रकारास्तुल्यार्था इति भर्तृहरिः ।[1]

भाषावृत्ति के सम्पादक ने इस पाठ को भागवृत्तिकार का कहा है, वह चिन्त्य है।[2]

संपूर्ण महाभाष्य की टीका—व्याकरण के ग्रन्थों में अनेक ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जिन से प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य के प्रारम्भिक तीन पादों पर ही व्याख्या नहीं लिखी, अपितु सम्पूर्ण महाभाष्य, पर टीका लिखी थी। इसके लिए हम तीन पाद से आगे के प्रमाण उपस्थित करते हैं। यथा—

१—भर्तृहरि वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका में लिखता है—

संहितासूत्रभाष्यविवरणे बहुधा विचारितम् ।[3]

संहिता-सूत्र अर्थात् 'परः सन्निकर्षः संहिता' प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का १०९ वां सूत्र है।

२—पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति ३।१।१६ पर भर्तृहरि का एक उद्धरण दिया है।[4] वह इसी सूत्र की टीका का हो सकता है। भाषावृत्ति के सम्पादक ने इस उद्धरण को भागवृत्तिकार का माना है, परन्तु यह ठीक नहीं।[2]

३—व्याकरण के 'दैवम्' ग्रन्थ का व्याख्याता लीलाशुकमुनि अपनी 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या में लिखता है—**आह चैतत् सर्वं सुधाकरः—अनेन वर्तमाने क्तेन भूते प्राप्तः क्तो बाध्यते इति भर्तृहरिः। भाष्य-टीकाकृतस्तु भूतेऽपि क्तो भवतीत्यूचुः। तथा च पूजितो गतः, पूजितो यातीति भूतकालवाच्यः, न तु पूज्यमानो वर्तमानः ।**[5]

भर्तृहरि का यह लेख महाभाष्य ३।२।१८८ की व्याख्या में ही हो सकता है।

---

१. राजशाही संस्करण, पृष्ठ २४। २. इस के विषय में पृष्ठ २५२ की टि० २ देखिए। ३. भाग १, पृष्ठ ८२, लाहौर संस्क०।

४. धूमाच्चेति भर्तृहरिः। ५. पृष्ठ १०६। हमारा नया संस्करण, पृष्ठ ९७।

४—शरणदेव दुर्घटवृत्ति ७।२।२९ में लिखता है—यथालक्षणमप्रयुक्ते इति उपशाम उद्याम इत्येव भवतीति भर्तृहरिणा भागवृत्तिकृता चोक्तम् ।[1]

५—मैत्रेयरक्षित तन्त्रप्रदीप ८।३।२१ में लिखता है—भर्तृहरिणा त्वास्य नित्यार्थतोक्ता । तथा च भागवृत्तिकृता प्रत्युदाहरणमुपन्यस्तम्—तन्त्रे उतम् तन्त्रयुतम् इति ।[2]

६—सीरदेव अपनी परिभाषावृत्ति में लिखता है—भर्तृहरिणा तूक्तम् यः प्रातिपदिकान्तो नकारो न स्यति तदर्थं नुमग्रहणं प्राहिरब्दिति ।[3]

भर्तृहरि का यह उद्धरण महाभाष्य ८।४।११ की टीका से ही लिया जा सकता है, अन्यत्र महाभाष्य में इस का कोई प्रसङ्ग नहीं है।

इन उद्धरणों से इतना निश्चित है कि भर्तृहरि का कोई ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर अवश्य था। भर्तृहरि ने अष्टाध्यायी पर वृत्ति लिखी हो ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः यही मानना ठीक है कि उसने सम्पूर्ण महाभाष्य पर व्याख्या लिखी थी। प्रतीत होता है, इत्सिंग के काल में महाभाष्यदीपिका का जितना अंश उपलब्ध था, उसने उतने ग्रन्थ का ही परिमाण लिखा दिया। वर्धमान के काल में दीपिका के केवल तीन पाद ही शेष रह गये होंगे। सम्प्रति उसका एक पाद भी पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। सीरदेव और लीलाशुकमुनि ने तीसरे और आठवें अध्याय के जो उद्धरण दिये हैं, वे भागवृत्ति और सुधाकर के ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं, यह उन उद्धरणों से स्पष्ट है। सम्भव है तन्त्रप्रदीपस्थ उद्धरण भी ग्रन्थान्तर से उद्धृत किया गया हो।

महाभाष्यदीपिका का वर्तमान हस्तलेख

भर्तृहरि-विरचित महाभाष्य-दीपिका का जो हस्तलेख इस समय उपलब्ध है, वह जर्मनी की राजधानी बर्लिन के पुस्तकालय में था। इसकी सर्वप्रथम सूचना देने का सौभाग्य डा० कीलहार्न को है। इस हस्तलेख के फोटो लाहौर और मद्रास के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। दीपिका का दूसरा हस्तलेख अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

उपलब्ध हस्तलेख का परिमाण—इस हस्तलेख का प्रथम पत्र

खण्डित है। हस्तलेख का अन्त इच्छ १।१।५३ सूत्र पर होता है। इस २१७ पत्रे अर्थात् ४३४ पृष्ठ हैं। प्रतिपृष्ठ लगभग १२ पंक्तियाँ तथा प्रति पंक्ति लगभग ३५ अक्षर हैं। इस प्रकार संपूर्ण हस्तलेख का परिमाण लगभग ५७०० श्लोक हैं।

यह हस्तलेख अनेक व्यक्तियों के हाथ का लिखा हुआ है। कहीं-कहीं पर पृष्ठमात्राएं भी प्रयुक्त हुई हैं। अतः यह हस्तलेख न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष प्राचीन अवश्य है। इस हस्तलेख का पाठ अत्यन्त विकृत है। प्रतीत होता है इस के लेखक सर्वथा अपठित थे।

महाभाष्यदीपिका के उद्धरण—इसके उद्धरण कैयट, वर्धमान, नारायण, शिवरामेन्द्र सरस्वती, नागेश और वैद्यनाथ पायगुडे आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अन्तिम चार ग्रन्थकार विक्रम की १८ वीं शताब्दी के हैं। अतः प्रयत्न करने पर इस टीका के अन्य हस्तलेख मिलने की पूर्ण सम्भावना है।

महाभाष्यदीपिका की प्रतिलिपि—पञ्जाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में वर्तमान दीपिका का फोटो पाकिस्तान में रह गया है। सौभाग्य की बात है कि हमारे आचार्य महावैयाकरण श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने सं० १९८७ में पञ्जाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय से महान् परिश्रम से दीपिका का हस्तलेख प्राप्त करके अपने उपयोग के लिए उस की एक प्रतिलिपि करली थी। वह इस समय उन के संग्रह में सुरक्षित है।

महाभाष्यदीपिका का सम्पादन

सं० १९९१ में हमारे आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने महाभाष्यदीपिका का सम्पादन प्रारम्भ किया था, उस के चार फार्म (३२ पृष्ठ) काशी की 'सुप्रभातम्' पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। तत्पश्चात् आचार्यवर स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत यजुर्वेद-भाष्य के सम्पादन और उस पर विवरण लिखने के कार्य में लग गये, इस कारण वे दीपिका का प्रकाशन पूरा न कर सके। सम्प्रति (सं० २०१९) यह ग्रन्थ काशी और पूना दो स्थानों में छप रहा है, ऐसा ज्ञात हुआ है।

भर्तृहरि के अन्य ग्रन्थ

१—वाक्यपदीय (प्रथम द्वितीय काण्ड)।

२—प्रकीर्णकाण्ड (तृतीय काण्ड)।

३—वाक्यपदीय (काण्ड १, २) की स्वोपज्ञटीका।

४—वेदान्तसूत्र-वृत्ति।

५—मीमांसासूत्र-वृत्ति।

इनमें से संख्या १, २, ३, पर विचार 'व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार' नामक प्रकरण में किया जायगा। संख्या ४, ५ का संक्षिप्त वर्णन हम पूर्व कर चुके।

महाभाष्यदीपिका के विशेष उद्धरण

हम ने भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका का अनेकधा पारायण किया है। उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण वचन हैं। हम उनमें से कुछ एक अत्यन्त आवश्यक वचनों को नीचे उद्धृत करते हैं—

१. यथा तैत्तिरीयाः कृतणत्वमग्निशब्दमुच्चारयन्ति।[1] पृष्ठ १।[2]

२. एवं ह्युक्तम्—स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते[3]।५।

३. अस्ति हि स्मृतिः—एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः.........[4]। १६।

४. इळो अग्निनाग्निनेति विवृतिर्दृष्टा बह्वृचसूत्रभाष्ये। १७।

५. आश्वलायनसूत्रे—ये यजामहे.........। १७।

६. आपस्तम्बसूत्रे—अग्नाग्ने...............। १७।

७. शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य। २१।

८. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे [परीक्षितानि]।२८।

९. सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति। आर्हतानां मीमांसकानां च नैवास्ति विनाश एषाम्। २९।

१०. एवं संग्रह एतत् प्रस्तुतम्—किं कार्यः शब्दोऽथ नित्य इति। ३०।

---

१. तुलना करो—यद्यपि च अग्निर्वाणि जङ्घनादिति वेदे कृतणत्वमग्निशब्दं पठन्ति न्यायमञ्जरी पृष्ठ २८८। २. यह तथा अगली पृष्ठ संख्या हमारे हस्तलेख

११. इहापि तदेव, कुतः ? संग्रहोऽप्यस्यैव शास्त्रस्यैकदेशः, तत्रोक्तत्वाद् व्याडेश्च प्रामाण्यादिहापि तथैव सिद्धशब्द उपात्तः । ३० ।

१२. अन्ये वर्णयन्ति—यदुक्तं दर्शनस्य परार्थत्वाद् (जै० मी० १।१।१८) अपि प्रवृत्तित्वादिति । यदेव तेन भाष्येणोक्त[1]मिति—कार्याणां वागिन्द्रियनियोगाद्व्यन्यद्दर्शनान्तरमस्ति । उत्पत्तिं प्रति तु अस्य यद्दर्शनं योपलब्धिः या निष्पत्तिः सा परार्थरूपा इव, नहि परार्थताशून्यः कालः कश्चिदस्ति । तस्मादेतत्प्रतिपत्तव्यम्—अवस्थित एवासौ प्रयोक्तृकरणादि-सन्निपातेन अभिव्यज्यत इति[1] । ३६ ।

१३. धर्मप्रयोजनो वेति मीमांसकदर्शनम् । अवस्थित एव धर्मः, स त्वग्निहोत्रादिभिरभिव्यज्यते,[2] तत्प्रेरितस्तु फलदो भवति । यथा स्वामी भृत्यैः सेवायां प्रेर्यते । ३८ ।

१४. निरुक्ते त्वेवं पठ्यते—विकारमस्यार्थेषु भाषन्तेशव इति ।[3] तत्रा-यमर्थः कुर्वते—कृत्प्रत्ययान्तस्य (?, कृत्प्रत्ययान्तो) यो विकारः एकदेशस्तमेव भाषन्ते, न शवतिं सर्वप्रत्ययान्तां प्रकृतिमिति । ४२ ।

१५. तत्रैवोक्तम्—दीप्ताग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महोदराः ।
ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यगुरुलाघवम्[4] ॥४७॥

१६. भाष्यसूत्रे गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात् लक्षणप्रपञ्चयोस्तु मूलसूत्रे-ष्वाश्रयणात्[5] इहापि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां प्रवृत्तिः । ४८ ।

१७. एवं हि तत्रोक्तम्—स्फोटस्तावानेव, केवलं वृत्तिभेदः, ततश्च सर्वासु वृत्तिषु तत्कालत्वमिति[6] । ५८ ।

---

१. भर्तृहरि ने यहां मीमांसा १।१।१८ के किसी प्राचीन भाष्य को उद्धृत किया है। २. तुलना करो—वृद्धमीमांसका यागादिकर्मनिर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति । यागादिकमेव शाबरा ब्रुवते । न्यायमञ्जरी पृष्ठ २७६ । यो हि यागमनु-तिष्ठति तं धार्मिक इत्याचक्षते । यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते । शाबरभाष्य १।१।२ ॥ इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भर्तृहरि शबरस्वामी से बहुत प्राचीन है ।

३. निरुक्त २।२ ॥ ४. चरक सूत्रस्थान २७।३४३ ॥

५. तुलना करो—ते वै विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च ।

[illegible]

१८. केषाञ्चित् वर्णोऽक्षरम्, केषाञ्चित् पदम्, वाक्यं च । ११५ ।

१९. एवं ह्यन्ये पठन्ति— वर्णा अक्षराणीति ।[1] ११६ ।

२०. यदेवोक्तं वाक्यकारेण वृत्तिसमवायार्थ उपदेश इति । तदेव श्लोकवार्त्तिककारोऽप्याह ·········· । ११६ ।

२१. इति महामहोपाध्यायभर्तृहरिविरचितायां श्रीमहाभाष्यदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् । ११७ ।

२२. नान्तः [पादमिति] पाठमाश्रित्येदमुपन्यस्तम्, न प्रकृत्यान्तःपादमिति । १४२ ।

२३. अयमेवार्थो वृत्तिकारेण दर्शितः अन्येन केशलोमो बालतोम इति । ······एवं च केचित् वृत्तिकारा आतुल्लोप इति किमर्थमिति पठन्ति । १४५, १४६ ।

२४. प्रजापतिर्वै यत्किञ्चन मनसा ध्यायेत् तद्धीनियजुर्भिरेव प्राप्नोति तद्धीति यजुषामर्धानियजुष्टवं एतन्निरुक्तं (?) ध्यायेत वर्ण्यते । अयं हि तत्र व्याख्यानग्रन्थः—प्रजापतिर्वै यत्किञ्चन मनसा ध्यायन् तदिति याज्ञवालिति[2] । १६५ ।

२५. यदप्युच्यत इति अयं ग्रन्थोऽस्मादनन्तरं युक्तरूपो दृश्यते । १६५ ।

२६. तत्कथं शिक्षाकारो काकेआजिभि आत्मना न लभते (? लभ्यते)। १७५ ।

२७. अस्मिंस्तु दर्शने पाणिनिना सुत्रग्रहणं पठितमिति दृश्यते । चूर्णिकारस्तु भागप्रविभागमाश्रित्य प्रत्याचष्टे । १७६ ।

२८. संवारविवाराविति । यथा चैते बाह्यास्तथा शिक्षायां विस्तरेण प्रतिपादितम् । १८४ ।

२९. अस्यां शिक्षायां भिन्नस्थानत्वात् (? भिन्नप्रयत्नत्वात्) नास्ति अवर्णहकारयोः सवर्णसंज्ञेति । १८४ ।

३० आचार्येणापि सर्वनामशब्दः शक्तिद्वयं परिगृह्य प्रयुक्तः । यथा इदं विष्णुर्विचक्रमे[3] इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन्

१. तुलना करो— व्याकरणान्तरे वर्णा अक्षराणीति पठ्यन्ते । महाभाष्यप्रदीप अ० १, पा० १, आ० २ ॥

प्रवर्तते। एवं च कृत्वा वृको मासकृदित्यवग्रहभेदो, पि भवति, चन्द्रमसि प्रयुक्तो मास[कृत्]शब्दोऽवगृह्यते वृको मासऽकृदिति[1]। २६८।

३१. इहान्ये वैयाकरणाः पठन्ति—प्रत्ययोत्तरपदयोरद्विवचनटापोरुभस्योभयः। अन्येषाम्–उभस्य नित्यं द्विवचनं टाप् च लोपश्च तयपः[2]। टाबिति टाबाद्यो निर्दिश्यन्ते.....। अन्येषामेवं पाठः—अद्विवचनत्यपूवति (?)। केचित् पुनरेवं पठन्ति–उभस्योभयोरद्विवचने[3]। उभस्योभयो भवति अद्विवचन इति। २७०।

३२. तत्रैतस्मिन्नग्रे भाष्यकारस्याभिप्रायमेवं व्याख्यातारः समर्थयन्ते[4]। २८१।

३३. न च तेषु भाष्यसूत्रेषु[5] गुरुलघुप्रयत्नः क्रियते। तथा चा[ह]—नहीदानीमाचार्याः कृत्वा सूत्राणि निवर्तयन्ति इति[6]। भाष्यसूत्राणि हि लक्षणप्रपञ्चाभ्यां निदर्शनसमर्थतराणि। २८१, २८२।

३४. इह त्यदादीन्यापिशलैः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि ततः पूर्वपराधरेति[7]............। २८७।

---

१. तुलना करो—अरुणो मासकृत् (ऋ० १। १०५। १८)........ मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमाः। निरुक्त ५। २१॥

२. एवं च भर्तृहरिणा उभयोन्यत्रेति वार्तिकमूलभूतम् "उभस्य द्विवचन टाप् च लोपश्च यस्य" इति व्याकरणान्तरसूत्रमुदाहृतम्। नागेश, महाभाष्यप्रदीपोद्योत १। १। २७॥

३. तुलना करो—आपिशलिस्त्वेवमर्थं सूत्रयत्यत्र—उभस्योभयोरद्विवचनटापोः। तन्त्रप्रदीप २। ३। ८॥ देखो, भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८६५।

४. बहुवचन निर्देश से स्पष्ट है कि भर्तृहरि से पूर्व महाभाष्य की अनेक व्याख्याएं रची गई थीं।   ५. भाष्यसूत्र से यहां वार्तिकों का ग्रहण है। इससे प्रतीत होता है कि अष्टाध्यायी पर वृत्तियां ही लिखी गईं, अत एव उसका नाम 'वृत्तिसूत्र' है। देखो पूर्व पृष्ठ २१३। वार्तिकों पर वृत्तियां नहीं बनीं, उन पर भाष्य ही लिखे गये।   ६. महाभाष्य, अ० १, पाद १, आ० १, पृष्ठ १२।

७. तुलना करो—त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादानि पठितानि। कैयट,

३५. विग्रहभेदं प्रतिपन्ना: वृत्तिकाराः । २६५ ।

३६. अस्मिन् विग्रहे क्रियमाणे सूत्रे यो दोषः स उक्तः । इदानीं वृत्तिकारान्तर[मत]मुपन्यस्यति । ३०६ ।

३७. अत एषां व्यावृत्त्यर्थं कृणिनापि तद्धितग्रहणं कर्तव्यम् ।......... अतो गणपाठ एव ज्यायानस्यापि वृत्तिकारस्य, इत्येतदनेन प्रतिपादयति । ३०९ ।

३८. नैव सौनागदर्शनामाश्रीयते । ३१० ।

३९. तस्मादनर्थकमन्तग्रहणं दृश्यते। न्यासे[1] तु प्रयोजनमन्तग्रहणस्योक्तम्—स्वभावैजन्तप्रतिपत्त्यर्थम्, इह मा भूत् कुम्भका[रेभ्यः] इति । ३१४ ।

४०. मा नः समस्य दूढ्य[2] इति । एतस्य निरुक्तकारो व्याख्यानं करोति मा नः सर्वस्य दुर्धियः पापधिय इति[3] । ३२३ ।

४१. अन्येषां पुनर्लक्षणे "समो युक्ते" समशब्दो युक्तेऽर्थे न्याय्येऽर्थे वर्तते सर्वनामसंज्ञो भवति । इह तु न समशब्दो युक्तार्थे प्रयुक्त इति दोषाभावः । ३२३ ।

४२. सर्वव्याख्यानकारै[4]रिदमवसितं मुखस्वरेणैव भवितव्यमुपाग्निमुख इति । अत्र वर्णयन्ति......... । ३... ।

४३. कथं तदुक्तं भाग्वाजा अस्मात् मतात् प्रत्याख्यते इत्युच्यते । यथानेन स्मृत्वोपनिबद्धं ततः प्रत्याख्यत इति । ३५९ ।

४४. उभयथा आचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, केचिद् वाक्यस्य केचिद् वर्णस्येति[5] । ३७२ ।

---

१. यह न्यास जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास अपरनाम काशिकाविवरणपञ्जिका से भिन्न ग्रन्थ है । क्योंकि उसमें यह पाठ नहीं है । भामह ने काव्यालंकार ६ । ३६ में किसी न्यासकार का उल्लेख किया है । भामह स्कन्दस्वामी (वि० सं० ६८७) का पूर्ववर्ती है । अनेक विद्वान् भामह और जिनेन्द्रबुद्धि का पौर्वापर्य संबन्ध निश्चित करते रहे, वह सब वृथा है, क्योंकि प्राचीन काल में न्यासग्रन्थ अनेक थे; अतः भामह किस न्यासकार का उल्लेख करता है, यह अज्ञात है ।

अत: क्रममाहुः—हृदयस्याग्रेऽवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसः अथ शब्दोऽनन्तरार्थस्य द्योतकः श्रूयते। तत्र इदं कृत्वा इदं कर्तव्यमिति क्रमप्रवृत्तिरर्थक्रमो यदार्थ एवमुच्यते—देवदत्तं भोजय स्नापयानुलेपयोद्वर्तयाभ्यञ्जयेति। अर्थात् क्रमो नियम्यते—अभ्यञ्जनमुद्वर्तनं स्नापनमनुलेपं भोजनमिति। पाठक्रमो नियतानुपूर्तिके श्रुतिर्वैदवाक्येष्वनेकार्थोपदेशा उद्देशिनामनुदेशिनां च सकृदर्थित्वेन व्यवतिष्ठते। यथा स्मृतौ धर्मा मार्जनप्रक्षालनोल्लखननिर्णेजनानि तैजसमार्त्तिकदारवतानामिति। ३६७।

४६. इहास्नेः केचित् सकारमात्रमुपदिश्य पिन्सु अडागमं चिद्भ्यति केचित् अकारलोपमपिन्सु वन्सेन्सु। ३८०।

४७. तत्रेदं दर्शनं—पदप्रकृतिः संहितेति[२]। ४११।

महाभाष्यदीपिका में प्राचीन भाष्यव्याख्याओं का उल्लेख

महाभाष्यदीपिका में केचित् अपरे अन्ये आदि शब्दों से महाभाष्य के अनेक प्राचीन व्याख्याकारों के पाठ उद्धृत हैं। हम यहां उनका संकेत मात्र करते हैं —

केचित्—४, ६१, १६७, १७६, १७९, १८९, २०४, २०५, २११, २८०, ३२१, ३३३, ३७४, ४००, ४०४, ४०७, ४२४।

केषाञ्चित्—३९, १७८, ४२४।

अन्ये—४, ५७, ७०, १५४, १६०, १६९, १७६, १७९, १८३, १८५, २७९, २८०, ३०८, ३३९, ३७४, ३८२, ३९१, ३९७, ३९९।

अन्येषाम्—१८, ३९, ४६।

अपरे—७०, ७६, १६४, १७६, १७८, १८९, १९७, २०५, ३२९, ३६५, ३६८, ४००, ४०४, ४२४।

महाभाष्य की प्राचीन टीकाओं में भाष्य के पाठान्तर—१५, १९, १००, १०४, १६५, १६८, १८१, ४१५, ४१९, ४३०।

---

१. यह आपिशलि का मत है। देखो अष्टा० १।३।२३ की काशिकाविवरणपञ्जिका और पदमञ्जरी। २. निरुक्त १।१७॥ तुलना करो—ऋक्प्राति० २।१॥

विशिष्ट पदों का व्यवहार

वाक्यकार (=वार्तिककार)—६२, ११६, १६२, २८०, ३७८, ४१४।
चूर्णिकार (=महाभाष्यकार)—१७९, १९९, २३६।
इह भवन्तस्त्वाहुः[1]—६१, १०७, १२५, २६१, २७२।

२—अज्ञातकर्तृक (सं० ६८० से पूर्व)

स्कन्दस्वामी ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध भाष्यकार है। उसने निरुक्त पर भी टीका लिखी है। वह निरुक्त १। २ की टीका में लिखता है—

अर्थं वर्णयन्ति—भावशब्दः शब्दपर्यायः। तथा च प्रयोगः—'यद्वा सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः' इति, 'सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेनार्थभूताः संबद्धा भवन्ति स तेषां स्वभावः' इति तत्र व्याख्यायते'।

यहां स्कन्दस्वामी ने पहिले **'यद्वा…भावः'** पाठ उद्धृत किया। यह पाठ महाभाष्य ५। १। ११९ का है। तदनन्तर **'सर्वे…स्वभावः'** पाठ लिख कर अन्त में **'तत्र व्याख्यायते'** लिखा है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्दस्वामी ने उत्तर पाठ महाभाष्य की किसी प्राचीनटीका ग्रन्थ से उद्धृत किया है।

स्कन्दस्वामी हरिस्वामी का गुरु है। हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण प्रथम काण्ड का भाष्य संवत् ६९५ में लिखा है।[2] यदि हरिस्वामी की तिथि कलि सं० २०४७ हो तो स्कन्द स्वामी की निरुक्त टीका में उद्धृत महाभाष्यव्याख्या विक्रम संवत् प्रवर्तन से भी पूर्ववर्ती होगी।

३—कैयट (सं० ११०० से पूर्व)

कैयट ने महाभाष्य की 'प्रदीप' नाम्नी एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी है। महाभाष्य पर उपलब्ध टीकाओं में भर्तृहरि की महाभाष्यदीपिका के अनन्तर यही सब से प्राचीन टीका है।

परिचय

वंश—कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप के प्रत्येक अध्याय के अन्त में

उपाध्याय" था।[1]

मम्मटकृत काव्यप्रकाश की "सुधासागर" नाम्नी टीका में भीमसेन ने कैयट और उव्वट को मम्मट का अनुज लिखा है। यजुर्वेदभाष्य के अन्त में उव्वट ने अपने पिता का नाम "वज्रट" लिखा है।[2] अतः भीमसेन का लेख अशुद्ध होने से प्रमाण योग्य नहीं है। भीमसेन का काल सं० १७७९ है। प्रतीत होता है, उसे कैयट, उव्वट और मम्मट नामों के सादृश्य के कारण भ्रम हुआ।

आनन्दवर्धनाचार्यकृत देवीशतक की एक कैयटकृत व्याख्या उपलब्ध होती है। व्याख्या का लेखन काल कलि संवत् ४०७८ अर्थात् विक्रम सं० १०३४ है। देवीशतक की व्याख्या में कैयट के पिता का नाम चन्द्रादित्य मिलता है। अतः यह कैयट प्रदीपकार कैयट से भिन्न है।

गुरु—बेल्वालकर ने कैयट के गुरु का नाम **महेश्वर** लिखा है।[3]

शिष्य—कैयट ने निस्सन्देह अनेक छात्रों के लिए महाभाष्य का प्रवचन किया होगा। परन्तु हमें उनमें से केवल एक शिष्य का नाम ज्ञात हुआ है, वह है **उद्योतकर**। यह उद्योतकर न्यायवार्तिक के रचयिता नैयायिक उद्योतकर से भिन्न व्यक्ति है। कैयट-शिष्य उद्योतकर ने भी व्याकरण पर कोई ग्रन्थ रचा था। उसके कुछ उद्धरण पं० चन्द्रसागरसूरि ने हैम-बृहद्वृत्ति की आनन्दबोधिनी टीका में उद्धृत किये हैं।[4] उनमें से एक इस प्रकार है—

......स्वगुरुमतमुपदर्शयन्नुद्योतकर आह—यथात्र भवानस्मदुपाध्यायो व्याकरणरत्नाकर-पूर्णचन्द्रमाः कैयटाख्यः शिष्यसार्थमिदमवोचत्—भूत्यापेक्षयाऽत्र षष्ठी कृता न साध्यापेक्षया.........।[5]

हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि पृष्ठ १४३ पर उद्योतकर का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

---

१. इत्युपाध्यायजैयटपुत्रकैयटकृते महाभाष्य-प्रदीपे...।

२. आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटस्य च सूनुना। उवटेन कृतं भाष्यं...॥

३. द्र० सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैराग्राफ २८।

४. हैमबृहद्वृत्ति भाग १, पृष्ठ १८८, २१०।

५. हैमबृहद्वृत्ति भाग १, पृष्ठ २१...

उद्योतकरस्त्वत्राह—'सिनोतेरेव ग्रहणं न्याय्यं स्यतेत्यनेन साहचर्यात्। किं च स्यतिग्रहणे नियमार्थता जायते, सिनोतिग्रहणे तु विध्यर्थता। विधिनियमसंभवे च विधिरेव ज्यायान्। न च वाक्यमेकेनैव सितग्रहणेन स्यतिसिनोत्युभयस्योपादानाद्विध्यर्थता नियमार्थताऽपि स्यात्' इति।

इस ग्रन्थ का लेखन काल सं० १२६४ श्रा० शु० ३ रविवार है।

देश—कैयट ने अपने जन्म से किस देश को गौरवान्वित किया यह अज्ञात है, परन्तु कैयट मम्मट रुद्रट उद्भट आदि नामों के सादृश्य से प्रतीत होता है कि कैयट कश्मीर देश का निवासी था।

काल

कैयट का इतिवृत्त अज्ञात होने से उसका काल अज्ञात है। हम उसके कालनिर्णायक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—सर्वानन्द ने अमरकोश की टीकासर्वस्व नाम्नी व्याख्या संवत् १२१५ में लिखी है। उस में वह मैत्रेयरक्षित विरचित धातुप्रदीप[1] और उसकी किसी टीका[2] को उद्धृत करता है।

२—मैत्रेय तन्त्रप्रदीप १।२।१ में नामनिर्देशपूर्वक कैयट को स्मरण करता है—**कय्यटस्तु कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यकारवचनादेवंविधविषये पञ्चमी भवतीति मन्यते।**[3]

३—मैत्रेयरक्षित अपने तन्त्रप्रदीप[4] और धातुप्रदीप[5] में धर्मकीर्ति तथा तद्रचित रूपावतार को उद्धृत करता है।

४—धर्मकीर्ति रूपावतार में पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख करता है।[6]

१. भाग १, पृष्ठ ५५, १५३, १५७ इत्यादि।

२. भाग ४, पृष्ठ ३०। दुर्घटवृत्ति (सं० १२२९) में भी धातुप्रदीप टीका पृष्ठ १०३ पर उद्धृत है। ३. भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८९३ की टिप्पणी में उद्धृत। ४. धर्मकीर्तिना [धर्म]कीर्तिनाऽप्यारोपितकर्तृकया लिखितं तनिपातितदरिद्रातिभ्यां वेद् वाच्य इत्यनार्षमिति। तन्त्रप्रदीप ७।२।४९। धातुप्रदीप की भूमिका पृष्ठ ३ में उद्धृत।

समान है। इससे सिद्ध है कि दोनों में से कोई एक दूसरे के ग्रन्थ की प्रतिलिपि करता है, यद्यपि नाम का निर्देश किसी ने नहीं किया, तथापि निम्न पाठों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि कैयट हरदत्त से प्राचीन है।

कैयट—यद्वा प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति टच् समासान्तः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते तथापि परशब्दस्याक्षिशब्देनाव्ययीभावासंभवात् समासान्तरे विज्ञायते।[1]

हरदत्त—अन्ये तु प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्ण इति शरत्प्रभृतिषु पाठात् टच् समासान्त इत्याहुः। स च यद्यप्यव्ययीभावे विधीयते तथापि परशब्देनाव्ययीभावासंभवात् समासान्तरे विज्ञायते। एवं तु क्रियायां परोक्षायामिति भाष्यप्रयोगे टिल्लक्षणो ङीप् प्राप्नोति तस्मादजन्त एवायम्।[2]

कैयट—ऊर्ध्वं दमाच्चेति—दमशब्दे उत्तरपदे टञ्सन्नियोगेनोर्ध्वशब्दस्य मकारान्तत्वं निपात्यते।[3]

हरदत्त—ऊर्ध्वशब्देन समानार्थ ऊर्ध्वं शब्द इति, स चैतद्वृत्तिविषय एव। अपर आह—टञ्सन्नियोगेन दमशब्द उत्तरपदे ऊर्ध्वशब्दस्यैव मान्तत्वं निपात्यत इति।[4]

कैयट—गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधश्च यण्पूर्वाः प्राप्तयो नव॥
इति संग्रहश्लोकः।[5]

हरदत्त—आह च—

गुणो वृद्धिर्गुणो वृद्धिः प्रतिषेधो विकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधश्च यण्पूर्वाः प्राप्तयो नव॥[6]

इन में प्रथम उद्धरण में हरदत्त 'अन्ये........आहुः' शब्दों से कैयट के मत का अनुवाद करके उसका खण्डन करता है। द्वितीय में 'अपर आह' और तृतीय में 'आह च' लिखकर कैयट के पाठ को उद्धृत करता

---

१. प्रदीप ३। २। ११५॥
२. पदमञ्जरी ३। २। ११५॥
३. प्रदीप ४। ३। ६०॥
४. पदमञ्जरी ४। ३। ६०॥
५. प्रदीप ७। २। ५॥
६. पदमञ्जरी ७। २। ५॥

है। इन पाठों से स्पष्ट है कि कैयट हरदत्त से प्राचीन है, और हरदत्त कैयट के पाठों की प्रतिलिपि करता है।

अब हम हरदत्त का एक ऐसा वचन उद्धृत करते हैं, जिसमें हरदत्त स्पष्टरूप से कैयटकृत महाभाष्य-व्याख्या को उद्धृत करता है। यथा—

अन्ये तु 'ह्रे ऋच्छिति' प्राप्ते 'ह्रे ऋचौ' इति भवतीति भाष्यं व्याचक्षाणा नित्यमेव गुणमिच्छन्ति। पदमञ्जरी ७। २। ७५॥

तुलना करो महाभाष्यप्रदीप—'ह्रे ऋचु' 'ह्रे ऋचौ' इति 'ह्रे ऋचु' इति प्राप्ते 'ह्रे ऋचौ' इति भवतीत्यर्थः। ७। २। ७५॥

भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार भी हरदत्त के मतानुसार लिखता है।[1]

पदमञ्जरी और महाभाष्यप्रदीप में एक स्थल ऐसा भी है, जिससे प्रतीत होता है कि प्रदीपकार कैयट हरदत्त के पाठ को उद्धृत करता है। यथा—

तत्कुल्यान्तरमेव ...... अव्युत्पन्नमेव प्रबन्धस्य वाचकम्। .... पारम्पर्यमित्यपि तस्मादेव स्वार्थे ष्यञि भवति। कथं पारोवर्यविद् इति? आसाकुम्भायम्, खप्रत्ययसन्नियोगेन परोवरेति निपातनात्। पदमञ्जरी ५। २। १०॥

तुलना करो महाभाष्यप्रदीप—अन्ये तु परम्पराशब्दमव्युत्पन्नमाचक्षते। तस्मात् स्वार्थे ष्यञि 'पारम्पर्यम्' इति भवति। 'पारोवर्यविद्' इत्यत्र 'आकुम्भमाहुः' प्रत्ययसन्नियोगेनैव निपातनस्य युक्तत्वं मन्यमानाः। ५। २। १०॥

इस पाठ की उपस्थिति से पुनः यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है कि कैयट और हरदत्त दोनों में कौन प्राचीन है।[2] पुनरपि हमारा विचार है कि कैयट हरदत्त से प्राचीन है।

यद्यपि पूर्व निर्दिष्ट ग्रन्थकारों में से रक्षित, धर्मकीर्ति और हरदत्त का काल भी अनिश्चित है, तथापि परस्पर एक दूसरे को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकारों में न्यूनातिन्यून २५ वर्ष का अन्तर मान कर इन का काल इस प्रकार होगा—

१. प्राचीनमुनित्रीकायां [illegible] हरिमिश्रेणापि ...। पत्रा २६ क।

२. भविष्य पुराण के आधार पर [illegible]

ग्रन्थकर्ता	ग्रन्थनाम	काल
सर्वानन्द	टीकासर्वस्व	१२१५ वि०
....	धातुप्रदीपटीका	११९० वि०
मैत्रेयरक्षित	धातुप्रदीप	११६५ ,,
धर्मकीर्ति	रूपावतार[1]	११४० ,,
हरदत्त	पदमञ्जरी	१११५ ,,
कैयट	महाभाष्यप्रदीप	१०९० ,,

इस प्रकार कैयट का काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। सम्भव है कैयट इस से भी प्राचीन ग्रन्थकार हो, परन्तु दृढ़तर प्रमाण के अभाव में इतना ही कहा जा सकता है।

महाभाष्य-प्रदीप

कैयट ने अपनी टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि मैंने यह व्याख्या भर्तृहरिनिबद्ध साररूपी ग्रन्थसेतु के आश्रय से रची है।[2] यहां कैयट का अभिप्राय भर्तृहरिविरचित वाक्यपदीय और प्रकीर्ण काण्ड से है। कैयट ने सम्पूर्ण प्रदीप में केवल एक स्थल पर भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका की ओर संकेत किया है,[3] दीपिका का पाठ कहीं पर उद्धृत नहीं किया। वाक्यपदीय और प्रकीर्ण काण्ड के शतशः उद्धरण भाष्यप्रदीप में उद्धृत हैं। प्रदीप से कैयट का प्रौढ़ पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है। सम्प्रति महाभाष्य जैसे दुरूह ग्रन्थ को समझने में एकमात्र सहारा प्रदीप ग्रन्थ है, इस के बिना महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आ सकता। अतः पाणिनीय संप्रदाय में कैयटकृत महाभाष्यप्रदीप अत्यन्त महत्त्व रखता है।

महाभाष्य-प्रदीप के टीकाकार

महाभाष्यप्रदीप के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण अनेक वैयाकरणों ने इस ग्रन्थ पर टीकाएं लिखी हैं। उन में निम्न टीकाकारों की टीकाएं उपलब्ध या ज्ञात हैं—

---

१. रूपावतार और धर्मकीर्ति को हेमचन्द्र ने लिङ्गानुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति में (पृष्ठ ७१) उद्धृत किया है—वाः वारि, रूपावतारे तु धर्मकीर्तिनस्य नपुंसकत्वमुक्तम्। २. तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना...... ।

१. चिन्तामणि
२. नागनाथ
३. रामानन्द सरस्वती
४. ईश्वरानन्द सरस्वती
५. अन्नंभट्ट
६. नारायण शास्त्री
७. नागेशभट्ट
८. मल्लय यज्वा
९. रामसेवक
१०. प्रवर्तकोपाध्याय
११. आदेन्न
१२. नारायण
१३. सर्वेश्वर सोमयाजी
१४. हरिराम
१५. अज्ञातकर्तृक

इन टीकाकारों का वर्णन हम बारहवें अध्याय में करेंगे।

४—ज्येष्ठकलश (सं० १०८५–११३५)

ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य की एक टीका लिखी थी, ऐसी ऐतिहासिकों में प्रसिद्धि है,[1] परन्तु गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशी से प्रकाशित विक्रमाङ्क-देवचरित के सम्पादक पं० मुरारीलाल शास्त्री नागर का मत है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य पर कोई टीका नहीं रची।[2] हमारा भी यही विचार है। बिल्हण का लेख इस प्रकार है—

महाभाष्यव्याख्यामखिलजनवन्द्यां विदधतः,
सदा यस्यच्छात्रैस्तिलकितमभूत् प्राङ्गणमपि।[3]

यहां 'विदधतः' वर्तमान काल का निर्देश और छात्रों से शोभित प्राङ्गण (बरामदा) का वर्णन होने से प्रतीत होता है कि ज्येष्ठकलश ने महाभाष्य की टीका नहीं रची, अपितु उक्त श्लोक में केवल उसके महाभाष्य के प्रवचन में अत्यन्त पटु होने का उल्लेख है।

परिचय

वंश—ज्येष्ठकलश कौशिक गोत्र का ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम राजकलश और पितामह का नाम मुक्तिकलश था। ये सब श्रोत्रिय और अग्निहोत्री थे। ज्येष्ठकलश की पत्नी का नाम नागदेवी था। ज्येष्ठकलश के

---

१. कृष्णमाचार्य कृत हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १६५।

बिल्हण, इष्टराम और आनन्द नामक तीन पुत्र थे। ये सब विद्वान् और कवि थे। बिल्हण ने "**विक्रमाङ्कदेवचरित**" नामक महाकाव्य की रचना की है।

देश—ज्येष्टकलश कश्मीर में प्रवरपुर के पास "**कोनमुख**" ग्राम का निवासी था। वह मूलतः मध्यदेशीय ब्राह्मण था।

काल

ज्येष्टकलश का पुत्र बिल्हण कश्मीर छोड़ कर दक्षिण देश में चला गया। वह कल्याणी के चालुक्यवंशी षष्ठ विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल का सभा पण्डित था। उसने बिल्हण को "**विद्यापति**" की उपाधि से विभूषित किया था। इस विक्रमादित्य का काल वि० सं० ११३३–११८४ तक माना जाता है। अतः बिल्हण के पिता ज्येष्टकलश का काल वि० सं० १०८५–११३५ तक रहा होगा।

बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरित के अठारवें सर्ग में अपने वंश का विस्तार से परिचय दिया है।

५—मैत्रेय रक्षित (सं० ११४५–११७५)

मैत्रेय रक्षित बौद्ध वैयाकरणों में विशिष्ट स्थान रखता है। सीरदेव ने परिभाषा वृत्ति में मैत्रेय रक्षित को बहुशः उद्धृत किया है। उनमें कुछ उद्धरण ऐसे हैं जिनसे प्रतीत होता है कि मैत्रेय रक्षित ने महाभाष्य की कोई टीका रची थी। सीरदेव के वे उद्धरण नीचे लिखे जाते हैं—

१—एतच्च 'आतो लोप इटि च' (अष्टा० ६।४।६४) इत्यत्र 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (अष्टा० ३।४।७९) इत्यत्र च भाष्यव्याख्यानं रक्षितेनोक्तम्। परि० पृष्ठ ७१।

२—एतच्च 'सर्वस्य द्वे' (अष्टा० ८।१।१) इत्यत्र भाष्यव्याख्यानं रक्षितेनोक्तम्। परि० पृष्ठ ५१।

३—तत्रैतस्मिन् भाष्ये रक्षितेनोक्तम्। परि० पृष्ठ ७१।

४—अत एव 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' (अष्टा० ७।४।२) इत्यत्र रक्षितेनोक्तम्—हलच्चोरादेशो न स्थानिवदिति, यदि हि स्यात्……

देश—मैत्रेय रक्षित सम्भवतः वंग देश का निवासी है। इस विषय में हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग पृष्ठ ८५ पर प्रकाश डाला है।

काल—मैत्रेय रक्षित का निश्चित समय अज्ञात है। कैयट के काल निर्देश में हमने मैत्रेय रक्षित के धातुप्रदीप का आनुमानिक रचना काल संवत् ११६५ लिखा है। तदनुसार मैत्रेय का काल ११४५–११७५ के मध्य माना जा सकता है।

अन्य ग्रन्थ

मैत्रेय रक्षित ने न्यास की **तन्त्रप्रदीप** नाम्नी महती टीका, **धातुप्रदीप** और **दुर्घटवृत्ति** लिखी थी। इनका वर्णन हम आगे तत्तत् प्रकरणों में करेंगे।

६–पुरुषोत्तमदेव (सं० १२००)

पुरुषोत्तमदेव ने महाभाष्य पर '**प्राणपणा**' नाम की एक लघुवृत्ति लिखी थी।[1] इस वृत्ति की व्याख्या का टीकाकार मणिकण्ठ[2] इसका नाम प्राणपणित लिखता है।

पुरुषोत्तमदेव वङ्गप्रान्तीय वैयाकरणों में प्रामाणिक व्यक्ति माना जाता है। अनेक ग्रन्थकार पुरुषोत्तमदेव के मत प्रमाणकोटि में उपस्थित करते हैं। कई स्थानों में इसे केवल '**देव**' नाम से स्मरण किया है।

परिचय

पुरुषोत्तमदेव ने अपने किसी ग्रन्थ में अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः उसका वृत्तान्त अज्ञात है।

देश—पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की भाषावृत्ति में प्रत्याहारपरिगणन करते हुए लिखा है—**अश् हश् वश् झश् जश् पुनर्वश्**।[2] इस वाक्य में '**पुनः**' पद के प्रयोग से ज्ञात होता है कि पुरुषोत्तमदेव वंगदेश निवासी था। क्योंकि बंगप्रान्त में 'ब' और 'व' का उच्चारण समान अर्थात् पवर्गीय 'ब' होता है। अत एव पुरुषोत्तम देव ने उच्चारणजन्य पुनरुक्तदोष परिहारार्थ '**पुनः**' शब्द का प्रयोग किया है।

मत—देव ने महाभाष्य और अष्टाध्यायी की व्याख्याओं के मंगल श्लोक में 'बुद्ध' को नमस्कार किया है।[1] भाषावृत्ति में अन्यत्र भी जिन, बौद्धदर्शन और महाबोधि के प्रति आदरभाव सूचित किया है।[2] इन से स्पष्ट है कि पुरुषोत्तमदेव बौद्धमतावलम्बी था।

काल

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने लिखा है कि राजा लक्ष्मणसेन की आज्ञा से पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति बनाई थी।[3] राजा लक्ष्मणसेन का राज्यकाल अभी तक सांशयिक है। अनेक व्यक्ति लक्ष्मणसेन के राज्यकाल का आरम्भ विक्रम संवत् ११७४ के लगभग मानते हैं। पुरुषोत्तमदेव का लगभग यही काल प्रमाणान्तरों से भी ज्ञात होता है। यथा—

१—शरणदेव ने शकाब्द १०९५ तदनुसार विक्रम संवत् १२३० मे दुर्घटवृत्ति की रचना की।[4] दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव और उसकी भाषावृत्ति अनेक स्थानों पर उद्धृत है। अतः पुरुषोत्तदेव संवत् १२३० से पूर्वभावी है, यह निश्चित है।

२—वन्द्यघटीय सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व शकाब्द १०८१ तदनुसार विक्रम संवत् १२१६ में रचा।[5] सर्वानन्द ने अनेक स्थानों पर पुरुषोत्तमदेव और उसके भाषावृत्ति, त्रिकाण्डशेष, हारावली और वर्णदेशना आदि अनेक ग्रन्थ उद्धृत किये हैं। अतः पुरुषोत्तमदेव ने अपने ग्रन्थ संवत् १२१६ से पूर्व अवश्य रच लिये थे, यह निर्विवाद है।

महाभाष्य-लघुवृत्ति

पुरुषोत्तमदेव विरचित भाष्यवृत्ति का प्रथम परिचय पं० दिनेशचन्द्र

---

१. महाभाष्य०—नमो बुधाय बुद्धाय। भाषावृत्ति—नमो बुद्धाय……।

२. जिनः पातु वः। ३। ३। १७३॥ न दोषप्रति बौद्धदर्शने। २। २। ६॥ महाबोधिं गन्तास्म। ३।३।११७॥ प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने। १।४।३२॥

३. वैदिकप्रयोगानर्थिनो लक्ष्मणसेनस्य राज्ञ आज्ञया प्रकृते कर्मणि प्रसजन्। भाषावृत्त्यर्थविवृत्ति के आरम्भ में।

४. शाकमहीपतिवत्सरमाने एकनभोनवपञ्च-विताने पृष्ठ १।

५. इदानीं चैकाशीतिवर्षाधिकसहस्रैकपर्यन्तेन शकाब्दकालेन।

भट्टाचार्य ने दिया है।[1] इसका नाम प्राणपणा था। पुरुषोत्तमदेवकृत भाष्यवृत्ति का व्याख्याता शंकर पण्डित लिखता है—

अथ भाष्यवृत्तिव्याचिख्यासुर्देवो विघ्नविनाशाय सदाचारपरिप्राप्तमिष्टदेवतानतिस्वरूपं मङ्गलमाचचार। तत्पद्यं यथा—

नमो बुधाय बुद्धाय यथात्रिमुनिलक्षणम्।
विधीयते प्राणपणा भाषायां लघुवृत्तिका॥ इति देव···।

शंकर विरचित व्याख्या के टीकाकार मणिकण्ठ ने देवकृत व्याख्या का नाम '**प्राणपणित**' लिखा है।[2]

अन्य व्याकरण ग्रन्थ

१—**कुण्डलीव्याख्यान**—श्रुतपाल ने कुण्डली नामक कोई व्याकरण ग्रन्थ लिखा था। श्रुतपाल के व्याकरण विषयक अनेक मत भाषावृत्ति,[3] ललितपरिभाषा,[4] कातन्त्रवृत्तिटीका[5] और जैनशाकटायन की अमोघा वृत्ति[6] में उपलब्ध होते हैं। शङ्कर कुण्डली ग्रन्थ के विषय में लिखता है—

फणिभाष्येऽत्र दुर्गत्वं कज्जटेन प्रकाशितम्।
श्रुतपालस्य राद्धान्तः कुण्डल्यां कुण्डलायते॥

शङ्कर पण्डित देवविरचित कुण्डली व्याख्यान के विषय में लिखता है—

समाख्यातश्च पुरुषोत्तमदेवः परिसमाप्तसकलक्रियाकलापः कुण्डली व्याख्याने बद्धपरिकरः प्रतिजानीते—

कुण्डली सप्तके येऽर्था दुर्बोध्याः फणिभाषिताः।
ते सर्वे प्रतिपाद्यन्ते साधुशब्देन भाषया।
यदि दुष्प्रयोगशाली स्यां फणिभक्ष्यो भवाम्यहम्॥

---

१. देखो, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३, पृष्ठ २०१। पुरुषोत्तमदेव की भाष्यवृत्ति और उस के व्याख्याताओं का वर्णन हमने इसी लेख के आधार पर किया है। २. श्री देवव्याख्यातप्राणपणितभाष्यग्रन्थस्य···। इ० हि० क्वार्टर्ली। पृष्ठ ३०३॥ ३. अत्र संस्करोतेः कैयटश्रुतपालयोर्मतभेदात्। ८।३।५॥

४. कार्मस्ताच्छील्ये (अष्टा० ५।४।१७२) इत्यत्र श्रुतपालेन ज्ञापितो

२—कारककारिका—इस ग्रन्थ में कारक का विवेचन है। यह इस के नाम से ही व्यक्त है।

इनके अतिरिक्त पुरुषोत्तमदेव ने व्याकरण पर अनेक ग्रन्थ रचे थे। उनमें से निम्न ग्रन्थ ज्ञात हैं—

३—भाषावृत्ति	६—ज्ञापकसमुच्चय
४—दुर्घटवृत्ति	७—उणादिवृत्ति
५—परिभाषावृत्ति	८—कारकचक्र

इन ग्रन्थों का वर्णन यथाप्रकरण इस ग्रन्थ में आगे किया जायगा।

अन्य ग्रन्थ—उपर्युक्त व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त **त्रिकाण्डशेष** = **अमरकोष-परिशिष्ट**, **हारावली कोष** और **वर्णदेशना** आदि अनेक ग्रन्थ पुरुषोत्तमदेव ने रचे थे। त्रिकाण्डशेष और हारावली मुद्रित हो चुके हैं।

महाभाष्य-लघुवृत्ति के व्याख्याता

१. शंकर

नवद्वीप निवासी किसी शंकर नामक पण्डित ने पुरुषोत्तमदेव की महाभाष्य लघुवृत्ति पर एक व्याख्या लिखी है। उसका कुछ अंश उपलब्ध हुआ है।[1]

शंकरकृत व्याख्या का टीकाकार—मणिकण्ठ

शंकरकृत लघुवृत्ति-व्याख्या पर पण्डित मणिकण्ठ ने एक विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका का भी कुछ अंश उपलब्ध हुआ है।[2] इस टीका में **'कारकविवेक'** नामक ग्रन्थ की एक कारिका[3] और **भार्ग्याचार्य** का भाव का लक्षण उद्धृत है।[4] कारकविवेक के नाम से उद्धृत वचन वाक्यपदीय[5] और पुरुषोत्तमदेव विरचित कारक-कारिका[6] के पाठ से मिलता है। भार्ग्याचार्य का नाम अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

---

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३। २. वही इं० हि० क्वा०।

३. सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु। जातिरित्युच्यते सोऽर्थो जातिशब्दे पृथक् पृथक्। इत्यादि कारकविवेके लिखनात्...। इ० हि० क्वार्टर्ली पृष्ठ २०४।

४. तस्मात् 'भवतोऽस्मादभिधानप्रत्ययादिति भावः' इति भार्ग्याचार्यलक्षणं शरणम्। इ० हि० क्वार्टर्ली० पृष्ठ २०४।

२. भाष्यव्याख्याप्रपञ्चकार

पुरुषोत्तमदेवविरचित भाष्यव्याख्या पर किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने एक व्याख्या लिखी है। उसका नाम है 'भाष्यव्याख्याप्रपञ्च'। इस का केवल प्रथमाध्याय का प्रथमपाद उपलब्ध हुआ है। उसके अन्त में निम्न लेख है—

इति फणीन्द्रप्रणीतमहाभाष्यार्थदुरूहतात्पर्यव्याख्यानप्रवृत्तश्रीमद्देवप्रणीतव्याख्याप्रपञ्चे अष्टाध्यायीगतार्थबोधकः प्रथमः पादः समाप्तः। श्रीशिवरुद्रशर्मणः स्वाक्षरञ्च शकाब्द १७२ ॥

> शाके पक्षनभोद्रिचन्द्रगणिते वारे शनावाश्विने,
> भाष्यग्रन्थनितान्तदुर्गविपिनप्रोद्दामदन्तावलः।
> ग्रन्थोऽयं पुरुषोत्तमेन रचितो व्यालोचियत्नान्मया,
> नत्वा श्रीपरदेवताङ्घ्रिकमलं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥

श्लोक में ग्रन्थलेखन काल शकाब्द १७०२ लिखा है। अङ्कों में 'शकाब्द १७२, पाठ है। प्रतीत होता है लेखकप्रमाद से शून्य का लिखना रह गया है। तदनुसार यह हस्तलेख वि० संवत् १८३६ का है।

उस ग्रन्थ में निम्न उद्धरण द्रष्टव्य हैं[1]—

कृतमङ्गलाः आशुच्याद् विमुच्यन्ते इत्यत्र कृतमगलाः कृतगोभूहिरण्यशान्त्युदकस्पर्शा इति हरिशर्मा। पत्रा २ क।

पदशेषकारस्तु शब्दाध्याहारं शेषमिति वदति। पत्रा ३ ख।

ओंकारश्चाथशब्दश्च······इति व्याडिलिखनात्। पत्रा ५ ख।

अत एव व्याडिः—ज्ञानं द्विविधं सम्यगसम्यक् च। पत्रा ७ क। तथा चाभिहितसूत्रे उक्तम् (इन्दुमित्रेण)—

एक एकक इत्याहुर्द्वावित्यन्ये त्रयोऽपरे।

चतुष्कः पञ्चकश्चैव चतुष्कं सूत्रमुच्यते। पत्रा ३१ ख।

यत्पुनरिन्दुमित्रेणोक्तम् 'न तिङन्तान्येकशेषं प्रयोजयन्ति·········तत्पूर्वपक्षमात्रं······अत एव प्राचीनवृत्तिटीकायां कज्जटमतानुसारिणा हरिमिश्रेणापि भाष्यवचनमनूद्य······। पत्रा ३६ क।

समानमेव हि संकेतितवदिति मीमांसा। तेन समासस्य शक्तिः कल्प्यते, तन्मते तु लक्षणादिरिति हरिशर्मलिखनात् वैयाकरणास्तन्मतमेवाद्रियन्ते। पत्रा ७१ ख।

इन उद्धरणों में उद्धृत हरिशर्मा सर्वथा अज्ञात है। हरिमिश्र सम्भवतः पदमञ्जरीकार हरदत्त मिश्र है। पदशेषकार काशिका[1] और माधवीया धातुवृत्ति[2] में उद्धृत है। इन्दुमित्र काशिका का व्याख्याता है। इसका वर्णन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में होगा। व्याडि के दोनों वचन उसके किस ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं, यह अज्ञात है। सम्भव है 'ओंकारश्च' इत्यादि श्लोक उसके कोष ग्रन्थ से उद्धृत किया गया हो और 'ज्ञानं द्विविधं' इत्यादि उसके सांख्यग्रन्थ से लिया गया हो।

७—धनेश्वर (सं० १२५०—१३००)

पण्डित धनेश्वर ने महाभाष्य की **चिन्तामणि** नाम्नी टीका लिखी है। इसका धनेश भी नामान्तर है। यह प्रसिद्ध वैयाकरण वोपदेव का गुरु है। धनेश्वर विरचित **प्रक्रियारत्नमणि** नामक ग्रन्थ अडियार के पुस्तकालय में विद्यमान है।

धनेश्वरविरचित महाभाष्यटीका का उल्लेख श्री पं० गुरुपद हालदार ने अपने व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४५७ पर किया है।

वोपदेव का काल विक्रम की १३ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। अतः धनेश्वर का काल भी तेरहवीं शती का मध्य होगा।

८—शेषनारायण (सं० १५००—१५५०)

शेषवंशावतंस शेषनारायण ने महाभाष्य की 'सूक्तिरत्नाकर' नाम्नी एक प्रौढ़ व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के हस्तलेख अनेक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। बड़ोदा के राजकीय शोध हस्तलेख पुस्तकालय में इस व्याख्या का एक हस्तलेख फिरिंदाप भट्ट की महाभाष्य टीका के नाम से विद्यमान है। इस हस्तलेख को हमने सं० २०१७ के भाद्रमास में देखा था।

परिचय

वंश—शेषनारायण ने श्रौतसर्वस्व के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

इति श्रीमद्बोधायनमार्गप्रवर्तकाचार्यश्रीशेषअनन्तदीक्षितसुतश्रीशेष-

---

वासुदेवदीक्षिततनूद्भवमहामीमांसकदीक्षितशेषनारायणनिर्मिते श्रौतसर्वस्वेऽव्यक्ताद्विचारो नाम द्वितीयः……।[1]

इससे विदित होता है कि शेषनारायण के पिता का नाम वासुदेव और पितामह का नाम अनन्त था।

आफ्रेक्ट की भूल—आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में शेषनारायण के पिता का नाम कृष्णसूरि लिखा है, वह ठीक नहीं। कृष्णसूरि तो शेषनारायण का पुत्र है। सूक्तिरत्नाकर में अनेक स्थानों पर निम्न श्लोक मिलते हैं—

श्रीमत्क्षितीन्द्रापराजराजः श्रीशेषनारायणपण्डितेन।
फणीन्द्रभाष्यस्य सुबोधटीकामकारयद् विश्वजनोपकृत्यै॥
भाट्टे भट्ट इव प्रभाकर इव प्राभाकरे योऽभवद्,
कृष्णः सूरिरतोऽभवद् बुधवरो नारायणस्तत्कृतौ।
नानाशास्त्रविचारसारचतुरे सत्तर्कपूर्णे महा-
भाष्यस्याखिलभावगूढविवृतौ श्रीसूक्तिरत्नाकरे॥

सम्भव है आफ्रेक्ट ने द्वितीय श्लोक के द्वितीय चरण का किसी हस्तलेख में 'कृष्णसूरितोऽभवद्' अशुद्ध पाठ देखकर शेषनारायण को कृष्णसूरि का पुत्र लिखा होगा।

कृष्णमाचार्य की भूल—पं० कृष्णमाचार्य ने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ६५४ में सूक्तिरत्नाकर के कर्ता शेषनारायण को शेषकृष्ण का पुत्र और वीरेश्वर का भाई लिखा है, वह भी अशुद्ध है।

आफ्रेक्ट ने शेषनारायण के एक शिष्य का नाम शेष रामचन्द्र लिखा है। यह रामचन्द्र कौन है यह अज्ञात है। एक रामचन्द्र शेषकुलोत्पन्न नागोजि पण्डित का पुत्र था।[2] इस ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वर-प्रकरण की व्याख्या लिखी है। क्या यह शेषनारायण का शिष्य रामचन्द्र हो सकता है?

वंशवृक्ष—शेषवंश पाणिनीय व्याकरण निकाय में एक विशेष स्थान रखता है। इस वंश के अनेक व्यक्तियों ने व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका वर्णन इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर होगा। अतः हम इस वंश का पूर्ण

---

१. देखो इण्डिया आफिस लन्दन का सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ७०, ग्रन्थाङ्क ३६०।

२. इति शेषकुलोत्पन्नेन नागोजीपण्डितानां पुत्रेण रामचन्द्रपण्डितविरचिता

में सुगमता होगी।

- अनन्ताचार्य
  - नृसिंह
    - गोपालाचार्य[1]
      - रामचन्द्र
        - जानकीनन्दन
    - विट्ठलाचार्य
      - अनन्त
        - वासुदेव
          - अनन्त
          - शेषनारायण
            - कृष्णसूरि[4]
              - महादेवसूरि
                - शेषविष्णु
    - कृष्णाचार्य
      - नृसिंह
        - चिन्तामणि
        - कृष्ण
          - रामेश्वर[3]
          - नागनाथ
      - रामचन्द्र
        - नृसिंह
          - विट्ठल[2]
            - लक्ष्मीधर
              - अनन्त

---

१. रामचन्द्राचार्यकृत कालनिर्णयदीपिका के अन्त में—'इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोपालगुरुपूज्यपादरामचन्द्राचार्यकृतकालदीपिका समाप्ता' पाठ उपलब्ध होता है। इस से ज्ञात होता है कि गोपालाचार्य संन्यासी हो गया था।

२. विट्ठल ने अपने समसामयिक 'जगन्नाथाश्रम' का नाम लिखा है। उसका शिष्य 'नृसिंहाश्रम' और उसका 'नारायणाश्रम' था। नृसिंहाश्रम ने तत्त्वविवेक की पूर्ति सं० १६०४ वि० में की थी। नृसिंहाश्रम ने इस पर स्वयं 'तत्त्वार्थविवेकदीपन' टीका भी लिखी है। ये नर्मदा तीरवासी थे। अप्पय्य दीक्षित ने न्यायरक्षामणि, परिमल आदि ग्रन्थ नृसिंहाश्रम की प्रेरणा से लिखे थे। नारायणाश्रम ने नृसिंहाश्रम के ग्रन्थों पर व्याख्याएं लिखी हैं। हिन्दुत्व, पृष्ठ ६२४, ६२५, ६२७।

३. मनोरमाकुचमर्दन और महाभाष्यप्रदीपोद्योतन में इस का नाम वीरेश्वर लिखा है। चक्रपाणिदत्त ने प्रौढमनोरमाखण्डन में 'वटेश्वर' नाम लिखा है। इसका एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है, उस में 'वीरेश्वर' पाठ है। सूची० भाग २, पृष्ठ १६२ ग्रन्थाङ्क ७२८।

४. आफ्रेक्ट ने कृष्णसूरि को शेषनारायण का पिता लिखा है वह अशुद्ध है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं

इस वंश से सम्बन्ध रखने वाली गुरु शिष्य परम्परा का एक चित्र निम्न प्रकार है—

गोपालाचार्य[1] कृष्णाचार्य[1]

|

रामचन्द्र[1]

|

कृष्ण

|

नृसिंह रामेश्वर (वीरेश्वर)

|

विट्ठल जगन्नाथ भट्टोजिदीक्षित चक्रपाणिदत्त

इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में शेष अनन्त कृत 'पदार्थ-चन्द्रिका' का संवत् १६५८ का एक हस्तलेख है। देखो ग्रन्थाङ्क २०८९। उसमें शेष अनन्त अपने गुरु का नाम शेषशार्ङ्गधर लिखता है। शेषनारायण का शिष्य नागोजी पुत्र शेषरामचन्द्र है, यह पूर्व लिख चुके हैं। पदार्थचन्द्रिकाकार अनन्त कौनसा है, यह अज्ञात है। इसी प्रकार शेषशार्ङ्गधर, शेषनागोजी और उसके पुत्र रामचन्द्र का नाम इस वंशावली में कहाँ जुड़ेगा, यह भी अज्ञात है। क्या शेषनागोजी नागनाथ हो सकता है ?

यह वंशचित्र विट्ठलकृत प्रक्रियाकौमुदी-प्रसाद तथा अन्य अनेक ग्रन्थों के आधार पर बनाया है। प्रक्रियाकौमुदी के सम्पादक ने विट्ठलाचार्य और अनन्त को रामेश्वर के नीचे और गोपालगुरु तथा रामचन्द्र को नागनाथ के नीचे निम्न प्रकार जोड़ा है—

कृष्ण

|

रामेश्वर नागनाथ

विट्ठलाचार्य गोपालगुरु

| |

अनन्त रामचन्द्र

यह सम्बन्ध ठीक नहीं है, क्योंकि विट्ठल लिखित गोपालगुरु पूर्वलिखित गोपालाचार्य है। संन्यास लेने पर वह गोपालगुरु नाम से प्रसिद्ध हुआ, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] प्रक्रियाप्रसाद के अन्त के छठे श्लोक से ज्ञात होता है कि नृसिंह (प्रथम) के कई पुत्र थे, न्यून से न्यून तीन अवश्य थे, क्योंकि **'गोपालाचार्यमुख्याः प्रथितगुणगणास्तस्य पुत्रा अभूवन्'** श्लोकांश में बहुवचन से निर्देश किया है। ज्येष्ठ का नाम गोपालाचार्य और कनिष्ठ का नाम कृष्णाचार्य था यह स्पष्ट है, परन्तु मध्यम पुत्र के नाम का उल्लेख नहीं। विट्ठल ने विट्ठलाचार्य गुरु के पुत्र अनन्त को नमस्कार किया है। इससे प्रतीत होता है कि गोपालाचार्य और कृष्णाचार्य का मध्यम सहोदर विट्ठल था।[2]

काल

शेषवंश की वंशावली हमने ऊपर दी है, उसके अनुसार शेषनारायण शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर का समकालिक वा उससे कुछ पूर्ववर्ती है। वीरेश्वर शिष्य विट्ठलकृत प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का संवत् १५३६ का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विद्यमान है।[3] अतः निश्चय ही विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका सं० १५३६ से पूर्व रची होगी। इसलिये वीरेश्वर का जन्म संवत् १५१० के अनन्तर नहीं हो सकता। लगभग यही काल शेषनारायण का भी समझना चाहिये।

पूर्वोद्धृत श्लोकों में स्मृत **'फिरिन्दराज'** कौन है, यह अज्ञात है। यदि फिरिन्दराज का निश्चय हो जावे तो शेषनारायण का निश्चित काल ज्ञात हो सकता है।

सूक्तिरत्नाकर का सब से प्राचीन सं० १६७५ का हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में है। देखो सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, ग्रन्थाङ्क ५९०। बड़ोदा के हस्तलेख संग्रह में फिरन्दाप भट्ट के नाम से जो हस्तलेख विद्यमान है, वह अनुमानतः वि० १६ शती का प्रतीत होता है।

---

१. देखो, पूर्व पृष्ठ ३७८, टि० १।

२. श्रीविट्ठलाचार्यगुरोस्तनूजं सौजन्यभाजजितवादिराजम्। अनन्तसंज्ञं पदवाक्यविज्ञं प्रामाणविज्ञं तमहं [illegible]मि। अन्त का ११ वां श्लोक।

विष्णुमित्र नाम के किसी वैयाकरण ने महाभाष्य पर क्षीरोदर नामक टिप्पण लिखा था। इस ग्रन्थ का उल्लेख शिवरामेन्द्र सरस्वती विरचित महाभाष्यटीका[1] और भट्टोजिदीक्षितकृत शब्दकौस्तुभ[2] में मिलता है। इन दो ग्रन्थों से अन्यत्र विष्णुमित्र अथवा क्षीरोदर का उल्लेख हमें नहीं मिला। अतः क्षीरोदर का निश्चित काल अज्ञात है।

भट्टोजिदीक्षित का काल अधिक से अधिक सं० १६०० तक है, यह हम आगे सप्रमाण दर्शावेंगे। अतः विष्णुमित्र के काल के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वह सं० १६०० से पूर्ववर्ती है।

एक विष्णुमित्र ऋक्प्रातिशाख्य का वृत्तिकार है। इसकी आद्य दो वर्गों की वृत्ति छप चुकी है। उस के पिता का नाम देवमित्र है। यह उव्वट से प्राचीन है। यदि यही विष्णुमित्र महाभाष्यटिप्पण का रचयिता हो तो यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन होगा।

१०—नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १५७५—१६२५)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने महाभाष्य की 'भाष्यतत्त्वविवेक' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ A. पृष्ठ १६१२ ग्रन्थाङ्क १२८८ पर निर्दिष्ट है।

परिचय

वंश—नीलकण्ठ वाजपेयी ने सिद्धान्तकौमुदी की 'सुखबोधिनी' व्याख्या के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

पदवाक्यप्रमाणानां पारगं विबुधोत्तमम्।
रामचन्द्रमहेन्द्राख्यं पितामहमहं भजे॥
आत्रेयाखिलकलानिधिः कविबुधालंकारचूडामणिः।
तातः श्रीवरदेश्वरो मखिवरो योऽयष्ट देवान् मखैः॥
अध्यैष्टाप्पयदीक्षितार्यतनयात् तन्त्राणि काश्यां पुनः।

---

१. तदिदं सर्वं क्षीरोदराख्ये त्रैलिङ्गतार्किकविष्णुमित्रविरचिते महाभाष्यटिप्पणे स्पष्टम्। काशी सरस्वती भवन का हस्तलेख पत्रा ६। २. हयवरट्सूत्रे क्षीरोद[र]-कारोऽप्याह। शब्दकौस्तुभ १। १। ८ पृष्ठ १४४।

षड्वर्गाणां यो व्यजेष्ट शिवतो प्राप सरस्वतीम् ॥
श्रीवाजपेयिना नीलकण्ठेन विदुषां मुदे ।
सिद्धान्तकौमुदीव्याख्या क्रियते सुखबोधिनी ॥
अस्मद्गुरुकृतां व्याख्यां बह्वर्थां तत्त्वबोधिनीम् ।
विभाव्य तत्रानुक्तं च व्याख्यास्येऽहं यथामति ॥

इन श्लोकों से विदित होता है कि नीलकण्ठ रामचन्द्र का पौत्र और वरदेश्वर का पुत्र था। वरदेश्वर ने अप्पय्यदीक्षित के पुत्र से विद्याध्ययन किया था। नीलकण्ठ ने तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती से विद्या पढ़ी थी।

काल

काशी में किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि 'भट्टोजिदीक्षित ने स्वविरचित सिद्धान्तकौमुदी पर व्याख्या लिखने के लिये ज्ञानेन्द्र सरस्वती से अनेक बार प्रार्थना की, उनके अनुमत न होने पर ज्ञानेन्द्रसरस्वती को भिक्षामिष से अपने गृह पर बुलाकर ताड़ना की। अन्त में ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने टीका लिखना स्वीकार किया'।[1] इस किंवदन्ती से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित और ज्ञानेन्द्र सरस्वती लगभग समकालिक थे। पण्डित जगन्नाथ के पिता पेरंभट्ट ने इसी ज्ञानेन्द्र भिक्षु से वेदान्त शास्त्र पढ़ा था। इससे भी पूर्व लिखित काल की पुष्टि होती है। अतः नीलकण्ठ का काल विक्रम संवत् १५७५-१६२५ के मध्य होना चाहिये।

अन्य व्याकरण ग्रन्थ

नीलकण्ठ ने व्याकरण विषयक निम्न ग्रन्थ लिखे हैं—

१—पाणिनीयदीपिका २—परिभाषावृत्ति

३—सिद्धान्तकौमुदी की सुखबोधिनी टीका

४—तत्त्वबोधिनीव्याख्यान गूढार्थदीपिका।

इनका वर्णन अगले अध्यायों में यथाप्रकरण किया जायगा।

११—शेषविष्णु (सं० १६००—१६५०)

शेषविष्णु विरचित 'महाभाष्यप्रकाशिका' का एक हस्तलेख हमने

---

१. यह किंवदन्ती हम ने काशी के कई प्रामाणिक पण्डित महानुभावों से सुनी

है। यह हस्तलेख महाभाष्य के प्रारम्भिक दो आह्निकों का है। उसके प्रथमाह्निक के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इति श्रीमन्महादेवसूरिसुतशेषविष्णुविरचितायां महाभाष्यप्रकाशिकायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्।

वंश—शेषविष्णु का सम्बन्ध वैयाकरणप्रसिद्ध शेष कुल से है। इसके पिताका नाम महादेवसूरि और पितामह नाम कृष्णसूरि और प्रपितामह का नाम शेषनारायण था। देखो शेषवंश-वृक्ष पृष्ठ ३७८।

इस वंशपरम्परा से ज्ञात होता है कि शेषविष्णु का काल लगभग सं० १६००-१६५० के मध्य रहा होगा।

१२—शिवरामेन्द्र सरस्वती (सं० १६०० के पश्चात्)

शिवरामेन्द्र सरस्वती कृत '**महाभाष्यरत्नाकर**' नाम्नी टीका का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में विद्यमान है। हमने इस टीका को भले प्रकार देखा है। यह व्याख्या अत्यन्त सरल और छात्रों के लिये विशेष उपयोगी है।

ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में शिवरामेन्द्रकृत सिद्धान्तकौमुदी की रत्नाकरटीका का उल्लेख किया है। अतः शिवरामेन्द्र सरस्वती का काल संवत् १६०० के पश्चात् है। जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में शिवरामेन्द्र यति विरचित '**शौरणाश्रिति पाणिनीयसूत्रस्य व्याख्यानम्**' नाम का एक ग्रन्थ है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ४१। सूचीपत्र के सम्पादक स्टाईन ने इस पर नोट लिखा है—"सम्पूर्णम्। विरचनकालः सं० १७०१ (?)"। यदि यह शिवरामेन्द्र वामनेन्द्रशिष्य ज्ञानेन्द्र का शिष्य हो तो इसका काल संवत् १६०० के लगभग होगा और स्टाईन का नोट चिन्त्य होगा।

१३—प्रयागवेङ्कटाद्रि

प्रयागवेङ्कटाद्रि नाम के पण्डित ने महाभाष्य पर '**विद्वन्मुखभूषण**' नाम्नी टिप्पणी लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ C पृष्ठ २३४७ ग्रन्थाङ्क १६५१

सूचीपत्र खण्ड १ पृष्ठ ... पर इस ग्रन्थ का नाम ...
है। भूषण और मण्डन पर्यायवाची हैं।

ग्रन्थकार का देश काल आदि अज्ञात है।

१४—तिरुमल यज्वा

तिरुमल यज्वा ने महाभाष्य की '**अनुपदा**' नाम्नी व्याख्या लिखी है।

परिचय

वंश—तिरुमल के पिता का नाम मल्लय यज्वा था। तिरुमल यज्वा अपने दर्शपौर्णमास-भाष्य के अन्त में लिखता है—

इति श्रीमद्राघवसोमयाजिकुलावतंसचतुर्दशविद्यावल्लभमल्लयसूनुना तिरुमलसर्वतोमुखयाजिना महाभाष्यस्यानुपदटीकाकृता रचितं दर्शपौर्णमासमन्त्रभाष्यं सम्पूर्णम्।[1]

तिरुमल के पिता मल्लय यज्वा ने कैयटविरचित महाभाष्य-प्रदीप पर टिप्पणी लिखी है। उनका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा। तिरुमल का काल अज्ञात है। यदि यह तिरुमल यज्वा अन्नम्भट्ट का पिता हो तो इस का काल सं० १६५० के लगभग होगा।

१५—कुमारतातय

कुमारतातय ने महाभाष्य की कोई टीका लिखी थी, ऐसा उसके '**पारिजात नाटक**' से ध्वनित होता है।[2] यह कुमारतातय वेङ्कटार्य का पुत्र और कांची का रहने वाला था। ग्रन्थकार पारिजात नाटक के आरम्भ में अपना परिचय देता हुआ लिखता है—

व्याख्याता फणिराट्कणादकपिलश्रीभाष्यकारादि-
ग्रन्थानां पुनरीदृशां च करणे ख्यातः कृतीनामसौ।[2]

फणिराट् शब्द से पतञ्जलि का ही ग्रहण होता है। अतः प्रतीत होता है कि कुमारतातय ने महाभाष्य की व्याख्या अवश्य लिखी थी। इसका अन्यत्र उल्लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया। कुमारतातय का काल अज्ञात है।

---

१. देखो मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग २, खण्ड १. C पृष्ठ २३६२, ग्रन्थाङ्क १६६४। २. मद्रास रा० ह० पु० सूचीपत्र भाग २, खण्ड १. C, ग्रन्थाङ्क १६७२, पृष्ठ २३७६।

१६—राजनसिंह

आचार्य राजनसिंह कृत 'शब्दबृहती' नाम्नी महाभाष्य-व्याख्या का एक हस्तलेख मैसूर के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ३२२।

इसके विषय में हम कुछ नहीं जानते।

१७—नारायण

नारायणविरचित 'महाभाष्यविवरण' का एक हस्तलेख नयपाल दरबार के पुस्तकालय में सुरक्षित है। देखो सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ २११।

किसी नारायण ने महाभाष्यप्रदीप पर एक व्याख्या लिखी है। इस का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

१८—सर्वेश्वर दीक्षित

सर्वेश्वर दीक्षित विरचित 'महाभाष्यस्फूर्ति' नाम्नी व्याख्या का एक हस्तलेख मैसूर राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ३१९ ग्रन्थाङ्क ४३४ पर निर्दिष्ट है। अडियार के पुस्तकालय के सूचीपत्र में इस का नाम 'महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति' लिखा है। अतः यह महाभाष्य की व्याख्या है अथवा प्रदीप की, यह सन्दिग्ध है।

मैसूर राजकीय पुस्तकालय का हस्तलेख सप्तम और अष्टम अध्याय का है। अतः यह ग्रन्थ पूर्ण रचा गया था, यह निर्विवाद है। इसका रचना काल अज्ञात है।

१९—गोपालकृष्ण शास्त्री

अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७४ पर गोपालकृष्ण शास्त्री विरचित 'शाब्दिकचिन्तामणि' नामक महाभाष्यटीका का उल्लेख है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में भी है (देखो सूचीपत्र भाग १ खण्ड १ A, पृष्ठ [illegible] ग्रन्थाङ्क [illegible])। सूचीपत्र में निर्दिष्ट हस्तलेख के आद्यन्त पाठ से प्रतीत होता है कि यह भट्टोजि दीक्षित

अध्वरी था ।[1] रामभद्र का काल विक्रम की १७ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है, यह हम आगे 'उणादि सूत्रों के वृत्तिकार' प्रकरण में लिखेंगे ।

२०—अज्ञातकर्तृक

मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ५ खण्ड १ C. पृष्ठ ६४९९, ग्रन्थाङ्क ४४३६ पर **'महाभाष्यव्याख्या'** का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है । ग्रन्थकर्त्ता का नाम और काल अज्ञात है । उस में एक स्थान पर निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

स्पष्टं चेदं सर्वं भाष्य इति भाष्यप्रदीपोद्योतने निरूपितमित्याहुः ।

यह भाष्यप्रदीपोद्योतन नागनाथ-रचित[2] है वा अन्नम्भट्ट-विरचित[2] यह अज्ञात है ।

हम ने इस अध्याय में महाभाष्य के २० टीकाकारों का निरूपण किया है । अगले अध्याय में कैयटकृत महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकारों का वर्णन होगा ।

---

१. इति श्री वत्सकुलतिलकवैद्यनाथसुमतिसूनोः वैयाकरणाचार्यसार्वभौमश्रीराम-भद्राध्वरिगुरुचरणश्लाघितकुशलस्य गोपालकृष्णशास्त्रिणः कृतौ शाब्दिकचिन्तामणौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे प्रथममाह्निकम् । २. देखो आगे

बारहवां अध्याय

महाभाष्यप्रदीप के व्याख्याकार

महाभाष्य की महामहोपाध्याय कैयट विरचित प्रदीप नाम्नी व्याख्या का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यह महाभाष्यप्रदीप वैयाकरण वाङ्मय में विशेष महत्त्व रखता है। इसलिये अनेक विद्वानों ने महाभाष्य की व्याख्या न करके महाभाष्यप्रदीप की व्याख्याएं रची हैं। उन में से जो प्रदीपव्याख्याएं इस समय उपलब्ध वा ज्ञात हैं, उनका वर्णन हम इस अध्याय में करेंगे।

१—चिन्तामणि (सं० १५००-१५५० ?)

चिन्तामणि नाम के किसी वैयाकरण ने महाभाष्यप्रदीप की एक संक्षिप्त व्याख्या लिखी है। इसका नाम है '**महाभाष्यकैयटप्रकाश**'। इसका एक हस्तलेख बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका ग्रन्थाङ्क ५७७३ है। यह हस्तलेख आदि और अन्त में खण्डित है। इसका आरम्भ '**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः**' (१।१।८) से होता है, और '**अचः परस्मिन्०**' (१।१।५७) पर समाप्त होता है।

परिचय

महाभाष्यकैयटप्रकाश के प्रत्येक आह्निक के अन्त में निम्न प्रकार पाठ मिलता है—

> **इति श्रीमद्गणेशांघ्रिस्मरणादात्तसन्मतिः।**
> **गूढं प्रकाशयच्चिन्तामणिश्चतुर्थ आह्निके ॥**

चिन्तामणि नाम के अनेक विद्वान् हो चुके हैं। अतः यह ग्रन्थ किस चिन्तामणि का रचा है, यह अज्ञात है। एक चिन्तामणि शेषनृसिंह का पुत्र और प्रसिद्ध वैयाकरण शेषकृष्ण का सहोदर भ्राता है। शेषकृष्ण का वंश व्याकरण शास्त्र की प्रवीणता के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। शेषवंश के अनेक व्यक्तियों ने महाभाष्य तथा महाभाष्यप्रदीप पर व्याख्याएं लिखी हैं। अतः सम्भव है इस टीका का रचयिता शेषकृष्ण का

काल संवत् १५००–१५५० के मध्य होना चाहिये, क्योंकि शेषकृष्ण विरचित प्रक्रियाकौमुदीटीका का सं० १५१४ का एक हस्तलेख भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के पुस्तकालय में विद्यमान है।[1]

२—नागनाथ (सं० १५५०)

मद्रास राजकीय संस्कृत हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र, भाग २, खण्ड १ A, पृष्ठ ४६४८, ग्रन्थाङ्क ३१४१ पर **'महाभाष्यप्रदीपोद्योतन'** का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। सूचीपत्र में ग्रन्थकार का नाम नहीं लिखा।

ग्रन्थकर्त्ता का नाम

महाभाष्यप्रदीपोद्योतन के आरम्भ में निम्न श्लोक उपलब्ध होते हैं—

श्रीशेषवीरेश्वरपण्डितेन्द्रं शेषायितं शेषवचोविशेषे।
सर्वेषु तन्त्रेषु च कर्तृतुल्यं वन्दे महाभाष्यगुरुं ममाग्रजम्॥
महाभाष्यप्रदीपस्य कृत्स्नस्योद्योतनं मया।
क्रियते पदवाक्यार्थतात्पर्यस्य विवेचनात्॥

प्रथम श्लोक में ग्रन्थकार ने शेषवीरेश्वर को अपना गुरु और ज्येष्ठ भ्राता लिखा है। यह शेषवीरेश्वर शेषकृष्ण का पुत्र और पण्डितराज जगन्नाथ का गुरु है। विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका में अपने वंशवर्णन में वीरेश्वर के लघुभ्राता का नाम नागनाथ लिखा है। इसलिये महाभाष्यप्रदीपोद्योतन के कर्त्ता का नाम नागनाथ है, यह निश्चित है। शेषवीरेश्वर और नागनाथ का काल विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग है। देखो पूर्व पृष्ठ ३७८ पर दिया वंशचित्र।

३–रामचन्द्र सरस्वती (सं० १५२५–१५७५)

रामचन्द्र सरस्वती ने महाभाष्यप्रदीप पर **'विवरण'** नामी **लघु** व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास रा० ह० पु० के सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ C, पृष्ठ ५७३१ ग्रथाङ्क ३८६७ पर निर्दिष्ट है, दूसरा मैसूर राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ३१९ पर उल्लिखित है।

ठीक हो तो रामचन्द्र सरस्वती ईश्वरानन्द सरस्वती का गुरु होगा। ईश्वरानन्दविरचित 'बृहत् महाभाष्यप्रदीपविवरण' का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में है। उसके सूचीपत्र पृष्ठ ४२ में लेखन काल १६०३ लिखा है।

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १।१।५७ में **कैयट लघुविवरण** का उल्लेख किया है। इस के साथ ही **बृहद्विवरण** का भी वर्णन है।[1] इस से विदित होता है कि रामचन्द्रसरस्वती का काल वि० सं० १५२५-१५७५ तक रहा होगा।

४-ईश्वरानन्द सरस्वती (सं० १५३५-१५७५)

ईश्वरानन्द ने कैयट के ग्रन्थ पर **महाभाष्यप्रदीपविवरण** नाम्नी बृहती टीका लिखी है। ग्रन्थकार अपने गुरु का नाम सत्यानन्द सरस्वती लिखता है। आफ्रेक्ट के मतानुसार सत्यानन्द रामचन्द्र का ही नामान्तर है। इसके दो हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो सूचीपत्र भाग ४: खण्ड १. C. पृष्ठ ५७२९, ५७८० ग्रन्थाङ्क ३८६६, ३८९४। एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में भी है।

काल

जम्मू के हस्तलेख के अन्त में लेखन काल १६०३ लिखा है। इससे इतना निश्चित है कि ईश्वरानन्द का काल सं० १६०३ से पूर्व है। भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १।१।५७ में कैयटबृहद्विवरण को उद्धृत किया है।[1] अतः इस का काल १५३५-१५७५ तक मानना युक्त है।

५-अन्नम्भट्ट (सं० १६५०-१७००)

अन्नम्भट्ट ने प्रदीप की **'प्रदीपोद्योतन'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। महाभाष्यप्रदीपोद्योतन के हस्तलेख मद्रास और अडियार के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। इस का प्रथमाध्याय का प्रथम पाद दो भागों में छप चुका है।

परिचय

अन्नम्भट्ट के पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरुमल था। राघव

---

१. कैयटलघुविवरणकारादयोऽप्येवम्। बृहद्विवरणकारास्तु......... । अन्ये:

सोमयाजी के वंश में इसका जन्म हुआ था। यह तैलङ्ग देश का रहने वाला था। अन्नम्भट्ट ने काशी में जाकर विद्याध्ययन किया था, इसकी सूचना 'काशीगमनमात्रेण नान्नम्भट्टायते द्विजः' लोकोक्ति से मिलती है।

अन्नम्भट्ट के प्रदीपोद्योतन के प्रत्येक आह्निक के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इति श्रीमहामहोपाध्यायाद्वैतविद्याचार्यराघवसोमयाजिकुलावतंस-श्रीतिरुमलाचार्यस्य सूनोरन्नम्भट्टस्य कृतौ महाभाष्यप्रदीपोद्योतने…।

काल

पं० कृष्णमाचार्य ने अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (पृष्ठ ६५४) में अन्नम्भट्ट को शेषवीरेश्वर का शिष्य लिखा है। यदि यह ठीक हो तो अन्नम्भट्ट का काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध होगा।

कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ

अन्नम्भट्टविरचित मीमांसान्यायसुधा की राणकोज्जीवनी टीका, ब्रह्मसूत्र व्याख्या, अष्टाध्यायी की मिताक्षरावृत्ति, मण्यालोक की सिद्धाञ्जनटीका और तर्कसंग्रह आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। अष्टाध्यायी की मिताक्षरा वृत्ति का वर्णन 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में किया जायगा।

६—नारायण शास्त्री (सं० १७१०—१७६०)

नारायण शास्त्री कृत महाभाष्यप्रदीप की व्याख्या का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग १, खण्ड १ A, पृष्ठ ५७, ग्रन्थाङ्क ९।

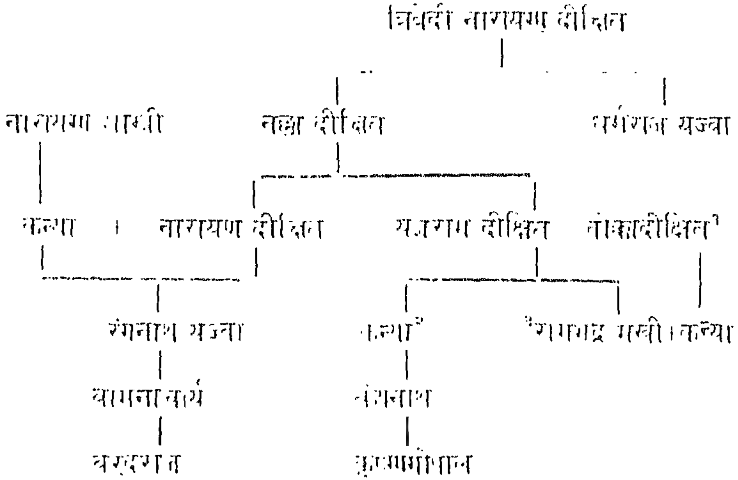
परिचय

वंश—नारायण शास्त्री के माता पिता का नाम अज्ञात है। इसकी एक कन्या थी, उसका विवाह नल्ला दीक्षित के पुत्र नारायण दीक्षित के साथ हुआ था। इनका पुत्र रङ्गनाथ यज्वा था। इसने हरदत्तविरचित पदमञ्जरी की व्याख्या रची थी।

गुरु—नारायण शास्त्री कृत प्रदीपव्याख्या का जो हस्तलेख मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है, उसके प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के

इति श्रीमन्महामहोपाध्यायधर्मराजयज्वशिष्यशास्त्रिनारायणकृतौ कैयटव्याख्यायां प्रथमाध्याये प्रथमे पादे प्रथमाह्निकम् ।

यह धर्मराजयज्वा कौण्डिन्य गोत्रज नल्ला दीक्षित का भाई और नारायण दीक्षित का पुत्र है। यज्वा या दीक्षित वंश के अनेक व्यक्तियों ने व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस वंश के कई व्यक्तियों का उल्लेख इस इतिहास में होगा। अतः हम अनेक ग्रन्थों के आधार पर इस वंश का चित्र नीचे दे रहे हैं। यह उनके काल ज्ञान में सहायक होगा।



काल

नल्ला दीक्षित के पौत्र रामभद्र यज्वा ने उणादिवृत्ति और परिभाषावृत्ति की व्याख्या में अपने को तञ्जोर के राजा शाहजी का समकालिक कहा है। शाहजी के राज्य का आरम्भ सं० १७४४ से माना जाता है। अतः नारायण शास्त्री का काल लगभग १७१०-१७६० मानना उचित होगा।

नागेश भट्ट (सं० १७३०—१८१०)

नागेश भट्ट ने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप की 'उद्योत' अपरनाम 'विवरण' नाम्नी प्रौढ़ व्याख्या लिखी है।

१. कृष्णमाचार्य जी ने यज्ञराम के पुत्र का नाम नीलकण्ठ मखीन्द्र लिखा है। द्र०

भट्ट था। नागोजी भट्ट के पिता का नाम शिव भट्ट और माता का नाम सतीदेवी था।[1] लघुशब्देन्दुशेखर के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि नागेश के कोई संतान न थी।[2]

गुरु और शिष्य—नागेश ने भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। वैद्यनाथ पायगुण्ड नागेशभट्ट का प्रधान शिष्य था। नागेशभट्ट की गुरुशिष्य-परम्परा इस प्रकार है—

रामाश्रम[3]
|
हरि दीक्षित
|
नागेश
|
वैद्यनाथ — बालशर्मा[4]
|
मन्नुदेव

पाण्डित्य—नागेश व्याकरण, साहित्य, अलंकार, धर्मशास्त्र, सांख्य, योग, पूर्वोत्तर मीमांसा और ज्योतिष आदि अनेक विषयों का प्रकाण्ड पण्डित था। वैयाकरण निकाय में भर्तृहरि के पश्चात् यही एक प्रामाणिक व्यक्ति माना जाता है। काशी के वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि नागेश भट्ट ने महाभाष्य का १८ बार गुरुमुख से अध्ययन किया था। आधुनिक वैयाकरणों में नागेशविरचित महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघुशब्देन्दुशेखर और परिभाषेन्दुशेखर ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक माने जाते हैं।

---

१. इति श्रीमदुपाध्यायोपनामकशिवभट्टसुतसतीगर्भजनागेशभट्टविरचितलघुशब्देन्दु-शेखरे......। २. शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यका। स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया॥ ३. आफ्रेक्ट ने इसे भट्टोजि दीक्षित का पुत्र लिखा है। बृहत्सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ५२५। ४. यह वैद्यनाथ का पुत्र है। देखो एतत्कृत धर्मशास्त्रसंग्रह का प्रारम्भ।

नागेश ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत को लघुमञ्जूषा[1] और शब्देन्दु-शेखर[2] में उद्धृत किया है। आम एकान्तर सूत्र के शब्देन्दुशेखर में उद्योत भी उद्धृत है।[3] अतः सम्भव है दोनों की रचना साथ साथ हुई हो।

सहायक—प्रयाग समीपस्थ शृङ्गवेरपुर का राजा रामसिंह नागेश का वृत्तिदाता था।

काल

नागेश भट्ट कब से कब तक जीवित रहा, यह अज्ञात है। अनुश्रुति है कि सं० १७७२ में जयपुराधीश ने जो अश्वमेध यज्ञ किया था, उसमें उसने नागेशभट्ट को भी निमन्त्रित किया था, परन्तु नागेश ने संन्यासी हो जाने अथवा क्षेत्रनिवासव्रत के कारण वह निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। भानुदत्तकृत रसमञ्जरी पर नागेश भट्ट की एक टीका है। इस टीका का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में विद्यमान है। उस का लेखनकाल संवत् १७६९ है। देखो ग्रन्थाङ्क १२२२। वैद्यनाथ पायगुण्ड का पुत्र बालशर्मा नागेश भट्ट का शिष्य था। उसने धर्मशास्त्री मन्नुदेव की सहायता और हेनरी टामस कोलब्रुक की आज्ञा से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' ग्रन्थ रचा था।[4] कोलब्रुक सन् १७८३–१८१५ अर्थात् वि० सं० १८४०–१८७२ तक भारतवर्ष में रहा था।[5] अतः नागेश भट्ट सं० १७३० से १८१० के मध्य जीवित रहा होगा।

इससे अधिक हम नागेश भट्ट के विषय में कुछ नहीं जानते। यह कितने दुःख की बात है कि हम लगभग २०० वर्ष पूर्ववर्ती प्रकाण्ड पण्डित नागेश भट्ट के इतिवृत्त से भी सर्वथा अपरिचित हैं।

१. अधिकं मञ्जूषायां द्रष्टव्यम्। प्रदीपोद्योत ४। ३। १०१॥

२. शब्देन्दुशेखरे निरूपितमस्माभिः। प्रदीपोद्योत २। १। २२॥ निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ३६८।

३. प्लुतो नेवेति भाष्यप्रदीपोद्योते निरूपितम्। भाग २ पृष्ठ ११०८।

४. देखो धर्मशास्त्रसंग्रह का इण्डिया आफिस का हस्तलेख ग्रन्थाङ्क १५०७

नागेश ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत के अतिरिक्त व्याकरण के निम्न ग्रन्थ रचे हैं—

१. लघुशब्देन्दुशेखर
२. बृहच्छब्देन्दुशेखर
३. परिभाषेन्दुशेखर
४. लघुमञ्जूषा
५. परमलघुमञ्जूषा
६. स्फोटवाद
७. महाभाष्यप्रत्याख्यानसंग्रह[1]

इनका वर्णन इस इतिहास में यथाप्रकरण किया जायगा। नागेश ने व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, दर्शन, ज्योतिष और अलंकार आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचे हैं।

उद्योतव्याख्याकार—वैद्यनाथ पायगुण्ड (सं० १७५०-१८००)

नागेश भट्ट के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत की 'छाया' नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या केवल नवाह्निक पर उपलब्ध होती है। इसका कुछ अंश पं० शिवदत्त शर्मा ने निर्णयसागर यन्त्रालय बम्बई से प्रकाशित महाभाष्य के प्रथम भाग में छापा है।

वैद्यनाथ का पुत्र बालशर्मा और मन्नुदेव था। बालशर्मा ने कोलब्रुक साहब की आज्ञा तथा धर्मशास्त्री मन्नुदेव और महादेव की सहायता से 'धर्मशास्त्रसंग्रह' रचा था। बालशर्मा नागेश का शिष्य और कोलब्रुक से लब्धजीविक था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

अब हम महाभाष्यप्रदीप के उन टीकाकारों का उल्लेख करते हैं, जिन का निश्चित काल हमें ज्ञात नहीं है।

८—मल्लय यज्वा

मल्लय यज्वा ने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप पर एक टिप्पणी लिखी

---

१. इस का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के पुस्तकालय में है, उस की प्रतिलिपि हमारे पास भी है। अब यह काशी की 'सारस्वती सुषमा' में छप चुका है।

थी। इस की सूचना मल्लय यज्वा के पुत्र तिरुमल यज्वा ने अपनी 'दर्श-पौर्णमासमन्त्रभाष्य' के आरम्भ में दी है। उस का लेख इस प्रकार है—

> चतुर्दशसु विद्यासु वल्लभं पितरं गुरुम्।
> वन्दे कूष्माण्डदातारं मल्लययज्वानमन्वहम्॥
> पितामहस्तु यस्येदं मन्त्रभाष्यं चकार च।
> श्रीकृष्णाभ्युदयं काव्यमनुवादं गुरोर्मते॥
> यत्पित्रा तु कृता टीका भाष्यालोकस्य धीमता।
> तथा तत्त्वविवेकस्य कैयटस्यापि टिप्पणी।

देखो, मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ C, पृष्ठ २३६२, ग्रन्थाङ्क १६६४।

मल्लय यज्वा के पुत्र तिरुमल यज्वा ने महाभाष्य की व्याख्या लिखी थी। इसका वर्णन हम पिछले अध्याय में पृष्ठ ३८४ पर कर चुके।

९—रामसेवक

रामसेवक नाम के किसी विद्वान् ने '**महाभाष्यप्रदीपव्याख्या**' की रचना की थी। इस का एक हस्तलेख अडियार के पुस्तकालय में है। देखो सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७३।

रामसेवक के पिता का नाम देवीदत्त था। रामसेवक के पुत्र कृष्णमित्र ने भट्टोजिदीक्षितविरचित शब्दकौस्तुभ की 'भावप्रदीप' और सिद्धान्तकौमुदी की 'रत्नार्णव' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इन का वर्णन यथास्थान आगे किया जायगा। रामसेवक का काल सम्भवतः वि० सं० १६५०—१७०० के मध्य होगा।

१०—प्रवर्तकोपाध्याय

प्रवर्तकोपाध्याय-विरचित '**महाभाष्यप्रदीपप्रकाशिका**' के अनेक हस्तलेख मद्रास, अडियार, मैसूर और ट्रिवेण्ड्रम् के पुस्तकालयों में विद्य-

प्रवर्तकोपाध्याय का उल्लेख हमारी दृष्टि में अन्यत्र नहीं आया। इस का काल तथा इतिवृत्त अज्ञात है।

११—आदेन्न (?)

आदेन्न (?) नाम के किसी वैयाकरण ने **'महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति'** संज्ञक ग्रन्थ लिखा है। इस के पिता का नाम वेङ्कट अतिरात्राप्तोर्यामयाजी है। इस ग्रन्थ के तीन हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ३ पृष्ठ १३२–१३४, ग्रन्थाङ्क १३०५–१३०७ पर निर्दिष्ट हैं।

१२—नारायण

किसी नारायणविरचित **'महाभाष्यप्रदीपविवरण'** के कई हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। देखो, मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ A. पृष्ठ ४३०२ ग्रन्थाङ्क २९६६, कलकत्ता संस्कृत कालेज पुस्तकालय सूचीपत्र भाग ८, ग्रन्थाङ्क ७४ और लाहौर डी० ए० वी० कालेज लालचन्द पुस्तकालय संख्या ३८१७।

वैयाकरणनिकाय में नारायण नामा अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। प्रदीपविवरणकार कौन सा नारायण है, यह अज्ञात है। क्या यह पूर्वोल्लिखित (पृष्ठ ३९०) नारायण शास्त्री हो सकता है?

१३—सर्वेश्वर सोमयाजी

सर्वेश्वर सोमयाजी विरचित **'महाभाष्यप्रदीपस्फूर्ति'** का एक हस्तलेख अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २ पृष्ठ ७३ पर निर्दिष्ट है।

१४—हरिराम

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में हरिरामकृत **'महाभाष्यप्रदीप-व्याख्या'** का उल्लेख किया है। हमारी दृष्टि में इस का उल्लेख अन्यत्र

दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में एक 'प्रदीपव्याख्या' ग्रन्थ विद्यमान है। इस का ग्रन्थाङ्क ६६०६ है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नाम अज्ञात है।

इस अध्याय में कैयट विरचित महाभाष्यप्रदीप के पन्द्रह टीकाकारों का संक्षिप्त वर्णन किया है। इस प्रकार हमने ११ वें और १२ वें अध्याय में महाभाष्य, और उसकी टीका-प्रटीकाओं पर लिखने वाले ४० वैयाकरणों का वर्णन किया है। अगले अध्याय में अनुपदकार और पदशेषकार नामक वैयाकरणों का उल्लेख होगा।

अनुपदकार और पदशेषकार

व्याकरण के वाङ्मय में अनुपदकार और पदशेषकार नामक वैयाकरणों का उल्लेख मिलता है। अनेक ग्रन्थकार पदकार के नाम से पातञ्जल महाभाष्य के उद्धरण उद्धृत करते हैं।[1] तदनुसार पतञ्जलि का पदकार नामान्तर होने से स्पष्ट है कि महाभाष्य का एक नाम "पद" भी था। शिशुपालवध के "अनुत्सूत्रपदन्यासा"[2] श्लोक की व्याख्या में वल्लभदेव भी "पद" शब्द का अर्थ "पदं शेषाहिविरचितं भाष्यम्"[3] करता है। इससे स्पष्ट है कि अनुपदकार का अर्थ अनुपद=महाभाष्य के अनन्तर रचे गये ग्रन्थ[4] का रचयिता और पदशेषकार का अर्थ पदशेष=महाभाष्य से बचे हुए विषय के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ का रचयिता है। इसीलिये इन का वर्णन हम महाभाष्य और उस पर रची गई व्याख्याओं के अनन्तर करते हैं।

अनुपदकार

अनुपदकार का अर्थ—अनुपदकार का अर्थ है 'अनुपद' का रचयिता।

अनुपद—चरणव्यूह यजुर्वेद खण्ड में एक अनुपद उपाङ्गों में गिना गया है। अनुपद नाम का सामवेद का एक सूत्र ग्रन्थ भी है।

अनुपदकार का निर्देश—धूर्तस्वामी ने आपस्तम्ब श्रौत ११।१।२ के भाष्य में अनुपदकार का उल्लेख किया है।[5] यह वैदिक ग्रन्थकार है। रामाण्डार ने आपस्तम्ब श्रौत ११।१।२ की टीका में अनुपदकार को छान्दोग्य षड्विंश ब्राह्मण का व्याख्याता कहा है।[6]

व्याकरण वाङ्मय में अनुपदकार—व्याकरण वाङ्मय में भी अनुपदकार का निर्देश अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। यथा—

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ३१३। २. २।११२॥ ३. तुलना करो—पदशेषो ग्रन्थविशेषः। पदमञ्जरी ७।२।५८॥ ४. तुलना करो—अनुन्यास पद। तथा देखो अगले पृष्ठ का विवरण। ५. अनुपदकारस्य तूर्ध्वबाहुना……। ६. अनुपदकारः छान्दोग्यषड्विंशव्याख्याता……।

न्यासव्याख्या तन्त्रप्रदीप और शरणदेव रचित दुर्घटवृत्ति में 'अनुपदकार' के नाम से व्याकरण विषयक दो उद्धरण उपलब्ध होते हैं । यथा—

१—एवं च युवानमाख्यत् अर्चीकलदित्यादिप्रयोगोऽनुपदकारेण नेष्यत इति लक्ष्यते ।[1]

२—प्रेन्वनमिति अनुपदकारेणानुम उदाहरणमुपन्यस्तम् ।[2]

सम्भवतः ये उद्धरण यथाक्रम अष्टाध्यायी ७।४।१ तथा ८।४।२ के ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं । इन से इतना स्पष्ट है कि अनुपद नामक कोई ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर रचा गया था ।

संक्षिप्तसार व्याकरण की वृत्ति और गोयीचन्द्र कृत व्याख्या में निर्दिष्ट अनुपदकार के चार मत निम्न प्रकार हैं[3]—

१—शषसे वर्गाद्यात्तद् द्वितीय इत्यनुपदकारः । सन्धिपाद ।

२—पचमानोऽवर्तमानकाले, यजमानोऽवर्तमानकालेऽकत्रर्थे क्रिया-फलेऽपीत्यनुपदकार इति । 'शतृशानचौ' सूत्र वृत्ति में ।

३—जयादित्यादीनां तु व्यवस्थया यत्र्यर्थनञ्ज्ञित इति लक्ष्यते अर्थनञ्ज्ञिति च, तथापि न तद्दिष्टं भाष्यानुपदकारादीनां मतेनविरोधात् । 'द्वितीया टौस्स्वस्य समासे' सूत्रवृत्ति की गोयीचन्द्र की व्याख्या ।

४—युवाल्पलितिसूत्रे युवजरन्निति भाष्ये नोदाहृतम् । अनुपदकारेण पुनरेतन्निश्चितमेव । 'जरत्पलित०' सूत्रवृत्ति की गोयीचन्द्र की व्याख्या ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'अनुपद' ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर था । यह सम्प्रति अप्राप्त है ।

व्याकरण के वाङ्मय में जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास अपरनाम काशिका-विवरणपञ्जिका के अनन्तर इन्दुमित्र नामक वैयाकरण ने काशिका की "अनुन्यास" नामक एक व्याख्या लिखी थी । इस के उद्धरण अनेक

१. भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८६९ ।

प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।[1] अनुन्यास पद से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि अनुपद संज्ञक ग्रन्थ पद=महाभाष्य के अनु=पश्चात् लिखा गया है। इस अनुपद ग्रन्थ के रचयिता का नाम और काल अज्ञात है।

पदशेषकार

पदशेषकार के नाम से व्याकरणविषयक कुछ उद्धरण काशिकावृत्ति, माधवीया धातुवृत्ति और पुरुषोत्तमदेवविरचित महाभाष्यलघुवृत्ति की "भाष्यव्याख्याप्रपञ्च" नाम्नी टीका में उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—पदशेषकारस्य पुनरिदं दर्शनम्—गम्युपलक्षणार्थं परस्मैपदग्रहणम्, परस्मैपदेषु यो गमिरुपलक्षितस्तस्मात् सकारादेरार्धधातुकस्येड् भवति।[2]

२—अत एव भाष्यवार्तिकविरोधात् 'गमेरिट्' इत्यत्र परस्मैपदग्रहणं गम्युपलक्षणार्थम्, परस्मैपदेषु यो निर्दिष्ट इति पदशेषकार[3]-दर्शनमुपेक्ष्यम्।[4]

३—पदशेषकारस्तु शब्दाध्याहारं शेषमिति वदति।[5]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पदशेष नामक कोई ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर लिखा गया था। पदशेष नाम से यह भी विदित होता है कि यह ग्रन्थ पद=महाभाष्य के अनन्तर रचा गया था।

पदशेषकार का सब से पुराना उद्धरण अभी तक काशिकावृत्ति में मिला है। तदनुसार यह ग्रन्थ विक्रम की ७ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है, केवल इतना ही कहा जा सकता है। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है।

हम पूर्व पृष्ठ ३१४ पर लिख आए हैं कि अनुपदकार और पदशेषकार दोनों एक हैं, परन्तु अब हमें इन के एक होने में कुछ सन्देह हो गया है।

अब हम अगले अध्याय में अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों का वर्णन करेंगे।

---

१. देखो काशिकावृत्ति के व्याख्याकार नामक १५ वां अध्याय।

२. काशिका ७। २। ५८॥ ३. पृष्ठ ३७६ की टि० १।

४. मा० धातु० पृष्ठ १६२। ५. देखो इ० हि० क्वार्टर्ली सेप्टेम्बर १९४३

अष्टाध्यायी के वृत्तिकार

सूत्र ग्रन्थों की रचना में अत्यन्त लाघव से कार्य लिया जाता है। वे विशिष्ट अर्थों के संकेतमात्र होते हैं। इसीलिए प्राचीन ग्रन्थकार सूत्र शब्द का अर्थ **सूचनात् सूत्रम्** कहते हैं।[1] विस्तृत अर्थों की सूचना देने वाले संकेतमात्र सूत्रों का अभिप्राय हृदयंगम करने वा कराने के लिए व्याख्यान ग्रन्थों की आवश्यकता होती है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस प्रकार के व्याख्यान ग्रन्थों का स्वरूप निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

न केवलं चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः आत् ऐज् इति। किं तर्हि ? 'उदाहरणम्, प्रत्युदाहरणम्, वाक्याध्याहारः' इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति।[2]

अर्थात्—व्याख्यान में पदच्छेद, वाक्याध्याहार (पूर्वप्रकरणस्थ पदों की अनुवृत्ति वा सूत्रबाह्य पद का योग) उदाहरण और प्रत्युदाहरण होने चाहिएं।

पञ्चधा व्याख्यान—वैयाकरणों में एक श्लोक प्रसिद्ध है—

> **पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।**
> **पूर्वपक्षसमाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्॥**[3]

अर्थात्—पदच्छेद, पदों का अर्थ, समस्तपदों का विग्रह, वाक्ययोजना, पूर्वपक्ष और समाधान ये पांच व्याख्यान के अवयव हैं।

इन दोनों वचनों से स्पष्ट है कि सूत्रग्रन्थों के प्रारम्भिक व्याख्यानों में पदच्छेद, पदार्थ, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, वाक्ययोजना=अर्थ, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पूर्वपक्ष और समाधान ये अंश प्रायः रहा करते थे। इसी प्रकार के लघु व्याख्यान रूप ग्रन्थ 'वृत्ति' शब्द से व्यवहृत होते हैं।

---

१. इसी लक्षण को किसी ने विस्तार से इस प्रकार कहा है—लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च। सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः। भामती (वेदान्त १।१।१) में उद्धृत।

२. महाभाष्य १।१।आ० १॥

३. भाषावृत्ति की सृष्टिधर विरचित विवृति में (भाषावृत्ति के प्रारम्भ में पृष्ठ १६ पर)।

महाभाष्य १।१।५६ में लिखा है—

यत्तदस्य योगस्य मूर्धाभिषिक्तमुदाहरणं तदपि संगृहीतं भवति किं पुनस्तत् ? पट्व्या मृद्व्येति ।

इस पर कैयट लिखता है—**मूर्धाभिषिक्तमिति—सर्ववृत्तिषूदाहृतत्वात् ।**

पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी १।२।१ के भाष्य में उक्त सूत्र के चार विभिन्न सूत्रार्थ दर्शाये हैं।[1] ये सूत्रार्थ पतञ्जलि के स्वकल्पना-प्रसूत नहीं हैं, निश्चय ही इन सूत्रार्थों का निर्देश पतञ्जलि ने प्राचीन वृत्तियों के आधार पर किया होगा।[2]

महाभाष्य के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि महाभाष्य की रचना से पूर्व अष्टाध्यायी की न्यून से न्यून ४, ५ वृत्तियां अवश्य बन चुकी थीं। महाभाष्य के अनन्तर भी अनेक वैयाकरणों ने अष्टाध्यायी की वृत्तियां लिखी हैं।

महाभाष्य से अर्वाचीन अष्टाध्यायी की जितनी वृत्तियां लिखी गईं, उनका मुख्य आधार पातञ्जल महाभाष्य है। पतञ्जलि ने पाणिनीयाष्टक की निर्दोषता सिद्ध करने के लिये जिस प्रकार अनेक सूत्रों वा सूत्रांशों का परिष्कार दर्शाया, उसी प्रकार उसने कतिपय सूत्रोंकी वृत्तियों का भी परिष्कार किया। अतः महाभाष्य से उत्तरकालीन वृत्तियों से पाणिनीय सूत्रों की उन प्राचीन सूत्रवृत्तियों का परिज्ञान नहीं होता, जिन के आधार पर महाभाष्य की रचना हुई। इस कारण प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखे

---

१. गाङ्कुटादिभ्यः परोऽञ्णित् प्रत्ययः ङित्संज्ञकङकार इत्यर्थः। द्र० उद्योत। गाङ्कुटादिभ्यः परो योऽञ्णित् प्रत्ययः स ङिद् भवति ङकार इत्संज्ञकस्तस्य भवतीत्यर्थः। द्र० प्रदीप। संज्ञाकरणं तर्हीदं, गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् प्रत्ययो ङित्-संज्ञो भवति। महाभाष्य। तद्वदतिदेशस्तर्ह्ययम्—गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णित् ङिद्वद् भवति। महाभाष्य।

२. देखो ओरियण्टल कालेज मेगजीन लाहौर, नवम्बर सन् १९३९ के अंक में मेरा "अष्टाध्यायी की महाभाष्य से प्राचीन वृत्तियों का स्वरूप" शीर्षक लेख।

महाभाष्य के अनेक पाठ अर्वाचीन वृत्तियों के अनुसार असंबद्ध उन्मत्त-प्रलापवत् प्रतीत होते हैं । यथा—

अष्टाध्यायी के "**कष्टाय क्रमणे**" (३ । १ । १४) सूत्र की वृत्ति काशिका में "**कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् क्रमणेऽर्थेऽनार्जवे क्यङ् प्रत्ययो भवति**" लिखी है। जिस छात्र ने यह वृत्ति पढ़ी है उसे इस सूत्र के महाभाष्य की "**कष्टायेति किं निपात्यते ? कष्टशब्दाच्चतुर्थीसमर्थात् क्रमणेऽनार्जवे क्यङ् निपात्यते**" पङ्क्ति देख कर आश्चर्य होगा कि इस सूत्र में निपातन का कोई प्रसङ्ग ही नहीं, फिर महाभाष्यकार ने निपातनविषयक आशङ्का क्यों उठाई ? इसलिये महाभाष्य का अध्ययन करते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये ।

अष्टाध्यायी पर रची गई महाभाष्य से प्राचीन और अर्वाचीन वृत्तियों में से जितनी वृत्तियों का ज्ञान हमें हो सका, उन का संक्षेप से वर्णन करते हैं—

१—पाणिनि (२९०० वि० पू०)

पाणिनि ने स्वोपज्ञ अकालक व्याकरण का स्वयं अनेक बार प्रवचन किया था । महाभाष्य १ । ४ । १ में लिखा है—

१—**कथं त्वेतत् सूत्रं पठितव्यम् । किमाकडारादेका संज्ञा, आहोस्वित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति । कुतः पुनरयं सन्देहः ? उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः केचिदाकडारादेका संज्ञेति, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यमिति ।**

२—काशिका ४ । १ । ११४ में लिखा है—

शुभ्राशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौभ्रेय इति । द्वयमपि चैतत् प्रमाणमुभयथासूत्रप्रणयनात् ।

३—काशिका ६ । २ । १०४ में उदाहरण दिये हैं—"**पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः**। इन से पाणिनि के शिष्यों के दो विभाग दर्शाए हैं ।

इन उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट है कि सूत्रकार ने अपने सूत्रों का स्वयं अनेकधा प्रवचन किया था । सूत्रप्रवचन काल में सूत्रों की वृत्ति, उदाहरण,

१—भर्तृहरि 'इग्यणः संप्रसारणम्'[१] सूत्र के विषय में महाभाष्यदीपिका में लिखता है—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः केचिद् वाक्यस्य, केचिद्वर्णस्य ।

अर्थात्—पाणिनि ने शिष्यों को 'इग्यणः संप्रसारणम्' सूत्र के दो अर्थ पढ़ाये हैं । किन्हीं को 'यणः स्थाने इक्' इस वाक्य की सम्प्रसारण संज्ञा बताई, और किन्हीं को यण् स्थान पर होने वाले इक् वर्ण की ।

२—अष्टाध्यायी ५ । १ । ५० की दो प्रकार से व्याख्या करके जयादित्य लिखता है—

सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः । तदुभयमपि प्रमाणम् ।

अर्थात्—आचार्य (पाणिनि) ने इस सूत्र के दोनों अर्थ शिष्यों को बताए इसलिए दोनों अर्थ प्रमाण हैं ।

ऐसी ही दो प्रकार की व्याख्या जयादित्य ने ५ । १ । ९४ की भी की है ।[२]

३—महाभाष्य ६ । १ । ४५ में पतञ्जलि ने लिखा है—

यर्त्हि मीनातिमीनोतिदीङां ल्यपि चेत्यत्र एज्ग्रहणमनुवर्तयति...।

यहां **अनुवर्तयति** (=अनुवृत्ति लाता है) क्रिया का कर्त्ता पाणिनि के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता ।

४—पुनः महाभाष्य ६ । १ । ८५ में लिखा है—

उक्तमेतत्—पदग्रहणं परिमाणार्थम् ।

अर्थात्—**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६ । १ । १५८) सूत्र में पद ग्रहण परिमाणार्थ है ।

---

१. अष्टा० १ । १ । ४५ ॥ २. ऐसी दो दो प्रकार की व्याख्या श्वेतवन-वासी ने पञ्चपादी उणादि के भी कतिपय सूत्रों की है, द्रष्टव्य ४ । ११५, ११७, १२० । श्वेतवनवासी ने इन सूत्रों की द्वितीय व्याख्या दशपादीवृत्ति के आधार पर की है । द्र० दशपादीवृत्ति १० । १६, १७; ८ । १४ ॥

अष्टाध्यायी ६। १। १५७ सूत्रस्थ पद ग्रहण का उक्त प्रयोजन न वार्तिककार ने लिखा है और न भाष्यकार ने। अतः पतञ्जलि का यह संकेत पाणिनीय वृत्ति की ओर ही है।

५—महाभाष्य ३। १। ९४ में लिखा है—

ननु च य एव तस्य समयस्य कर्त्ता स एवेदमप्याह। यद्यसौ तत्र प्रमाणमिहापि प्रमाणं भवितुमर्हति। प्रमाणं चासौ तत्र चेह च।

अर्थात्—'**न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः**' इस नियम का जो कर्त्ता है वही '**वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्**'[1] सूत्र का भी रचयिता है। यदि वह नियम में प्रमाण है तो सूत्र के विषय में भी प्रमाण होगा। वह उस में भी प्रमाण है और इस में भी।

यह नियम न पाणिनि के सूत्रपाठ में उपलब्ध होता है और न खिलपाठ में। भाष्यकार के वचन से स्पष्ट है कि इस नियम का कर्त्ता पाणिनि है। अतः प्रतीत होता है कि पाणिनि ने उपर्युक्त नियम का प्रतिपादन सूत्रपाठ की वृत्ति में किया होगा।

६—गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान सूरि क्रौड्याद्यन्तर्गत 'चैतयत'[2] पद पर लिखता है—**पाणिनिस्तु चित संवेदने इत्यस्य चैतयत इत्याह।**[3]

वर्धमान ने यह व्युत्पत्ति निश्चय ही '**क्रौड्यादिभ्यश्च**'[4] सूत्र की पाणिनीय वृत्ति से उद्धृत की होगी।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की वृत्ति का प्रवचन अवश्य किया था।

पाणिनि के परिचय और काल के विषय में हम पूर्व (पृष्ठ १२९-१४९) विस्तार से लिख चुके हैं।

२—श्वोभूति (२९०० वि० पू०)

आचार्य श्वोभूति ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी, उसका उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास ग्रन्थ में किया है। काशिका ७। २। ११ के

'केचिदत्र क्ङिककारनिर्देशेन गकारप्रश्लेषं वर्णयन्ति' पर वह लिखता है—

केचित् श्वभूतिव्याडिप्रभृतयः 'श्र्युकः क्किति' इत्यत्र क्ङिककार-निर्देशेन हेतुना चर्त्वभूतो गकारःप्रश्लिष्ट इत्येवमाचक्षते।

यहां श्वभूति का पाठान्तर 'सुभूति' है। सुभूति न्यासकार से अर्वाचीन ग्रन्थकार है। हमारा विचार है न्यास में 'श्वोभूति' पाठ होना चाहिये।

परिचय

श्वोभूति आचार्य का कुछ भी इतिवृत्त विदित नहीं है। महाभाष्य १।१।५६ में एक श्वोभूति का उल्लेख मिलता है। वचन इस प्रकार है—

स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वोभूते शातनीं पातनीं च।
नेतारावागच्छन्तं धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते च॥

उक्त वचन से प्रतीत होता है कि श्वोभूति इस श्लोक के रचयिता का शिष्य था।[1] इस श्लोक के रचयिता का नाम अज्ञात है।

लक्ष्यानुसारी काव्यवचन—हमारे विचार में उक्त श्लोक पाणिनीय सूत्रों को लक्ष्य में रखकर रावणार्जुनीय आदि काव्यों के सदृश किसी लक्ष्यानुसारी काव्य का है।

काल—किन्हीं विद्वानों का मत है कि श्वोभूति पाणिनि का साक्षात् शिष्य है (हमारा भी यही विचार है)। यदि यह बात प्रमाणान्तर से पुष्ट हो जाय तो श्वोभूति का काल निश्चय ही २९ सौ वर्ष विक्रमपूर्व होगा। महाभाष्य में श्वोभूति का उल्लेख होने से इतना विस्पष्ट है कि श्वोभूति महाभाष्यकार पतञ्जलि से प्राचीन है।

३—व्याडि (२९०० वि० पूर्व)

श्वोभूति के प्रसङ्ग में न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि का जो वचन उद्धृत किया है उस से विदित होता है कि व्याडि ने भी श्वोभूति के समान अष्टाध्यायी की कोई वृत्ति लिखी थी।

यदि व्याडि ने अष्टाध्यायी ७।२।११ सूत्र की उक्त व्याख्या संग्रह में न की हो तो निश्चय है व्याडि ने अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखी होगी।

(पूर्व पृष्ठ २६३—२७६) विस्तार से लिख चुके हैं।

४—कुणि (२००० वि० पू० से प्राचीन)

भर्तृहरि, कैयट और हरदत्त आदि ग्रन्थकार आचार्य कुणि विरचित 'अष्टाध्यायीवृत्ति' का उल्लेख करते हैं। भर्तृहरि महाभाष्य १।१।३८ की व्याख्या में लिखता है—

अत एवां व्यावृत्त्यर्थं कुणिनापि तद्धितग्रहणं कर्तव्यम्।...... अतो गणपाठ एव ज्यायान् अस्यापि वृत्तिकारस्य इत्येतदनेन प्रतिपादयति।[1]

कैयट महाभाष्य १।१।७५ की टीका में लिखता है—

कुणिना प्राग्ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्यवस्थितविभाषार्थं च व्याख्यातम्। ....भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्।

हरदत्त भी पदमञ्जरी में लिखता है—**कुणिना तु प्राचां ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थं व्याख्यातम्, भाष्यकारोऽपि तथैवाशिश्रियत्।**[2]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य कुणि ने अष्टाध्यायी की कोई वृत्ति अवश्य रची थी।

परिचय

वृत्तिकार आचार्य कुणि का इतिवृत्त सर्वथा अन्धकारावृत है। हम उस के विषय में कुछ नहीं जानते।

ब्रह्माण्ड पुराण तीसरा पाद ८।९७ के अनुसार एक 'कुणि' वसिष्ठ का पुत्र था। इस का दूसरा नाम 'इन्द्रप्रमति' था। एक इन्द्रप्रमति ऋग्वेद के प्रवक्ता आचार्य पैल का शिष्य था।[3] वृत्तिकार कुणि इन से भिन्न व्यक्ति है।

काल

आचार्य कुणि का इतिवृत्त अज्ञात होने से उसका काल भी अज्ञात है। भर्तृहरि आदि के उपर्युक्त उद्धरणों से केवल इतना प्रतीत होता है कि यह आचार्य महाभाष्यकार पतञ्जलि से पूर्ववर्ती है।

---

१. हमारा हस्तलेख पृष्ठ ३०६।   २. भाग १, पृष्ठ १४५।

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी १।२।५७ की वृत्ति में आचार्य माथुर प्रोक्त वृत्ति का उल्लेख किया है। महाभाष्य ४।३।१०१ में भी माथुर नामक आचार्य प्रोक्त किसी वृत्ति का उल्लेख मिलता है।

परिचय

माथुर नाम तद्धितप्रत्ययान्त है, तदनुसार इस का अर्थ 'मथुरा में रहने वाला' है। ग्रन्थकार का वास्तविक नाम अज्ञात है। महाभाष्य में इस का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि यह आचार्य पतञ्जलि से प्राचीन है।

माथुरी-वृत्ति

महाभाष्य में लिखा है—**यत्तेन प्रोक्तं न च तेन कृतम् माथुरी वृत्तिः।**[1]

इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि माथुरी वृत्ति का रचयिता माथुर[2] से भिन्न व्यक्ति था। माथुर तो केवल उसका प्रवक्ता है।

माथुरी वृत्ति का उद्धरण

संस्कृत वाङ्मय में अभी तक माथुरी वृत्ति का केवल एक उद्धरण उपलब्ध हुआ है। पुरुषोत्तदेव भाषावृत्ति १।२।५७ में लिखता है—

माथुर्यां तु वृत्तावशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते।

अर्थात् माथुरी वृत्ति में '**तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्**'[3] सूत्र के 'अशिष्य' पद की अनुवृत्ति प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद की समाप्ति तक है।

माथुरी वृत्ति और चान्द्र व्याकरण

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अशिष्य पद की अनुवृत्ति १।२।५७ तक मानी है। माथुरी वृत्ति में इस पद की अनुवृत्ति १।२।७३ तक जाती है। अतः माथुरी वृत्ति के अनुसार अष्टाध्यायी १।२।५८ से १।२।७३ तक १६ सूत्र भी अशिष्य हैं। चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में जिस प्रकार अष्टाध्यायी १।२।५३–५७ सूत्रस्थ विषयों का अशिष्य होने से समावेश नहीं किया, उसी प्रकार

---

१. डा० कीलहार्न ने 'माधुरी वृत्तिः' पाठ माना है। उसके चार हस्तलेखों में 'माथुरी वृत्तिः' पाठ भी है। तुलना करो—अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः। काशिका ४।३।१०१॥ २. माथुर+अण्। प्रदीप ४।३।१०१॥

३. अष्टा० १।२।५३॥

उसने अष्टाध्यायी १।१।५८–७३ सूत्रस्थ वचनातिदेश और एकवत् का निर्देश भी नहीं किया। इस से प्रतीत होता है कि आचार्य चन्द्रगोमी ने इन विषयों को भी अशिष्य माना है। इस समानता से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की रचना में माथुरी वृत्ति का साहाय्य अवश्य लिया था। महाभाष्यकार ने भी प्रकारान्तर से अष्टाध्यायी १।१।५८–७३ सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है। सम्भव है पतञ्जलि ने भी इन के प्रत्याख्यान में माथुरी वृत्ति का आश्रय लिया हो।

६—वररुचि (विक्रम-समकालिक)

आचार्य वररुचि ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी। यह वररुचि वार्तिककार कात्यायन वररुचि से भिन्न अर्वाचीन व्यक्ति है। वररुचिविरचित अष्टाध्यायीवृत्ति का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में किया है। मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में इस नाम का एक हस्तलेख विद्यमान है। देखो सूचीपत्र सन् १८८० का छपा, पृष्ठ ३६२।

परिचय

यह वररुचि भी कात्यायन गोत्र का है। सदुक्तिकर्णामृत के एक श्लोक से विदित होता है कि इस का एक नाम श्रुतिधर भी था।[2] वाररुच निरुक्तसमुच्चय से प्रतीत होता है कि यह किसी राजा का धर्माधिकारी था।[3] अनेक इसे विक्रमादित्य का पुरोहित मानते हैं।[4] इस का भागिनेय वासवदत्ता लेखक सुबन्धु था।[5] इससे अधिक हम इस के विषय में कुछ नहीं जानते।

काल

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार आचार्य वररुचि संवत् प्रवर्तक महाराज विक्रमादित्य का सभ्य था। कई ऐतिहासिक इस सम्बन्ध को काल्पनिक मानते हैं। अतः वररुचि के कालनिर्णायक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

२. ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठीविद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्। पृष्ठ २९७। ३. गुरुप्रसादादहं लब्धसमस्तकलापः सर्वसंसारा-

१—काशिका से प्राचीन कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंह के मतानुसार कातन्त्र व्याकरण का कृदन्त भाग वररुचि कात्यायन कृत है।[1]

२—संवत् ६९५ में शतपथ का भाष्य लिखने वाले हरिस्वामी का गुरु स्कन्दस्वामी निरुक्तटीका में वाररुच निरुक्तसमुच्चय से पर्याप्त सहायता लेता है और उसके पाठ उद्धृत करता है।[2]

३—स्कन्द महेश्वर की निरुक्तटीका १०। १६ में भामह के अलंकार ग्रन्थ का २। १७ श्लोक उद्धृत है। भामह ने वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' की 'प्राकृतमनोरमा' नाम्नी टीका लिखी है। अतः वररुचि निश्चय ही संवत् ६०० से पूर्ववर्ती है। पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे के मतानुसार हरिस्वामी संवत् प्रवर्तक विक्रम का समकालिक है।[3]

भारतीय इतिहास के प्रामाणिक विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' ग्रन्थ में वररुचि और विक्रम साहसाङ्क की समकालिकता में अनेक प्रमाण दिये हैं।[4] उनमें से कुछ एक नीचे लिखे हैं—

४—वररुचि अपने लिङ्गानुशासन के अन्त में लिखता है—

इति श्रीमदखिलवाग्विलासमण्डित-सरस्वती-कण्ठाभरण-अनेकविशरणश्रीनरपति-विक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृष्टचरणारविन्द-आचार्यवररुचिविरचितो लिङ्गविशेषविधिः समाप्तः।

५—वररुचि अपनी पत्रकौमुदी के आरम्भ में लिखता है—

विक्रमादित्यभूपस्य कीर्तिसिद्धेर्निदेशतः।
श्रीमान् वररुचिर्धीमांस्तनोति पत्रकौमुदीम्॥

६—वररुचि अपने विद्यासुन्दर काव्य के अन्त में लिखता है—

इति समस्तमहीमण्डलाधिपमहाराजविक्रमादित्यनिदेशलब्धश्रीमन्महापण्डितवररुचिविरचितं विद्यासुन्दरप्रसंगकाव्यं समाप्तम्।

७—लक्ष्मणसेन (वि० सं० ११७६) का सभापण्डित धोयी का एक श्लोक सदुक्तिकर्णामृत में उद्धृत है। उसमें लिखा है—

---

१. वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृताः कृतः। कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिपत्तये। २. देखो हमारे द्वारा सम्पादित निरुक्तसमुच्चय की भूमिका पृष्ठ १।

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्यगोष्ठी,
विद्याभर्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम् ॥[1]

८—कालिदास अपने ज्योतिर्विदाभरण २२। १० में लिखता है—

धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

४—८ पांच प्रमाणों से वररुचि और विक्रमादित्य का संबन्ध विस्पष्ट है। आठवें प्रमाण में वराहमिहिर का उल्लेख है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में ५५० शक का उल्लेख किया है। यह शालिवाहन शक नहीं है। शक शब्द संवत्सर का पर्याय है। विक्रम से पूर्व नन्दाब्द, चन्द्रगुप्ताब्द, शूद्रकाब्द आदि अनेक शक प्रचलित थे। वराहमिहिर ने किस शक का उल्लेख किया है, यह अज्ञात है। हां, उसे शालिवाहन-शक मानना निश्चय ही भ्रान्ति है।

वाररुच—वृत्ति का हस्तलेख

हमने मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में विद्यमान वाररुच वृत्ति की प्रतिलिपि मंगवाई है। यह आरम्भ से अष्टाध्यायी २।४।३४ सूत्र पर्यन्त है। यदि यह प्रतिलिपि भूल से अन्य ग्रन्थ की न भेजी गई हो तो निश्चय ही वह हस्तलेख वाररुच वृत्ति का नहीं है। इस ग्रन्थ में भट्टोजि दीक्षित विरचित सिद्धान्तकौमुदी की सूत्रवृत्ति सूत्रक्रमानुसार तत्तत् सूत्रों पर संगृहीत है।

वररुचि के कतिपय अन्य ग्रन्थ

वररुचि के नाम से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ एक निम्न लिखित हैं—

१—**तैत्तिरीयप्रातिशाख्य-व्याख्या**—इस व्याख्या के अनेक उद्धरण तैत्तिरीयप्रातिशाख्य के त्रिरत्नभाष्य और वीरराघवकृत शब्दब्रह्मविलास नामक टीका में मिलते हैं। इसका विशेष वर्णन 'प्रातिशाख्य और उसके टीकाकार' प्रकरण में किया जायगा।

२—**निरुक्तसमुच्चय**—इस ग्रन्थ में आचार्य वररुचि ने १०० मन्त्रों की

ग्रन्थ है। इसका सम्पादन हमने किया है। इस समय अप्राप्य है।

३—**सारसमुच्चय**—इस ग्रन्थ में वररुचि ने महाभारत से आचार-व्यवहार संबन्धी अनेक विषयों के श्लोकों का संग्रह किया है। यह ग्रन्थ बालि द्वीप में प्राप्त हुआ है। इस पर बालि भाषा में व्याख्या भी है। इस का सुन्दर संस्करण अभी अभी श्री डा० रघुवीर ने सरस्वती विहार से प्रकाशित किया है।

४—**लिङ्गविशेषविधि**—इसका वर्णन 'लिङ्गानुशासन और उसके वृत्तिकार' प्रकरण में किया जायगा।

५—**प्रयोगविधि**—यह व्याकरणविषयक लघु ग्रन्थ है। यह नारायण-कृत टीका सहित ट्रिवेण्ड्रम् से प्रकाशित हो चुका है।

६—**कातन्त्र उत्तरार्ध**—इसका वर्णन कातन्त्र व्याकरण के प्रकरण में किया जायगा।

७—**प्राकृतप्रकाश**—यह प्राकृत भाषा का व्याकरण है। इस पर भामह की 'प्राकृतमनोरमा' टीका छप चुकी है।

८—**कोश**—अमरकोष आदि की विविध टीकाओं में कात्य, कात्यायन तथा वररुचि के नाम से किसी कोष ग्रन्थ के अनेक वचन उद्धृत हैं। वररुचिकृत कोष का एक सटीक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है, देखो सूचीपत्र भाग २७ खण्ड १ ग्रन्थाङ्क १५६७२।

९—**उपसर्ग-सूत्र**—माधवनिदान की मधुकोष व्याख्या में वररुचि का एक उपसर्ग-सूत्र उद्धृत है।[१]

१०—**पत्रकौमुदी**। ११—**विद्यासुन्दरप्रसंग काव्य**।

७—देवनन्दी (सं० ५०० से पूर्व)

जैनेन्द्र शब्दानुशासन के रचयिता देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद ने पाणिनीय व्याकरण पर '**शब्दावतारन्यास**' नाम्नी टीका लिखी थी। इस में निम्न प्रमाण हैं—

---

१. वररुचेरुपसर्गसूत्रम्—नि निश्चयनिषेधयोः। निर्णयसागर संस्क० पृ० ५।

१—शिमोगा ज़िले की 'नगर' तहसील के ४३ वें शिलालेख में लिखा है—

न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपादः।
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः ॥[1]

अर्थात् पूज्यपाद ने अपने व्याकरण पर जैनेन्द्र[1] न्यास, पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यास, वैद्यक का ग्रन्थ और तत्त्वार्थ सूत्र की टीका लिखी।

२—वि० सं० १२१७ के वृत्तविलास ने 'धर्मपरीक्षा' नामक कनाड़ी भाषा के काव्य की प्रशस्ति में लिखा है—

भरदिं जैनेन्द्रभासुरं=एनल् ओरेदं पाणिनीयक्के टीकुम्,[2]

इस में पाणिनीय व्याकरण पर किसी टीका ग्रन्थ के लिखने का उल्लेख है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि आचार्य देवनन्दी ने पाणिनीय व्याकरण पर कोई टीका ग्रन्थ अवश्य रचा था।

आचार्य पूज्यपाद द्वारा विरचित शब्दावतार न्यास इस समय अप्राप्य है।

परिचय

चन्द्रय्य कवि ने कनाड़ी भाषा में पूज्यपाद का चरित लिखा है। उसमें लेखक लिखता है—

देवनन्दी के पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। ये दोनों वैदिक मतानुयायी थे। इनका जन्म कर्नाटक देश के 'काले' नामक ग्राम में हुआ था। माधव भट्ट ने अपनी स्त्री के कहने से जैन मत स्वीकार किया था। पूज्यपाद को एक उद्यान में मेंडक को सांप के मुंह में फंसा हुआ देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे जैन साधु बन गये।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १०७, टि० १; द्वि० सं० पृष्ठ ३३ टि०२।

यह चरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से अनुपादेय माना जाता है। अतः उपर्युक्त लेख कहां तक सत्य है, यह नहीं कह सकते।

देवनन्दी जैनमत के प्रामाणिक आचार्य हैं। जैन लेखक इन्हें पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि के नाम से स्मरण करते हैं गणरत्नमहोदधि के कर्ता वर्धमान ने इन्हें 'दिग्वस्त्र' नाम से स्मरण किया है।[1]

काल

आचार्य देवनन्दी का काल अभी तक अनिश्चित है। उनके काल निर्णायक जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१—जैन ग्रन्थकार वर्धमान ने वि० सं० ११९७ में अपना गणरत्नमहोदधि ग्रन्थ रचा, उसमें आचार्य देवनन्दी को दिग्वस्त्रनाम से बहुत्र स्मरण किया है।

२—राष्ट्रकूट के जगत्तुङ्ग राजा का समकालिक वामन अपने लिङ्गानुशासन में आचार्य देवनन्दी विरचित जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन को बहुधा उद्धृत् करता है।[2] जगत्तुङ्ग का राज्यकाल वि० सं० ८५१-८७१ तक था।[3]

३—कनार्टककविचरित्र के कर्त्ता ने गङ्गवंशीय राजा दुर्विनीत को पूज्यपाद का शिष्य लिखा है। दुर्विनीत के पिता महाराज अविनीत का मर्करा (कुर्ग) मे शकाब्द ३८८ का एक ताम्रपत्र मिला है। तदनुसार अविनीत वि० सं० ५२३ में राज्य कर रहा था। 'हिस्ट्री आफ कनाड़ी लिटरेचर' और 'कर्नाटककविचरित्र' के अनुसार महाराज दुर्विनीत का राज्यकाल वि० सं० ५३९—५६९ तक रहा है।[4]

४—वि० सं० ९९० में बने हुए 'दर्शनसार' नामक प्राकृत ग्रन्थ में लिखा है—

सिरि पुज्जपादसीसो द्राविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुड वेदी महासत्थो॥

---

१. शालातुरीयशकटाङ्गजचन्द्रगोमिदिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्याः।........ दिग्वस्त्रो देवनन्दी। पृष्ठ १, २।

२. व्याडिप्रणीतमथवाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथान्यत्।

पञ्चसये छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
दक्खिण महुरो जादो द्राविणसंघो महामोहो ॥[1]

अर्थात् पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने विक्रम के मरण के पश्चात् ५२६ वें वर्ष में दक्षिण मथुरा वा मदुरा में द्रविड़संघ की स्थापना की थी।

प्रमाणाङ्क ३ और ४ से विस्पष्ट होता है कि आचार्य देवनन्दी का काल विक्रम की षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्ध है।

विवेचना—श्री नाथूराम प्रेमी ने अपने जैन साहित्य और इतिहास' के द्वितीय संस्करण में पृष्ठ ४४ पर पूज्यपाद और राजा दुर्विनीत के गुरुशिष्य भाव का खण्डन कर दिया है।

नया प्रमाण—भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित जैनेन्द्र व्याकरण के आरम्भ में 'जैनेन्द्र शब्दनुशासन तथा उस के खिलपाठ' प्रकरण में आचार्य पूज्यपाद के काल के निश्चय के लिए हमने एक नया प्रमाण उपस्थित किया था। उसे ही संक्षेप से यहां उपस्थित करते हैं—

प्राय: सभी वैयाकरणों ने एक विशेष नियम का विधान किया है जिसके अनुसार 'ऐसी कोई घटना जो लोकविश्रुत हो, प्रयोक्ता ने उसे साक्षात् न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ता के दर्शन का विषय सम्भव हो। अर्थात् प्रयोक्ता के जीवनकाल में घटी हो, तो उस को कहने के लिए भूतकाल में लङ् प्रत्यय होता है—

परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये।[2]

इस नियम के निम्न उदाहरण व्याकरण ग्रन्थों में मिलते हैं—

अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।
महा० ३।२।११॥

अजयज्जर्तो हूणान्[3]। चान्द्र[4] १।२।८१॥

अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। जैनेन्द्र[4] २।२।९२॥

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, प्र० सं० पृष्ठ ११७। द्वि० सं० पृष्ठ ४३।

२. कात्यायन वार्तिक। महा० ३।२।११॥

३. पाश्चात्य मतानुयायियों ने 'जर्तः' के स्थान पर 'गुप्तः' पाठ घड़ लिया है। द्र० पूर्व पृष्ठ ३२२, ३२३ तथा पृष्ठ ३२३ की टि० १। ४. यद्यपि ये उदाहरण

अरुणत् सिद्धवर्षोऽवन्तीम् । हैम ५ । २ । ८ ॥

इन में अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति [शाकटायन] अमोघवर्ष और आचार्य हेमचन्द्र सिद्धराज के काल में विद्यमान थे, इस में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु **जर्त** और **महेन्द्र** नामक व्यक्ति को इतिहास में साक्षात् न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानों ने **जर्त** को **गुप्त**[1] और **महेन्द्र** को **मेनेन्द्र-मिनएडर**[2] बनाकर अनर्गल कल्पनाएं की हैं। इस प्रकार की कल्पनाओं से इतिहास नष्ट हो जाता है। हमारे विचार में जैनेन्द्र का **अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्** पाठ सर्वथा ठीक है। उस में किञ्चिन्मात्र भ्रान्ति की सम्भावन नहीं। आचार्य पूज्यपाद के जीवन काल की यह महत्त्वपूर्ण घटना इतिहास में सुरक्षित है।

जैनेन्द्र उल्लिखित महेन्द्र—जैनेन्द्र व्याकरण में स्मृत महेन्द्र गुप्त-वंशीय कुमारगुप्त है। उस का पूरा नाम **महेन्द्रकुमार** है। जैनेन्द्र के **विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्** (४।१।१३९) वार्तिक अथवा **पदेषु पदैकदेशान्** न्याय के अनुसार महेन्द्रकुमार के लिए **महेन्द्र** अथवा कुमार शब्दों का प्रयोग इतिहास में मिलता है। कुमारगुप्त की मुद्राओं पर **महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार** आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं।[3]

महेन्द्र का मथुरा विजय—तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ परिपृच्छा सूत्र में लिखा है—"यवनों बल्हिकों शकुनों (कुशनों) ने मिलकर तीन लाख सेना लेकर महेन्द्र के राज्य पर आक्रमण किया। गङ्गा के उत्तर प्रदेश जीत लिए। महेन्द्रसेन के युवा कुमार ने दो लाख सेना लेकर उन पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटने पर पिता ने उसका अभिषेक कर दिया"।[4]

---

१. देखो पूर्व ४१५ पृष्ठ की टि० ३।

२. जैनेन्द्र महावृत्ति भारतीय ज्ञानपीठ काशी संस्करण की श्री डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल लिखित भूमिका पृष्ठ १०-११।

३. पं. भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग २, पृष्ठ ३४७।

४. इम्पीरियल हिस्ट्री आफ इण्डिया, जायसवाल, पृष्ठ ३६, तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २ पृष्ठ ३४८।

चन्द्रगर्भ सूत्र में लिखित घटना को जैनेन्द्र के उदाहरण में उल्लिखित घटना के साथ तुलना करने पर स्पष्ट होजाता है कि जैनेन्द्र के उदाहरण में उक्त महत्त्वपूर्ण घटना का ही संकेत है। अतः उक्त उदाहरण से यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओं ने गङ्गा के आस पास का प्रदेश जीतकर मथुरा को अपना केन्द्र बनाया था। इसलिए महेन्द्र की सेना ने मथुरा का ही घेरा डाला।

जैनेन्द्र के उक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि उक्त ऐतिहासिक घटना आचार्य पूज्यपाद के जीवनकाल में घटी थी। अतः आचार्य पूज्यपाद और महाराज महेन्द्रकुमार=कुमारगुप्त समकालिक हैं।

महेन्द्रकुमार का काल—महाराज महेन्द्रकुमार अपरनाम कुमारगुप्त का काल पाश्चात्य विद्वानों ने वि० सं० ४७०–५१२ (=४१३-४५५ ई०) माना है। भारतीय काल गणनानुसार कुमारगुप्त का काल विक्रम सं० ९६–१३६ तक निश्चित है। क्योंकि उसके शिलालेख उक्त संवत्सरों के उपलब्ध हो चुके हैं। यदि भारतीय काल गणना को अभी स्वीकार न भी किया जाए तो भी पाश्चात्य मतानुसार इतना तो निश्चित है कि पूज्यपाद का काल विक्रम की पांचवीं शती के उत्तरार्ध से षष्ठ शती के प्रथम चरण के मध्य है।

इस विवेचना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र के '**अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्**' उदाहरण में महेन्द्र को विदेशी आक्रामक **मेनेन्द्र=मिनण्डर** समझना भी भारी भ्रम है।

डा० काशीनाथ बापूजी पाठक की भूल

स्वर्गीय डा० काशीनाथ बापुजी पाठक का शाकटायन व्याकरण के सम्बन्ध में एक लेख इण्डियन एण्टिक्वेरी (जिल्द ४३ पृष्ठ २०५—२१२) में छपा है। उसमें उन्होंने लिखा है—

[2]'पाणिनीय व्याकरण में वार्षगण्य पद की सिद्धि नहीं है। जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण में इस का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के

---

१. महेन्द्रनृपवरो मुख्यः सकाराद्यो मतः परम्।

२. यहां हम ने संक्षेप से लिखा है। विशेष देखो जैन साहित्य और इतिहास प्र० सं० पृष्ठ ११७—११९।

शरद्वच्छुनकदर्भाग्निशर्मकृष्णारणाद् भृगुवत्साग्रायणब्राह्मणवसिष्ठे ।[2] इसी का अनुकरण करते हुए शाकटायन ने सूत्र रचा है—**शरद्वच्छुनकरणाग्निशर्मकृष्णदर्भाद् भृगुवत्सवसिष्ठवृषगण ब्राह्मणाग्रायणे** ।[3] इस की अमोघा वृत्ति में "**आग्निशर्मायणो वार्षगण्यः, आग्निशर्मिरन्यः**" व्याख्या की है वार्षगण्य सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण का दूसरा नाम है। चीनी विद्वान् डा० टक्कुसु के मतानुसार ईश्वर कृष्ण वि० सं० ५०७ के लगभग विद्यमान था। जैनेन्द्र व्याकरण में उसका उल्लेख होने से जैनेन्द्र व्याकरण वि० सं० ५०७ के बाद का है ।

इस लेख में पाठक महोदय ने चार भयानक भूलें की हैं। यथा—

प्रथम—सांख्यशास्त्र के साथ संबद्ध वार्षगण्य नाम सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण का है, यह लिखना सर्वथा अशुद्ध है। सांख्यकारिका की युक्ति-दीपिका नाम्नी व्याख्या में '**वार्षगण्य**' और '**वार्षगणाः**' के नाम से अनेक उद्धरण उद्धृत हैं, वे ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्यकारिका में उपलब्ध नहीं होते। आचार्य भर्तृहरि विरचित वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में "**इदं फेनो न**" और "**अन्धो मणिमविन्दद्**" दो पद्य पढ़े हैं।[4] इन में से द्वितीय पद्य तैत्तिरीय आरण्यक १।११।५ में तथा योगदर्शन ४।३१ के व्यास-भाष्य में स्वल्प पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है। वाक्यपदीय के प्राचीन व्याख्याकार वृषभदेव के मतानुसार ये पद्य सांख्यशास्त्र के षष्टितन्त्र ग्रन्थ के हैं।[5] अनेक लेखकों के मत में षष्टितन्त्र भगवान् वार्षगण्य की कृति है।[6] यदि यह ठीक हो तो मानना होगा कि वार्षगण्य आचार्य तैत्तिरीय आरण्यक के प्रवचनकाल अर्थात् विक्रम से लगभग तीन सहस्रवर्ष से प्राचीन है।[7] महाभारत में भी सांख्यशास्त्रकार वार्षगण्य का बहुधा उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है वार्षगण्य अत्यन्त प्राचीन आचार्य है। उस का ईश्वरकृष्ण के साथ संबन्ध जोड़ना महती भ्रान्ति है।

---

१. अष्टा० ४।१।१०२॥ २. शब्दार्णव ३।१।१३४। ३. २।४।३६॥ ४. कारिका ८, ९। ५. इदं फेन इति। षष्टितन्त्रग्रन्थश्चायं यावदस्यपूजयदिति। पृष्ठ १८। ६. देखो हमारे मित्र विद्वद्वर श्री० पं० उदयवीरजी शास्त्री कृत "सांख्य दर्शन का इतिहास" पृष्ठ ८६। ७. 'सांख्य दर्शन का इतिहास, ग्रन्थ में माननीय शास्त्री जी ने वार्षगण्य को तैत्तिरीयारण्यक से उत्तर काल का माना है,

द्वितीय—जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण के जिन सूत्रों के उद्धरण देकर पाठक महोदय ने वार्गगण्य पद की सिद्धि दर्शाई है, वह भी चिन्त्य है। उक्त सूत्रों में 'वार्गगण्य' पद की सिद्धि नहीं है, अपितु उन में बताया है कि यदि अग्निशर्मा वृषगण-गोत्र का होगा तो उसका अपत्य "आग्निशर्मायण" कहलावेगा और यदि वह वृषगणगोत्र का न होगा तो उस का अपत्य "आग्निशर्मि" होगा। इस बात को पाठक महोदय द्वारा उद्धृत अमोघा वृत्ति का पाठ स्पष्ट दर्शा रहा है। व्याकरण का साधारणसा बोध न होने से कैसी भयङ्कर भूलें होती हैं, यह पाठक महोदय के लेख से स्पष्ट है।

तृतीय—जैनेन्द्र व्याकरण के नाम से पाठक महोदय ने जो सूत्र उद्धृत किया है, वह जैनेन्द्र व्याकरण का नहीं है, वह है जैनेन्द्र व्याकरण के **गुणनन्दी** द्वारा परिष्कृत "शब्दार्णव" संज्ञक संस्करण का।[1] गुणनन्दी का काल विक्रम की दशम शताब्दी है।[1] अतः उसके आधार पर आचार्य पूज्यपाद का काल निर्धारण करना सर्वथा अयुक्त है।

चतुर्थ—पाठक महोदय जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरण के जिन सूत्रों में वार्गगण्य पद का निर्देश समझकर पाणिनीय व्याकरण में उसका अभाव बताते हैं वह भी अनुचित है, क्योंकि पाणिनि ने वार्गगण्य गोत्र के आग्निशर्मायण की सिद्धि के लिये नडादिगण[3] में "**अग्निशर्मन् वृषगणे**" सूत्र पढ़ा है। अतः पाणिनि उसका पुनः सूत्रपाठ में निर्देश क्यों करता? आचार्य पूज्यपाद ने भी इस विषय में पाणिनि का ही अनुकरण किया है। उसने आग्निशर्मायण वार्गगण्य का साधक "**अग्निशर्मन् वृषगणे**" सूत्र नडादिगण[4] में पढ़ा है। (पाठक महोदय ने जैनेन्द्र व्याकरण के नाम से जो सूत्र उद्धृत किया है वह मूल जैनेन्द्र व्याकरण का नहीं है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं)। शास्त्र के पूर्वापर का भले प्रकार अनुशीलन किये बिना उसके विषय में किसी प्रकार का मत निर्धारित कर लेने से कितनी भयङ्कर भूलें होजाती हैं, यह भी इस विवेचन से स्पष्ट है।

डा० काशीनाथ बापूजी पाठक के लेख को डा० बेल्वाल्कर[1] तथा श्री

---

१. जैन साहित्य और इतिहास प्र० सं० पृष्ठ १००—१०६। तथा इसी इतिहास, का 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वां अध्याय।

२. जैन साहित्य और इतिहास प्र० सं० पृष्ठ ११२, तथा इसी इतिहास का

परिणाम को स्वीकार किया। अतः इनके लेखों में भी उपर्युक्त सब भूलें विद्यमान हैं।

मैंने ८ अगस्त सन् १९४८ के पत्र में श्रीमान् प्रेमीजी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उसके उत्तर में आपने २१—८-१९४९ के पत्र में इस प्रकार लिखा—

"आपने मेरे जैनेन्द्र सम्बन्धी लेख में दो न्यूनताएं बतलाई, उन पर मैंने विचार किया। आपने जो प्रमाण दिये वे बिल्कुल ठीक हैं। इनके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। यदि 'जैन साहित्य और इतिहास' को फिर से छपवाने का अवसर आया तो उक्त न्यूननताएं दूर करदी जायेंगी।........"

इस निरभिमानता और सहृदयता के लिये मैं उन का आभारी हूं।

स्वर्गीय प्रेमीजी ने 'जैन साहित्य और इतिहास' के द्वितीय संस्करण में मेरे सुझाव को स्वीकार करके वार्षगण्य संबधी प्रकरण हटा दिया।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

आचार्य देवनन्दी-विरचित व्याकरण के निम्न ग्रन्थ और हैं—

१—**जैनेन्द्र व्याकरण**—इसका वर्णन 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक प्रकरण में किया जायगा।

२—धातुपाठ ३—गणपाठ ४—लिङ्गानुशासन ५—परिभाषापाठ

इनका वर्णन यथास्थान तत्तत् प्रकरणों में किया जायगा।

दुर्विनीत (सं० ५३९—५६९)

महाराज पृथिवीकोंकण के दानपत्र में लिखा है—

श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्याविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन........।[२]

अर्थात् महाराज दुर्विनीत ने शब्दावतार, संस्कृत की बृहत्कथा और और किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें या पन्द्रह सर्गों की व्याख्या लिखी थी।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ११७-११९ (प्र० सं०)

२. पं० कृष्णमाचार्यविरचित हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर

इससे प्रतीत होता है कि महाराज दुर्विनीत ने 'शब्दावतार' नामक ग्रन्थ लिखा था। अनेक विद्वानों का मत है कि यह शब्दावतार नामक ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण की टीका है।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि आचार्य पूज्यपाद ने भी पाणिनीय व्याकरण पर 'शब्दावतार' संज्ञक एक ग्रन्थ रचा था। महाराज दुर्विनीत विरचित ग्रन्थ का नाम भी उपर्युक्त दानपत्र में शब्दावतार लिखा है।

८—चुल्लि भट्टि (सं० ७०० से पूर्व)

चुल्लि भट्टि विरचित अष्टाध्यायी वृत्ति का उल्लेख जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास और उसकी तन्त्रप्रदीप नाम्नी टीका में उपलब्ध होता है। काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में न्यासकार लिखता है—

वृत्तिः पाणिनीयसूत्राणां विवरणं चुल्लिभट्टिनिर्लूरादिविरचितम्।[1]

इस वचन से व्यक्त होता है कि चुल्लि भट्टि और निर्लूर विरचित दोनों वृत्तियां काशिका से प्राचीन हैं।

तन्त्रप्रदीप ८।३।७ में मैत्रेय रक्षित लिखता है—

सव्येष्ठा इति सारथिवचनोऽयम्, अत्र चुल्लिभट्टिवृत्तावपि तत्पुरुषे कृति बहुलमित्यलुग् दृश्यते।[2]

हरिनामामृत सूत्र १८७० की वृत्ति में लिखा है—

हृदयङ्गमा वागिति चुल्लिभट्टिः।

हरदत्त ने काशिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में 'चूर्णि' का उल्लेख किया है। न्यास के उपर्युक्त वचन का पाठान्तर 'चुल्लि' है। इसकी 'चूर्णि' और 'चूर्णि' दोनों से समानता है।

९—निर्लूर (सं० ७०० से पूर्व)

निर्लूरविरचित वृत्ति का उल्लेख न्यास के पूर्वोद्धृत पाठ में उपलब्ध होता है। काशिका के व्याख्याता विद्यासागर मुनि ने भी इस वृत्ति का उल्लेख किया है।[3] श्रीपतिदत्त ने कातन्त्रपरिशिष्ट में निर्लूर वृत्ति का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

पुरुषोत्तमदेव अपने ज्ञापकसमुच्चय में लिखता है—

तेन बोभवीति इति सिद्ध्यतीति नैलुरी वृत्तिः।[2]

न्यासकार और विद्यासागर मुनि के वचनानुसार यह वृत्ति काशिका से प्राचीन है।

१०—चूर्णि

न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र भट्टाचार्य ने श्रीपतिदत्तविरचित कातन्त्रपरिशिष्ट तथा जगदीश भट्टाचार्य कृत शब्दशक्तिप्रकाशिका से चूर्णि के दो उद्धरण उद्धृत किये हैं—

मतमेतच्चूर्णिरप्यनुगृह्णाति।[3]

संयोगावयवव्यञ्जनस्य सजातीयस्यैकस्य वानेकस्योच्चारणाभेद इति चूर्णिः।[4]

जगदीश भट्टाचार्य ने भर्तृहरि के नाम से एक कारिका उद्धृत की है[5]—

हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तुमर्थे तु सप्तमीम्।

चतुर्थीं बाधिकामाहुश्चूर्णिभागुरिवाग्भटाः॥

इस कारिका में भी चूर्णि का मत उद्धृत है। यह कारिका भर्तृहरिकृत नहीं है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[6]

इन में '**संयोगावयवव्यञ्जनस्य**' उद्धरण का समानार्थक पाठ महाभाष्य में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

न व्यञ्जनपरस्यैकस्यानेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति।[7]

सम्भव है, जगदीश भट्टाचार्य ने महाभाष्य के अभिप्राय को अपने शब्दों में लिखा हो। प्राचीन ग्रन्थकार प्रायः चूर्णि और चूर्णिकार के नाम से महाभाष्य और पतञ्जलि का उल्लेख करते हैं यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[8] चूर्णि के पूर्वोद्धृत अन्य मतों का मूल अन्वेषणीय है।

---

१. न्यास की भूमिका पृष्ठ ९। मुद्रित पाठ 'यङो लुगस्तीति'। सन्धिप्रकरण सूत्र २२। २. राजशाही बंगाल मुद्रित, पृष्ठ ८७। ३. कातन्त्रपरिशिष्ट णत्वप्रकरण। न्यासभूमिका पृष्ठ ८। ४. शब्दशक्तिप्रकाशिका न्यासभूमिका पृष्ठ ९। ५. शब्दशक्तिप्रकाशिका पृष्ठ ३८९। ६. पृष्ठ ६८ टिप्पणी ८।

११, १२—जयादित्य और वामन (सं० ६५०—७००)

जयादित्य और वामन विरचित सम्मिलित वृत्ति काशिका नाम से प्रसिद्ध है। पाणिनीय व्याकरण के ग्रन्थों में महाभाष्य और भर्तृहरिविरचित ग्रन्थों के अनन्तर यही वृत्ति सब से प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। इसमें बहुत से सूत्रों की वृत्ति और उदाहरण प्राचीन वृत्तियों से संगृहीत हैं।[१] काशिका में अनेक स्थानों पर महाभाष्य का अनुसरण नहीं किया, इससे काशिका का गौरव अल्प नहीं होता, क्योंकि ऐसे स्थानों पर ग्रन्थकार ने प्राय: प्राचीन वृत्तियों का अनुसरण किया है।

चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी भारतयात्रावर्णन में जयादित्य को काशिका का रचयिता लिखा है,[२] उसने वामन का निर्देश नहीं किया। संस्कृत वाङ्मय में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें दो-दो व्यक्तियों ने मिलकर लिखा है, परन्तु उन को उद्धृत करने वाले ग्रन्थकार किसी एक व्यक्ति के नाम से ही सम्पूर्ण ग्रन्थ के पाठ उद्धृत करते हैं।[३] यथा स्कन्द और महेश्वर ने मिलकर निरुक्त की टीका लिखी, परन्तु देवराज ने समग्र ग्रन्थ के उद्धरण स्कन्द के नाम से ही उद्धृत किये, महेश्वर का कहीं स्मरण भी नहीं किया। सम्भव है इसी प्रकार इत्सिंग ने भी केवल जयादित्य का नाम लेना पर्याप्त समझा हो। भाषावृत्त्यर्थविवृति के रचयिता सृष्टिधराचार्य भी ने भाषावृत्ति के अन्तिम श्लोक की व्याख्या में काशिका को जयादित्यविरचित ही लिखा है,[४] परन्तु ध्यान रहे कि आठवां अध्याय वामनविरचित है।

काशिका की सब से प्राचीनव्याख्या जिनेन्द्रबुद्धिविरचित काशिका-विवरणपञ्जिका है। वैयाकरण निकाय में यह 'न्यास' नाम से प्रसिद्ध है। यह व्याख्या जयादित्य और वामन की सम्मिलित वृत्ति पर है।

---

१. काशिका ४। २। १०० की वृत्ति महाभाष्य से विरुद्ध है। काशिकावृत्ति की पुष्टि चान्द्रसूत्र ३। २। १६ से होती है। अत: दोनों का मूल अष्टाध्यायी की कोई प्राचीन वृत्ति रही होगी। २. इत्सिंग की भारत यात्रा, पृष्ठ २६६।

३. निरुक्त ७। ३१ की महेश्वरविरचित टीका को देवराज ने स्कन्द के नाम से उद्धृत किया है। देखो निघण्टुटीका पृष्ठ १६२। इसी प्रकार अन्यत्र भ।

पं० बालशास्त्री द्वारा सम्पादित काशिका में प्रथम चार अध्यायों के अन्त में जयादित्य का नाम छपा है, और शेष चार अध्यायों के अन्त में वामन का। हरि दीक्षित ने प्रौढमनोरमा की शब्दरत्न व्याख्या में प्रथम द्वितीय, पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय को जयादित्यविरचित और शेष अध्यायों को वामनकृत लिखा है।[1] प्राचीन ग्रन्थकारों ने जयादित्य और वामन के नाम से काशिका के जो उद्धरण दिये हैं उन से विदित होता है कि प्रथम पांच अध्याय जयादित्यविरचित हैं, और अन्तिम तीन वामनकृत।

जयादित्य के नाम से काशिका के उद्धरण निम्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं—

अध्याय १—भाषावृत्ति पृष्ठ १८, २६। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ २५२। भाषावृत्त्यर्थविवृति के प्रारम्भ में।

अध्याय २—भाषावृत्ति पृष्ठ ९। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ६५२।

अध्याय ३—पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ९९२। अमरटीकासर्वस्व भाग ४, पृष्ठ १०। परिभाषावृत्ति सीरदेवकृत, पृष्ठ ८१।

अध्याय ४—अमरटीकासर्वस्व, भाग १, पृष्ठ १३८। भाषावृत्ति पृष्ठ २४३, २५४।

अध्याय ५—भाषावृत्ति पृष्ठ २९९, ३१०, ३२४, ३२८, ३३५, ३४२, ३५२, ३६२, ३६९। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ३८६, ८९१। अष्टाङ्गहृदय की सर्वाङ्गसुन्दरा टीका, पृष्ठ ३।[2]

वामन के नाम से काशिका के उद्धरण अधोलिखित ग्रन्थों में मिलते हैं—

अध्याय ६—भाषावृत्ति पृष्ठ ४१८, ४२०, ४८२। पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ४२, ६३२।

अध्याय ७—सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति पृष्ठ ८, २४। पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ ३८६।

अध्याय ८—भाषावृत्ति पृष्ठ ५४३, ५५९। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ६२४।

---

१. प्रथमद्वितीयपञ्चमषष्ठा जयादित्यकृतवृत्तयः इतरे वामनकृतवृत्तय इत्यभियुक्ताः। भाग १. पृष्ठ ५०४।

२. अध्यायानुवाकयोरित्यादौ सूत्रे विकल्पेन घ्यार्य लुगिष्यत इति जगाद जयादित्यः

निकलता है कि प्रथम पांच अध्याय जयादित्य की रचना है, और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत हैं। जयादित्य की अपेक्षा वामन का लेख अधिक प्रौढ़ है।

जयादित्य का काल

इत्सिंग के लेखानुसार जयादित्य की मृत्यु वि० सं० ७१८ के लगभग हुई थी।[1] यदि इत्सिंग का लेख और उसकी भारतयात्रा का माना हुआ काल ठीक हो तो यह जयादित्य की चरम सीमा होगी। काशिका १। ३। २३ में भारवि का एक पद्यांश उद्धृत है।[2] महाराज दुर्विनीत ने किरात के १५ वें सर्ग की टीका लिखी थी।[3] दुर्विनीत का राज्य काल ५३९—५६९ तक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[4] अतः भारवि सं० ५३९ से पूर्ववर्ती है यह निश्चित है। यह काशिका की पूर्व सीमा है।

वामन का काल

संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। एक वामन 'विश्रान्तविद्याधर' संज्ञक जैन व्याकरण का कर्ता है,[5] दूसरा अलङ्कारशास्त्र का रचयिता है और तीसरा लिङ्गानुशासन का निर्माता है। ये सब पृथक् पृथक् व्यक्ति हैं। काशिका का रचयिता इन सब से भिन्न व्यक्ति है। इस में निम्न हेतु हैं—

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव ने काशिका और भागवृत्ति के अनेक पाठ साथ साथ उद्धृत किये हैं, जिनकी तुलना से व्यक्त होता है कि भागवृत्तिकार स्थान स्थान पर काशिका का खण्डन करता है। यथा—

१. **साहाय्यमित्यपि ब्राह्मणादित्वादिति जयादित्यः, नेति भागवृत्तिः।**[6]

२. **कथमद्यश्वीनो वियोगः? विजायत इत्यस्यानुवृत्तेरिति जयादित्यः। स्त्रीलिङ्गनिर्देशादुपमानस्याप्यसंभवान्नैतदिति भागवृत्तिः।**[7]

---

१. इत्सिंग की भारतयात्रा पृष्ठ २७०। २ संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः। किरात ३। १४॥ ३. देखो पूर्व पृष्ठ ४२०। ४. पूर्व पृष्ठ ४१४।

५. वामनो विश्रान्तविद्याधरव्याकरणकर्ता। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २।

६. भाषावृत्ति पृष्ठ ३[illegible]। ७. [illegible]

नेकार्थत्वात् सदृशार्थस्य सहशब्दस्यैते प्रयोगाः कथंनाम समानपक्ष इत्यादयोऽपि भवन्तीति भागवृत्तिः ।[1]

४. इशिग्रहणादिह पूरुषो नारक इत्यादावप्ययं दीर्घ इति वामन-वृत्तिः । अनेनोत्तरपदे विधानादप्राप्तिरिति पूरुषादयो दीर्घोपदेशा एव संज्ञाशब्दा इति भागवृत्तिः ।[2]

इन में प्रथम दो उद्धरणों में जयादित्य का और तृतीय चतुर्थ में वामन वृत्ति का खण्डन है । भागवृत्ति का काल विक्रम संवत् ७०१—७०५ तक है, यह हम अनुपद लिखेंगे । तदनुसार वामन का काल वि० सं० ७०० से पूर्व मानना होगा । अलङ्कारशास्त्र और लिङ्गानुशासन के प्रणेता वामन का काल विक्रम की नवम शताब्दी है ।[3] विश्रान्तविद्याधर का कर्त्ता वामन विक्रम संवत् ३७५ अथवा ५७३ से पूर्वभावी है । यह हम आगे सप्रमाण लिखेंगे ।[4] अतः काशिकाकार वामन इन सब से भिन्न व्यक्ति है । उस का काल विक्रम की सप्तम शताब्दी है ।

कन्नड पञ्चतन्त्र और जयादित्य वामन

५—कन्नडभाषा में दुर्गसिंह कृत एक पञ्चतन्त्र है । उस का मूल वसुभाग भट्ट का पाठ है । उस में निम्न पाठ है—

गुप्तवंश वसुधाधीशावली राजधानीयन् उज्जैनि—यन्तेदि..................गुप्तान्वय जलधर मार्ग यभस्ति मालियु, वामन–जयादित्यप्रमुख मुखकमलविनिर्गत सूक्तिमुक्तावली मणी कुण्डल मण्डित कर्णनुं......**विक्रमाङ्कनं साहसाङ्कम् ।**[5]

इस पाठ में वामन ने जयादित्य को गुप्तवंशीय विक्रम साहसाङ्क का समकालिक कहा है ।

ए. वेङ्कट सुभिया के अनुसार यह दुर्गसिंह ईसा की ११ वीं शती का

---

१. भाषावृत्ति, पृष्ठ ४२० । २. भाषावृत्ति, पृष्ठ ४२७ ।

३. कन्हैयालाल पोद्दार कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग १ पृष्ठ १५३ । तथा वामनीय लिङ्गानुशासन की भूमिका ।

४. 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' प्रकरण में । ५. आल इण्डिया ओ० कान्फ्रेंस मैसूर दिसम्बर १९३५ पृष्ठ ५६८ मद्रास सन् १९३७ ।

है। अखिलभारतीय प्राच्यविद्या परिषद (आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस) नागपुर, पृष्ठ १५१ पर के॰ टी. पाण्डुरंग का मल्लिनाथ कृत टीका पर एक लेख छपा है। इनका मत है कि कन्नड पञ्चतन्त्र का कर्त्ता दुर्गसिंह कातन्त्र वृत्तिकार दुर्गसिंह ही है।[1]

हमारे विचार में यह दुर्गसिंह कातन्त्रवृत्तिकार नहीं हो सकता, क्योंकि वह काशिकाकार से प्राचीन है, यह हम कातन्त्र के प्रकरण में सप्रमाण लिखेंगे। हां, यह कातन्त्र दुर्गवृत्ति का टीकाकार दुर्गसिंह हो सकता है। कातन्त्र पर लिखने वाले दो दुर्गसिंह पृथक् पृथक् हैं, इस का भी हम उसी प्रकरण में प्रतिपादन करेंगे।

कन्नड पञ्चतन्त्र में जयादित्य और वामन को गुप्तवंशीय विक्रमाङ्क साहसांक का समकालिक कहा है। यह गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय है। पाश्चात्य मतानुसार इस का काल वि॰ सं॰ ४६७—४७० तक माना जाता है। भारतीय इतिहासानुसार यही विक्रम संवत् का प्रवर्तक है। यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय का पाश्चात्य मतानुसारी काल भी दुर्जनसन्तोष न्याय से स्वीकार कर लिया जाय तो भी काशिका का काल विक्रमाब्द की चतुर्थ शती का मध्य मानना होगा। यदि कन्नड पञ्चतन्त्र का लेख प्रमाणान्तर से और परिपुष्ट हो जाए तो इत्सिंग आदि चीनी यात्रियों के काल तथा वर्णन में भारी संशोधन कराना होगा।

कन्नड पञ्चतन्त्र में जयादित्य और वामन के द्वारा कही गई सूक्तिमुक्तावलियों की ओर संकेत है। सुभाषितावलि में जयादित्य और वामन दोनों के सुभाषित संगृहीत हैं। अतः इस अंश में कन्नड पञ्चतन्त्रकार का लेख निश्चय ही प्रामाणिक है। इस आधार पर उस के द्वितीय अंश की प्रामाणिकता में सन्देह करना उपपन्न नहीं होता।

काशिका और शिशुपालवध

माघ विरचित शिशुपालवध में एक श्लोक—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥[2]

सकता है ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। शिशुपालवध के टीकाकार सद्वृत्ति और न्यास पद से काशिका और जिनेन्द्रबुद्धि विरचित न्यास का संकेत मानते हैं। उसी के आधार पर न्यास के संपादक श्रीशचन्द्र भट्टाचार्य ने माघ का काल ८०० ई० (८५७ वि०) माना है,[1] वह अयुक्त है। माघ कवि के पितामह के आश्रयदाता महाराज वर्मलात का सं० ६८२ (सन् ६२५) का शिलालेख मिलता है।[2] सीरदेव के लेखानुसार भागवृत्तिकार ने माघ के कुछ प्रयोगों को अपशब्द माना है।[3] भागवृत्ति की रचना सं० ७०१—७०५ के मध्य हुई है। अतः शिशुपालवध का समय सं० ६८२–७०० के मध्य मानना होगा। धातुवृत्तिकार सायण के मतानुसार काशिका की रचना शिशुपालवध से उत्तरकालीन है।[4] अतः उसके सद्वृत्ति शब्द का संकेत काशिका की ओर नहीं है।

प्राचीनकाल में न्यास नाम के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका में भी एक न्यास उद्धृत है।[5] अतः माघ ने किस न्यास की ओर संकेत किया है, यह अज्ञात है।

जयादित्य और वामन की सम्पूर्ण वृत्तियां

जिनेन्द्रबुद्धिविरचित काशिकाविवरणपञ्जिका जयादित्य और वामन-विरचित सम्मिलित वृत्तियों पर है, परन्तु न्यास में जयादित्य और वामन के कई ऐसे पाठ उद्धृत हैं जिनसे विदित होता है कि जयादित्य और वामन दोनों ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर पृथक् पृथक् वृत्तियां रची थीं। न्यास के जिन पाठों से ऐसी प्रतीति होती है, वे अधोलिखित हैं—

---

१. न्यासकी भूमिका, पृष्ठ २६। २. देखो, वसन्तगढ़ का शिलालेख—'द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे। जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठपुंगवैः॥ ११॥ ३. अत एव तत्रैव सूत्रे (१।१।२७) भागवृत्तिः—पुरातनमुनेर्मुनिताम् (किरात ६।१६) इति, पुरातनीर्नदीः (माघ १२।६०) इति च प्रमादपाठावेतौ, गतानुगतिकतया कवयः प्रयुञ्जते, न तेषां लक्षणं चक्षुः। परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १३७। ४. क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः इति माघे सकर्मकत्वं वृत्तिकारादीनामनभिमतमेव। धा० वृ० पृष्ठ २६७ काशी सं०।

१. **ग्लाजिस्थश्च (अष्टा० ३ । २ । १३९) इत्यत्र जयादित्यवृत्तौ ग्रन्थ......। श्र्युकः किति (अष्टा० ७ । २ । ११) इत्यत्रापि जयादित्य-वृत्तौ ग्रन्थः—गकारोऽप्यत्र चर्त्वभूतो निर्दिश्यते भूष्णुरित्यत्र यथा स्यादिति । वामनस्य त्वेतत् सर्वमनभिमतम् ।**[1] **तथाहि तस्यैव सूत्रस्य (अष्टा० ७ । २ । ११) तद्विरचितायां वृत्तौ ग्रन्थः—केचिदत्र... ।**[2]

इस उद्धरण में न्यासकार ने अष्टाध्यायी ७ । २ । ११ सूत्र की जयादित्य और वामन विरचित दोनों वृत्तियों का पाठ उद्धृत किया है । ध्यान रहे कि जिनेन्द्रबुद्धि ने सप्तमाध्याय का न्यास वामनवृत्ति पर रचा है ।

न्यासकार ३ । १ । ३३ में पुनः लिखता है—

२. **नास्ति विरोधः, भिन्नकर्तृत्वात् । इदं हि जयादित्यवचनम्, तत्पुनर्वामनस्य । वामनवृत्तौ (३ । २ । ३३) तासिसिचोरिकार उच्चारणार्थो नानुबन्धः पठ्यते ।**[3]

न्यासकार ने इस उद्धरण में अष्टाध्यायी ३ । १ । ३३ की वामनवृत्ति का पाठ उद्धृत किया है । ध्यान रहे कि तृतीयाध्याय का न्यास जयादित्यवृत्ति पर है ।

आगे पुनः लिखता है—

३. **अनित्यत्वं तु प्रतिपादयिष्यते (अ० ६ । ४ । २२) जयादित्येन ।**[4]

४. न्यासकार ३ । १ । ७८ पर भी जयादित्य विरचित ६ । ४ । २३ की वृत्ति उद्धृत करता है ।

इन से व्यक्त है कि जयादित्य की वृत्ति षष्ठाध्याय पर भी थी ।

५. हरदत्तविरचित पदमञ्जरी ६ । १ । १३ (पृष्ठ ४२८) से विदित होता है कि वामन ने चतुर्थ अध्याय पर वृत्ति लिखी थी ।

न्यासकार और हरदत्त के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जयादित्य और वामन दोनों ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर पृथक् पृथक् वृत्तियां रची थीं और न्यासकार तथा हरदत्त के काल तक वे सुप्राप्य थीं ।

जयादित्य और वामन की वृत्तियों का सम्मिश्रण

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वर्तमान में काशिका का जो संस्करण

मिलता है उसमें प्रथम पांच अध्याय जयादित्यविरचित हैं और अन्तिम तीन अध्याय वामनकृत। जिनेन्द्रबुद्धि ने अपनी न्यास व्याख्या दोनों की सम्मिलित वृत्ति पर रची है। दोनों वृत्तियों का सम्मिश्रण क्यों और कब हुआ, यह अज्ञात है। भाषावृत्ति आदि में भागवृत्ति के जो उद्धरण उपलब्ध होते हैं, उन में जयादित्य और वामन की संमिश्रित वृत्तियों का खण्डन उपलब्ध होता।[1] अतः यह संमिश्रण भागवृत्ति बनने (वि० सं० ७००) से पूर्व हो चुका था, यह निश्चित है।

काशिका का रचना स्थान

काशिका के व्याख्याता हरदत्त मिश्र और रामदेव मिश्र ने लिखा है—

काशिका देशतोऽभिधानम्, काशीषु भवा।[2]

अर्थात् काशिका वृत्ति की रचना काशी में हुई थी। उज्ज्वलदत्त[3] और भाषावृत्त्यर्थविवृत्तिकार सृष्टिधर[4] का भी यही मत है।

काशिका के नामान्तर

काशिका के लिए **एकवृत्ति**[5] और **प्राचीन वृत्ति** शब्दों का व्यवहार मिलता है।

एकवृत्ति नाम का कारण—काशिका की प्रतिद्वन्द्विनी भागवृत्तिनाम की एक वृत्ति थी (इस का अनुपद ही वर्णन किया जायगा)। उस में पाणिनीय सूत्रों को लौकिक और वैदिक दो विभागों में बांट कर भागशः व्याख्या की गई थी। काशिका में पाणिनीय क्रमानुसार लौकिक वैदिक सूत्रों की यथास्थान व्याख्या की गई है। इसलिए भागवृत्ति की प्रतिद्वन्द्वता में काशिका के लिए एकवृत्ति शब्द का व्यवहार होता है।[6]

---

१. देखो हमारा 'भागवृत्ति संकलन' पृष्ठ २१,२३,२४, इत्यादि, लाहोर संस्क०।

२. पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४। तथा वृत्तिप्रदीप के प्रारम्भ में।

३. उणादिवृत्ति पृष्ठ १७३ ॥ ४. भाषावृत्तिटीका ८।४।६७ ॥

५. अनार्ष इत्येकवृत्तावुपयुक्तम्। भाषावृत्ति १।१।१६ ॥

काशिका वृत्ति का महत्त्व

काशिका वृत्ति व्याकरण शास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस में निम्न विशेषताएं हैं—

१—काशिका से प्राचीन कुणि आदि वृत्तियों में गणपाठ नहीं था।[1] इसमें गणपाठ का यथास्थान सन्निवेश है।

२—अष्टाध्यायी की प्राचीन विलुप्त वृत्तियों और ग्रन्थकारों के अनेक मत इस ग्रन्थ में उद्धृत हैं, जिनका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता।

३—इसमें अनेक सूत्रों की व्याख्या प्राचीन वृत्तियों के आधार पर लिखी है। अतः उनसे प्राचीन वृत्तियों के सूत्रार्थ जानने में पर्याप्त सहायता मिलती है।[2]

काशिका में जहां जहां महाभाष्य से विरोध है वहाँ वहाँ काशिकाकार का लेख प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार है। आधुनिक वैयाकरण भाष्यविरुद्ध होने से उन्हें हेय समझते हैं, यह उनकी महती भूल है।

४—काशिकान्तर्गत उदाहरण प्रत्युदाहरण प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार हैं।[3] जिनसे अनेक प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान होता है।

भट्टोजि दीक्षित आदि ने नये नये उदाहरण देकर प्राचीन ऐतिहासिक निर्देशों का लोप कर दिया, यह अत्यन्त दुःख की बात है।

काशिका का पाठ

काशिका के जो संस्करण इस समय उपलब्ध हैं, वे सब महा अशुद्ध हैं। इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रामाणिक परिशुद्ध संस्करण का प्रकाशित न होना अत्यन्त दुःख की बात है। काशिका में पाठों की अव्यवस्था प्राचीन काल से ही रही है। न्यासकार काशिका १।१।५ की व्याख्या में लिखता है—

---

१. वृत्त्यन्तरेषु सूत्राण्येव व्याख्यायन्ते······वृत्त्यन्तरेषु तु गणपाठ एव नास्ति। पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४। २. देखो ओरियण्टल कालेज मेगजीन लाहौर नवम्बर १६३६ में हमारा 'महाभाष्य से प्राचीन अष्टाध्यायी की सूत्रवृत्तियों का स्वरूप' लेख।

३. अपचितपरिमाणः शृगालः किखी। अप्रसिद्धोहरणं चिरन्तनप्रयोगात्। पदमञ्जरी २।१।५॥ मुद्रित काशिका में 'सदृशं सख्या ससखि' पाठ है। [illegible]

अन्ये तूत्तरसूत्रे काणिताश्वा राणिताश्व इत्यनन्तरमनेन अन्येन भवितव्यम्, इह तु दुर्विन्यस्तकाकपदजनितभ्रान्तिभिः कुलेखकैर्लिखितमिति वर्णयन्ति।[1]

न्यास और पदमञ्जरी में काशिका के अनेक पाठान्तर उद्धृत किये हैं। काशिका का इस समय जो पाठ उपलब्ध होता है वह अत्यन्त भ्रष्ट है। ६।१।१७४ के प्रत्युदाहरण का पाठ इस प्रकार छपा है—

हलपूर्वादिति किम्—बहुनाचाब्राह्मण्या।

इसका शुद्ध पाठ 'बहुतितवा ब्राह्मण्या' है। काशिका में ऐसे पाठ भरे पड़े हैं। इस वृत्ति के महत्त्व को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है।

काशिका के व्याख्याकार

जयादित्य और वामन विरचित काशिका वृत्ति पर अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएं लिखी हैं। उनका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

१३—भागवृत्तिकार (सं० ७०२—७०५)

अष्टाध्यायी की वृत्तियों में काशिका के अनन्तर भागवृत्ति का स्थान है। यह वृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। इसके लगभग सवा सौ उद्धरण पदमञ्जरी, भाषावृत्ति, दुर्घटवृत्ति और अमरटीकासर्वस्व आदि विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति के अन्तिम श्लोक से ज्ञात होता है कि यह वृत्ति काशिका के समान प्रामाणिक मानी जाती थी।[2]

बड़ौदा से प्रकाशित कवीन्द्राचार्य[3] के सूचीपत्र में भागवृत्ति का नाम मिलता है।[4] भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ और सिद्धान्तकौमुदी में

---

१. न्यास भाग १, पृष्ठ ४६। २. काशिकाभागवृत्त्योश्चेत् सिद्धान्तं बोद्धुमस्ति धीः। तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्भाषावृत्तिरियं मम॥

३. कवीन्द्राचार्य काशी का रहनेवाला था। इसकी जन्मभूमि गोदावरी तट का कोई ग्राम था। यह परम्परागत ऋग्वेदी ब्राह्मण था। इसने वेदवेदाङ्गों का सम्यग् अभ्यास करके संन्यास ग्रहण किया था। इसने काशी और प्रयाग को मुसलमानों के जजिया कर से मुक्त कराया था। देखो कवीन्द्राचार्य विरचित कवीन्द्रकल्पद्रुम, इण्डिया आफिस लन्दन का सूचीपत्र पृष्ठ ३६४७। इसका समय लगभग सं०

१६ वीं १७ वीं शताब्दी तक भागवृत्ति के हस्तलेख सुप्राप्य थे।

भागवृत्ति का रचयिता

भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधर चक्रवर्ती ने लिखा है—

भागवृत्तिर्भर्तृहरिणा श्रीधरसेननरेन्द्रादिष्टा विरचिता।[२]

इस उद्धरण से विदित होता है कि वलभी के राजा श्रीधरसेन की आज्ञा से भर्तृहरि ने भागवृत्ति की रचना की थी।

कातन्त्रपरिशिष्ट का रचयिता श्रीपतिदत्त सन्धि सूत्र १४२ पर लिखता है—

तथा च भागवृत्तिकृता विमलमतिनाप्येवं निपातितः।

इससे प्रतीत होता है कि भागवृत्ति के रचयिता का नाम विमलमति था।

पं० गुरुपद हालदार ने सृष्टिधर के वचन को अप्रामाणिक माना है, परन्तु हमारा विचार है कि सृष्टिधराचार्य और श्रीपतिदत्त दोनों के लेख ठीक हैं, इनमें परस्पर विरोध नहीं है। यथा कविसमाज में अनेक कवियों का कालिदास औपाधिक नाम है, उसी प्रकार वैयाकरणनिकाय में अनेक उत्कृष्ट वैयाकरणों का भर्तृहरि औपाधिक नाम रहा है। विमलमति ग्रन्थकार का मुख्य नाम है और भर्तृहरि उसकी औपाधिक संज्ञा है। भट्टि काव्य के कर्त्ता का भर्तृहरि औपाधिक नाम था। यह हम पूर्व पृष्ठ ३४८ पर लिख चुके हैं। विमलमति बौद्ध सम्प्रदाय का प्रसिद्ध व्यक्ति है।

एस. पी. भट्टाचार्य का विचार है कि भागवृत्ति का रचयिता सम्भवतः इन्दु था।[३] हमारे मत में यह चिन्त्य है।

भागवृत्तिकार का काल

सृष्टिधराचार्य ने लिखा है कि भागवृत्ति की रचना महाराज श्रीधरसेन

---

१. सिद्धान्त कौमुदी पृष्ठ ३६६ काशी चौखम्बा, मूल संस्क०।

२. भाषावृत्त्यर्थविवृति ८। १। ६७॥

३. आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस १९४३—४४ (बनारस) में भागवृत्ति विषयक लेख।

की आज्ञा से हुई थी। [illegible]
हुए हैं, जिनका राज्यकाल सं० ५५७—७०५ तक माना जाता है। इस भागवृत्ति में स्थान स्थान पर काशिका का खण्डन उपलब्ध होता है।[2] इससे स्पष्ट है कि भागवृत्ति की रचना काशिका के अनन्तर हुई है। काशिका का निर्माण काल लगभग सं० ६८७—७०१ तक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। चतुर्थ श्रीधरसेन का राज्यकाल सं० ७०२—७०५ तक है। अतः भागवृत्ति का निर्माण चतुर्थ श्रीधरसेन की आज्ञा से हुआ होगा।

न्यास के सम्पादक ने भागवृत्ति का काल सन् ६२५ ई० (सं० ६८२ वि०), और काशिका का सन् ६५० ई० (= सं० ७०७ वि०) माना है, अर्थात् भागवृत्ति का निर्माण काशिका से पूर्व स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं है। इसी प्रकार श्री पं० गुरुपद हालदार ने भागवृत्ति की रचना नवम शताब्दी में मानी है, वह भी अशुद्ध है। वस्तुतः भागवृत्ति की रचना वि० सं० ७०२—७०५ के मध्य हुई है, यह पूर्व विवेचना से स्पष्ट है।

काशिका और भागवृत्ति

हम पूर्व लिख चुके हैं कि भागवृत्ति में काशिका का स्थान स्थान पर खण्डन उपलब्ध होता है। दोनों वृत्तियों में परस्पर महान् अन्तर है। इस का प्रधान कारण यह है कि काशिकाकार महाभाष्य को एकान्त प्रमाण न मानकर अनेक स्थानों में प्राचीन वृत्तिकारों के मतानुसार व्याख्या करता है। अतः उस की वृत्ति में अनेक स्थानों में महाभाष्य से विरोध उपलब्ध होता है। भागवृत्तिकार महाभाष्य को पूर्णतया प्रमाण मानता है। इस कारण वह वैयाकरण सम्प्रदाय में अप्रसिद्ध शब्दों की कल्पना करने से भी नहीं चूकता।[3]

भागवृत्ति के उद्धरण

भागवृत्ति के उद्धरण अभी तक हमें २७ ग्रन्थों में उपलब्ध हुए हैं। इन में २१ ग्रन्थ मुद्रित हैं और ६ ग्रन्थ अमुद्रित। वे इस प्रकार हैं—

---

१. भागवृत्ति संकलन ५। १। ३२॥ ५। २। १३॥ ६। ३। ८४॥

२. न्यास भूमिका पृष्ठ २६।

३. 'लोलूय+सन्' इस अवस्था में भागवृत्तिकार 'लुलोलूयिषति' रूप मानता है। वह लिखता है—'अनभ्यासग्रहणस्य न किञ्चित् प्रयोजनमुक्तम्। ततश्चोत्तरार्थमपि तद् भवतीति भाष्यकारस्याभिप्रायो लक्ष्यते तेनात्र भवितव्यं द्विर्वचनेन। एवम्-

मुद्रित ग्रन्थ

१ महाभाष्यप्रदीप—कैयट
२ नानार्थार्णवसंक्षेप—केशव
३ पदमञ्जरी
४ भाषावृत्ति
५ अमरटीकासर्वस्व
६ दुर्घटवृत्ति
७ दैवं-व्याख्या—पुरुषकार
८ परिभाषावृत्ति—सीरदेव
९ उणादिवृत्ति—श्वेतवनवासी
१० उणादिवृत्ति—उज्ज्वलदत्त
११ धातुवृत्ति—सायण
१२ संक्षिप्तसार (सवृत्ति)
१३ संक्षिप्तसार—टीका।
१४ कातन्त्र-परिशिष्ट—श्रीपतिदत्त
१५ कातन्त्रपञ्जिका—त्रिलोचन
१६ हरिनामामृत सवृत्ति
१७ प्रक्रियाकौमुदी (सटीक)
१८ सिद्धान्तकौमुदी
१९ शब्दकौस्तुभ
२० प्रदीपद्योत—नागेश
२१ व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि

अमुद्रित ग्रन्थ

२२ तन्त्रप्रदीप
२३ अमरटीका—अज्ञातकर्तृक
२४ अमरटीका—रायमुकुट
२५ शब्दसाम्राज्य
२६ चर्करीतरहस्य
२७ संक्षिप्तसार-परिशिष्ट

भागवृत्ति को उद्धृत करने वाले ग्रन्थों में सब से प्राचीन कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप है।

भागवृत्ति के उद्धरणों का संकलन

लगभग दश वर्ष[1] हुए हम ने १२ मुद्रित ग्रन्थों से भागवृत्ति के उद्धरणों का संकलन करके '**भागवृत्ति-संकलनम्**' नाम से उन का संग्रह प्रकाशित किया था। इसका परिबृंहित संस्करण संवत् २०१० में सरस्वती भवन काशी की 'सारस्वती सुषमा' में प्रकाशित किया था। अब उसका परिबृंहित संस्करण हम पुनः प्रकाशित कर रहे हैं।

भागवृत्ति-व्याख्याता—श्रीधर

कृष्णलीलाशुक मुनि ने 'दैवम्' ग्रन्थ की पुरुषकार नाम्नी व्याख्या लिखी है। उस में भागवृत्ति का उद्धरण देकर कृष्णलीलाशुक मुनि लिखता है—

भागवृत्तौ तु सीकृ सेकृ इत्यधिकमपि पठ्यते। तच्च सीकृ सेचने

इस उद्धरण से व्यक्त है कि श्रीधर ने भागवृत्ति की व्याख्या लिखी थी। कृष्णलीलाशुक मुनि ने श्रीधर के दो वचन और उद्धृत किये हैं। देखो दैवं—पुरुषकार पृष्ठ १४, ६०।[2] माधवीया धातुवृत्ति में श्रीकर अथवा श्रीकार नाम से इस का निर्देश मिलता है।[3] धातुवृत्ति के जितने संस्करण प्रकाशित हुए हैं वे सब अत्यन्त भ्रष्ट हैं। हमें श्रीकर वा श्रीकार श्रीधर नाम के ही अपभ्रंश प्रतीत होते हैं।

श्रीधर नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। भागवृत्ति की व्याख्या किस श्रीधर ने रची, यह अज्ञात है।

काल—कृष्णलीलाशुक मुनि लगभग १३ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार है। अतः उस के द्वारा उद्धृत ग्रन्थकार निश्चय ही उस से प्राचीन है। हमारा विचार है कि श्रीधर मैत्रेय रक्षित से प्राचीन है। इस का आधार पुरुषकार पृष्ठ ६० में निर्दिष्ट श्रीधर और मैत्रेय दोनों के उद्धरणों की तुलना में निहित है।

भागवृत्ति जैसा प्रामाणिक ग्रन्थ और उस की टीका, दोनों ही इस समय अप्राप्य हैं।

१४—भर्त्रीश्वर (सं० ७८० से पूर्ववर्ती)

वर्धमान सूरि अपनी गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

भर्त्रीश्वरेणापि वारणार्थमित्यत्र पुल्लिङ्ग एव प्रयुक्तः।[4]

अर्थात्—भर्त्रीश्वर ने अष्टाध्यायी के 'वारणार्थानामीप्सितः'[5] सूत्र की व्याख्या में 'प्रेमन्' शब्द का पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया है।

इस उद्धरण से विदित होता है कि भर्त्रीश्वर ने अष्टाध्यायी की कोई व्याख्या लिखी थी।

---

१. दैवम्—पुरुषकार, पृष्ठ १५, हमारा संस्क०।

२. हमारा संस्करण। ३. नृतिनन्दीति वाक्ये नाधृवर्जं नृत्यादीन् पठित्वेतान् सप्त वर्जित्वेति वदन् श्रीकरोऽप्यत्रैवानुकूलः। धातुवृत्ति पृष्ठ १८। तुलना करो—'तथा च श्रीधरो नृत्यागेन नृत्यादीन् पठित्वा एतान् सप्त वर्जयित्वा इत्याह। दैवम् ६०। यहां धातुवृत्ति में उद्धृत श्रीकर निश्चय ही भागवृत्ति टीकाकार श्रीधर है।

४. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २१६। ५. १।४।२७॥

भट्ट कुमारिल प्रणीत मीमांसाश्लोकवार्तिक पर भट्ट उम्बेक की व्याख्या प्रकाशित हुई है। उस में उम्बेक लिखता है—

तथा चाहुर्भर्त्रीश्वरादयः—किं हि नित्यं प्रमाणं दृष्टं, प्रत्यक्षादि वा यदनित्यं तस्य प्रामाण्ये कस्य विप्रतिपत्तिः, इति।[1]

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि भर्त्रीश्वर भट्ट उम्बेक से पूर्ववर्ती है, और वह बौद्धमतानुयायी है।

उम्बेक और भवभूति का ऐक्य

भवभूतिप्रणीत मालतीमाधव के एक हस्तलेख के अन्त में ग्रन्थकर्त्ता का नाम उम्बेक लिखा है, और उसे भट्ट कुमारिल का शिष्य कहा है।[2] भवभूति उत्तररामचरित और मालतीमाधव की प्रस्तावना में अपने लिये **'पदवाक्यप्रमाणज्ञ'** पद का व्यवहार करता है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ पद का अर्थ पद = व्याकरण, वाक्य = मीमांसा और प्रमाण = न्यायशास्त्र का ज्ञाता है। इस विशेषण से भवभूति का मीमांसकत्व व्यक्त है। दोनों के ऐक्य का उपोद्बलक एक प्रमाण और है। उम्बेकप्रणीत श्लोकवार्तिकटीका और मालतीमाधव दोनों के प्रारम्भ में **'ये नाम केचित् प्रथयन्त्यवज्ञाम्'** श्लोक समानरूप से उपलब्ध होता है। अतः उम्बेक और भवभूति दोनों एक व्यक्ति हैं। मीमांसक सम्प्रदाय में उसकी उम्बेक नाम से प्रसिद्धि है, और कविसम्प्रदाय में भवभूति नाम से। मालतीमाधव में भवभूति ने अपने गुरु का नाम **'ज्ञाननिधि'** लिखा है। क्या ज्ञाननिधि भट्ट कुमारिल का नामान्तर था? उम्बेक भट्ट कुमारिल का शिष्य हो वा न हो, परन्तु श्लोकवार्तिकटीका, मालतीमाधव और उत्तररामचरित के अन्तरङ्ग साक्ष्यों से सिद्ध है कि उम्बेक और भवभूति दोनों नाम एक व्यक्ति के हैं। पं० सीताराम जयराम जोशी ने अपने संस्कृत साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में उम्बेक को भवभूति का नामान्तर लिखा है, परन्तु मीमांसक ने उम्बेक को उससे भिन्न लिखा है[3] यह ठीक नहीं।

महाकवि भवभूति महाराज यशोवर्मा का सभ्य था। इस कारण

---

१. पृष्ठ ३८

२. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ ३८६।

३. वही पृष्ठ ३८६।

भवभूति के द्वारा स्मृत भर्त्रीश्वर सं० ७८० से पूर्ववर्ती है। कितना पूर्ववर्ती है यह अज्ञात है।

भवभूति का व्याकरण ग्रन्थ—दुर्घटवृत्ति ७।२।११७ में '**ज्योतिषं शास्त्रम्**' में वृद्ध्यभाव के लिए भवभूति का एक वचन उद्धृत है।[2] उस से विदित होता है कि भवभूति ने कोई व्याकरण ग्रन्थ भी लिखा था।

१५—भट्ट जयन्त (सं० लगभग ८२५)

न्यायमञ्जरीकार जरन्नैयायिक भट्ट[3] जयन्त ने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर एक वृत्ति लिखी थी। इस का उल्लेख जयन्त ने स्वयं अपने 'अभिनवागमाडम्बर' नामक रूपक के प्रारम्भ में किया है। उस का लेख इस प्रकार है—

अत्रभवतः शैशव एव व्याकरणविवरणकरणाद् वृत्तिकार इति प्रथितापरनाम्नो भट्टजयन्तस्य कृतिरभिनवागमाडम्बरनाम किमपि रूपकम्।[4]

परिचय

भट्ट जयन्त ने न्यायमञ्जरी के अन्त में अपना जो परिचय दिया है उस से विदित होता है कि जयन्त के पिता का नाम 'चन्द्र' था। शास्त्रार्थों में जीतने के कारण वह जयन्त नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसका '**नववृत्तिकार**' नाम भी था।[5] जयन्त के पुत्र अभिनन्द ने कादम्बरीकथासार के प्रारम्भ में अपने कुल का कुछ परिचय दिया है। वह इस प्रकार है—

गौड़वंशीय भारद्वाज कुल में शक्ति नाम का विद्वान् उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र 'मित्र' और उसका शक्तिस्वामी हुआ। शक्तिस्वामी कर्कोट वंश के महाराज मुक्तापीड का मन्त्री था। शक्तिस्वामी का पुत्र कल्याणस्वामी

---

१. संस्कृत कविचर्चा पृष्ठ ३१२। संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ ३८६। २. उच्यते—संज्ञापूर्वकानित्यत्वादिति भवभूतिः। पृष्ठ ११५।

३. आचार्य पुष्पाञ्जलि वाल्यूम में पं० रामकृष्ण कवि का लेख, पृष्ठ ४७।

४. भट्टः चतुःशास्त्राभिज्ञः। जगद्धर मालतीमाधव की टीका के प्रारम्भ में।

५. वादेष्वाप्तजयो जयन्त इति यः ख्यातः सतामग्रणीरन्वर्थो नववृत्तिकार इति यं शंसन्ति नाम्ना बुधः। मनन्यामदितन्तरस्य यशसा चन्द्रस्य चन्द्रत्विषा चक्रे

और उसका चन्द्र हुआ। चन्द्र का पुत्र जयन्त हुआ। उसका दूसरा नाम वृत्तिकार था। वह वेदवेदाङ्गों का ज्ञाता और सर्व शास्त्रार्थों का जीतने वाला था। उसका पुत्र साहित्यतत्त्वज्ञ अभिनन्द हुआ।[1]

भट्ट जयन्त नैयायिकों में जरन्नैयायिक के नाम से प्रसिद्ध है[2]। यह व्याकरण, साहित्य, न्याय और मीमांसाशास्त्र[3] का महापण्डित था। इस के पितामह कल्याणस्वामी ने ग्राम की कामना से सांग्रहणीष्टि की थी। उस के अनन्तर उन्हें 'गौरमूलक' ग्राम की प्राप्ति हुई थी।[4]

काल

जयन्त का प्रपितामह शक्तिस्वामी कश्मीर के महाराज मुक्तापीड का मन्त्री था। मुक्तापीड का काल विक्रम की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। अतः भट्ट जयन्त का काल विक्रम की नवम शताब्दी का पूर्वार्ध होगा।

अन्य ग्रन्थ

न्यायमञ्जरी—यह न्यायदर्शन के विशेष सूत्रों की विस्तृत टीका है। इसका लेख अत्यन्त प्रौढ़ और रचना शैली अत्यन्त परिष्कृत और प्राञ्जल है। न्याय के ग्रन्थों में इस का प्रमुख स्थान है।

---

१. शक्तिर्नामाभवद् गौडो भारद्वाजकुले द्विजः। दीर्घाभिसारमासाद्य कृतदारपरिग्रहः॥ तस्य मित्राभिधानोऽभूदात्मजस्तेजसां निधिः। जनेन दोषोपरमप्रबुद्धेनार्चितोदयः॥ स शक्तिस्वामिनं पुत्रमवाप श्रुतिशालिनम्। राज्ञः कर्कोटवंशस्य मुक्तापीडस्य मन्त्रिणम्॥ कल्याणस्वामिनामास्य याज्ञवल्क्य इवाभवत्। तनयः शुद्धयोगर्द्धि निर्धूतभवकल्मषः॥ अगाधहृदयात् तस्मात् परमेश्वरमण्डनम्। अजायत सुतः कान्तश्चन्द्रो दुग्धोदधेरिव॥ पुत्रं कृतजनानन्दं स जयन्तमजीजनत्। व्यक्ता कवित्ववक्तृत्वफला यत्र सरस्वती॥ वृत्तिकार इति व्यक्तं द्वितीयं नाम बिभ्रतः। वेदवेदाङ्गविदुषः सर्वशास्त्रार्थवादिनः॥ जयन्तनाम्नः सुधियः साधुसाहित्यतत्त्ववित्। सूनुः समभवत्तस्मादभिनन्द इति श्रुतः॥

२. न्यायचिन्तामणि उपमान खण्ड, पृष्ठ ६१, कलकत्ता सोसाइटी संस्क०।

३. वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमित्थमेताः कथाः कृताः। न तु मीमांसकख्यातिं प्राप्तो-

न्यायकलिका—गुणरत्न ने षड्दर्शन-समुच्चय की वृत्ति में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र विषयक है। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशी में प्रकाशित हो चुका है।

पल्लव—डा० वी० राघवन् एम० ए० ने लिखा है कि श्रीदेव ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार की स्याद्वादरत्नाकर की टीका में जयन्तविरचित "पल्लव" ग्रन्थ के कई उद्धरण दिये हैं।[1] पल्लव और मञ्जरी समानार्थक हैं। पल्लव के उद्धृत न्यायमञ्जरी मे उपलब्ध हो जाते हैं। अतः पल्लव न्यायमञ्जरी है।

१६—केशव (सं० ११६५ से पूर्व)

केशव नाम के किसी वैयाकरण ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी थी। केशववृत्ति के अनेक उद्धरण व्याकरण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति में लिखता है—

पृषोदरादित्वादिकारलोपे एकदेशविकारद्वारेण पर्षच्छब्दादपि वलजिति केशवः।[2]

केशववृत्तौ तु विकल्प उक्तः—हे प्रान्, हे प्राण् वा।[3]

भाषावृत्ति का व्याख्याता सृष्टिधराचार्य केशववृत्ति का एक श्लोक उद्धृत करता है—

अपास्पाः पक्षमध्येऽपि न चैकस्मिन् पुना रविः।
तस्माद्रोरीति सूत्रेऽस्मिन् पदस्येति न बध्यते॥[4]

पं० गुरुपद हालदार ने अपने व्याकरण दर्शनेर इतिहास में लिखा है—

अष्टाध्यायीर केशववृत्तिकार केशव पण्डित इहार प्रवक्ता। भाषावृत्तिते (५।२।११२) पुरुषोत्तमदेव, तन्त्रप्रदीपे (१।२।६॥ १।४।५५) मैत्रेयरक्षित, एवं हरिनामामृतव्याकरणे (५०० पृष्ठ) श्रीजीवगोस्वामी केशवपण्डितेर नामस्मरण करियाछेन।[5]

इन उद्धरणों से केशव का अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखना सुव्यक्त है।

---

१. स्याद्वादरत्नाकर भाग १, पृष्ठ ६४, २०२। पृष्ठ ४३२, ४३३ तथा भाग ४, पृष्ठ ७८०। देखो प्रेमी अभिनन्दनग्रन्थ में डा० राघवन् के लेख।

केशव नाम के अनेक ग्रन्थकार हैं। उनमें से किस केशव ने अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखी, यह अज्ञात है। पं० गुरुपद हालदार के लेख से विदित होता है कि यह वैयाकरण केशव मैत्रेय रक्षित से प्राचीन है। मैत्रेय रक्षित का काल सं० ११६५ के लगभग है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] अतः केशव सं० ११६५ से पूर्ववर्ती है, इतना निश्चित है।

१७—इन्दुमित्र (सं० ११५० से पूर्व)

विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादनाम्नी टीका में इन्दुमित्र और इन्दुमती वृत्ति[2] का का बहुधा उल्लेख किया है। इन्दुमित्र ने काशिका की 'अनुन्यास' नाम्नी एक व्याख्या लिखी थी। इसका वर्णन हम अगले "काशिका वृत्ति के व्याख्याकार" नामक अध्याय में करेंगे। यद्यपि इन्दुमित्र-विरचित अष्टाध्यायीवृत्ति के कोई साक्षात् उद्धरण उपलब्ध नहीं हुए, तथापि विट्ठल द्वारा उद्धृत उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि इन्दुमती वृत्ति अष्टाध्यायी की वृत्ति थी और इसका रचयिता इन्दुमित्र था। यथा—

एतच्च इन्दुमित्रमतेनोक्तम्। प्रत्यय इति सूत्रे प्रत्याय्यते ज्ञायतेऽर्थोऽस्मादिति प्रत्ययः। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण इति घान्तस्य प्रत्यय-शब्दस्यान्वर्थस्य निषेधो ज्ञापक इति भावः। तथा च इन्दुमत्यां वृत्तावुक्तम्—'प्रतेस्तु व्यञ्जनव्यवहितो य इति न भवति निमित्तम्' इति केषाञ्चिन्मते प्रतेरपि भवति।[3]

अनेक ग्रन्थकार इन्दुमित्र को इन्दु नाम से भी स्मरण करते हैं। एक इन्दु अमरकोष की क्षीरस्वामी की व्याख्या में भी उद्धृत है, परन्तु वह वाग्भट्ट का साक्षात् शिष्य आयुर्वैदिक ग्रन्थकार पृथक् व्यक्ति है।

काल

सीरदेव ने अपनी परिभाषावृत्ति में अनुन्यासकार और मैत्रेय के निम्न पाठ उद्धृत किये हैं—

---

१. पूर्व पृष्ठ ३६८। २. भाग १, पृष्ठ ६१०, ६८६। भाग २, पृष्ठ १४५।
३. भाग २, पृष्ठ १४५।

श्चामित प्रत्ययः, एरच् (३ । ३ । ५६) इत्यच्, पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३।३।११८) इति वा घ इति ।[1]

मैत्रेय—मैत्रेयः पुनराह—'पुंसि संज्ञायां (३ । ३ । ११८) इति घ एव । एरच् (३ । ३ । ५६) इत्यच् प्रत्ययस्तु करणे ल्युटा बाधितत्वान्न शक्यते कर्तुम् । न च वा सरूपविधिरस्ति, कृतल्युडित्यादिवचनात् ।[1]

इन दोनों पाठों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट विदित होता है कि मैत्रेय रक्षित अनुन्यासकार का खण्डन कर रहा है। अतः इन्दुमित्र मैत्रेय रक्षित से पूर्वभावी है। इन्दुमित्र के ग्रन्थ की अनुन्यास संज्ञा से विदित होता है कि यह ग्रन्थ न्यास के अनन्तर रचा गया है। अतः इन्दुमित्र का काल सं० ८०० से ११५० के मध्य है, इतना ही स्थूल रूप से कहा जा सकता है।

१८—मैत्रेय रक्षित (सं० ११६५ के लगभग)

मैत्रेय रक्षित ने अष्टाध्यायी की एक 'दुर्घटवृत्ति' लिखी थी। वह इस समय अनुपलब्ध है। उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिवृत्ति में मैत्रेय रक्षित विरचित दुर्घटवृत्ति के निम्न पाठ उद्धृत किये हैं—

थीयमित्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः ।[2]

कृदिकारादिति ङीषि लक्ष्मीत्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षितः ।[3]

मैत्रेयविरचित दुर्घटवृत्ति के इनके अतिरिक्त अन्य उद्धरण उपलब्ध नहीं होते।

शरणदेव ने भी एक दुर्घटवृत्ति लिखी है। सर्वरक्षित ने उसका संक्षेप और परिष्कार किया है। रक्षित शब्द से सर्वरक्षित का ग्रहण हो सकता है, परन्तु सर्वरक्षित द्वारा परिष्कृत दुर्घटवृत्ति में उपर्युक्त पाठ उपलब्ध नहीं होते। उज्ज्वलदत्त ने अन्य जितने उद्धरण रक्षित के नाम से उद्धृत किये हैं वे सब मैत्रेय रक्षित विरचित ग्रन्थों के हैं। अतः उज्ज्वलदत्तोद्धृत उपर्युक्त उद्धरण भी निश्चय ही मैत्रेय रक्षित विरचित दुर्घटवृत्ति के हैं।

---

१. पृष्ठ ७६। शरणदेव ने इन उपर्युक्त दोनों पाठों को अपने शब्दों में उद्धृत किया है। देखो, दुर्घटवृत्ति पृष्ठ ६७।   . पृष्ठ ८०   ३. पृष्ठ १४२।

मैत्रेयविरचित दुर्घटवृत्ति के विषय में हमें इससे अधिक ज्ञान नहीं है।

मैत्रेय रक्षित का आनुमानिक काल लगभग संवत् ११६५ है, यह हम पूर्व पृष्ठ ३६८ पर लिख चुके हैं।

१६–पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० से पूर्व)

पुरुषोत्तमदेव ने अष्टाध्यायी की एक लघु वृत्ति रची है। इसमें अष्टाध्यायी के केवल लौकिक सूत्रों की व्याख्या है। अत एव इसका दूसरा अन्वर्थ नाम 'भाषावृत्ति' है। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जो सम्प्रति अप्राप्य हैं।

पुरुषोत्तमदेव के काल आदि के विषय में हम पूर्व 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में लिख चुके हैं।[1]

दुर्घट-वृत्ति

सर्वानन्द अमरकोषटीकासर्वस्व में लिखता है—

पुरुषोत्तमदेवेन गुर्विणीत्यस्य दुर्घटेऽसाधुत्वमुक्तम्।[2]

इस पाठ से प्रतीत होता है कि पुरुषोत्तमदेव ने कोई 'दुर्घटवृत्ति' भी रची थी। शरणदेव ने अपनी दुर्घटवृत्ति में गुर्विणी पद का साधुत्व दर्शाया है। सर्वानन्द ने टीकासर्वस्व सं० १२१६ में लिखा था। शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति का रचना-काल सं० १२३० है।[3] अतः सर्वानन्द के उद्धरण में **'पुरुषोत्तमदेवेन'** पाठ अनवधानता मूलक नहीं हो सकता। शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव के नाम से अनेक ऐसे पाठ उद्धृत किये हैं जो भाषावृत्ति में उपलब्ध नहीं होते।[4] शरणदेव ने उन पाठों को पुरुषोत्तमदेव की दुर्घटवृत्ति अथवा अन्य ग्रन्थों से उद्धृत किया होगा।

भाषावृत्ति-व्याख्याता–सृष्टिधर

सृष्टिधर चक्रवर्ती ने भाषावृत्ति की **'भाषावृत्त्यर्थविवृति'** नाम्नी एक टीका लिखी है। यह व्याख्या बालकों के लिये उपयोगी है। लेखक

काल—सृष्टिधर ने ग्रन्थ के आद्यन्त में अपना कोई परिचय नहीं और न ग्रन्थ के निर्माणकाल का उल्लेख किया है। अतः सृष्टिधर निश्चित काल अज्ञात है। सृष्टिधर ने भाषावृत्त्यर्थविवृति में निम्न ग्रन्थों ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है।

मेदिनी कोष, सरस्वतीकण्ठाभरण (८।२।१३), मैत्रेयरक्षित, केशव, वृत्ति, उदात्तराघव, कातन्त्र परिशिष्ट (८।२।१९), धर्मकीर्ति रूपा- कृत्, उपाध्यायसर्वस्व, हट्टचन्द्र (८।२।२९) कैयट, भाष्यटीका दीप), कविरहस्य (७।२।४३) मुरारि (अनर्घराघव) (३।२।२६), लिदास, भारवि, भट्टि, माघ, श्रीहर्ष (नैषधचरितकार) वल्लभाचार्य घकाव्यटीकाकार) (३।२।११२), क्रमदीश्वर (५।१।७८), पद्मनाभ, षा (५।४।१४३)।[1]

इनमें मञ्जूषा के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार विक्रम की वीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं है।[2] यह मञ्जूषा नागोजी भट्ट विरचित मञ्जूषा नहीं है। नागोजी भट्ट का काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी मध्य भाग है।[3] भाषावृत्ति के संपादक ने शकाब्द १६३१ और १६३६ त् वि० सं० १७६६ और १७७१ के भाषावृत्त्यर्थविवृति के दो हस्त- ों का उल्लेख किया है।[4] इससे स्पष्ट है कि भाषावृत्त्यर्थविवृति की रचना जी भट्ट से पहले हुई है। हमारा विचार है कि सृष्टिधर विक्रम की वीं शताब्दी का ग्रन्थकार है।

२०—शरणदेव (सं० १२३०)

शरणदेव ने अष्टाध्यायी पर 'दुर्घट' नाम्नी वृत्ति लिखी है। यह व्याख्या

---

१. भाषावृत्ति की भूमिका, पृष्ठ १०।

२. भाषावृत्त्यर्थविवृति में उद्धृत मेदिनीकोष का काल विक्रम की १४ वीं ाब्दी माना जाता है, यह ठीक नहीं है। उणादिवृत्तिकार उज्ज्वलदत्त वि० १२५० से पूर्ववर्ती है, यह हम "उणादि के वृत्तिकार" प्रकरण में लिखेंगे। ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति १।१०१, पृष्ठ ३६ पर मेदिनीकार को उद्धृत किया है।

३. देखो पूर्व पृष्ठ ३६३। ४. भाषावृत्ति की भूमिक पृ० १० की टि०

अष्टाध्यायी के विशेष सूत्रों पर है। संस्कृत भाषा के जो पद व्याकरण से साधारणतया सिद्ध नहीं होते, उन पदों के साधुत्वज्ञापन के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। अत एव ग्रन्थकार ने इसका अन्वर्थनाम 'दुर्घटवृत्ति रक्खा है।

ग्रन्थकार ने मङ्गलश्लोक में सर्वज्ञ अपरनाम बुद्ध को नमस्कार किया है,[1] तथा बौद्ध ग्रन्थों के अनेक प्रयोगों का साधुत्व दर्शाया है। इससे प्रतीत होता है कि शरणदेव बौद्धमतावलम्बी था।

काल—शरणदेव ने ग्रन्थ के आरम्भ में दुर्घटवृत्ति की रचना का समय शकाब्द १०९५ लिखा है,[2] अर्थात् वि० सं० १२३० में यह ग्रन्थ लिखा गया।

प्रतिसंस्कर्ता—दुर्घटवृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है कि शरणदेव के कहने से श्रीसर्व-रक्षित ने इस ग्रन्थ का संक्षेप करके इसे प्रतिसंस्कृत किया।[3]

ग्रन्थ का वैशिष्ट्य—संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त शतशः दुःसाध्य प्रयोगों के साधुत्वनिदर्शन के लिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है। प्राचीन काल में इस प्रकार के अनेक ग्रन्थ थे, मैत्रेय रक्षित और पुरुषोत्तमदेव विरचित दो दुर्घटवृत्तियों का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। सम्प्रति केवल शरणदेवीय दुर्घटवृत्ति उपलब्ध होती है। यद्यपि शब्दकौस्तुभ आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में कहीं कहीं दुर्घटवृत्ति का खण्डन उपलब्ध होता है तथापि कृच्छ्रसाध्य प्रयोगों के साधुत्व दर्शाने के लिये इस ग्रन्थ में जिस शैली का आश्रय लिया है, उसका प्रायः अनुसरण अर्वाचीन ग्रन्थकार भी करते हैं। अतः '**गच्छतः स्खलनं**' न्याय से इसके वैशिष्ट्य में किञ्चिन्मात्र न्यूनता नहीं आती।

इस ग्रन्थ में एक महान् वैशिष्ट्य और भी है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचन उद्धृत किये हैं। इनमें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकार ऐसे हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। ग्रन्थकार

---

१. नत्वा शरणदेवेन सर्वज्ञं ज्ञानहेतवे। बृहद्द्वन्द्वजनाम्भोजकोशविकासभास्वते॥

ने ग्रन्थ निर्माण का काल लिखकर महान् उपकार किया है। इसके द्वारा अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के काल निर्णय में महती सहायता मिलती है।

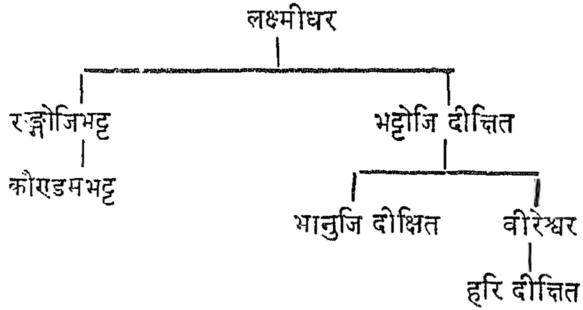
२१—भट्टोजि दीक्षित (सं० १५१०—१६०० के मध्य)

भट्टोजि दीक्षित ने अष्टाध्यायी की **'शब्दकौस्तुभ'** नाम्नी महती वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति इस समय समग्र उपलब्ध नहीं होती केवल प्रारम्भ के ढ़ाई अध्याय और चतुर्थ अध्याय उपलब्ध होते हैं।

शब्दकौस्तुभ के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद में प्रायः पतञ्जलि कैयट और हरदत्त के ग्रन्थों का दीक्षित ने अपने शब्दों में संग्रह किया है। यह भाग अधिक विस्तार से लिखा गया है, अगले भाग में संक्षेप से काम लिया है।

परिचय

वंश—भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्रिय ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम लक्ष्मीधर और लघु भ्राता का नाम रङ्गोजि भट्ट था। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है—



गुरु—पण्डितराज जगन्नाथ कृत प्रौढमनोरमाखण्डन से प्रतीत होता है कि भट्टोजि दीक्षित ने नृसिंहपुत्र शेषकृष्ण से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[1] भट्टोजि दीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ में प्रक्रियाप्रकाशकार

---

१. इह केचित् (भट्टोजिदीक्षिताः)······शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णपण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनास्तेषु च पारमेश्वरपदं प्रयातेषु तत्रभवद्भिरुल्लासितं प्रक्रियाप्रकाशं···दूषणैः स्वनिर्मितायां मनोरमायामाकुलयमकार्षुः।

शेपकृष्ण के लिये गुरु शब्द का व्यवहार किया है।[1] तत्त्वकौस्तुभ में भट्टोजि दीक्षित ने अप्पय्य दीक्षित को नमस्कार किया है।

काल

डाक्टर बेल्वालकर ने भट्टोजि दीक्षित का काल सन् १६००-१६५० अर्थात् वि० सं० १६५७-१७०७ तक माना है। अन्य ऐतिहासिक वि० सं० १६३७ मानते हैं। शेषकृष्ण-विरचित प्रक्रियाकौमुदी की व्याख्या का सं० १५१४ का एक हस्तलेख भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट पूना के संग्रह में विद्यमान है। देखो, सन् १९२५ में प्रकाशित सूचीपत्र पृष्ठ १२ ग्रन्थाङ्क ३२८। इस काल की पुष्टि एक अन्य हस्तलेख से भी होती है। लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विट्ठलविरचित प्रक्रियाप्रसाद-टीका का एक हस्तलेख संगृहीत है।[2] उस के अन्त में लेखन काल सं० १५३६ लिखा है।[3] विट्ठल ने व्याकरण का अध्ययन शेषकृष्ण-सूनु वीरेश्वर अपरनाम रामेश्वर से किया था।[4] इस से प्रतीत होता है कि उस समय शेषकृष्ण का स्वर्गवास हो गया था। तदनुसार शेषकृष्ण का स्वर्गवास वि० सं० १५२५ के लगभग हुआ होगा। पण्डितराज जगन्नाथ के लेख से यह भी प्रतीत होता है कि भट्टोजि दीक्षित ने शेपकृष्ण से चिरकाल तक अध्ययन किया था।[5] अतः भट्टोजि दीक्षित का जन्म विक्रम की सोलहवीं शताब्दी की प्रथम दशति में मानना चाहिए।

अन्य व्याकरण-ग्रन्थ

दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ के अतिरिक्त सिद्धान्तकौमुदी और उसकी व्याख्या प्रौढमनोरमा लिखी है। इन का वर्णन आगे 'पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार' प्रकरण में किया जायगा।

भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ को सिद्धान्तकौमुदी से पूर्व रचा था। वह उत्तर कृदन्त के अन्त में लिखता है—

---

१. तदेतत् सकलमभिधाय प्रक्रियाप्रकारो गुरुचरणैरुक्तम्। पृष्ठ १४५।

२. सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ६७, ग्रन्थाङ्क ६१६।

३. संवत् १५३६ वर्षे माघ वदी एकादशी रवौ श्रीमदानन्दपुरस्थानोत्तमे

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे॥

इस से यह भी व्यक्त होता है कि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ ग्रन्थ सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पर रचा था। 'अतो लोपः'[1] सूत्र की प्रौढमनोरमा और उस की शब्दरत्न व्याख्या से इतना स्पष्ट है कि शब्दकौस्तुभ षष्ठाध्याय तक अवश्य लिखा गया था।[2]

अन्य ग्रन्थ—भट्टोजि दीक्षित ने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।[3] दीक्षित का एक **'वेदभाष्यसार'** नाम का ग्रन्थ भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित हुआ है। यह ऋग्वेद के प्रथम अध्याय पर है और यह सायणीय ऋग्भाष्य का संक्षेप है। दीक्षित लिखित अमरटीका का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में है। द्र० सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १ B. पृष्ठ ५०७५, संख्या ३४११।

शब्दकौस्तुभ के टीकाकार

आफ्रेक्ट के बृहत्सूचीपत्र में शब्दकौस्तुभ के प्रथम पाद के छः टीकाकारों का उल्लेख मिलता है। उन के नाम निम्नलिखित हैं—

१. नागेश	—	विषमपदी
२. वैद्यनाथ पायगुण्ड	—	प्रभा
३. विद्यानाथ शुक्ल	—	उद्योत
४. राघवेन्द्राचार्य	—	प्रभा
५. कृष्णमित्र	—	भावप्रदीप
६. भास्करदीक्षित	—	शब्दकौस्तुभदूषण

नागेश और वैद्यनाथ पायगुण्ड के विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं।[4]

कृष्णमित्र का दूसरा नाम कृष्णाचार्य था। इसके पिता का नाम रामसेवक और पितामह का नाम देवीदत्त था। रामसेवक कृत 'महाभाष्य प्रदीपव्याख्यान' का उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।[5] कृष्णमित्र ने सिद्धान्त-

१. अष्टा० ६।४।४८॥ २. विस्तरः शब्दकौस्तुभे बोध्यः।

३. वेदभाष्यसार की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ १, टि० ३ में दीक्षित कृत ३४ ग्रन्थों का उल्लेख है। उस में एक 'भारतार्थ निर्णय' ग्रन्थ भी है।

कौमुदी की 'रत्नार्णव' नाम्नी टीका लिखी है। इसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। कृष्णाचार्यकृत युक्तिरत्नाकर, वादचूडामणि और वादसुधाकर नाम के तीन ग्रन्थ जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ४५, ४६।

शेष टीकाकारों के विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है।

कौस्तुभखण्डनकर्ता—पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रौढमनोरमा खण्डन में लिखा है—

इत्थं च 'ओत्' सूत्रगतकौस्तुभग्रन्थः सर्वोऽप्यसंगत इति ध्येयम्। अधिकं कौस्तुभखण्डनादवसेयम्।[1]

इससे स्पष्ट है कि जगन्नाथ ने शब्दकौस्तुभ के खण्डन में कोई ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है।

परिचय तथा काल

पण्डितराज तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनका दूसरा नाम 'वेल्लनाडू' था और इनको त्रिशूली भी कहते थे। इनके पिता नाम पेरंभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी था। पेरंभट्ट ने ज्ञानेन्द्र भिक्षु से वेदान्त, महेन्द्र से न्याय वैशेषिक, भट्टदीपिकाकार खण्डदेव से मीमांसा और शेष वीरेश्वर से महाभाष्य का अध्ययन किया था। पण्डितराज जगन्नाथ दिल्ली के सम्राट् शाहजहाँ और दाराशिकोह के प्रेमपात्र थे। शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की पदवी प्रदान की थी। शाहजहाँ सं० १६८४ में गद्दी पर बैठा था। ये चित्रमीमांसाकार अप्पयदीक्षित के समकालिक कहे जाते हैं, परन्तु इसमें कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। पण्डितराज ने शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर अपरनाम रामेश्वर से विद्याध्ययन किया था।[2] विट्ठल ने सं० १५३६ से कई वर्ष पूर्व वीरेश्वर से व्याकरण पढ़ा था, यह हम पूर्व पृष्ठ ३८० पर लिख चुके हैं। इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ का काल न्यूनातिन्यून सं० १५७५—१६९० तक स्थिर होता है, परन्तु इतना लम्बा काल सम्भव प्रतीत नहीं होता। हम इस कठिनाई को सुलझाने में असमर्थ हैं।

---

१. चौखम्बा संस्कृतसीरीज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरम

भट्टोजि दीक्षित ने शेषकृष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजि दीक्षित ने अपने शब्दकौस्तुभ और प्रौढमनोरमा ग्रन्थों में बहुत स्थानों पर शेषकृष्णविरचित प्रक्रियाप्रकाश का खण्डन किया है। अतः पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रौढमनोरमाखण्डन में भट्टोजि को 'गुरुद्रोही' शब्द से स्मरण किया है।[1] प्रौढमनोरमाखण्डन के विषय में सोलहवें अध्याय में लिखेंगे।

२२–अप्पय्य दीक्षित (१५२०—१६२० के मध्य)

अप्पय्य दीक्षित ने पाणिनीय सूत्रों की '**सूत्रप्रकाश**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस का एक हस्तलेख अडियार के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ७५।

परिचय

अप्पय्य दीक्षित के पिता का नाम 'रङ्गराज अध्वरी' और पितामह का नाम 'आचार्य दीक्षित' था।[2] कई इन का पूरा नाम नारायणाचार्य' था ऐसा कहते हैं। इन का गोत्र भरद्वाज था। यह अपने समय में शैवमत के महान् स्तम्भ माने जाते थे। अप्पय्य दीक्षित के लघु भ्राता का नाम 'अच्चान दीक्षित' था। अच्चान दीक्षित के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के शिवलीलार्णव काव्य से ज्ञात होता है कि अप्पय्य दीक्षित ७२ वर्ष की आयु तक जीवित रहे और उन्होंने लगभग १०० ग्रन्थ लिखे।[3]

काल

अप्पय्य दीक्षित का काल भी बड़ा सन्दिग्ध सा है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर वि० सं० १५५०—१७२० के मध्य विदित होता है। अतः हम इन के काल निर्णय पर उपलब्ध सभी सामग्री संगृहीत कर देते हैं, जिससे भावी लेखकों को विचार करने में सुविधा हो।

१—हमने महाभाष्य के टीकाकार शेषनारायण के प्रकरण में पृष्ठ ३८०

---

१. स्यति सर्व गुरुद्रुहाम्। प्रौढमनो० खण्डन, पृष्ठ १।

२. अप्पय्य दीक्षित ने 'न्यायरक्षामार्ग' में यही नाम लिखा है—'आचार्य दीक्षित इति प्रथिताभिधानम्।'...... अस्मत्पितामहमशेषगुरुं प्रपद्ये।

३. कालेन शम्भुः किल तावतापि कलाश्चतुष्षष्टिमिताः प्रणिन्ये द्वा सप्ति (?) ...

पर लिखा है कि विट्ठलकृत प्रक्रियाकौमुदी-प्रसाद का सं० १५३६ का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विद्यमान है। भट्टोजि के गुरु शेषकृष्ण ने प्रक्रियाकौमुदी पर 'प्रक्रियाप्रकाश' नाम की एक व्याख्या लिखी थी। इस का दूसरा नाम 'प्रक्रियाकौमुदी-वृत्ति' भी है। इस का सं० १५१४ का एक हस्तलेख पूना के भण्डारकर प्राच्यविद्या पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसलिए हमने भट्टोजि दीक्षित का काल सं० १५१२—१६०० के मध्य स्वीकार किया है (द्र० पूर्व पृष्ठ ४४६-४४७)। भट्टोजि दीक्षित ने तत्त्वकौस्तुभ में अप्पय्य दीक्षित को नमस्कार किया है। इसलिए अप्पय्य दीक्षित का काल वि० सं० १५२०—१६०० के मध्य होना चाहिए।

२—अप्पय्य दीक्षित के पितामह आचार्य दीक्षित विजयनगराधिप कृष्णदेव राय के सभा-पण्डित थे। कृष्णदेव राय का राज्यकाल वि० सं० १५६६-१५७६ तक माना जाता है। अतः अप्पय्य दीक्षित का काल १५५०-१६२५ तक सामान्तया माना जा सकता है।

३—अप्पय्य दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ के उल्लेख से विदित होता है कि अप्पय्य दीक्षित ने व्यङ्कटदेशिक के यादवाभ्युदय की टीका वेल्लूर के राजा चिन्नतिम्म नायक की प्रेरणा से लिखी थी। चिन्नतिम्म नायक का राज्यकाल विक्रम सं० १५९९—१६०७ पर्यन्त है।

४—अप्पय्य दीक्षित के भ्रातुष्पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने नीलकण्ठ चम्पू की रचना कलि सं० ४७३८ अर्थात् वि० सं० १६९४ में की थी।[1]

५—हिन्दुत्व के लेखक रामदास गौड़ ने लिखा है कि अप्पय्य दीक्षित तिरुमलई (सं० १६२४—१६३१) चिन्नतिम्म (सं० १६३१—१६४२) और वेङ्कट (१६४२—) इन तीनों के सभा पण्डित थे। अप्पय्य दीक्षित ने विभिन्न ग्रन्थों में इन राजाओं का नाम निर्देश किया है।[2] उन का जन्म सं० १६०८ में हुआ था और मृत्यु ७२ वर्ष की आयु में सं० १६८० में हुई थी।[3]

६—हिन्दुत्व के लेखक ने लिखा है—नृसिंहाश्रम की प्रेरणा से अप्पय्य दीक्षित ने परिमलन्यायरक्षामणि और सिद्धान्तलेश आदि ग्रन्थों की रचना की थी।[4] नृसिंहाश्रम विरचित तत्त्वविवेक ग्रन्थ की परि समाप्ति

---

१. अष्टत्रिंशदपस्कृत—सप्तशताधिक-चतुस्सहस्रेषु कलिवर्षेषु गतेषु (४७३८)

पूर्व (पृष्ठ ३७८ टि० २) लिख चुके हैं। विट्ठल की प्रक्रियाकौमुदीप्रकाश का एक हस्तलेख सं० १५३४ का उपलब्ध है, यह भी हम पूर्व लिख चुके हैं।

७—संस्कृत साहित्य का इतिहास के लेखक कन्हैयालाल पोद्दार ने अप्पय्य दीक्षित का काल सन् १६५७ अर्थात् वि० सं० १७१४ पर्यन्त माना है।[2] वे लिखते हैं—"सन् १६५७ (सं० १७१४) में काशी के मुक्तिमण्डप में एक सभा हुई थी जिसमें निर्णय किया गया था कि महाराष्ट्रीय देवर्षि (देवसखे) ब्राह्मण पङ्क्तिपावन हैं। इस निर्णयपत्र पर अप्पय्य दीक्षित के भी हस्ताक्षर हैं। यह निर्णयपत्र श्री पिपुटकर ने 'चितले भट्ट प्रकरण' पुस्तक में मुद्रित कराया है।"

निष्कर्ष—इन उपर्युक्त सभी प्रमाणों पर विचार करने से हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि—

१—पिपुटकर द्वारा प्रकाशित निर्णयपत्र निश्चय ही बनावटी है, अथवा यह अप्पय्य दीक्षित अन्य व्यक्ति है क्योंकि नीलकण्ठ दीक्षित के शिवलीलार्णव काव्य से विदित होता है कि उस की रचना (सं० १६९४) तक अप्पय्य दीक्षित स्वर्गत हो चुके थे।[3]

२—यदि हिन्दुत्व के लेखक रामदास गौड़ का संख्या ५ में उद्धृत मत (सं० १६०८–१६८०) स्वीकार किया जाए तो संख्या ६ में निर्दिष्ट उन्हीं के लेख से (नृसिंहाश्रम ने सं० १६०४ में तत्त्वविवेक लिखा) विपरीत पड़ता है। उधर नृसिंहाश्राम के गुरु जगन्नाथाश्रम प्रक्रियाकौमुदी प्रसाद के लेखक विट्ठल के समकालिक हैं।[4]

३—हमारा विचार है कि अप्पय्य दीक्षित का काल सामान्यतया सं० १५२० से १६१० मध्य होना चाहिए। तभी विट्ठल, भट्टोजि दीक्षित और नीलकण्ठ दीक्षित के लेखों का समन्वय हो सकता है।

४—हमारा यह भी विचार है कि अप्पय्य दीक्षित नाम के सम्भवतः दो व्यक्ति हुए हों। दाक्षिणात्य परम्परा के अनुसार अप्पय्य दीक्षित के पौत्र

---

१. हिन्दुत्व पृष्ठ ६२४। २. सं० सा० इति० भाग १, पृष्ठ २८५।

३. पूर्व पृष्ठ ४५० टि० ३। ४. पूर्व पृष्ठ ३७२, टि० २।

का भी यही नाम हो सकता है। यदि यह प्रमाणान्तर से परिज्ञात हो जाए तो सभी कठिनाइयों का समाधान अनायास हो सकता है।

२३—नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००—१६५०)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने अष्टाध्यायी पर '**पाणिनीयदीपिका**' नाम्नी वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति का उल्लेख नीलकण्ठ ने स्वयं परिभाषावृत्ति में किया है।[1] यह वृत्ति सम्प्रति अनुपलब्ध है। ग्रन्थकार के काल आदि के विषय में 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में लिखा जा चुका है।[2]

२४—अन्नम्भट्ट (सं० १६५०)

महामहोपाध्याय अन्नंभट्ट ने अष्टाध्यायी पर '**पाणिनीयमिताक्षरा**' **नाम्नी** वृत्ति रची है। यह वृत्ति काशी से प्रकाशित हो चुकी है। यह वृत्ति साधारण है।

अन्नंभट्ट के विषय में 'महाभाष्यप्रदीप के टीकाकार' प्रकरण में हम पूर्व (पृष्ठ ३८९, ३९०) लिख चुके है।

२५—विश्वेश्वर सूरि

विश्वेश्वर सूरि ने अष्टाध्यायी पर भट्टोजि दीक्षित विरचित शब्दकौस्तुभ के आदर्श पर एक अति विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस का नाम **व्याकरण-सिद्धान्त-सुधानिधि** है। यह आदि के तीन अध्यायों पर ही उपलब्ध है। शेष अध्यायों पर ग्रन्थ लिखा भी गया वा नहीं, यह भी अज्ञात है।

परिचय

विश्वेश्वर ने अपना नाम मात्र परिचय दिया है। उस के अनुसार इस के पिता का नाम लक्ष्मीधर है। पर्वतीय विशेषण से स्पष्ट है कि यह पार्वत्य देश का है। ग्रन्थकार की मृत्यु ३२-३४ वर्ष के वय में ही हो गई थी।

काल—ग्रन्थकार ने भट्टोजिदीक्षित का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है, परन्तु उस के पौत्र हरिदीक्षित अथवा तत्कृत प्रौढमनोरमा व्याख्या

शब्दरत्न का कहीं भी उल्लेख न होने से प्रतीत होता है कि विश्वेश्वर सूरि ने शब्दरत्न की रचना से पूर्व अपना ग्रन्थ लिखा था।[1] अतः इस का काल वि० सं० १६००—१६५० के मध्य होना चाहिए। 'हिस्ट्री आफ् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' के लेखक कृष्णमाचारिया ने इस का काल ईसा की १८ वीं शती लिखा है।[2]

अन्य ग्रन्थ—इस के कतिपय अन्य ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. तर्क-कौतूहल
२. अलंकारकौस्तुभ
३. रुक्मणीपरिणय
४. आर्यासप्तशती
५. अलङ्कारकुलप्रदीप
६. रसमञ्जरी टीका

२६—गोपालकृष्ण शास्त्री (सं० १६५०—१७००)

हम ने 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण में गोपालकृष्ण शास्त्री विरचित 'शाब्दिकचिन्तामणि' ग्रन्थ का उल्लेख किया है। वहां हम ने लिखा है कि हमें इस ग्रन्थ के 'महाभाष्यव्याख्या' होने में सन्देह है। यदि यह ग्रन्थ महाभाष्य की व्याख्या न हो तो निश्चय ही यह अष्टाध्यायी की विस्तृत वृत्ति रूप होगा।

२७—गोकुलचन्द्र (सं० १८६७)

गोकुलचन्द्र नाम के वैयाकरण ने अष्टाध्यायी की एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। इसका एक हस्तलेख उपलब्ध है।[3]

परिचय

गोकुलचन्द्र ने वृत्ति के अन्त में अपना जो परिचय दिया है उस के अनुसार इस के पिता का नाम 'बुधसिंह' माता का नाम 'सुशीला' और गुरु का नाम जगन्नाथ था। इस के एक सोदर्य भ्राता का नाम गोपाल था। यह लेखक वैश्य कुल का था।[4]

---

१. द्र० ग्रन्थ की भूमिका। २. पैराग्राफ ६०६, पृष्ठ ७६६।

३. हमने इस ग्रन्थ का निर्देश किस पुस्तकालय के संग्रह से लिया, यह हम संकेत करना भूल गए। ४. बुधसिंहात् सुशीलायां लब्धजन्मा विशांवरः। लब्धविद्यो

काल—इस की रचना का समाप्ति काल संवत् १८९७ माघ शुक्ला अष्टमी है।

यह वृत्ति अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रोदाहरण मात्र है।

२८—ओरम्भट्ट (सं० १९००)

वैद्यनाथभट्ट विश्वरूप अपरनाम ओरम्भट्ट ने **'व्याकरणदीपिका'** नाम्नी अष्टाध्यायी की वृत्ति बनाई है। इस वृत्ति में वृत्ति उदाहरण तथा पंक्तियां आदि यथासम्भव सिद्धान्तकौमुदी से उद्धृत की हैं। अतः जो व्यक्ति सिद्धान्तकौमुदी की फक्किकाओं को अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़ना पढ़ाना चाहें उन के लिये यह ग्रन्थ कुछ उपयोगी हो सकता है।

ओरम्भट्ट काशी निवासी महाराष्ट्रीय पण्डित है। यह काशी के प्रसिद्ध-विद्वान् बालशास्त्री के गुरु काशीनाथ शास्त्री का समकालिक है। पं० काशीनाथ शास्त्री ने सं० १९१६ में काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया था। अतः ओरम्भट्ट का काल सं० १९०० के लगभग है।

२९—स्वामी दयानन्द सरस्वती (सं० १८८१—१९४०)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की **"अष्टाध्यायीभाष्य"** नाम्नी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इस के दो खण्ड वैदिक पुस्तकालय अजमेर से प्रकाशित हो चुके हैं।

परिचय

वंश—स्वामी दयानन्दसरस्वती का जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत टंकारा नगर के औदीच्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इन के पिता सामवेदी ब्राह्मण थे। नवीन अनुसन्धान के अनुसार इन के पिता का नाम कर्शनजी तिवाड़ी और पितामह का नाम विश्रामजी तिवाड़ी उपनाम लालजी तिवाड़ी ज्ञात हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का बाल्यकाल का नाम मूलजी था। सम्भवतः इन्हें मूलशंकर भी कहते थे। मूलजी के पिता शैवमतावलम्बी थे।

वल्लभजी था। उनकी दो बहनें थीं, जिनमें बड़ी प्रेमाबाई का विवाह मङ्गलजी लीलारावजी के साथ हुआ था। छोटी बहिन की मृत्यु बचपन में मूलजी के सामने हो गई थी। इन के वैमातृक चार भाई थे। उन के वंशज आज भी विद्यमान हैं।[1]

प्रारम्भिक अध्ययन और गृहत्याग—मूलजी का पांच वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ और आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन संकार हुआ था। सामवेदी होने पर भी इन के पिता ने शैवमतावलम्बी होने के कारण मूलजी को प्रथम रुद्राध्याय और पश्चात् समग्र यजुर्वेद कण्ठाग्र कराया था। घर में रहते हुए मूलजी ने व्याकरण आदि का भी कुछ कुछ अध्ययन किया था। बाल्यकाल में अपने चाचा और छोटी भगिनी की मृत्यु से इन के मन में वैराग्य की भावना उठी और वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली गई। इनके पिता ने मूलजी के मन की भावना को समझ कर इन को विवाहबन्धन में बांधने का प्रयत्न किया, परन्तु मूलजी अपने संकल्प में दृढ़ थे। अतः विवाह की सम्पूर्ण तैयारी हो जाने पर उन्होंने एक दिन सायंकाल अपने भौतिक संपत्ति से परिपूर्ण गृह का सर्वदा के लिए परित्याग कर दिया। इस समय इन की आयु लगभग २२ वर्ष की थी। यह घटना संवत् १९०३ की है।

गृह-परित्याग के अनन्तर योगियों के अन्वेषण और सच्चे शिव के दर्शन की लालसा से लगभग पन्द्रह वर्ष तक हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण भयानक वन कन्दरा और हिमालय की ऊँची ऊँची सदा बर्फ से ढकी चोटियों पर भ्रमण करते रहे। इस काल में इन्होंने योग की विविध क्रियाओं और अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया।

गुरु—नर्वदा-स्रोत की यात्रा में मूलजी ने स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती नामक संन्यासी से संन्यास ग्रहण किया और दयानन्द सरस्वती नाम पाया। नर्वदा-स्रोत की यात्रा में ही इन्होंने मथुरा निवासी प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द स्वामी के पाण्डित्य की प्रशंसा सुनी। अतः उस यात्रा की परिसमाप्ति पर उन्होंने मथुरा आकर सं० १९१७—१९२० तक ३ वर्ष स्वामी विरजानन्द से व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। स्वामी

विरजानन्द व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। इनकी व्याकरण के नव्य और प्राचीन सभी ग्रन्थों में अव्याहत गति थी। तात्कालिक समस्त पण्डितसमाज पर इन के व्याकरणज्ञान की धाक थी। स्वामी दयानन्द भी इन्हें व्याकरण का सूर्य कहा करते थे। इन्हीं के प्रयत्न से कौमुदी आदि के पठन-पाठन से नष्टप्राय महाभाष्य के पठन-पाठन का पुनः प्रवर्तन हुआ था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] स्वामी विरजानन्द के व्याकरण-विषयक अद्भुत पाण्डित्य का निदर्शन इस ग्रन्थ के दूसरे भाग के 'धातुपाठ' नामक प्रकरण में कराया जायगा।

काल

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म सं० १८८१ में हुआ था। इनके जन्म की तिथि आश्विन बदि ७ कही जाती है। कई पौष मास में मानते हैं। इनका स्वर्गवास सं० १९४० कार्तिक कृष्णा अमावास्या दीपावली के दिन सायं ६ बजे हुआ था।

अष्टाध्यायीभाष्य

स्वामी दयानन्द के १५ अगस्त सन् १८७८ ई० (आषाढ़ ब० २ सं० १९३५) के पत्र से ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायीभाष्य की रचना उक्त तिथि से पूर्व प्रारम्भ हो गई थी।[2] एक अन्य पत्र से विदित होता है कि २८ अप्रैल सन् १८७९ तक अष्टाध्यायीभाष्य के चार अध्याय बन चुके थे।[3] चौथे अध्याय से आगे बनने का उल्लेख उनके किसी उपलब्ध पत्र में नहीं मिलता। स्वामी दयानन्द के अनेक पत्रों से विदित होता है कि पर्याप्त ग्राहक न मिलने से वे इसे अपने जीवन काल में प्रकाशित नहीं कर सके। स्वामीजी की मृत्यु के कितने ही वर्ष पश्चात् उनकी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा ने इसके दो भाग प्रकाशित किये, जिनमें तीसरे अध्याय तक का भाष्य है। चौथा अध्याय अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। इस के प्रथम भाग (अ० १।१–२ तथा अ० २) का सम्पादन डा० रघुवीरजी एम. ए. ने किया है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय का सम्पादन हमारे पूज्य आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने किया है। इसमें मैंने भी सहायक रूप से कुछ कार्य किया है। इस अष्टाध्यायीभाष्य के विषय में हमने "ऋषि दयानन्द

सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास" ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है, अतः विशेष वहीं देखें।

यहां यह ध्यान रहे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जो अष्टाध्यायी-भाष्य छपा है, वह उस की पाण्डुलिपि (रफ कापी) मात्र के आधार पर प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थकार उस का पुनः अवलोकन भी नहीं कर पाए थे। अतः उस में यत्र क्वचित् कुछ भूलें भी विद्यमान हैं।

अन्य ग्रन्थ

स्वामी दयानन्द ने अपने दश वर्ष के कार्यकाल (सं० १९३१-१९४० तक) में लगभग ५० ग्रन्थ रचे हैं। उनमें सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेद भाष्य, यजुर्वेद भाष्य आदि मुख्य हैं। स्वामी दयानन्द के समस्त ग्रन्थों का वर्णन हमने "ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" नामक ग्रन्थ में विस्तार से किया है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है।[1] उणादिकोष की वृत्ति का वर्णन हमने उणादि सूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता नामक अध्याय में किया है।[2]

अब हम उन वृत्तिकारों का वर्णन करते हैं जिन का काल अज्ञात है—

अज्ञातकालिक वृत्ति-ग्रन्थ

३०—अप्पन नैनार्य

अप्पन नैनार्य ने पाणिनीयाष्टक पर **'प्रक्रियादीपिका'** नाम्नी वृत्ति लिखी है। ग्रन्थकार का दूसरा नाम वैष्णवदास था। प्रक्रियादीपिका का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग ३ खण्ड १ A पृष्ठ ३६०१, ग्रन्थाङ्क २५४१। इसके आद्यन्त में निम्न पाठ है—

आदि में—अप्पननैनार्येण वेङ्कटाचार्यसूनुना।

प्रक्रियादीपिका सेयं कृता वात्स्येन धीमता॥

अन्त में—श्रीमद्वात्स्यान्वयपयःपारावारसुधाकरेण वादिमत्तेभ-

कण्ठशिवकण्ठलुण्टाकेन श्रीभट्टवेङ्कटार्यपादकमलचञ्चरीकेण श्रीमत्पर-वादिमतभयंकरमुक्ताफलेन अप्पननैनार्याभिधश्रीविष्णुदासेन कृता प्रक्रियादीपिका समाप्ता।

इस लेख से इतना व्यक्त होता है कि अप्पन नैनार्य के पिता का नाम वेङ्कटार्य था और यह वात्स्य गोत्र का था। 'प्रक्रियादीपिका' नाम से सन्देह होता है कि यह कहीं प्रक्रिया ग्रन्थ न हो।

३१—नारायण सुधी

नारायण सुधी विरचित 'अष्टाध्यायीप्रदीप अपरनाम 'शब्दभूषण' के हस्तलेख मद्रास, अडियार और तञ्जोर के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। मद्रास के राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ४ खण्ड A. पृष्ठ ४२७५ पर निर्दिष्ट हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

इति श्रीगोविन्दपुरवास्तव्यनारायणसुधीविरचिते सवार्त्तिकाष्टा-ध्यायीप्रदीपे शब्दभूषणे अष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

यह व्याख्या बहुत विस्तृत है। इसमें उपयोगी वार्तिकों का भी समा-वेश है। तृतीयाध्याय के द्वितीयपाद के अनन्तर उणादिसूत्र और षष्ठाध्याय के द्वितीयपाद के पश्चात् फिट्सूत्र भी व्याख्यात हैं।

नारायण सुधी का देश, काल अज्ञात है।

३२—रुद्रधर

रुद्रधरकृत अष्टाध्यायीवृत्ति का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में विद्यमान है। देखो संग्रह नं० १९ (पुराना)वेष्टन संख्या १३।

रुद्रधर मैथिल पण्डित है। इसका काल अज्ञात है।

३३—उदयन

उदयनकृत 'मितवृत्त्यर्थसंग्रह' नाम्नी वृत्ति का एक हस्तलेख जम्मू

मुनित्रयमतं ज्ञात्वा वृत्तीरालोक्य यत्नतः ।
करोत्युदयनः साधुमितवृत्त्यर्थसंग्रहम् ॥

उदयन ने इस ग्रन्थ में काशिकावृत्ति का संक्षेप किया है। ग्रन्थकार का देश काल अज्ञात है। यह नैयायिक उदयन से भिन्न व्यक्ति है।

३४—उदयङ्कर भट्ट

उदयङ्कर भट्ट नाम के किसी वैयाकरण ने **परिभाषाप्रदीपार्चि** नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उस के आदि में पाठ है—

कृत्वा पाणिनिसूत्राणां मितवृत्त्यर्थसंग्रहम् ।
परिभाषाप्रदीपार्चिस्तत्रोपायो निरूप्यते ॥

इस से ज्ञात होता है कि उदयङ्कर भट्ट ने भी पाणिनीय सूत्र पर **मितवृत्त्यर्थसंग्रह** नाम्नी कोई व्याख्या लिखी थी।

परिभाषाप्रदीपार्चि के विषय में 'परिभाषा पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' नामक अध्याय में लिखेंगे।[1]

३५—रामचन्द्र

रामचन्द्र ने अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी है। उस में उसने भी काशिकावृत्ति का संक्षेप किया है। इसके प्रारम्भ के श्लोक से विदित होता है कि रामचन्द्र ने यह नागोजी की प्रेरणा से लिखी थी।[2] यह नागोजी कौन है? यह अज्ञात है। एक रामचन्द्र शेषवंशीय नागोजी भट्ट का पुत्र है[3], उस से यह भिन्न प्रतीत होता है।

३६—सदानन्द नाथ

सदानन्द नाथ ने अष्टाध्यायी की **तत्त्वदीपिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है।

---

१. द्र० अ० २६, भाग २, पृष्ठ २५८।

२. नागोजीविदुषा प्रोक्तो रामचन्द्रो यथामति ।
शब्दशास्त्रं समालोक्य कुर्वेऽहं वृत्तिसंग्रहम् ॥

जोधपुर दुर्ग पुस्तकालय में संख्या २७५७ | १३ पर निर्दिष्ट है अर्थात् यह वृत्ति जोधपुर में सुरक्षित है।

३७—पाणिनीय-लघुवृत्ति

यह वृत्ति श्लोकबद्ध है। देखो ट्रिवेण्ड्रम् पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग ५ ग्रन्थांक १०५।

श्लोकबद्ध पाणिनीयसूत्रवृत्ति का एक हस्तलेख मैसूर के राजकीय पुस्तकालय में भी है। देखो सन् १९२२ का सूचीपत्र पृष्ठ ३१५ ग्रन्थाङ्क ४७५०।

ये दोनों ग्रन्थ एक ही हैं अथवा पृथक् पृथक् यह अज्ञात है।

पाणिनीयसूत्र-लघु[वृत्ति]विवृति

यह पूर्वोक्त लघुवृत्ति की श्लोकबद्ध टीका है। यह टीका रामशाली क्षेत्र निवासी किसी द्विजन्मा की रचना है। देखो ट्रिवेण्ड्रम् के राजकीय पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग ६ ग्रन्थाङ्क ३४।

मैसूर राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ३१५ पर '**पाणिनीयसूत्र-वृत्ति टिप्पणी**' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। उसका कर्त्ता 'देवसहाय' है।

अष्टाध्यायी की अज्ञातकर्तृक वृत्तियां

मद्रास राजकीय पुस्तकालय के नये छपे हुए बृहत् सूचीपत्र में अष्टाध्यायी की ५ वृत्तियों का उल्लेख मिलता है। वे निम्न हैं—

ग्रन्थनाम	ग्रन्थाङ्क
३८—पाणिनीय-सूत्रवृत्ति	११५७७
३९—पाणिनीय-सूत्रविवरण	११५७८
४०—पाणिनीय-सूत्रविवृति	११५७९
४१—पाणिनीय-सूत्रविवृति लघुवृत्तिकारिका	११५८०
४२—पाणिनीय-सूत्रव्याख्यान उदाहरणश्लोकसहित	११५८१

४३, ४४—डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में पाणिनीय सूत्र की दो वृत्तियां विद्यमान हैं। देखो ग्रन्थांक ३७५०, ६२८१। ये दोनों वृत्तियां केरल लिपि में लिखी हुई हैं।

४५—सरस्वतीभवन काशी के संग्रह में पाणिनीयाष्टक की एक अज्ञात-कर्तृक वृत्ति वर्तमान है। देखो महीधर संग्रह वेष्टन नं० २८।

इस प्रकार अन्य पुस्तकालयों में भी अनेक अष्टाध्यायीवृत्तियों के हस्तलेख विद्यमान हैं। इस सब का अन्वेषण होना परमावश्यक है।

हमने इस अध्याय में अष्टाध्यायी के ३६ वृत्तिकारों, ९ अज्ञात-कर्तृक वृत्तियों और प्रसंगवश अनेक व्याख्याताओं का वर्णन किया है। इस प्रकार हमने इस अध्याय में लगभग ६० पाणिनीय वैयाकरणों का वर्णन किया है।

अब अगले अध्याय में काशिका के व्याख्याकारों का वर्णन किया जायगा।

पन्द्रहवां अध्याय

काशिका के व्याख्याता

काशिका जैसे महत्त्वपूर्ण वृत्ति-ग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखीं, उनमें से कई एक इस समय अप्राप्य हैं। बहुत से टीकाकारों के नाम भी अज्ञात हैं। हमें जितने टीकाकारों का ज्ञान हो सका, उनका वर्णन इस अध्याय में करते हैं।

१—जिनेन्द्रबुद्धि

काशिका पर जितनी व्याख्याएं उपलब्ध अथवा परिज्ञात हैं, उन में बोधिसत्त्वदेशीय आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि विरचित काशिकाविवरणपञ्जिका अपरनाम न्यास सब से प्राचीन है। न्यासकार का 'बोधिसत्त्वदेशीय' बीरुद् होने से स्पष्ट है कि न्यासकार बौद्धमत का प्रामाणिक आचार्य है।

न्यासकार का काल

न्यासकार ने अपना किञ्चिन्मात्र परिचय नहीं दिया, अतः इसका इतिवृत्त सर्वथा अन्धकार में है। हम यहां न्यासकार के कालनिर्णय करने का कुछ प्रयत्न करते हैं—

१—हरदत्त ने पदमञ्जरी ४। १। ४२ में न्यासकार का नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। हरदत्त का काल विक्रम की १२ वीं शताब्दी का प्रथम चरण अथवा उससे कुछ पूर्व है। यह हम पूर्व (पृष्ठ ३६८) लिख चुके। अतः न्यासकार १२ वीं शताब्दी के आरम्भ से प्राचीन है।

२—महाभाष्यव्याख्याता कैयट हरदत्त से पौर्वकालिक है, यह हम कैयट के प्रकरण में लिख चुके। कैयट और जिनेन्द्रबुद्धि के अनेक वचन परस्पर अत्यन्त मिलते हैं। जिनसे यह स्पष्ट है कि कोई एक दूसरे से सहायता अवश्य ले रहा है, परन्तु किसी ने किसी का नाम निर्देश नहीं किया। इसलिये उनके पौर्वापर्य के ज्ञान के लिये हम दोनों के दो तुलनात्मक पाठ उद्धृत करते हैं—

न्यास—**द्वयोरिकारयोः प्रश्लेषनिर्देशः। तत्र यो द्वितीय इवर्णः स**

प्रदीप—दीर्घोच्चारणे भाष्यकारेण प्रत्याख्याते केचित् प्रश्लेषनिर्देशेन द्वितीय ईकारो ये विभाषा (६।४।४३) इत्यात्वस्य पक्षे परत्वात् प्राप्तस्य बाधनार्थ इत्याहुः। तदयुक्तम्। क्यप्सन्नियोगेन विधीयमानस्येत्वस्यान्तरङ्गत्वात्। ३।१।१११॥

न्यास—अनित्यता पुनरागमशासनस्य घोर्लोपो लेटि वा (७।३।७०) इत्यत्र वाग्रहणलिङ्गाद् विज्ञायते। तद्धि ददद् ददाद् इत्यत्र नित्यं घोर्लोपो माभूदित्येवमर्थं क्रियते। यदि च नित्यमागमशासनं स्याद् वाग्रहणमनर्थकं स्यात्। भवतु नित्यो लोपः। सत्यपि तस्मिन् लेटोऽडाटौ (३।४।९४) इत्यटि कृते ददत् ददादिति सिध्यत्येव। अनित्यत्वे त्वागमशासनस्याडागमाभावान्न सिध्यति ततो वा वाचनमर्थवद् भवति। ७।१।१॥

प्रदीप—केचित्त्वनित्यमागमशासनमित्यस्य ज्ञापकं वाग्रहणं वर्णयन्ति। अनित्यत्वात्तस्याट्यसति ददादिति न स्यादिति। तत्सिद्ध्यर्थं वाग्रहणं क्रियमाणमेनां परिभाषां ज्ञापयति। ७।३।७०॥

इन उद्धरणों की परस्पर तुलना करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों स्थानों में कैयट 'केचित्' पद से न्यासकार का निर्देश करता है और उसके ग्रन्थ को अपने शब्दों में उद्धृत करता है। अतः न्यासकार निश्चय ही वि० सं० १०९० से पूर्ववर्ती है। यह उसकी उत्तर सीमा है।

३—डा० याकोबी ने भविष्यत् पुराण के आधार पर हरदत्त का देहावसान ८७८ ई० (=९३५ वि०) माना है।[1] यदि हरदत्त की यह तिथि प्रमाणान्तर से परिपुष्ट हो जाए तो न्यासकार का काल ९०० वि० से पूर्व मानना होगा।

५—हेतुबिन्दु की टीका में अर्चट लिखता है—

यदा ह्याचार्यस्याप्येतदभिमतमिति कैश्चिद् व्याख्यायते……। पृष्ठ २१८ (बड़ोदा संस्क०)

इस पर पण्डित दुर्वेक मिश्र अपने आलोक में लिखता है—

यदि अर्चट का **कैश्चित्** पद से ईश्वरसेन और जिनेन्द्रबुद्धि की ओर ही संकेत हो, जैसा कि दुर्वेक मिश्र ने व्याख्यान किया है, तब न्यासकार का काल वि० सं ७०० के लगभग होगा, क्योंकि अर्चट का काल ईसा की ७ वीं शती का अन्त है।

६—न्यास के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने न्यासकार का काल सन् ७२५–७५० ई० अर्थात् वि० सं० ७८२–८०७ माना है।

महाकवि माघ और न्यास

महाकवि माघ ने शिशुपालवध के '**अनुत्सूत्रपदन्यासा**' इत्यादि श्लोक में श्लेषालंकार से न्यास का उल्लेख किया है। न्यास के सम्पादक ने इसी के आधार पर माघ को न्यासकार से उत्तरवर्ती लिखा है, वह अयुक्त है, यह हम पूर्व लिख चुके।[1] प्राचीन काल में न्यास नाम के अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। कोई न्यास ग्रन्थ भर्तृहरिविरचित महाभाष्यदीपिका में भी उद्धृत हैं।[2] एक न्यास मल्लवादिसूरि ने वामनविरचित विश्रान्तविद्याधर व्याकरण पर लिखा था।[3] पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दी ने भी पाणिनीयाष्टक पर 'शब्दावतार' नामक एक न्यास लिखा था।[4] अतः महाकवि माघ ने किस न्यास की ओर संकेत किया है, यह अज्ञात है। हां, इतना निश्चित है कि माघ के उपर्युक्त श्लोकांश में जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास का उल्लेख नहीं है, क्योंकि शिशुपालवध का रचना काल सं० ६८२—७०० के मध्य है।[5]

भामह और न्यासकार

भामह ने अपने अलंकार शास्त्र में लिखा है—

> **शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।**
> **तृचा समस्तषष्ठीकं न कथंचिदुदाहरेत् ॥**
> **सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।**
> **अकेन च न कुर्वीत वृत्तिस्तद्गमको यथा ॥**

---

१. पूर्व पृष्ठ ४२८।

२. देखो पूर्व पृष्ठ ३६१ पर महाभाष्यदीपिका का ३६ वां उद्धरण।

३. इस का वर्णन 'पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में

सम्पूर्ण न्यास में कहीं पर भी [illegible]
के ज्ञापक से 'वृत्रहन्ता' पद में समास का विधान नहीं किया। न्यास के सम्पादक ने उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर भामह का काल सन् ७७५ ई० अर्थात् सं० ८३२ वि० माना है।[1] यह ठीक नहीं, क्योंकि सं० ६८७ वि० के समीपवर्ती स्कन्द-महेश्वर ने अपनी निरुक्तटीका में भामह के अलंकार ग्रन्थ का एक श्लोक उद्धृत किया है।[2] अतः भामह निश्चय ही वि० सं० ६८७ से पूर्ववर्ती है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि व्याकरण पर अनेक न्यास ग्रन्थ रचे गये थे। अतः भामह ने किस न्यासकार का उल्लेख किया है, यह अज्ञात है। इसलिये केवल न्यास नाम के उल्लेख से भामह जिनेन्द्रबुद्धि से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता।

न्यास के व्याख्याता

१—मैत्रेय रक्षित

मैत्रेय रक्षित ने न्यास की 'तन्त्रप्रदीप' नाम्नी महती व्याख्या रची है। सौभाग्य से इसका एक हस्तलेख कलकत्ता के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। हस्तलेख में प्रथमाध्याय के प्रथम पाद का ग्रन्थ नहीं है, शेष संपूर्ण है। देखो बंगाल गवर्नमेण्ट की आज्ञानुसार पं० राजेन्द्रलाल सम्पादित सूचीपत्र भाग ६, पृष्ठ १४०, ग्रन्थाङ्क २०७६।

विद्वत्ता—मैत्रेय रक्षित व्याकरण शास्त्र का असाधारण पण्डित था। वह पाणिनीय तथा इतर व्याकरण का भी अच्छा ज्ञाता था। वह अपने धातुप्रदीप के अन्त में स्वयमेव लिखता है—

वृत्तिन्यासं समुद्दिश्य कृतवान् ग्रन्थविस्तरम्।
नाम्ना तन्त्रप्रदीपं यो विवृतास्तेन धातवः।
आकृष्य भाष्यजलधेरथ धातुनाम—
पारायणक्षपणपाणिनिशास्त्रवेदी।
कालापचान्द्रमततत्त्वविभागदक्षो
धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय॥

---

१. न्यास की भूमिका, पृष्ठ २६। २. देखो निरुक्त टीका १०।१६। आह—तुल्यश्रुतीनां······तन्निरुच्यते। यह भामह के अलंकार शास्त्र २।१७ का वचन है। निरुक्तटीका का पाठ त्रुटित तथा अशुद्ध है।

सीरदेव ने भी अपनी परिभाषावृत्ति में लिखा है—

तस्माद् बोद्धव्योऽयं रक्षितः, बोद्धव्याश्च विस्तरा एव रक्षितग्रन्था विद्यन्ते। पृष्ठ ९५।

देश—यह सम्भवतः बंग प्रान्तीय था।[1]

काल—मैत्रेय रक्षित का काल संवत् ११४०–११६५ तक है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक ने भी मैत्रेय रक्षित का काल सन् १०७५—११२५ ई० (अर्थात् वि० सं० ११३२–११७२) माना है।[3]

तन्त्रप्रदीप के व्याख्याता

१. **नन्दनमिश्र**—नन्दनमिश्र न्यायवागीश ने तन्त्रप्रदीप की '**तन्त्रप्रदीपोद्योतन**' नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। नन्दनमिश्र के पिता का नाम वाणेश्वरमिश्र है। इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय का एक हस्तलेख कलकत्ता के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो पं० राजेन्द्रलाल संपादित पूर्वोक्त सूचीपत्र भाग ६, पृष्ठ १५० ग्रन्थाङ्क २०८३।

पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने जिस हस्तलेख का वर्णन किया है, उस के अन्त में पाठ है—

इति धनेश्वरमिश्रतनयश्रीनन्दनमिश्रविरचिते न्यासोद्दीपने……।

इस पाठ के अनुसार नन्दनमिश्र के पिता का नाम धनेश्वरमिश्र है और ग्रन्थ का नाम न्यासोद्दीपन। हां, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने यह तो स्वीकार किया है कि यह तन्त्रप्रदीप की व्याख्या है।[4]

२. **सनातन तर्काचार्य**—इसने तन्त्रप्रदीप पर '**प्रभा**' नाम्नी टीका लिखी है। प्रो० कालीचरण शास्त्री हुबली का मैत्रेय रक्षित पर लेख भारत-कौमुदी भाग २ में छपा है। उसमें उन्होंने इस टीका का उल्लेख किया है।

३. **तन्त्रप्रदीपालोककार**—किसी अज्ञातनामा पण्डित ने तन्त्रप्रदीप पर '**आलोक**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका उल्लेख भी प्रो० कालीचरण शास्त्री के उक्त लेख में है।

हम इन ग्रन्थकारों के विषय में अधिक नहीं जानते।

---

१. विशेष द्रष्टव्य इसी इतिहास का भाग २, पृष्ठ ८५।

मल्लिनाथ ने न्यास की 'न्यासोद्योत' नाम्नी टीका लिखी थी। आफ्रेख्ट ने बृहत् सूचीपत्र में इसका उल्लेख किया है। मल्लिनाथ ने स्वयं किरातार्जुनीय की टीका में न्यासोद्योत के पाठ उद्धृत किये हैं।[1]

मल्लिनाथ साहित्य और व्याकरण का अच्छा पण्डित था यह उसकी काव्यटीकाओं से भले प्रकार विदित होता है।

मल्लिनाथ का काल—मल्लिनाथ का निश्चित काल अज्ञात है। सायण ने धातुवृत्ति में 'न्यासोद्योत' के पाठ उद्धृत किये हैं।[2] सायण का काल संवत् १३७१—१४४४ तक माना जाता है। अतः मल्लिनाथ विक्रम की १४ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का वा उस से पूर्ववर्ती है, इतना सामान्यतया कहा जाता सकता है।

३—नरपति महामिश्र

नरपित महामिश्र नाम के विद्वान् ने न्यास पर एक व्याख्या लिखी है। इस का नाम **न्यासप्रकाश** है। इस के प्रारम्भिक भाग का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र, पृष्ठ ४१।

ग्रन्थकार ने स्वग्रन्थ के प्रारम्भ में इस प्रकार लिखा है—

नरपतिकृतिरेषा कामिनीनन्दिनीव गुरुतमकृततोषानाशिताशेषदोषा।
सुललितगतिबन्धा निर्जिताशेषतेजा जयति जगदुपेता मालिनी जाह्नवीव॥

शिवं प्रणम्य देवेशं तथा शिवपतिं शिवाम्।
प्रकाशः क्रियते न्यासे महामिश्रेण धीमता॥
विद्यापतेः प्रेरणकारणेन कृतो मया व्याकरणप्रकाशः।
यद्यत्र किञ्चित्स्खलनं भवेन्मे क्षन्तव्यमीषद्गुणिनां वरैस्तत्॥

इस उल्लेख से विदित होता है कि महामिश्र ने किसी विद्यापति नाम के विशिष्ट व्यक्ति की प्रेरणा से न्यासप्रकाश लिखा था। पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने महामिश्र का काल १४००—१४५० ई० माना है।[3]

---

१. उक्तं च न्यासोद्योते—न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्य, अपि तु गम्यमानापि २। १७, पृष्ठ २४, निर्णयसागर संस्क०।

४—पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर

पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर नाम के किसी विद्वान् ने न्यास की एक टीका लिखी है। इस का उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वयं कातन्त्रप्रदीप नाम्नी कातन्त्र-टीका में किया है। वह लिखता है—

तच्चिन्त्यमिति न्यासटीकायां प्रपञ्चितमस्माभिः ।[1]

पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर का काल ईसा की १५ वीं शती माना है।[1]

पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर ने भट्टि काव्य पर कातन्त्रप्रक्रियानुसारी एक व्याख्या लिखी है। उस के अन्त के लेख से विदित होता है कि इस के पिता का नाम श्रीकान्त था।[2] इस टीका का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के 'काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि' नामक अध्याय में किया है।[3]

५—रत्नमति

सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व २।१।५ पर रत्नमति का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

न तु संशयव्रति पुरुष इति न्यासः। अतः सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिः। संशयकर्तरि पुरुष एवेति तद्रत्नमतिः।[4]

इस उद्धरण में यदि तच्छब्द से न्यास ही अभिप्रेत हो तो मानना होगा कि रत्नमति ने न्यास पर कोई ग्रन्थ लिखा था। रत्नमति के व्याकरणविषयक अनेक उद्धरण अमरटीकासर्वस्व और धातुवृत्ति आदि में उद्धृत हैं।

२—इन्दुमित्र (सं० ११५० से पूर्ववर्ती)

इन्दुमित्र नाम के वैयाकरण ने काशिका की एक "अनुन्यास" नाम्नी व्याख्या लिखी थी। इन्दुमित्र को अनेक ग्रन्थकार 'इन्दु' नाम से स्मरण

---

१. भूमिका पृष्ठ १८।

२. इति महामहोपाध्यायश्रीमच्छ्रीकान्त-

उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति[2], सीरदेवीय परिभाषावृत्ति[3], दुर्घटवृत्ति[4], प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका[5] और अमरटीकासर्वस्व[6] आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इन्दुमित्र ने अष्टाध्यायी पर 'इन्दुमती' नाम्नी एक वृत्ति लिखी थी, उसका उल्लेख हम पूर्व (पृष्ठ ४४१) कर चुके हैं।

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में अनुन्यास के नाम से तन्त्रप्रदीप का उल्लेख किया है,[7] वह चिन्त्य है। सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में अनुन्यासकार और तन्त्रप्रदीपकार के शाश्वतिक विरोध का उल्लेख किया है। यथा—

एतस्मिन् वाक्ये इन्दुमैत्रेययोः शाश्वतिको विरोधः। पृष्ठ ७९।

उपदेशग्रहणानुवर्तनं प्रति रक्षितानुन्यासयोर्विवाद एव। पृष्ठ २७।

अनुन्यासकार इन्दुमित्र का काल हम पूर्व लिख चुके हैं। तदनुसार इन्दुमित्र का काल सं० ८०० से ११५० के मध्य है। देखो पृष्ठ ४४२।

अनुन्यास-सारकार—श्रीमान शर्मा

श्रीमान शर्मा नाम के विद्वान् ने सीरदेवीय परिभाषावृत्ति की विजया नाम्नी टिप्पणी में लिखा है—

अनुन्यासादिसारस्य कर्त्रा श्रीमानशर्मणा।
लक्ष्मीपतिपुत्रेण विजयेयं विनिर्मिता॥

इस से ज्ञात होता है कि श्रीमान शर्मा ने अनुन्यासासार नाम का कोई ग्रन्थ रचा था। यह वारेन्द्र चम्पाहट्टि कुल का था। श्रीमान शर्मा ने अपने 'वर्षकृत्य' ग्रन्थ के अन्त में अपने को व्याकरण तर्क सुकृत (= कर्मकाण्ड) आगम और काव्यशास्त्र का इन्दु कहा है।[8]

शिष्य—श्रीमान शर्मा का एक शिष्य पद्मनाभ मिश्र है।[9]

---

१. पृष्ठ २०१। २. पृष्ठ १, ५५, ८८। ३. पृष्ठ २८, ७९।
४. पृष्ठ १२०, १२३, १२६। ५. भाग १, पृष्ठ ६१०। भाग २, पृष्ठ १४५।
६. भाग १, पृष्ठ ६०। भाग २, पृष्ठ २३६। ७. सूचीपत्र भाग ५।
८. व्याकारतर्कसुकृतागमकाव्यवार्धि(राशी)न्दुना परिसमाप्यत वर्षकृत्यम्।

श्रीमान शर्मा का काल सं० १५००—१५५० के मध्य है।[1]

श्रीमान शर्मा विरचित विजया नाम्नी परिभाषावृत्ति टिप्पणी का वर्णन हम परिभाषा पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता प्रकरण में करेंगे।[2]

३—महान्यासकार (सं० १२१५ से पूर्ववर्ती)

किसी वैयाकरण ने काशिका पर 'महान्यास' नाम्नी टीका लिखी थी। इस के जो उद्धरण उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति और सर्वानन्द विरचित अमरटीकासर्वस्व में उपलब्ध होते हैं वे निम्न हैं—

१. **द्वित्वमभ्युपगम्य गौरादित्वात् सूचीति महान्यासे।**[3]

२. **वहतेः घञ्, ततष्टन् इति महान्यासः।**[4]

३. **चुल्लीति महान्यास इति उपाध्यायसर्वस्वम्।**[5]

इन में प्रथम उद्धरण काशिका १।२।५० के '**पञ्चसूचिः**' उदाहरण की व्याख्या से उद्धृत किया है। द्वितीय उद्धरण का मूल स्थान अज्ञात है। ये दोनो उद्धरण जिनेन्द्रबुद्धिविरचित न्यास में उपलब्ध नहीं होते। अतः महान्यास उस से पृथक् है। महान्यास के कर्त्ता का नाम अज्ञात है। एक महान्यास क्षपणक व्याकरण पर भी था। मैत्रेय ने तन्त्रप्रदीप ४।१।१५५ पर उसे उद्धृत किया है।[6]

महान्यास का काल—सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व की रचना शकाब्द १०८१ अर्थात् वि० सं० १२१६ में की थी। यह हम पूर्व लिख चुके। अतः महान्यासकार का काल सं० १२१६ से प्राचीन है। महान्यास संज्ञा से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ न्यास और अनुन्यास दोनों ग्रन्थो से पीछे बना है।

४—विद्यासागर मुनि (११६५ से पूर्व)

विद्यासागर मुनि ने काशिका की '**प्रक्रियामञ्जरी**' नाम्नी टीका लिखी है। यह ग्रन्थ मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के संग्रह में विद्यमान

---

१. श्रीमान शर्मा का उक्त वर्णन पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के निर्देशानुसार किया है। द्र० भूमिका पृष्ठ १६, १७।

२. भाग २, पृष्ठ २५२, २५३॥ ३. उज्ज्वल उणादिवृत्ति पृष्ठ १६५।

इस ग्रन्थ का प्रारम्भिक लेख इस प्रकार है—

वन्दे मुनीन्द्रान् मुनिवृन्दवन्द्यान्
श्रीमद्गुरून् श्वेतगिरीन् वरिष्ठान् ।
न्यासकारवचः पद्मनिकरोद्गीर्णमम्बरे
गृह्णामि मधुप्रीतो विद्यासागरषट्पदः ॥

वृत्ताविति—सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो भट्टनल्पूरप्रभृतिभिर्विरचितो वृत्ति............... ।

उपरि निर्दिष्ट श्लोक से विदित होता है कि विद्यासागर के गुरु का नाम श्वेतगिरि था।

काल

पूर्व निर्दिष्ट उद्धरण में विद्यासागर मुनि ने केवल न्यासकार का उल्लेख किया है। पदमञ्जरी अथवा उस के कर्त्ता हरदत्त का उल्लेख नहीं है। इस से प्रतीत होता है कि विद्यासागर हरदत्त से पूर्ववर्ती है।

ग्रन्थ के अन्त में "**इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकचार्यविद्यासागरमुनीन्द्रविरचितायां**......" पाठ उपलब्ध होता है।

५—हरदत्त मिश्र (सं० ११.१५)

हरदत्त मिश्र ने काशिका की '**पदमञ्जरी**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या के अवलोकन से उसके पाण्डित्य और ग्रन्थ की प्रौढ़ता स्पष्ट प्रतीत होती है। हरदत्त केवल व्याकरण का पण्डित नहीं है। इसने श्रौत, गृह्य और धर्म आदि अनेक सूत्रों की व्याख्याएं लिखी हैं। हरदत्त पण्डितराज जगन्नाथ के सदृश अपनी अत्यधिक प्रशंसा करता है।[1]

परिचय—हरदत्त ने पदमञ्जरी ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

तातं पद्मकुमाराख्यं प्रणम्याम्बा श्रियं तथा ।

---

१. प्रक्रियातर्कगहनप्रविष्टो हृष्टमानसः । हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते ॥ पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४६ ।

ज्येष्ठं त्वग्निकुमाराख्यमाचार्यमपराजितम् ॥

अर्थात्—हरदत्त के पिता का नाम 'पद्मकुमार' (पाठान्तर-रुद्रकुमार), माता का नाम 'श्री', ज्येष्ठभ्राता का नाम 'अग्निकुमार' और गुरु का नाम 'अपराजित' था।

हरदत्त ने प्रथम श्लोक में शिव को नमस्कार किया है।[1] अतः वह शैव मतानुयायी था।

देश—ग्रन्थ के आरम्भ में हरदत्त ने अपने को दक्षिण देशवासी लिखा है।[2] पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ५१९ से विदित होता है कि हरदत्त द्रविड़ देशवासी था।[3] हरदत्तकृत अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वह चोल-देशान्तर्गत कावेरी नदी के किसी तटवर्ती ग्राम का निवासी और द्रविड़भाषा-भाषी था।[4]

काल—हरदत्त ने अपने ग्रन्थ में ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं किया, जिससे उसके काल का निश्चित ज्ञान हो। कैयट के कालनिर्णय के लिये हम ने कुछ ग्रन्थकारों का पौर्वापर्य द्योतक चित्र दिया है।[5] उसके अनुसार हरदत्त का काल वि० सं० ११९५ के लगभग प्रतीत होता है। न्यास के सम्पादक ने हरदत्त और मैत्रेय दोनों का काल सन् ११०० ई० अर्थात् ११५७ वि० माना है।[6] वह ठीक नहीं। क्योंकि मैत्रेय रक्षित विरचित धातुप्रदीप पृष्ठ १३१ पर धर्मकीर्तिकृत रूपावतार का उल्लेख है।[7] रूपावतार भाग २ पृष्ठ १५७ पर हरदत्त का मत उद्धृत है।[8] अतः हरदत्त और मैत्रेय रक्षित-दोनों समकालिक नहीं हो सकते।

१. नमः शिवाय परमाय दशाव्ययाय साम्बाय सादरमयं विहितः प्रणामः ।

२. अग्निराम हरदत्तशर्मा विश्रुतो देशासु दिक्षु दक्षिणः । पृष्ठ १ ।

३. तन्मूलकस्तु वृत्तिकारदेशे गुप्तिशब्दः, यथास्मद् द्रविडदेशे तिनिशशब्दः ।

४. अनुष्ठानानि चोलदेशे प्रसिद्धानि । गौतम धर्म० टीका १४ । ४४ ॥ यस्यां वसन्ति यामुपजीवन्ति । यथा तीरग्रामा कावेरि तत्र । आपस्तम्बगृह्यटीका १४६ ॥ किलासः श्वेतः नाम इति द्रविडभाषायां प्रसिद्धः । गौतम धर्म० टीका १।१८ ॥

५. पूर्व पृष्ठ ३६८ ।   ६. न्यास की भूमिका पृष्ठ २६ ।

डा० याकोबी ने भविष्यत् पुराण के आधार पर हरदत्त का देहावसान ८७८ ई० के लगभग माना है।[1]

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

१. **महापदमञ्जरी**—पदमञ्जरी १।१।२० पृष्ठ ७२ से विदित होता है कि हरदत्त ने एक 'महापदमञ्जरी' संज्ञक व्याख्या रची थी।[2] यह किस ग्रन्थ की टीका थी, यह अज्ञात है। सम्भव है, यह भी काशिका की व्याख्या हो। इस की पुष्टि दैववार्तिक पुरुषकार से होती है। उस में **णिच्श्च** (१।३।७४) सूत्रस्थ एक हरदत्तीय कारिका उद्धृत की है।[3] वह पदमञ्जरी में नहीं मिलती। अतः वह महापदमञ्जरी से उद्धृत की गई होगी। महापदमञ्जरी ग्रन्थ इस समय अप्राप्य है।

२. **परिभाषा-प्रकरण**—पदमञ्जरी भाग २ पृष्ठ ४३७ से जाना जाता है कि हरदत्त ने 'परिभाषाप्रकरण' नाम्नी परिभाषावृत्ति लिखी थी।[4] यह ग्रन्थ भी इस समय अप्राप्य है।

इसके अतिरिक्त हरदत्त मिश्र के निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

१. **आश्वलायन गृह्य व्याख्या—अनाविला।**

२. **गौतम धर्मसूत्र व्याख्या—मिताक्षरा।**

३. **आपस्तम्ब गृह्य व्याख्या—अनाकुला।**

४. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र व्याख्या—उज्ज्वला।**

५. **आपस्तम्ब गृह्य मन्त्र व्याख्या।**

६. **आपस्तम्ब परिभाषा व्याख्या।**

७. **एकाग्निकाण्ड व्याख्या।**

८. **श्रुतिसूक्तिमाला।**

कई विद्वान् इन ग्रन्थों के रचयिता हरदत्त को पदमञ्जरीकार हरदत्त से भिन्न व्यक्ति मानते हैं, परन्तु इन ग्रन्थों की पदमञ्जरी के साथ तुलना करने से इन सब का कर्त्ता एक व्यक्ति प्रतीत होता है।

---

१. जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई, भाग २३ पृष्ठ ३१।

२. भाष्यवार्त्तिकविरोधस्तु महापदमञ्जर्यामस्माभिः प्रपञ्चितः।

३. हरदत्तस्तु णिच्श्च (१।३।६४) इत्यत्राह—'एष विधिर्न……। स्वरितत्वमनार्षम्॥ इति॥ पृष्ठ १०६, १०७, हमारा संस्क०

पदमञ्जरी के व्याख्याता

१. रङ्गनाथ यज्वा (सं० १७८४ के लगभग)

चोलदेश निवासी रंगनाथ यज्वा ने पदमञ्जरी की **'मञ्जरीमकरन्द'** नाम्नी टीका लिखी है। इस टीका के कई हस्तलेख मद्रास,[1] अडियार[2] और तञ्जौर[3] के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। अडियार के सूचीपत्र में इसका नाम 'परिमल' लिखा है।

परिचय—रंगनाथ यज्वा ने ग्रन्थ के आरम्भ में अपना परिचय इस प्रकार दिया—

यो नारायणदीक्षितस्य नप्ता नल्लादीक्षितसूरिणस्तु पौत्रः ।
श्रीनारायणदीक्षितेन्द्रपुत्रो व्याख्यास्यत्येष रङ्गनाथयज्वा ॥

प्रथमध्याय के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इति श्रीसर्ववेदवेदाङ्गज्ञसर्वक्रतुयाजिचित: पौत्रेण नारायणदीक्षिताग्निचिद्द्वादशाहयाजितनयेन रङ्गनाथदीक्षितेन विरचिते मञ्जरीमकरन्दे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

इन आद्यन्त लेखों के अनुसार रङ्गनाथ यज्वा नल्ला दीक्षित का पौत्र, नारायण दीक्षित का पुत्र और नारायण दीक्षित का दौहित्र है। यह कौण्डिन्य गोत्रज था।

रंगनाथ का नाना नारायण दीक्षित नल्ला दीक्षित के भ्राता धर्मराज यज्वा का शिष्य था। इसने कैयटविरचित महाभाष्यप्रदीप की टीका लिखी थी। देखो, पूर्व पृष्ठ ३९०।

रामचन्द्र अध्वरी रंगनाथ यज्वा का चचेरा भाई था। रामचन्द्र के पिता का नाम यज्ञराम दीक्षित और पितामह का नाम नल्ला दीक्षित था। यह कुल श्रौतयज्ञों के अनुष्ठान के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इनका पूर्ण वंश हम पूर्व पृष्ठ ३९१ पर दे चुके हैं।

वामनाचार्य सूनु वरदराज कृत क्रतुवैगुण्यप्रायश्चित्त के प्रारम्भ में रंगनाथ यज्वा को चोलदेशान्तर्गत 'करण्डमाणिक्य' ग्राम का रहनेवाला

काल—तञ्जौर के पुस्तकालय के सूचीपत्र में रङ्गनाथ का काल १७ वीं शताब्दी लिखा है। रङ्गनाथ यज्वा के चचेरे भाई रामचन्द्र यज्वा विरचित उणादिवृत्ति तथा परिभाषावृत्ति की व्याख्या से विदित होता है कि यह तञ्जौर के 'शाहजी नामक राजा का समकालिक था।[२] शाहजी के राज्य काल का प्रारम्भ सं० १७४४ से माना जाता है। अतः रंगनाथ यज्वा का काल भी विक्रम की १८ वीं शताब्दी का मध्य भाग होगा।

९. शिवभट्ट

शिवभट्टविरचित पदमञ्जरी की '**कुङ्कुमविकास**' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख आफ्रेक्ट के बृहत् सूचीपत्र में उपलब्ध होता है। हमें इसका अन्यत्र उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ। इसका काल अज्ञात है।

६—रामदेव मिश्र (सं० ११९५—१३७० के मध्य)

रामदेव मिश्र ने काशिका की '**वृत्तिप्रदीप**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख डी० ए० वी० कालेजान्तर्गत लालचन्द पुस्तकालय लाहौर तथा मद्रास और तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

काल—रामदेवविरचित 'वृत्तिप्रदीप' के अनेक उद्धरण माधवीया धातुवृत्ति में उपलब्ध होते हैं।[३] अतः रामदेव सायण (संवत् १३७२—१४४४) से पूर्ववर्ती है। यह इसकी उत्तर सीमा है। सायण धातुवृत्ति पृष्ठ ५० में लिखता है—**हरदत्तानुवादी राममिश्रोऽपि**। इससे प्रतीत होता है कि रामदेव हरदत्त का उत्तरवर्ती है।

रामदेव के विषय में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

---

१. येन करण्डमाणिक्यग्रामरत्ननिवासिना। रङ्गनाथाध्वरीन्द्रेण मकरन्दाभिधा कृता॥ व्याख्या हि पदमञ्जर्याः कौमुद्याः पूर्णिमा तथा॥ मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय सूचीपत्र भाग १ खण्ड C पृष्ठ ८०८, ग्रन्थाङ्क ६३४ C।

२. भोजो राजति भोसलान्वयमणिः। श्रीशाहपृथिवीपतिः। ......रामभद्रमखी तेन प्रेरितः करुणाब्धिना। तञ्जौर पुस्तकालय का सूचीपत्र भाग १० पृष्ठ ४२३६, ग्रन्थाङ्क ५६७५।

३. पृष्ठ २४, ५० इत्यादि।

ट्रिवेण्ड्रम के राजकीय पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ४ ग्रन्थाङ्क ५९ पर काशिका की 'वृत्तिरत्न' नाम्नी व्याख्या का उल्लेख है। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है।

८—चिकित्साकार

आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में काशिका की **'चिकित्सा'** नाम्नी व्याख्या का उल्लेख किया है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

इस अध्याय में हम ने काशिकावृत्ति के व्याख्याता १७ वैयाकरणों का वर्णन किया है। अगले अध्याय में पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकारों का वर्णन किया जायगा।

सोलहवां अध्याय

पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार

पाणिनीय व्याकरण के अनन्तर कातन्त्र आदि अनेक लघु व्याकरण प्रक्रियाक्रमानुसार लिखे गये। इन व्याकरणों की प्रक्रियानुसार रचना होने से इनमें यह विशेषता है कि छात्र इन ग्रन्थों का जितना भाग अध्ययन करके छोड़ देता है, उसे उतने विषय का ज्ञान हो जाता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी आदि शब्दानुशासनों के सम्पूर्ण ग्रन्थ का जब तक अध्ययन न हो तब तक किसी एक विषय का भी ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इनमें प्रक्रियानुसार प्रकरण रचना नहीं है। यथा अष्टाध्यायी में समास प्रकरण द्वितीय अध्याय में है, परन्तु समासान्त प्रत्यय पञ्चमाध्याय में लिखे हैं। समास में पूर्वोत्तर पद को निमित्त मान कर होने वाले कार्य का विधान षष्ठाध्याय के तृतीयपाद में किया है। कुछ कार्य प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद और कुछ द्वितीयाध्याय के चतुर्थ पाद में पढ़ा है। इस प्रकार समास से सम्बन्ध रखने वाले कार्य अनेक स्थानों में बंटे हुए हैं। अतः छात्र जब तक अष्टाध्यायी के न्यून से न्यून छः अध्याय न पढ़ले जब तक उसे समास विषय का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए जब अल्पमेधस और लाघवप्रिय व्यक्ति पाणिनीय व्याकरण को छोड़कर कातन्त्र आदि प्रक्रियानुसारी व्याकरणों का अध्ययन करने लगे, तब पाणिनीय वैयाकरणों ने भी उसकी रक्षा के लिए अष्टाध्यायी की प्रक्रिया क्रम से पठन पाठन की नई प्रणाली का आविष्कार किया। विक्रम की १६ वीं शताब्दी के अनन्तर पाणिनीय व्याकरण का समस्त पठनपाठन प्रक्रियाग्रन्थानुसार होने लगा। इस कारण सूत्रपाठक्रमानुसारी पठनपाठन शनैः शनैः उच्छिन्न हो गया।

दोनों प्रणालियों से अध्ययन में गौरव लाघव

यह सर्वसम्मत नियम है कि किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन यदि ग्रन्थकर्ता विरचित क्रम से किया जावे तो उसमें अत्यन्त सरलता होती है। इसी नियम के अनुसार सिद्धान्तकौमुदी आदि व्युत्क्रम ग्रन्थों की अपेक्षा अष्टाध्यायी क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन करने से अल्प

परिश्रम और अल्पकाल में अधिक बोध होता है और अष्टाध्यायी के क्रम से प्राप्त हुआ बोध चिरस्थायी होता है। हम उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं। यथा—

१—सिद्धान्तकौमुदी में 'अाद् गुणः'[1] सूत्र अच्सन्धि में व्याख्यात है। वहां इसकी वृत्ति इस प्रकार लिखी है—

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् संहितायाम्।[2]

इस वृत्ति में "**अचि, पूर्वपरयोः, एकः, संहितायाम्**" ये पद कहां से संगृहीत हुए, इसका ज्ञान सिद्धान्तकौमुदी पढ़ने वाले छात्र को नहीं होता। अतः उसे सूत्र के साथ साथ सूत्र से ५, ६ गुनी वृत्ति भी कण्ठाग्र करनी पड़ती है। अष्टाध्यायी के क्रमानुसार अध्ययन करने वाले छात्र को इन पदों की अनुवृत्तियों का सम्यक् बोध होता है, अतः उसे वृत्ति घोखने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। उसे केवल पूर्वानुवृत्त पदों के सम्बन्धमात्र का ज्ञान करना होता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी के क्रमानुसार पढ़ने वाले छात्र को सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा छठा भाग अर्थात् सूत्रमात्र कण्ठाग्र करना होता है। वह इतने महान् परिश्रम और समय की व्यर्थ हानि से बच जाता है।

२—अष्टाध्यायी में '**इट्**' '**द्विर्वचन**' '**नुम्**' आदि सब प्रकरण सुसम्बद्ध पढ़े हैं। यदि किसी व्यक्ति को इट् वा नुम् की प्राप्ति के विषय में कहीं सन्देह उत्पन्न हो जाय, तो अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़ा हुआ व्यक्ति ४, ५ मिनट में सम्पूर्ण प्रकरण का पाठ करके सन्देहमुक्त हो सकता है, परन्तु कौमुदी के क्रम से अध्ययन करने वाला शीघ्र सन्देहमुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें से एक प्रकरण के सूत्र विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं।

३—पाणिनीय व्याकरण में "**विप्रतिषेधे परं कार्यम्, असिद्धवदत्राभात्, पूर्वत्रासिद्धम्**" आदि सूत्रों के अनेक कार्य ऐसे हैं जिनमें सूत्रपाठक्रम के ज्ञान की महती आवश्यकता होती है। सूत्रपाठक्रम के बिना जाने पूर्व, पर, आभात्, त्रिपादी, सपाद सप्ताध्यायी आदि का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, और इसके बिना शास्त्र का पूर्ण बोध नहीं होता। सिद्धान्तकौमुदी पढ़े हुए छात्र को सूत्रपाठ के क्रम का ज्ञान न

होने से महाभाष्य पूर्णतया समझ में नहीं आता, उसे पदे पदे महती कठिनाई का अनुभव होता है, यह हमारा अपना अनुभव है।

४—सिद्धान्तकौमुदी आदि के क्रम से पढ़े हुए छात्र को व्याकरणशास्त्र शीघ्र विस्मृत हो जाता है। अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण पढ़नेवाले छात्र को सूत्रपाठ-क्रम और अनुवृत्ति के संस्कार के कारण वह शीघ्र विस्मृत नहीं होता।

सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों के आधार पर पाणिनीय व्याकरण पढ़ने में अन्य अनेक दोष हैं, जिन्हें हम विस्तरभिया यहां नहीं लिखते।

यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि अष्टाध्यायी क्रम से पाणिनीय व्याकरण पढ़ने के जो लाभ ऊपर दर्शाए हैं, वे उन्हें ही प्राप्त होते हैं, जिन्हें सम्पूर्ण अष्टाध्यायी पूर्णतया कण्ठाग्र होती है और महाभाष्य के अध्ययन पर्यन्त बराबर कण्ठाग्र रहती है। जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठाग्र नहीं होती और अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण पढ़ते हैं, वे न केवल उसके लाभ से वञ्चित रहते हैं, अपितु अधिक कठिनाई का अनुभव करते हैं। प्राचीन काल में प्रथम अष्टाध्यायी कण्ठाग्र कराने की परिपाटी थी। इत्सिंग भी अपने भारतयात्रा में इस ग्रन्थ का निर्देश करता है।

पाणिनीय-क्रम का महान् उद्धारक

विक्रम की १५वीं शताब्दी से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रक्रिया-ग्रन्थों के आधार पर होने लगा और अतिशीघ्र सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रवृत्त होगया। १६ वीं शताब्दी के अनन्तर अष्टाध्यायी के क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन प्रायः लुप्त होगया। लगभग ४०० सौ वर्ष तक यही क्रम प्रवृत्त रहा। विक्रम की १९ वीं शताब्दी के अन्त में **महावैयाकरण दण्डी स्वामीविरजानन्द** को प्रक्रियाक्रम से पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन में होने वाली हानियों की उपज्ञा हुई। अतः उन्होंने सिद्धान्तकौमुदी के पठन-पाठन को छोड़कर अष्टाध्यायी पढ़ाना प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के अध्ययन पर विशेष बल दिया। अब अनेक पाणिनीय वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के क्रम को हानिकारक और अष्टाध्यायी के क्रम को लाभ-दायक मानने लगे हैं।

इस ग्रन्थ के लेखक ने पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अष्टाध्यायी

पठनपाठन क्रम का भी परिशीलन किया है तथा अनेक छात्रों को सम्पूर्ण महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण पढ़ाया है। उससे हम भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि शब्दशास्त्र के ज्ञान के लिये पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन उसकी अष्टाध्यायी के क्रम से ही करना चाहिये। काशी के व्याकरणाचार्यों को सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से व्याकरण का जितना ज्ञान १०, १२ वर्षों में होता है, उससे अधिक ज्ञान अष्टाध्यायी के क्रम से ४, ५ वर्षों में हो जाता है और वह चिरस्थायी होता है, यह हमारा बहुधा अनुभूत है। इत्यलमति-विस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।

अनेक वैयाकरणों ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से प्रधान प्रधान ग्रन्थकारों का वर्णन आगे किया जाता है—

१. धर्मकीर्ति (सं० ११४० के लगभग)

अष्टाध्यायी पर जितने प्रक्रियानुसारी ग्रन्थ लिखे गये उनमें सब से प्राचीन ग्रन्थ 'रूपावतार' इस समय उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ का लेखक बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति है। यह न्यायबिन्दु आदि के रचयिता प्रसिद्ध बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति से भिन्न व्यक्ति है। धर्मकीर्ति ने अष्टाध्यायी के प्रत्येक प्रकरणों के उपयोगी सूत्रों का संकलन करके इसकी रचना की है।

धर्मकीर्ति का काल

धर्मकीर्ति ने रूपावतार में ग्रन्थ लेखन काल का निर्देश नहीं किया। अतः इसका निश्चित काल अज्ञात है। धर्मकीर्ति के काल निर्णय में जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं, वे निम्न हैं—

१. शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति की रचना शकाब्द १०९५ तदनुसार वि० सं० १२३० में की।[1] शरणदेव ने रूपावतार[2] और धर्मकीर्ति[3] दोनों का उल्लेख दुर्घटवृत्ति में किया है।

२. हेमचन्द्र ने लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ विवरण में धर्मकीर्ति और उसके रूपावतार का नामोल्लेख पूर्वक निर्देश किया है।[4] हेमचन्द्र ने स्वीय पञ्चाङ्ग व्याकरण की रचना वि० सं० ११९३—१२०० के मध्य की है।[5]

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ४४५ टि० २। २. पृष्ठ ७१। ३. पृष्ठ ३०।

३. अमरटीकासर्वस्व में असकृत् उद्धृत मैत्रेयरक्षित धातुप्रदीप के पृष्ठ १३१ में नामनिर्देश पूर्वक रूपावतार का उद्धरण मिलता है।[1] मैत्रेय का काल वि० सं० ११६५ के लगभग है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[2] यह धर्मकीर्ति की उत्तर सीमा है।

४. धर्मकीर्ति ने रूपावतार में पदमञ्जरीकार हरदत्त का उल्लेख किया है।[3] हरदत्त का काल सं० १११५ के लगभग है।

यह धर्मकीर्ति की पूर्व सीमा है। अतः रूपावतार का काल इन दोनों के मध्य में वि० सं० ११४० के लगभग मानना चाहिये। हरदत्त का काल आनुमानिक है, यदि उसका काल कुछ पूर्व खिंच जाय तो धर्मकीर्ति का काल भी कुछ पूर्व सरक जायगा।

रूपावतार संज्ञक अन्य ग्रन्थ

जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय के सूचीपत्र पृष्ठ ४५ पर रूपावतार संज्ञक दो पुस्तकों का उल्लेख है। इनका ग्रन्थाङ्क ४५ और ११०९ है। सूचीपत्र में ग्रन्थाङ्क ४५ का कर्त्ता कृष्ण दीक्षित लिखा है। ग्रन्थाङ्क ११०९ का हस्तलेख हिन्दी भाषानुवाद सहित है। इस पर सूचीपत्र के सम्पादक स्टाईन ने टिप्पणी लिखी है—यह ग्रन्थ सं० ४५ से भिन्न है। विद्वानों को इन हस्तलेखों की तुलना करनी चाहिये।

रूपावतार के टीकाकार

१. शंकरराम

शंकरराम ने रूपावतार की 'नीवि' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके तीन हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम् के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग २ ग्रन्थाङ्क ६२, भाग ४ ग्रन्थाङ्क ४९, भाग ६ ग्रन्थाङ्क ३१।

शंकरराम का देश, और वृत्त अज्ञात है।

किसी शंकर के मत नारायण भट्ट ने अपने प्रक्रियासर्वस्व में बहुधा उद्धृत किए हैं।[4] यदि यह शंकर रूपावतार का टीकाकार ही हो तो इस

---

१. रूपावतारे तु णिलोः प्रत्ययोरन्ते: प्रागेव कृते सत्येकच्त्वाद् यङुदाहृत-श्रोचूर्यत इति। देखो रूपावतार भाग २ पृ० २०६। २. पूर्व पृष्ठ ३६८।

३. पूर्व पृष्ठ ३६५, टि० ६। ४. प्रक्रियासर्वस्व तद्धित भाग, मद्र स

का काल वि० की १७ वीं शती से पूर्व है, इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

१. अज्ञातनामा

मद्रास राजकीय पुस्तकालय के सन् १९३७ के छपे हुए सूचीपत्र पृष्ठ १०३६८ पर रूपावतार के व्याख्या ग्रन्थ का उल्लेख है। इसका ग्रन्थाङ्क १५९१३ है। यह ग्रन्थ अपूर्ण है। यह बड़े आकार के ५२८ पृष्ठों पर लिखा हुआ है। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। अत एव उसके काल का निर्णय भी दुष्कर है।

२—प्रक्रियारत्नकार (सं० १३०० से पूर्व)

सायण ने अपनी धातुवृत्ति में प्रक्रियारत्न नामक ग्रन्थ को बहुधा उद्धृत किया है।[1] उन उद्धरणों के देखने से विदित होता है कि यह पाणिनीय सूत्रों पर प्रक्रियानुसारी व्याख्यान ग्रन्थ है। 'दैवम्' की कृष्ण-लीलाशुक मुनि विरचित पुरुषकार व्याख्या में भी प्रक्रियारत्न उद्धृत है।[2]

ग्रन्थकार का नाम और देश काल आदि अज्ञात है। पुरुषकार में उद्धृत होने से इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थकार सं० १३०० से पूर्वभावी है। कृष्णलीलाशुक मुनि का काल विक्रम संवत् १२५०—१३५० के मध्य है।[3]

कृष्णलीलाशुक मुनि ने प्रक्रियारत्न को जिस ढंग से स्मरण किया है उस से हमें सन्देह होता है कि इस का लेखक कृष्णलीलाशुक मुनि है।

वोपदेव के गुरु धनेश्वर कृत **प्रक्रियारत्नमणि** ग्रन्थ का उल्लेख पूर्व पृष्ठ ३७६ पर कर चुके हैं।

३—विमल सरस्वती (सं० १४० से पूर्व)

विमल सरस्वती ने पाणिनीय सूत्रों की प्रयोगानुसारी **'रूपमाला'** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस ग्रन्थ में समस्त पाणिनीय सूत्र व्याख्यात नहीं हैं। रूपमाला का काल सं० १४०० से प्राचीन माना जाता है।

---

१. धातुवृत्ति काशी संस्क० पृष्ठ ३१, ४१६ इत्यादि।

४—रामचन्द्र (सं० १४८० के लगभग)

रामचन्द्राचार्य ने पाणिनीय व्याकरण पर '**प्रक्रियाकौमुदी**' संज्ञक ग्रन्थ रचा है। यह धर्मकीर्तिविरचित रूपावतार से विस्तृत है, परन्तु इसमें भी अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का निर्देश नहीं है। पाणिनीय व्याकरणशास्त्र में प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों के लिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है। अतः ग्रन्थकर्ता ने सरल ढंग और सरल शब्दों में मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है। इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन प्रक्रियाज्ञान कराना है।

परिचय—रामचन्द्राचार्य का वंश शेषवंश कहाता है। व्याकरणज्ञान के लिये शेषवंश अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस वंश के अनेक वैयाकरणों ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रौढ़ ग्रन्थ लिखे हैं। रामचन्द्र के पिता का नाम 'कृष्णाचार्य' था। रामचन्द्र के पुत्र 'नृसिंह' ने धर्मतत्त्वालोक के आरम्भ में रामचन्द्र को आठ व्याकरणों का ज्ञाता और साहित्यरत्नाकर लिखा है।[१] रामचन्द्र ने अपने पिता कृष्णाचार्य और ताऊ गोपालाचार्य से विद्याध्ययन किया था। रामचन्द्र के ज्येष्ठ भ्राता नृसिंह का पुत्र शेष कृष्ण रामचन्द्राचार्य का शिष्य था। रामचन्द्र का वंशवृक्ष हम पूर्व दे चुके हैं।[२]

काल—रामचन्द्र ने अपने ग्रन्थ के निर्माण काल का उल्लेख नहीं किया। रामचन्द्र के पौत्र विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की प्रसाद नाम्नी व्याख्या लिखी है, परन्तु उसने भी ग्रन्थरचना-काल का संकेत नहीं किया। रामचन्द्र के प्रपौत्र अर्थात् विट्ठल के पुत्र के हाथ का लिखा हुआ प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का एक हस्तलेख पूना के डक्कन कालेज के पुस्तकालय में विद्यमान है। इसके अन्त में ग्रन्थ लेखन काल सं० १५८३ लिखा है।[३] प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का सं० १५६० का हस्तलेख बड़ोदा के राजकीय पुस्तकालय में वर्तमान है।[४] इससे भी पुराना सं० १५३६ का लिखा हुआ प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसके अन्त का लेख इस प्रकार है—

---

१. देखो इण्डिया आफिस लन्दन के संग्रह का सूचीपत्र ग्रन्थाङ्क १५६६।

२. पूर्व पृष्ठ ३७८। ३. प्र० कौ० के हस्तलेखों का विवरण, पृष्ठ २१।

सं० १५२६ वर्षे माघवदि एकादशी रवौ श्रीमदानन्दपुर-स्थानोत्तमे आभ्यन्तरनागरज्ञातीयपण्डितअनन्तसुतपण्डितनारायणादीनां पठनार्थं । कुठारी व्यवगाहितसुतेन विश्वरूपेण लिखितम् ।[1]

इससे सुव्यक्त है कि प्रक्रियाकौमुदी की टीका विट्ठल ने सं० १५३६ से पूर्व अवश्य बनाली थी। श्रीकृष्णविरचित प्रक्रियाकौमुदी-वृत्ति का एक हस्तलेख भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च सोसाइटी के पुस्तकालय में है। इसका लिपिकाल सं० १५१४ है।[2] इससे निश्चित है कि प्रक्रियाकौमुदी की रचना सं० १५१४ से पूर्व अवश्य हो चुकी थी। इस वृत्ति का लेखक श्रीकृष्ण रामचन्द्र का शिष्य और उसके ज्येष्ठ भ्राता नृसिंह का पुत्र प्रसिद्ध वैयाकरण शेषकृष्ण ही है। तदनुसार विट्ठल का काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना चाहिए।

प्रक्रियाकौमुदी के सम्पादक ने लिखा है कि हेमाद्रि ने अपनी रघुवंश की टीका में प्रक्रियाकौमुदी और उसकी प्रसाद टीका के दो उद्धरण दिये हैं। तदनुसार रामचन्द्र और विट्ठल का काल ईसा की १४ वीं शताब्दी है।[3]

प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता

१. शेषकृष्ण (सं० १५१०) के लगभग

गंगा यमुना के अन्तरालवर्ती पत्रपुञ्ज के राजा कल्याण की आज्ञा से नृसिंह के पुत्र शेषकृष्ण ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रकाश' नाम्नी व्याख्या लिखी।[4] यह रामचन्द्र का शिष्य और रामचन्द्र के पुत्र नृसिंह का गुरु था। प्रक्रियाकौमुदी-प्रकाश का दूसरा नाम प्रक्रियाकौमुदी-वृत्ति भी है। इसका सं० १५१४ का एक हस्तलेख पूना के पुस्तकालय में सुरक्षित है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। अतः इसकी रचना सं० १५१४ से पूर्व हुई होगी। इसकी टीका के हस्तलेख तंजौर और लन्दनस्थ इण्डिया आफिस के पुस्तकालयों में भी विद्यमान हैं।

---

१. इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय का सूचीपत्र भा० २, पृष्ठ १६७, ग्रन्थाङ्क ६१६। २. सन् १९२५ में प्रकाशित सूचीपत्र पृष्ठ २ ग्रन्थाङ्क ३२८।

३. प्र० कौ० भाग १, भूमिका पृष्ठ ४४, ४५। ४. कल्याणस्य तनद्भवस्य नृपतिः कल्याणमूर्त्तेस्ततः कल्याणीमतिमाकलय्य विषमग्रन्थार्थसंसिद्धये ।

रामचन्द्र के पौत्र और नृसिंह के पुत्र विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रसाद' नाम्नी टीका लिखी है। विट्ठल ने शेषकृष्ण के पुत्र रामेश्वर अपर नाम वीरेश्वर से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था, यह हम पूर्व पृ० ३४७ (टि० ४) पर लिख चुके हैं। विट्ठल की टीका का सब से पुराना हस्तलेख सं० १५३६ का है, यह भी हम पूर्व दर्शा चुके हैं। अतः इस टीका की रचना सं० १५३६ से कुछ पूर्व हुई होगी।

विट्ठल की टीका अत्यन्त सरल है। लेखनशैली में प्रौढ़ता नहीं है। सम्भव है विट्ठल का यह प्रथम ग्रन्थ हो। विट्ठल के लेख से विदित होता है कि उसके काल तक प्रक्रियाकौमुदी में पर्याप्त प्रक्षेप हो चुका था।[1] अत एव उसने अपनी टीका का नाम प्रसाद रक्खा।

प्रक्रियाप्रसाद में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार—विट्ठल ने प्रक्रियाप्रसाद में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है। जिनमें से कुछ एक ये हैं—

दर्पण कवि कृत पाणिनीयमत-दर्पण (श्लोकबद्ध)—भाग १, पृ० ८, ...८, ३४७ इत्यादि।

कृष्णाचार्यकृत उपसर्गार्थसंग्रह श्लोक—भाग १, पृ० ३८।

वोपदेवकृत विचारचिन्तामणि (श्लोकबद्ध)—भाग १, पृ० १६७ ..., २२८, २३९ इत्यादि।

काव्यकामधेनु—भाग २, पृ० २९७।

मुग्धबोध—भाग १, पृ० २७९, ३७५, ४३१ इत्यादि।

रामव्याकरण भाग २, पृ० २४४, ३२८।

पदसिन्धुसेतु (सरस्वतीकण्ठाभरणप्रक्रिया) भाग १, पृ० ३१३।

मुग्धबोधप्रदीप—भाग २, पृ० १०२।

बोधोदयवृत्ति—भाग २, पृ० ५३।

रामकौतुक— (व्याकरणग्रन्थ) भाग १, पृ० ३६०।

कारकपरीक्षा—भाग १, पृ० ३८५।

प्रपञ्चप्रदीप— (व्याकरणग्रन्थ) भाग १, पृ० ५९५

---

१. तथा च पण्डितंमन्यैः प्रक्षेपैर्मलिनी कृता। भाग १, पृष्ठ २। एतच्च कुर्वे ...यात् प्राक्स्थितं लेखकदोषादत्र पठितं ज्ञेयम्। भाग २ पृ० २७९।

कृष्णाचार्य—भाग १, पृ० ३८।

हेमसूरी—भाग २, पृ० १४६।

कविदर्पण—भाग १, पृ० ४३९, ६०७, ७६७ इत्यादि।

शाकटायन—भाग १, पृ० ३०३, ३०६।

नरेन्द्राचार्य—भाग १, पृ० ८०७।

वोपदेव—बहुत्र।

३—चक्रपाणिदत्त (सं० १५००—१५५०)

चक्रपाणिदत्त ने प्रक्रियाकौमुदी की '**प्रक्रियाप्रदीप**' नाम्नी व्याख्या लिखी थी। चक्रपाणिदत्त ने शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर से विद्याध्ययन किया था।[1] चक्रपाणिदत्त ने '**प्रौढमनोरमाखण्डन**' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसका उपलब्ध अंश काशी से प्रकाशित हुआ है। उसके पृष्ठ ४७ में लिखा—

तस्मादुत्तरत्रानुवृत्त्यर्थं तदित्यस्मत्कृतप्रदीपोक्त एव निष्कर्षो बोध्यः।

पुनः पृष्ठ १२० पर लिखा है—**अन्यत्तु प्रक्रियाप्रदीपादवधेयम्।**

प्रक्रियाप्रदीप सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। चक्रपाणिदत्त वीरेश्वर का शिष्य है, अतः उस का काल सं० १५००—१५५० के मध्य होगा।

४—वारणवनेश

वारणवनेश ने प्रक्रियाकौमुदी की '**अमृतसृति**' नाम्नी टीका लिखी है। इसका एक हस्तलेख तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग १०, ग्रन्थाङ्क ५७५५।

वारणवनेश का काल अज्ञात है।

५—विश्वकर्मा शास्त्री

विश्वकर्मा नाम के किसी वैयाकरण ने प्रक्रियाकौमुदी की '**प्रक्रियाव्याकृति**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। विश्वकर्मा के पिता का नाम दामोदर

---

१. विरोधिनां तिरोभावभव्यो यद्भारतीभरः। वीरेश्वरं गुरुं शेषवंशोत्तंसं भजामि तम्॥ प्रौढमनोरमाखण्डन के प्रारम्भ में। मुद्रितग्रन्थ में 'वरेश्वरं गुरुं' पाठ है।

विज्ञ और पितामह का नाम भीमसेन था। इसका काल भी अज्ञात है। तञ्जौर के सूचीपत्र में इस टीका का नाम '**प्रक्रियाप्रदीप**' लिखा है। देखो सूचीपत्र भाग १०. पृष्ठ ४३०४।

६—नृसिंह

किसी नृसिंह नामा विद्वान् ने प्रक्रियाकौमुदी की '**व्याख्यान**' नाम्नी टीका लिखी है। इसका एक हस्तलेख उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय में है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ८०।

दूसरा हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग २, खण्ड १ सी. पृष्ठ २२९३।

नृसिंह नाम के अनेक विद्वान् प्रसिद्ध हैं। यह कौनसा नृसिंह है, यह अज्ञात है।

७—निर्मलदर्पणकार

किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने प्रक्रियाकौमुदी की '**निर्मलदर्पण**' नाम की टीका लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में संगृहीत है। देखो सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १ C. पृष्ठ ५५८६, ग्रन्थाङ्क ३७७५।

८—जयन्त

जयन्त ने प्रक्रियाकौमुदी की '**तत्त्वचन्द्र**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। जयन्त के पिता का नाम मधुसूदन था। यह तापती तटवर्ती 'प्रकाशपुरी' का निवासी था।[1] इस के ग्रन्थ का एक हस्तलेख लन्दन नगरस्थ इण्डिया आफिस पुस्तकालय के संग्रह में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ १७०, ग्रन्थाङ्क ६२५।

जयन्त ने यह व्याख्या शेषकृष्ण विरचित प्रक्रियाकौमुदी की टीका के आधार पर लिखी है।[2] ग्रन्थकार ने प्रक्रियाकौमुदी का किसी और टीका का उल्लेख नहीं किया। अतः सम्भव है इसका काल विक्रम की

---

१. भूपीठे तापतीतटे विजयते तत्र प्रकाशा पुरी, तत्र श्रीमधुसूदनो विरुरुचे विद्वद्विभूषामणिः। तत्पुत्रेण जयन्तकेन विदुषामालोच्य सर्वं मतम्, तत्त्वे संकलिते समाप्तिमागमत् सन्धिस्थिता व्याकृतिः॥

२. श्रीकृष्णपण्डितवचोम्बुधिमन्थनोत्थम् सारं निपीय [illegible]

१६ वीं शताब्दी का मध्यभाग हो। यह जयन्त न्यायमञ्जरीकार जयन्त से भिन्न अर्वाचीन है।

९—विद्यानाथ दीक्षित

विद्यानाथ ने प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रक्रियाञ्जन' नाम्नी टीका लिखी है। आफ्रेक्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में इस टीका का उल्लेख किया है।

१०—वरदराज

वरदराज ने प्रक्रियाकौमुदी की 'विवरण' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का एक हस्तलेख उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ८०, ग्रन्थाङ्क ७११। यह वरदराज लघुकौमुदी का रचयिता है वा अन्य, यह अज्ञात है।

५—भट्टोजि दीक्षित (सं० १५१०-१५७५ के मध्य)

भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनीय व्याकरण पर सिद्धान्तकौमुदी नाम्नी प्रयोगक्रमानुसारी व्याख्या लिखी है। इस से पूर्व के रूपावतार, रूपमाला और प्रक्रियाकौमुदी में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का सन्निवेश नहीं था। इस न्यूनता को पूर्ण करने के लिये भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी ग्रन्थ रचा। सम्प्रति समस्त भारतवर्ष में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अध्यापन सिद्धान्तकौमुदी के आधार पर प्रचलित है।

भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी की रचना से पूर्व शब्दकौस्तुभ लिखा था। यह पाणिनीय व्याकरण की सूत्रपाठानुसारी विस्तृत व्याख्या है। इसका वर्णन हम अष्टाध्यायी के वृत्तिकार प्रकरण में कर चुके हैं।[1]

वंश और काल—इस विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं।[2]

सिद्धान्तकौमुदी के व्याख्याता

१. भट्टोजि दीक्षित (सं० १५१०-१५७५ के मध्य)

भट्टोजि दीक्षित ने स्वयं सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या लिखी है। यह प्रौढमनोरमा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रक्रियाकौमुदी और उस की

करणों के मतों का भी प्रायः संग्रह करते रहे हैं परन्तु भट्टोजि दीक्षित ने इस प्रक्रिया का सर्वथा उच्छेद कर दिया। अतः आधुनिक काल के पाणिनीय वैयाकरण अर्वाचीन व्याकरणों के तुलनात्मक ज्ञान से सर्वथा वञ्चित हो गये।

भट्टोजि दीक्षित कृत प्रौढमनोरमा पर उनके पौत्र हरि दीक्षित ने बृहच्छब्दरत्न और लघुशब्दरत्न दो व्याख्याएं लिखी हैं। कई विद्वानों का मत है कि लघुशब्दरत्न नागेश भट्ट ने लिखकर अपने गुरु के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। बृहच्छब्दरत्न अभी अप्रकाशित है। लघुशब्दरत्न पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएं लिखी हैं।

२. ज्ञानेन्द्र सरस्वती (सं० १५५०-१६००)

ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने सिद्धान्तकौमुदी की '**तत्त्वबोधिनी**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। ग्रन्थकार ने प्रायः प्रौढमनोरमा का ही संक्षेप किया है। ज्ञानेन्द्र सरस्वती के गुरु का नाम वामनेन्द्र सरस्वती था। नीलकण्ठ वाजपेयी ज्ञानेन्द्र सरस्वती का शिष्य था। नीलकण्ठ ने महाभाष्य की 'भाष्यतत्त्वविवेक' नाम्नी टीका लिखी है। इस का उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं।[1]

काल—हम पूर्व पृष्ठ ३८२ पर लिख चुके हैं कि भट्टोजि दीक्षित और ज्ञानेन्द्र सरस्वती दोनों समकालिक हैं। अतः तत्त्वबोधिनीकार का काल सं० १५५०—१६०० तक रहा होगा।

तत्त्वबोधिनी-व्याख्या—गूढार्थप्रकाशिका—ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य नीलकण्ठ वाजपेयी ने तत्त्वबोधिनी की गूढार्थदीपिका नाम्नी एक व्याख्या लिखी थी। वह स्वीय परिभाषावृत्ति में लिखता है—

अस्मद्गुरुचरणकृततत्त्वबोधिनीव्याख्याने गूढार्थदीपिकाख्याने प्रपञ्चितम्।[2] नीलकण्ठ का इतिवृत्त हम पूर्व लिख चुके हैं।[3]

३. नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००-१६५० के मध्य)

नीलकण्ठ वाजपेयी ने सिद्धान्तकौमुदी की भी '**सुखबोधिनी**' नाम्नी व्याख्या लिखी है। वह परिभाषावृत्ति मे लिखता है—**विस्तरस्तु वैयाकरणसिद्धान्तरहस्याख्यास्मत्कृतसिद्धान्तकौमुदीव्याख्याने अनुसन्धेयः।**[4]

---

१. पूर्व पृष्ठ ३८१।   २. परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १०।

३. पूर्व पृष्ठ ३८१-३८२।   ४. परिभाषावृत्ति, पृष्ठ [illegible]।

सिद्धान्त रहस्य' भी है।

४. रामानन्द (सं० १६८०—१७२०)

रामानन्द ने सिद्धान्तकौमुदी पर 'तत्त्वदीपिका' नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। वह इस समय हलन्त स्त्रीलिंग तक मिलती है।

परिचय तथा काल—रामानन्द सरयूपारीण ब्राह्मण था। इन के पूर्वज काशी में आकर बस गये थे। रामानन्द के पिता का नाम मधुकर त्रिपाठी था। ये अपने समय के उत्कृष्ट शैव विद्वान् थे।

रामानन्द का दाराशिकोह के साथ विशेष सम्बन्ध था, दाराशिकोह के कहने से रामानन्द ने विराड्विवरण नामक एक पुस्तक रची थी। उस की रचना संवत् १७१३ वैशाख शुक्ल पक्ष १३ शनिवार को समाप्त हुई थी। दाराशिकोह ने रामानन्द की विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्हें "विविध-विद्याचमत्कारपारङ्गत" उपाधि से भूषित किया था।

अन्य ग्रन्थ—रामानन्द ने संस्कृत तथा हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे थे। जिन में से लगभग ५० ग्रन्थ समग्र तथा खण्डित उपलब्ध हैं। सिद्धान्त-कौमुदी टीका के अतिरिक्त रामानन्दविरचित लिङ्गानुशासन की एक अपूर्ण टीका भी उपलब्ध होती है। टीका पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर है।[1]

५. नागेश भट्ट (सं० १७२०—१७८० के मध्य)

नागेश भट्ट ने सिद्धान्तकौमुदी की दो व्याख्याएं लिखीं हैं। इन के नाम हैं **बृहच्छब्देन्दुशेखर** और **लघुशब्देन्दुशेखर**। लघुशब्देन्दुशेखर पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। बृहच्छब्देन्दुशेखर अभी तक अमुद्रित है।[2] इस के हस्तलेख भारत के विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। शब्देन्दुशेखर की रचना महाभाष्यप्रदीपोद्योत से पूर्व हुई थी।[3]

नागेश भट्ट के काल आदि का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं।[4]

---

१. रामानन्द के लिये देखो आल इण्डिया ओरिएण्टल कान्फ्रेंस १२ वां अधिवेशन सन् १९४४ भाग ४, पृष्ठ ४७—५८।

२. इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण (सं० २००७) तक। अब यह ग्रन्थ काशी से ३ भागों में छप गया है। ३. शब्देन्दुशेखरे स्पष्टं निरूपितमस्माभिः। महाभाष्य-

६. रामकृष्ण (सं० १७४४ से पूर्व)

रामकृष्ण ने सिद्धान्तकौमुदी की "रत्नाकर" नाम्नी टीका लिखी है। इस के पिता का नाम तिरुमल और पितामह का नाम वेङ्कटाद्रि था। इस के हस्तलेख तञ्जौर के राजकीय पुस्तकालय और जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। जम्मू के एक हस्तलेख का लेखन काल सं० १७४४ है। देखो सूचीपत्र पृष्ठ ५०।

७. रङ्गनाथ यज्वा (सं० १७४४)

हम ने पूर्व पृष्ठ ४७६ टि० १ पर वामनाचार्यसूनु वरदराजकृत क्रतुवैगुण्यप्रायश्चित्त के श्लोक उद्धृत किये हैं। उन से जाना जाता है कि रङ्गनाथ यज्वा ने सिद्धान्तकौमुदी की "पूर्णिमा" नाम्नी टीका लिखी थी।

रङ्गनाथ यज्वा के वंश और काल का परिचय हम पूर्व पृष्ठ ४७५-४७६ पर दे चुके हैं।

८. वासुदेव वाजपेयी (सं० १७४०-१८००)

वासुदेव ने सिद्धान्तकौमुदी की 'बालमनोरमा' नाम्नी टीका लिखी है। यह सरल होने से छात्रों के लिये वस्तुतः बहुत उपयोगी है। बालमनोरमा के अन्तिम वचन से ज्ञात होता है कि इस के पिता का नाम महादेव वाजपेयी, माता का नाम अन्नपूर्णा और गुरु का नाम विश्वेश्वर वाजपेयी था। यह चोल (तञ्जौर) देश के भोसलवंशीय शाहजी, शरभजी तुक्कोजी नामक तीन राजाओं के मन्त्री विद्वान् सार्वभौम आनन्दराय का अध्वर्यु था।

शाहजी शरभजी और तुक्कोजी राजाओं का राज्यकाल सन् १६८७-१७३८ अर्थात् वि० सं० १७४४—१७९२ तक माना जाता है। बालमनोरमा के अन्तिम लेख में तुक्कोजी राजा के नाम का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि बालमनोरमा की रचना तुक्कोजी के काल में हुई थी। अतः बालमनोमाकार का काल सं० १७४०—१८०० के मध्य मानना चाहिये।

९. कृष्णमित्र

कृष्णमित्र ने सिद्धान्तकौमुदी पर 'रत्नार्णव' नाम्नी व्याख्या लिखी

वर्णन हम पूर्व पृष्ठ ४४८ पर कर चुके। इसने सांख्य पर तत्त्वमीमांसा नामक एक निबन्ध भी लिखा है। देखो हमारे मित्र माननीय श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री विरचित "सांख्य दर्शन का इतिहास" पृष्ठ ३१८।

१० रामचन्द्र

शेषवंशीय रामचन्द्र ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वरप्रक्रिया अंश की व्याख्या लिखी है। रामचन्द्र के पिता का नाम 'नागोजी' था। जम्मू के रघुनाथ मन्दिरस्थ पुस्तकालय के हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

इति शेषकुलोत्पन्नेन नागोजीपण्डितानां पुत्रेण रामचन्द्रपण्डितेन विरचिता स्वरप्रक्रियाव्याख्या समाप्ता। सं० १८[illegible]७ वैशाखमासे शुक्लपक्षे ४ वार शनिश्चर।

एक शेष रामचन्द्र शेष नारायण का शिष्य है, यह हम पूर्व पृष्ठ ३७७, ३७९ पर लिख चुके हैं।

११. तिरुमल द्वादशाहयाजी

तिरुमल द्वादशाहयाजी ने कौमुदी की '**सुमनोरमा**' टीका लिखी है। तिरुमल के पिता का नाम वेङ्कट है। हम संख्या ६ पर रामकृष्णविरचित रत्नाकर व्याख्या का उल्लेख कर चुके हैं। रामकृष्ण के पिता का नाम तिरुमल और पितामह का नाम वेङ्कटाद्रि है। यदि रामकृष्ण का पिता यही तिरुमल यज्वा हो तो इस का काल सं० १७०० के लगभग मानना होगा।

सुमनोरमा का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में है। देखो सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ४२११, ग्रन्थाङ्क ५६४९।

१२. तोप्पल दीक्षितकृत — प्रकाश
१३. अज्ञातकर्तृक — लघुमनोरमा
१४. ,, ,, — शब्दसागर
१५. ,, ,, — शब्दरसार्णव
१६. ,, ,, — सुधाञ्जन

सिद्धान्तकौमुदी की इन टीकाओं के हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। देखो सूचीपत्र भाग १०, ग्रन्थाङ्क ५६६०—५६६३, ५६६६।

१८. शिवरामचन्द्र सरस्वती — रत्नाकर
१९. इन्द्रदत्तोपाध्याय — फक्किकाप्रकाश
२०. सारस्वत व्यूढमिश्र — बालबोध
२१. वल्लभ — मानसरञ्जनी

इन टीकाओं का उल्लेख आफ्रेख्ट ने अपने बृहत्सूचीपत्र में किया है। संख्या १८ का शिवरामचन्द्र सरस्वती शिवरामेन्द्र सरस्वती ही है। इसने महाभाष्य की भी रत्नाकर नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ ३८३ पर कर चुके हैं।

सिद्धान्तकौमुदी के सम्प्रदाय में प्रौढमनोरमा, लघुशब्देन्दुशेखर और बृहच्छब्देन्दुशेखर आदि पर अनेक टीका टिप्पणियाँ लिखी गई हैं। विस्तरभिया हमने उन सब का निर्देश यहाँ नहीं किया।

प्रौढमनोरमा के खण्डनकर्त्ता

अनेक वैयाकरणों ने भट्टोजि दीक्षित कृत प्रौढमनोरमा के खण्डन में ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से कुछ एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिताओं का उल्लेख हम नीचे करते हैं—

१. शेषवीरेश्वर-पुत्र (सं० १५७५ के लगभग)

वीरेश्वर अपर नाम रामेश्वर के पुत्र ने प्रौढमनोरमा के खण्डन पर एक ग्रन्थ लिखा था। इसका उल्लेख पण्डितराज जगन्नाथ ने 'प्रौढमनोरमा-खण्डन' में किया है। वह लिखता है—

......शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णाख्यपण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनास्तेषु च पारमेश्वरं पदं प्रयातेषु कलिकालवशंवदी भवन्तस्तत्र भवद्भिरुल्लासितं प्रक्रिया-प्रकाशमाशयानवबोधनिबन्धनैर्दूषणैः स्वयंनिर्मितायां मनोरमाया-माकुल्यमकार्षुः। सा च प्रक्रियाप्रकाशकृतां पौत्रैरखिलशास्त्रमहा-र्णवमन्थाचलायमानमानसानामस्मद्गुरुवीरेश्वरपण्डितानां तनयैर्दूषिता अपि............।[1]

शेष वीरेश्वर के पुत्र और उसके ग्रन्थ का नाम अज्ञात है। उसने प्रौढ-मनोरमा के खण्डन में जो ग्रन्थ लिखा था, वह सम्प्रति अप्राप्य है।

२. चक्रपाणिदत्त (सं० १५५०)

चक्रपाणिदत्त ने भट्टोजि विरचित प्रौढमनोरमा के खण्डन में एक ग्रन्थ लिखा है। चक्रपाणिदत्तकृत प्रौढमनोरमाखण्डन इस समय सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। इस का कुछ अंश लाजरस कम्पनी बनारस से प्रकाशित हुआ है। चक्रपाणिदत्त शेष वीरेश्वर का शिष्य है। इस के विषय में हम पूर्व पृष्ठ ४८७ पर लिख चुके हैं। चक्रपाणिदत्तकृत प्रक्रियाकौमुदी टीका का वर्णन पूर्व पृष्ठ ४८७ पर हो चुका है।

चक्रपाणिदत्त के खण्डन का उद्धार भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरि दीक्षित ने प्रौढमनोरमा की शब्दरत्न व्याख्या में किया है।

३. पण्डितराज जगन्नाथ (सं० १६१७–१७३३ (?))

पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षितकृत प्रौढमनोरमा के खण्डन में '**कुचमर्दन**' नाम का ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ सम्प्रति सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं होता। इस का कुछ अंश चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी से सं० १९९१ में प्रकाशित प्रौढमनोरमा भाग ३ के अन्त में छपा है। पण्डितराज ने भट्टोजि दीक्षित कृत शब्दकौस्तुभ के खण्डन में भी एक ग्रन्थ लिखा था, उसका उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ ४४९ पर कर चुके हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ के विषय में हम पूर्व पृष्ठ ४४९, ४५० पर लिख चुके हैं।

---

६. नारायण भट्ट (सं० १६१७–१७३३)

केरल देश निवासी नारायण भट्ट ने '**प्रक्रियासर्वस्व**' नाम का प्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में २० प्रकरण हैं।[1] प्रक्रियासर्वस्व के अवलोकन से विदित होता है कि नारायण ने किसी देवनारायण नाम के भूपति की आज्ञा से यह ग्रन्थ लिखा था।[2] प्रक्रियासर्वस्व के टीकाकार केरल वर्मदेव ने लिखा है कि नारायण भट्ट ने यह ग्रन्थ ६० दिनों में रचा था।[3]

---

१. इह संज्ञा परिभाषा सन्धिः कृत्तद्धिताः समासाश्च। स्त्रीप्रत्यायाः सुबर्थाः सुपां विधिश्चात्मनेपदविभागः तिङापि च लार्थविशेषाः सन्नन्तयङ्यङ्लुकश्च सुब्धातुः। [illegible] ॥ १ ॥ भा० १, पृष्ठ ३ ।

इस ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र यथास्थान सन्निविष्ट हैं। प्रकरणों का विभाग और क्रम सिद्धान्तकौमुदी से भिन्न है। ग्रन्थकार ने भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण और उसकी वृत्ति से महती सहायता ली है।

ग्रन्थकार का परिचय—नारायण भट्ट विरचित 'अपाणिनीय प्रामाणिकता' के सम्पादक ई० वी० रामशर्मा ने लिखा है कि नारायण भट्ट केरल देशान्तर्गत 'नावा' क्षेत्र के समीप 'निला' नदी तीरवर्ती 'मेल्पुत्तूर' ग्राम में उत्पन्न हुआ था। इसके पिता का नाम 'मातृदत्त' था। नारायण ने मीमांसक मूर्धन्य माधवाचार्य से वेद, पिता से पूर्वमीमांसा, दामोदर से तर्कशास्त्र और अच्युत से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया।

नारायण भट्ट का काल—पं० ई० वी० रामशर्मा ने अपाणिनीय-प्रामाणिकता का रचनाकाल सन् १६१८–९१ ई० माना है। प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक साम्बशास्त्री ने नारायण का काल सन् १५६०–१६७६ अर्थात् वि० सं० १६१७–१७३३ तक माना है।[1] प्रक्रियासर्वस्व के टीकाकार केरल वर्मदेव ने लिखा है—भट्टोजि दीक्षित ने नारायण से मिलने के लिये केरल की ओर प्रस्थान किया, परन्तु मार्ग में नारायण की मृत्यु का समाचार सुनकर वापस लौट गया।[2] यदि यह लेख प्रामाणिक माना जाय तो नारायण भट्ट का काल विक्रम की १६ वीं शताब्दी मानना होगा। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि नारायण ने अपने ग्रन्थ में भट्टोजि के ग्रन्थ से कहीं सहायता नहीं ली। प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक ने लिखा है कि कई लोग पूर्वोक्त घटना का विपरीत वर्णन करते हैं अर्थात् नारायण भट्ट भट्टोजि से मिलने के लिये केरल से चला, परन्तु मार्ग में भट्टोजि की मृत्यु सुनकर वापस लौट गया।[3] नारायण का गुरु मीमांसक-मूर्धन्य माधवाचार्य यदि सायण का ज्येष्ठ भ्राता हो तो नारायण भट्ट का काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी मानना होगा। अतः नारायण भट्ट का काल विमर्शार्ह है।

अन्य ग्रन्थ

नारायण भट्ट ने क्रियाक्रम, चमत्कारचिन्तामणि, धातुकाव्य और अपाणिनीयप्रामाणिकता आदि ३८ ग्रन्थ संस्कृत में लिखे हैं। धातुकाव्य का वर्णन 'काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि' के प्रकरण में किया जायगा।

---

१ अंग्रेजी भूमिका भाग १, पृष्ठ ३।

पर हो चुका है।

प्रक्रियासर्वस्व के टीकाकार

प्रक्रियासर्वस्व के सम्पादक साम्ब शास्त्री ने तीन टीकाकारों का उल्लेख किया है। एक टीका केरल वासी केरल वर्मदेव ने लिखी है। केरल वर्मदेव का काल सं० १९०१–१९७१ तक माना जाता है।[1] दो टीकाकारों का नाम अज्ञात है। ट्रिवेण्ड्रम् से प्रकाशित प्रक्रियासर्वस्व के प्रथम भाग में 'प्रकाशिका' व्याख्या छपी है।[2]

अन्य प्रक्रिया-ग्रन्थ

इस के अतिरिक्त लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी आदि अनेक छोटे मोटे प्रक्रियाग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण पर लिखे गये। ये सब अत्यन्त साधारण और अर्वाचीन हैं। अतः इन का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं किया गया।

इस अध्याय में ६ प्रसिद्ध प्रक्रियाग्रन्थों के रचयिता और उन के टीकाकारों का वर्णन किया है। इस प्रकार अध्याय ५—१६ तक ११ अध्यायों में पाणिनि और उसकी अष्टाध्यायी के लगभग १७५ व्याख्याकार वैयाकरणों का संक्षेप से वर्णन किया है।

अब अगले अध्याय में पाणिनि से अर्वाचीन प्रधान वैयाकरणों का वर्णन किया जायगा।

सत्रहवां अध्याय

आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण

आचार्य पाणिनि के अनन्तर अनेक वैयाकरणों ने व्याकरण-शास्त्रों की रचनाएं कीं। इन सब व्याकरणों का मुख्य उपजीव्य प्रायः पाणिनीय व्याकरण है। केवल कातन्त्र एक ऐसा व्याकरण है जिसका आधार कोई अन्य प्राचीन व्याकरण है।[1] पाणिनि से अर्वाचीन समस्त उपलब्ध व्याकरण ग्रन्थों में केवल लौकिक संस्कृत के शब्दों का अन्वाख्यान है। अर्वाचीन वैयाकरणों में अधोलिखित ग्रन्थकार मुख्य हैं—

१—कातन्त्रकार	९—बुद्धिसागर
२—चन्द्रगोमी	१०—भद्रेश्वर सूरि
३—क्षपणक	११—हेमचन्द्र
४—देवनन्दी	१२—क्रमदीश्वर
५—वामन	१३—सारस्वत व्याकरणकार
६—पाल्यकीर्ति	१४—रामाश्रम सिद्धान्तचन्द्रिकाकार
७—शिवस्वामी	१५—वोपदेव
८—भोजदेव	१६—पद्मनाभ

इनके अतिरिक्त द्रुतबोध, शीघ्रबोध, शब्दबोध, हरिनामामृत आदि व्याकरणों के रचियता अनेक वैयाकरण हुए हैं, परन्तु ये सब अत्यन्त अर्वाचीन हैं। इनके ग्रन्थ भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और इन ग्रन्थों का प्रचार भी केवल बंगाल प्रान्त तक ही सीमित है। इसलिये इन वैयाकरणों का वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया जायगा।

पं० गुरुपद हालदार ने अपने "व्याकरण दर्शनेर इतिहास" नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ४४८ पर पाणिनि-परवर्ती निम्न वैयाकरणों और उनकी कृतियों का उल्लेख किया है—

व्याघ्रपाद् द्वितीय कृत	दशपादी वैयाघ्रपद्य व्याकरण
यशोभद्र ,,	जैन व्याकरण
आर्यवज्रस्वामी ,,	,, ,,
भूतिबलि ,,	,, ,,
इन्द्रगोमी (बौद्ध) कृत	ऐन्द्र व्याकरण
वाग्भट्ट ,,	,,
श्रीदत्त ,,	जैन ,,
चन्द्रकीर्त्ति ,,	समन्तभद्र ,,
प्रभाचन्द्र ,,	जैन ,,
अमरसिंह ,,	बौद्ध व्याकरण
?	अष्टधातु ,,
सिद्धनन्दि ,,	जैन ,,
भद्रेश्वर सूरि ,,	दीपक ,,
श्रुतपाल ,,	,,
शिवस्वामी वा शिवयोगी ,,	,,
बुद्धिसागर ,,	बुद्धिसागर ,,
केशव ,,	केशवी ,,
वाग्भट्ट (द्वितीय) ,,	,,
विनतीकीर्ति ,,	,,
विद्यानन्द ,,	विद्यानन्द ,,
	यम ,,
	वरुण ,,
	सौम्य ,,

इन ग्रन्थकारों का उल्लेख करके पं० गुरुपद हालदार ने अपने इतिहास के पृष्ठ ४४९ पर लिखा है कि डा० कीलहार्न और पं० सूर्यकान्त के मत में जैन नाम कल्पित हैं। हालदार महोदय इन्हें कल्पित नहीं मानते।

श्री नाथूराम प्रेमी और प्राग्देवनन्दी-व्याकरणकार

पं० नाथूराम प्रेमी ने अपने "जैन साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ में लिखा है—जहां तक हम जानते हैं इन छः (भूतबलि, श्रीदत्त, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, समन्तभद्र) आचार्यों में से किसी का भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु जान पड़ता है इनके ग्रन्थों में कुछ भिन्न तरह के शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हीं को व्याकरण सिद्ध करने के लिये ये सब सूत्र रचे गये हैं। शाकटायन ने भी इसी का अनुकरण करके तीन आचार्यों के मत दिये हैं।"[३]

हमारा मत

प्राचीन और अर्वाचीन समस्त वैयाकरण परम्परा के अनुशीलन से हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि आचार्य पूज्यपाद और पाल्यकीर्ति ने जिन जिन आचार्यों के मत स्वीय व्याकरणों में उद्धृत किये हैं, उन्होंने स्व-स्व व्याकरणशास्त्रों का प्रवचन अवश्य किया था।

श्रीप्रेमीजी ने इनके विषय में जिस प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है, ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य और तदनुयायी कतिपय भारतीय व्यक्ति पाणिनि द्वारा स्मृत शाकल्य आदि वैयाकरणों के लिए भी व्यवहार करते हैं। अर्थात् पाणिनि द्वारा स्मृत शाकल्य आदि आचार्यों ने भी कोई स्वीय व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखे थे, ऐसा कहते हैं। पाणिनि द्वारा स्मृत कई आचार्यों के प्राचीन व्याकरण सूत्रों के उपलब्ध हो जाने से जैसे पाश्चात्य मत निर्मूल हो गया और उन आचार्यों का व्याकरणप्रवक्तृत्व सिद्ध हो गया उसी प्रकार कालान्तर में प्राग्देवनन्दी जैन वैयाकरणों का व्याकरणप्रवक्तृत्व भी अवश्य सिद्ध होगा। देवनन्दी और पाल्यकीर्ति जैसे प्रामाणिक आचार्य

---

१. यथाक्रम—राद् भूतबलेः। ३।४।८३॥ गुणे श्रीदत्तस्याऽस्त्रियाम्। १। ४। ३४। कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य। रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य। ४। ३। १८०॥ वेत्तेः सिद्धसेनस्य। ५। १। ७॥ चतुष्टयं समन्तभद्रस्य। ५। ४। १४०॥

२. यथाक्रम—जराया ङस् इन्द्रस्याचि १। २। ३७॥ शेषात् सिद्धनन्दिनः २। १। २२६॥ ततः प्राग् आर्यवज्रस्य १। २। १३॥

३. जैन साहित्य और इतिहास, प्र० सं० पृष्ठ १२०; द्वि० सं० पृष्ठ ४७।

मिथ्या लिखेंगे, यह कल्पना करना भी पाप है। अतः इनका अन्वेषण आवश्यक है।

विक्रम की १७ वीं शताब्दी में विद्यमान कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय का सूचीपत्र गायकवाड़ संस्कृत सीरीज़ बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। उसमें निम्नलिखित व्याकरणों का उल्लेख मिलता है—

हेमचन्द्र	व्याकरण	यम	व्याकरण
सारस्वत	"	वायु	"
कालाप	"	वरुण	"
शाकटायन	"	सौम्य	"
शाकल्य	"	वैष्णव	"
ऐन्द्र	"	रुद्र	"
चान्द्र	"	कौमार	"
दौर्ग	"	बालभाषा	"
ब्रह्म	"	शब्दतर्क	"

इनमें शाकल्य और ऐन्द्र ये दो नाम प्राचीन हैं, परन्तु सूचीपत्र में निर्दिष्ट ग्रन्थ प्राचीन हैं वा आर्वाचीन, यह अज्ञात है।

अब हम पूर्व निर्दिष्ट १६ सोलह मुख्य वैयाकरणों का क्रमशः वर्णन करते हैं—

१—कातन्त्रकार (२००० वि० पू०)

व्याकरण के वाङ्मय में कातन्त्र व्याकरण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस के कलापक और कौमार नामान्तर हैं। अर्वाचीन वैयाकरण कलाप शब्द से भी इसका व्यवहार करते हैं।[1] इस व्याकरण में दो भाग हैं। एक आख्यातान्त, दूसरा कृदन्त। दोनों भाग भिन्न भिन्न व्यक्तियों की रचनाएं हैं।

कातन्त्र, कलापक और कौमार शब्दों का अर्थ

कातन्त्रवृत्ति-टीकाकार दुर्गसिंह आदि वैयाकरण कातन्त्र शब्द का अर्थ '**लघुतन्त्र**' करते हैं। उनके मतानुसार ईषत्=लघु अर्थवाची 'कु'

कलापक—'कलाप' शब्द से ह्रस्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर 'कलापक' शब्द बनता है। कातन्त्र व्याकरण काशकृत्स्न तन्त्र का संक्षेप है, यह हम आगे प्रमाणित करेंगे। काशकृत्स्न तन्त्र का नाम 'शब्द कलाप' है यह पूर्व लिखा जा चुका है।[1]

अर्वाचीन वैयाकरण कलाप शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय मानते हैं। वे इस का वास्तविक नाम 'कलाप' समझते हैं। कातन्त्रीय वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि महादेव के पुत्र कुमार=कार्तिकेय ने सर्व प्रथम इसे मयूर की पूंछ पर लिखा था, अत एव इस का नाम कलाप हुआ। कई वैयाकरण 'कलापक' शब्द को स्वतन्त्र मानते हैं। वे इस की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार दर्शाते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र अपने धातुपारायण में लिखता है—**बृहत्तन्त्रात् कला: [आ] पिबतीति।**[2]

पुन: उणादिवृत्ति में लिखता है—**आदिग्रहणात् बृहत्तन्त्रात् कला आपिबन्तीति कलापका: शास्त्राणि।**[3]

हेमचन्द्र से प्राचीन अज्ञातनामा दशपादी-उणादि-वृत्तिकार लिखता है—**सपूर्वस्यापि-पा पाने भ्वौ०, आङ्पूर्व: कलाशब्द पूर्व:। बृहत्तन्त्रात्, कला: [आ] पिबतीति कलापक: शास्त्रम्।**[4]

हेमचन्द्र और दशपादी उणादिवृत्तिकार की व्युत्पत्तियों से इतना स्पष्ट है कि किसी बड़े ग्रन्थ से संक्षेप होने के कारण कातन्त्र का नाम कलापक हुआ है। वह महातन्त्र काशकृत्स्न तन्त्र था।

कौमार—वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि कुमार कार्तिकेय की आज्ञा से शर्ववर्मा ने इस शास्त्र की रचना की है।[5] हमारा विचार है—कुमारों= बालकों को व्याकरण का साधारण ज्ञान कराने के लिये प्रारम्भ में यह ग्रन्थ पढ़ाया जाता था। अत एव इस का नाम '**कुमाराणामिदं कौमारम्**' हुआ। मारवाड़ देश में अभी[6] तक देशी पाठशालाओं में बालकों को ५ पांचों सिधी पाटियां पढ़ाई जाती हैं। ये पांच पाटियां कातन्त्र व्याकरण के प्रारम्भिक पांच पदों का ही विकृत रूप हैं। हम

---

१. पूर्व पृष्ठ ११५। २. पृष्ठ ६। ३. पृष्ठ १०। ४. ३।५, पृष्ठ १३०।

का उल्लेख करते हैं—

१ सिधी पाटी	कातन्त्र का प्रथम पाद
सिधो वरणा समामुनाया:	सिद्धो वर्णसमाम्नायः ।
चत्रुचत्रुदासा: दऊसवारा:	तत्र चतुर्दशादौ स्वराः ।
दसे समाना:	दश समानाः ।
तेषु दुध्या वरणा: नसीसवरणा:	तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ ।
पुरबो हंसवा:	पूर्वो ह्रस्वः ।
पारो दीरघा:	परो दीर्घः ।
सरोवरणा विणज्या नामी:	स्वरोऽवर्णवर्जो नामी ।
इकारदेणा संधिकराणी:	एकारादीनि सन्ध्यक्षराणि ।
कादी: नीबू विणज्योनामी:	कादीनि व्यञ्जनानि ।
ते विरघा: पंचा पंचा	ते वर्गाः पञ्च पञ्च ।
विरघानाऊ प्रथमदुतीया: संघो- साईचा: घोषा	वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसा- श्चाघोषाः
घोषवितरो रती:	घोषवन्तोऽन्ये
अनुर आसका: निनाणी नामा:	अनुनासिका ङञणनमाः ।
अनेसंता जेरलवा:	अन्तस्थाः यरलवाः ।
रुकमण संपोसाहा:	ऊष्माणः शषसहाः ।
आयती: विसुरजुनीया:	अः इति विसर्जनीयः ।
कायती जिह्वामूलिया:	≍ क इति जिह्वामूलीयः ।
पायती पद्मानीया	≍ प इत्युपध्मानीयः ।
आयो आयो रतमसवारो:	अं इत्यनुस्वारः ।
पूरबो फत्योरथा रथोपालरेऊ- पदुपदु:	पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पदम् ।
विणज्यो नामी: सरूवरूवरणानेतू	व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत् ।
नेतकरमैया: रासरालाकीजैतु:	अनतिक्रामयन् विश्लेषयेत् ।
लेपो: पचाईडा: दुगु णसंधी:	लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धिः ।
कती: सीधीसमुता: प्रथमापादी	इति सन्धिसूत्राणि प्रथमः

मारवाड़ में सीधी पाटी के न्यूनाधिक अन्तर से कई पाठ प्रचलित हैं। हमने एक का निर्देश किया है।

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि मारवाड़ की देशी पाठशालाओं में पढ़ाई जाने वाली पांच सीधी पाटियां कातन्त्र व्याकरण के पांच सन्धिपाद हैं। इससे यह भी विस्पष्ट है कि कातन्त्र का कौमार नाम पड़ने का कारण 'कुमाराणामिदम्' (बालकों का व्याकरण) ही है।

अग्निपुराण और गरुड़पुराण में किसी व्याकरण का संक्षेप उपलब्ध होता है।[1] वह संक्षेप इनमें कुमार और स्कन्द के नाम से दिया है। कई विद्वान् इनका आधार कातन्त्र व्याकरण मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। उसमें पाणिनीय प्रत्याहारों और संज्ञाओं का उल्लेख मिलता है। अतः हमारा विचार है वह संक्षेप पाणिनीय व्याकरणानुसार है।

कलाप के सम्बन्ध में विशिष्ट उल्लेख

मत्स्य पुराण की एक दाक्षिणात्य प्रति है। उस में पूर्व और उत्तर दो खण्ड हैं (यह खण्डविभाग अन्यत्र नहीं मिलता)। उस में शिव के कलापित्व का वर्णन करते हुए कलाप का अर्थ शब्द=ध्वनि सम्बन्धिशास्त्र और कलापी का अर्थ शिव दिया है।[2]

काशकृत्स्न तन्त्र का संक्षेप कातन्त्र

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने के अनन्तर काशकृत्स्न-धातुपाठ कन्नड टीका सहित प्रकाश में आया। कन्नड टीका में काशकृत्स्न के लगभग १३५ सूत्र भी उपलब्ध हो गए।[3] काशकृत्स्न धातुपाठ और कातन्त्र धातुपाठ की पारस्परिक तुलना करने से स्पष्ट विदित होता है कि कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है।[4] इसी प्रकार काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों की कातन्त्र सूत्रों से तुलना[5] करने पर भी यही परिणाम

---

१. अग्नि पुराण, अध्याय ३४९–३५९। गरुड़पुराण आचारकाण्ड अध्याय २०५, २०६। २. Kalapa is Sastia made of Sounds and Siva is called कलापिन्। द्र० वी० राघवन का An unique two Kanda version of the matsya Puran. लेख पुराण पत्रिका १।१॥ ३. इन के लिए देखिए हमारा 'काशकृत्स्न व्याकरण और

निकलता है कि कातन्त्र काशकृत्स्न तन्त्र का ही संक्षेप है। दोनों तन्त्रों में धातुपाठ की समानानुपूर्विता (कातन्त्र की संक्षिप्तता के कारण छोड़ी गई धातुओं के अतिरिक्त) तथा दोनों तन्त्रों के सूत्रों की समानता, अनुबन्ध और संज्ञाओं की समानता तथा विशेषकर दोनों धातुपाठों में समानरूप से पढ़ी गई छान्दस धातुएं (पाणिनीय मत में) और स्वरानुरोध से संयोजित 'न्' आदि अनुबन्ध[1] इस मत के सुदृढ़ प्रमाण हैं कि कातन्त्र काशकृत्स्न तन्त्र का संक्षेप है।

काल

कातन्त्र व्याकरण का रचनाकाल अत्यन्त विवादास्पद है। अतः हम उसके कालनिर्णय में जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उन सब का क्रमशः निर्देश करते हैं—

१—कथासरित्सागर में लिखा है—शर्ववर्मा ने सातवाहन नृपति को व्याकरण का बोध कराने के लिये कातन्त्र व्याकरण पढ़ाया था।[2] सातवाहन नृपति आन्ध्रकुल का व्यक्ति है। कई ऐतिहासिक आन्ध्रकाल विक्रम के पश्चात् जोड़ते हैं परन्तु यह भूल है। आन्ध्रकाल वस्तुतः विक्रम से पूर्ववर्ती है।[3]

२—शूद्रकविरचित पद्मप्राभृतक भाण में कातन्त्र का उल्लेख मिलता है।[4] यह भाण उसी शूद्रक कवि की रचना है जिसने मृच्छकटिक नाटक लिखा है। दोनों ग्रन्थों के आरम्भ में शिव की स्तुति है और वर्णन शैली समान है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना से जाना जाता है कि शूद्रक नामा कवि ऋग्वेद, सामवेद और अनेक विद्याओं में निष्णात, अश्वमेधयाजी, शिवभक्त महीपाल था।[5] अनेक विद्वान् शूद्रक का काल विक्रम की पांचवीं

---

१. यथा अन् यन विकरणों में।   २. लम्बक १, तरङ्ग ६, ७।

३. पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० संस्क०।

४. एषोऽस्मि बलिभुग्भिरिव संघातबलिभिः कातन्त्रिकैरवस्कन्दित इति। हन्त प्रवृत्तं काकोलूकम्। सखे दिष्ट्या त्वामलूनपक्षं पश्यामि। किं ब्रवीषि? का चेदानीं मम वैयाकरणपारशवेषु कातन्त्रिकेष्वास्था। पृष्ठ १८।

५. ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां, ज्ञात्वा शर्वप्रसादात्

शताब्दी मानते हैं,[1] यह महती भूल है। महाराज शूद्रक हालसात-वाहन नृपति का समकालिक था और वह विक्रम से लगभग ४००, ५०० वर्ष पूर्ववर्ती था।[2]

३—चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है—

सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो गुरुम्।
लघुविस्पष्टसम्पूर्णम् उच्यते शब्दलक्षणम्॥

इस श्लोक में चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण के लिये तीन विशेषण लिखे हैं—लघु, विस्पष्ट और सम्पूर्ण। कातन्त्र व्याकरण लघु और विस्पष्ट है परन्तु सम्पूर्ण नहीं है। इस के मूल ग्रन्थ में कृत्प्रकरण का समावेश नहीं है, अन्यत्र भी कई आवश्यक बातें छोड़ दी है। पाणिनीय व्याकरण सम्पूर्ण तो है परन्तु महान् है, लघु नहीं।

हमारा विचार है चन्द्राचार्य ने 'सम्पूर्ण' विशेषण कातन्त्र की व्यावृत्ति के लिये रक्खा है। चन्द्राचार्य का काल भारतीय गणनानुसार न्यूनातिन्यून विक्रम से १००० वर्ष पूर्व है यह हम पूर्व (पृष्ठ ३२१, ३२२) लिख चुके हैं।

४—महाभाष्य ४। २। ६५ में लिखा है—

संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्—माहावार्तिकः, कालापकः।

अर्थात्—सूत्र (ग्रन्थ) वाची ककारोपध प्रातिपदिक से **'तदधीते तद्वेद'** अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का जो लुक् विधान किया है वह संख्याप्रकृति वाले (=संख्यावाची शब्द से बने हुए) प्रातिपदिक से कहना चाहिये। **यथा अष्टकमधीते अष्टकाः पाणिनीयाः, दशका वैयाघ्रपद्याः।** यहां अष्टक और दशक शब्द संख्याप्रकृतिवाले हैं। इनमें अष्ट और दश शब्द से परिमाण अर्थ में सूत्र अर्थ गम्यमान होने पर कन् प्रत्यय होता है।[3] वार्तिक में संख्याप्रकृति ग्रहण करने से 'माहावार्तिकः, कालापकः' में वुञ् का लुक् नहीं होता क्योंकि ये शब्द संख्याप्रकृतिवाले नहीं हैं।

---

१. संस्कृतकविचर्चा पृष्ठ १५८—१६१। २. पं० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास द्वि० संस्क० पृष्ठ २६१—३०६

ये दोनों प्रत्युदाहरण 'संख्याप्रकृतिः' अंश के हैं। इनमें सूत्रवाचकत्व और कोपधत्व अंश का रहना आवश्यक है। अतः 'कालपकाः' प्रत्युदाहरण में निर्दिष्ट 'कलापक' निश्चय ही किसी सूत्र ग्रन्थ का वाचक है और पूर्वोद्धृत व्युत्पत्ति के अनुसार वह कातन्त्र व्याकरण का वाचक है।

हरदत्त और नागेश की भूल—हरदत्त और नागेश ने महाभाष्य के 'कालापकाः' प्रत्युदाहरण की व्याख्या करते हुए लिखा है—कलापी द्वारा प्रोक्त छन्द का अध्ययन करने वाले 'कलाप' कहाते हैं। उन कलापों का आम्नाय कालापक होगा। संख्याप्रकृति ग्रहण करने से 'कालापक आम्नाय का अध्ययन करने वाले' इस अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् नहीं होता।[1]

यह व्याख्या अशुद्ध है, क्योंकि 'चरणाद्धर्माम्नाययोः'[2] की व्याख्या में समस्त टीकाकार 'आम्नाय' का अर्थ 'वेद' करते हैं। अतः कालापक आम्नाय सूत्र ग्रन्थ नहीं हो सकता। सूत्रत्व अंश के न होने पर वह वार्तिक का प्रत्युदाहरण नहीं बन सकता। 'कालापकाः' के साथ पढ़े हुए माहावार्तिकः, प्रत्युदाहरण की प्रकृति 'महावार्तिक' शब्द स्पष्ट सूत्र ग्रन्थ का वाचक है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि महाभाष्य में निर्दिष्ट 'कलापक' शब्द किसी सूत्र ग्रन्थ का वाचक है और वह कातन्त्र व्याकरण ही है। भारतीय गणना के अनुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल विक्रम से लगभग २००० वर्ष पूर्व है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[3]

५—महाभाष्य और वार्तिक पाठ में प्राचीन आचार्यों की अनेक संज्ञाएं उपलब्ध होती हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

अद्यतनी—२ । ४ । ३ ॥ ३ । २ । १० । २ ॥ ६ । ४ । ११३ ॥

श्वस्तनी—३ । ३ । १५ ॥

भविष्यन्ती—३ । २ । १२३ ॥ ३ । ३ । १५ ॥

परोक्षा—१ । २ । २ । ८ ॥ ३ । २ । १५ ॥

विकरण—अनेक स्थानों में। कारित—निरु० १।१३॥

कातन्त्रव्याकरण में भी इन्हीं संज्ञाओं का व्यवहार उपलब्ध होता है। यथा—

अद्यतनी—३।१।२२॥ परोक्षा—३।१।१३॥
श्वस्तनी—३।१।१५॥ विकरण—३।४।३२॥
भविष्यन्ती—३।१।१५॥ समानाक्षर—१।१।३॥
कारित—३।२।६॥

इसी प्रकार ह्यस्तनी, वर्तमाना, चेक्रीयित आदि अनेक प्राचीन संज्ञाओं का निर्देश कातन्त्र व्याकरण में उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि कातन्त्र व्याकरण पर्याप्त प्राचीन है।

६—महाभाष्य में अनेक स्थानों पर पूर्वसूत्रों का उल्लेख है।[1] ६।१।१६३ के महाभाष्य में लिखा है—

(क) **अथवाऽकारो मत्वर्थीयः। तद्यथा—तुन्दः, घाट इति। पूर्वसूत्रनिर्देशश्च चित्वान् चित इति।**

इस पर कैयट लिखता है—यह 'चितः' निर्देश पूर्वसूत्रों के अनुसार है। पूर्वसूत्रों में जिसको किसी कार्य का विधान किया जाता है, उसका प्रथमा से निर्देश करते हैं।[2]

(ख) पुनः ८।४।७ पर कैयट लिखता है—पूर्वाचार्य जिसको कार्य करना होता है उसका षष्ठी से निर्देश नहीं करते।[3]

पूर्वसूत्रानुसारी निर्देश पाणिनीय व्याकरण में अन्यत्र भी बहुत्र उपलब्ध होता है। यथा—

अल्लोपोऽनः। ६।४।१३४ में **अत्** का निर्देश।

ति विंशतेर्डिति। ६।४।१४२ में ति का निर्देश।

पाणिनीय व्याख्याकार इन्हें अविभक्तिक निर्देश मानते हैं। परन्तु ये पूर्वसूत्रानुसार प्रथमान्त हैं। 'ति' निर्देश **सामान्ये नपुंसकम्** न्यायानुसार नपुंसक का प्रथमैकवचन है। इसी प्रकार **ङेर्यः** पाणिनीय सूत्र में **ङे** रूप

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ २२६, २३०। २. पूर्वव्याकरणे प्रथमया कार्यी निर्दिश्यते।
३. पूर्वाचार्याः कार्यभाज न षष्ठ्या न निरदिक्षन्नित्यर्थः।

भी ङे का प्रथमैकवचन का है। तुलना करो आगे उद्ध्रियमाण ङेर्यः (२।१।२४) कातन्त्र सूत्र के साथ।

पतञ्जलि और कैयट ने जिस प्राचीन शैली की ओर संकेत किया है वह शैली कातन्त्र व्याकरण में पूर्णतया उपलब्ध होती है। उसमें सर्वत्र कार्यी (जिसके स्थान में कार्य करना हो उस) का प्रथमा विभक्ति से ही निर्देश किया है। यथा—

भिस् ऐस् वा। २।१।१८॥[1] **ङसिरात्।** २।१।२१॥

ङस् स्य। २।१।२२॥ **इन् टा।** २।१।२३॥

ङेर्यः। २।१।२४॥ (यहां 'ङे' एकारान्त प्रत्यय है)

ङसिः स्मात्। २।१।२६॥ **ङिः स्मिन्।** २।१।२७॥

इससे इतना स्पष्ट है कि कातन्त्र की रचना शैली अत्यन्त प्राचीन है। पाणिनि आदि ने कार्यी का निर्देश षष्ठी विभक्ति से किया है।

७—हम इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में लिख चुके हैं कि कातन्त्र व्याकरण में "देवेभिः, पितरस्तर्पयामः, अर्वन्तौ अर्वन्तः, मघवन्तौ मघवन्तः," तथा दीधीङ् वेवीङ् और इन्धी धातु से निष्पन्न प्रयोगों की सिद्धि दर्शाई है।[2] कातन्त्र व्याकरण विशुद्ध लौकिक भाषा का व्याकरण है और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त। अतः इस में इन प्रयोगों का विधान करना बहुत महत्त्व रखता है। महाभाष्य के अनुसार 'अर्वन्', 'मघवन्' प्रातिपदिक तथा दीधीङ् वेवीङ् और इन्धी धातु छान्दस हैं।[3] पाणिनि इन्हें छान्दस नहीं मानता। इस से स्पष्ट है कि कातन्त्र व्याकरण की रचना उस समय हुई है जब उपर्युक्त शब्द लौकिक भाषा में प्रयुक्त होते थे। वह काल महाभाष्य से पर्याप्त प्राचीन होगा। यदि कातन्त्र की रचना महाभाष्य के अनन्तर होती तो महाभाष्य में जिन प्रातिपदिकों और धातुओं को छान्दस माना है, उनका उल्लेख कभी न होता। इस से स्पष्ट है कि कातन्त्र महाभाष्य से प्राचीन है।

---

१. इस सूत्र पर विशेष विचार पूर्व पृष्ठ ३४, ३५ पर देखो।

यदि कातन्त्र व्याकरण का वर्तमान स्वरूप इतना प्राचीन न भी हो, तब भी यह अवश्य मानना होगा कि कातन्त्र का मूल अवश्य प्राचीनतम है।

कातन्त्र व्याकरण का कर्ता

कथासरित्सागर[1] और कातन्त्रवृत्तिटीका[2] आदि के अनुसार कातन्त्र व्याकरण के आख्यातान्त भाग का कर्ता शर्ववर्मा है। मुसलमान यात्री अल्बेरूनी ने भी कातन्त्र को शर्ववर्मा विरचित लिखा है और कथासरित्सागर में निर्दिष्ट 'मोदकं देहि' कथा का निर्देश किया है।[3] पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' में शर्ववर्मा को कातन्त्र की विस्तृतवृत्ति का रचयिता लिखा है।[4]

जरनल गङ्गानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट भाग १, अङ्क ४ में तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है—

"सातवाहन के चाचा भासवर्मा ने 'शङ्कु' से संक्षिप्त किया ऐन्द्र व्याकरण प्राप्त किया, जिसका प्रथम सूत्र 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' था और वह १५ पादों में था।[5] इस का वररुचि सस्तवर्मा ने संक्षेप किया और इसका नाम कलाप सूत्र हुआ क्योंकि जिन अनेक स्रोतों से इसका संकलन हुआ था, वे मोर की पूंछ के सदृश पृथक् पृथक् थे। इसमें २५ अध्याय[6] और ४८० श्लोक थे।"

इस लेख के लेखक ने टिप्पणी में लिखा है—तिब्बतीय भाषा में शर्व=सर्व=सप्त=सस्त इस प्रकार शर्व का सस्त रूपान्तर बन सकता है।

हमारा विचारा है वर्तमान कातन्त्र व्याकरण शर्ववर्मा द्वारा संक्षिप्त किया हुआ है। इस संक्षिप्त संस्करण का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून

---

१. लम्बक १, तरङ्ग ६, ७।

२. तत्र भगवत्कुमारप्रणीतसूत्रानन्तरं तदाज्ञयैव श्रीशर्ववर्मणा प्रणीतं सूत्रं कथमनर्थकं भवति। परिशिष्ट, पृष्ठ ४६६।

३. अल्बेरूनी का भारत भाग २ पृष्ठ ४१। ४. पृष्ठ ४३७।

५. कातन्त्र के आख्यातान्त भाग में १६ पाद हैं। क्या आख्यातप्रकरण के चार पाद प्रक्षिप्त हैं? सम्भव है १६ के स्थान में १५ संख्या प्रमादजन्य हो।

४००—५०० वर्ष प्राचीन है। इसका मूल ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं।

कृदन्त भाग का कर्त्ता—कात्यायन

कातन्त्र का वृत्तिकार दुर्गसिंह कृदन्त के आरम्भ में लिखता है—

वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृता कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिपत्तये॥

अर्थात् कातन्त्र का कृदन्त भाग कात्यायन ने बनाया है।

कात्यायन नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। कृदन्त भाग किस कात्यायन ने बनाया, यह दुर्गसिंह के लेख से स्पष्ट नहीं होता। सम्भव है महाराज विक्रम के पुरोहित कात्यायन गोत्रज वररुचि ने कृदन्त भाग की रचना की हो।

कीथ की भूल—कीथ अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखता है—'मूल में उस में चार अध्याय थे।'[1] दुर्गसिंह के पूर्व श्लोक से स्पष्ट है कि कातन्त्र का चौथा अध्याय कात्यायन कृत है। अतः मूल ग्रन्थ में तीन ही अध्याय थे। कीथ का मूल में चार अध्याय लिखना चिन्त्य है।

कातन्त्रपरिशिष्ट का कर्ता—श्रीपतिदत्त

आचार्य कात्यायन द्वारा कृदन्त भाग का समावेश हो जाने पर भी कातन्त्र व्याकरण में अनेक न्यूनताएं रह गईं। उन्हें दूर करने के लिये श्रीपतिदत्त ने कातन्त्र-परिशिष्ट की रचना की। श्रीपतिदत्त का काल अज्ञात है परन्तु वह विक्रम की ११ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है, इतना स्पष्ट है।

परिशिष्ट-वृत्ति—श्रीपतिदत्त ने स्वविरचित कातन्त्र परिशिष्ट पर वृत्ति भी लिखी है।

कातन्त्रोत्तर का कर्त्ता—विजयानन्द (१२०८ पूर्व)

कातन्त्र व्याकरण की महत्ता बढ़ाने के लिये विजयानन्द ने 'कातन्त्रोत्तर' नाम का ग्रन्थ लिखा। इस का दूसरा नाम विद्यानन्द है।[2] डा० बेल्वाल्कर ने कातन्त्रोत्तर परिशिष्ट के कर्ता का नाम त्रिलोचनदास लिखा है।[3] पट्टन के जैन ग्रन्थागारों के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र पृष्ठ २६१ पर कातन्त्रोत्तर ग्रन्थ का निर्देश है। इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

देवराज्ये जाह्नव्या दक्षिणकूले श्रीमद्विजयचन्द्रदेव वडहरदेशभुज्यमाने श्रीनामदेवदत्तजल्हपुरीदिग्विभागे पुरगाहृपुरस्थिते पौषमासे षष्ठ्यां तिथौ शौरि दिने वणिक् जल्हणेनात्मजस्यार्थे तद्धितविजयानन्दं लिखितमिति। यादृशं दृष्टं तथा लिखितम्।

इस से इतना स्पष्ट है कि यह प्रति सं० १२०८ में लिखी गई थी।[1] अतः विजयानन्द १२०० से पूर्ववर्ती है।

कातन्त्र का प्रचार

कातन्त्र व्याकरण का प्रचार सम्प्रति बंगाल तक ही सीमित है परन्तु किसी समय इस का प्रचार न केवल सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपितु उस से बाहर भी था। मारवाड़ की देशी पाठशालाओं में अभी तक जो 'सीधी पाटी' पढ़ाई जाती है, वह कातन्त्र के प्रारम्भिक भाग का विकृत रूप है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। शूद्रकविरचित पद्मप्राभृतक भाण से प्रतीत होता है कि उस के काल में कातन्त्रानुयायियों की पाणिनीयों से महती स्पर्धा थी।[2]

कीथ अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखता है—**कातन्त्र के कुछ भाग मध्य एशिया की खुदाई से प्राप्त हुए थे। इस पर मूसियोन जरनल में एल. फिनोत ने एक लेख लिखा था। देखो उक्त जरनल सन् १९११ पृष्ठ १९२।**[3]

कातन्त्र के ये भाग मध्य एशिया तक निश्चय ही बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा पहुँचे होंगे। कातन्त्र का धातुपाठ अभी तक उपलब्ध है। इस के हस्तलेख की दो प्रतियां हमारे पास हैं।[4]

कातन्त्र के वृत्तिकार

सम्प्रति कातन्त्र व्याकरण की सब से प्राचीन वृत्ति दुर्गसिंह विरचित उपलब्ध होती है। उसमें **केचित्, अपरे, अन्ये** आदि शब्दों द्वारा अनेक

---

१. जैन पुस्तकप्रशस्तिसंग्रह में भी 'पाटण खेतरवसहीपाठकावस्थित' भाण्डागार के सं० १२०८ के लिखे कातन्त्रोत्तर के हस्तलेख का निर्देश है। पृष्ठ १०६।

२. पूर्व पृष्ठ ५०५ टि० ४।

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४३१।

प्राचीन वृत्तिकारों के मत उद्धृत हैं। अतः यह निस्सन्दिग्धरूप से कहा जा सकता है कि दुर्गसिंह से पूर्व अनेक वृत्तिकार हो चुके थे, जिन का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

१—शर्ववर्मा

श्री पं० गुरुपद हालदार ने अपने व्याकरण दर्शनेर इतिहास के पृष्ठ ४२७ पर शर्ववर्मा को कातन्त्र की बृहद्वृत्ति का रचयिता लिखा है परन्तु इस के लिये उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया।

२—वररुचि

पं० गुरुपद हालदार ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ३९४ और ५७९ पर वररुचि विरचित कातन्त्रवृत्ति का उल्लेख किया है। पृष्ठ ५७९ पर वररुचिकृत वृत्ति का नाम चैत्रकूटी लिखा है।

३—दुर्गसिंह

आचार्य दुर्गसिंह वा दुर्गसिंह्म विरचित कातन्त्रवृत्ति सम्प्रति उपलब्ध है। यह उपलब्ध वृत्तियों में सब से प्राचीन है। दुर्गसिंह ने अपने ग्रन्थ में अपना कुछ परिचय नहीं दिया। अतः दुर्गसिंह का इतिवृत्त सर्वथा अज्ञात है।

दुर्ग के अनेक नाम—दुर्गसिंह ने लिङ्गानुशासन की वृत्ति में अपने अनेक नामों का उल्लेख किया है। यथा—

दुर्गसिंहोऽथ दुर्गात्मा दुर्गो दुर्गप इत्यपि।
यस्य नामानि तेनैव लिङ्गवृत्तिरियं कृता॥

दुर्गसिंह का काल

दुर्गसिंह के काल पर साक्षात् प्रकाश डालने वाली कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती। अतः काशकुशावलम्ब न्याय से दुर्गसिंह के काल-निर्धारण का प्रयत्न करते हैं—

१—कातन्त्र के '**इन् यजादेरुभयम्**' (३।५।४५) सूत्र की वृत्ति में दुर्गसिंह ने निम्न पद्यांश उद्धृत किये हैं—

तव दर्शनं किन्न धत्ते। कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये। तनोति शुभ्रं

[सूर्यशतक २] इति । ......तथा च किरातकाव्ये—तनोति शुभ्रं गुण-सम्पदा यशः (१ । ८) इति ।[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि दुर्गसिंह भारवि और मयूर से उत्तरवर्ती है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कोंकण के महाराज दुर्विनीत ने भारवि-विरचित किरात के १५ वें सर्ग पर टीका लिखी थी। दुर्विनीत का राज्य काल सं० ५३९–५६९ तक माना जाता है।[2] अतः भारवि का काल विक्रम की षष्ठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। महाकवि मयूर महाराज हर्षवर्धन का सभा-पण्डित था। हर्षवर्धन का राज्यकाल सं० ६६३—७०५ तक है, यह दुर्गसिंह की पूर्वसीमा है।

२—काशिकावृत्ति ७ । ४ । ९३ में लिखा है—

अत्र केचिद् गशब्दं लघुमाश्रित्य सन्वद्भावमिच्छन्ति। सर्वत्रैव लघोरानन्तर्यमभ्यासेन नास्तीति कृत्वा व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद् भवितव्यम्। तदसत्........।

इस पाठ में वामन ने किसी ग्रन्थकार के मत का खण्डन किया है। कातन्त्र ३ । ३ । ३५ की दुर्गवृत्ति के 'कथमजीजागरत्? अनेकवर्णव्यव-धानेऽपि लघुनि स्यादेवेति मतम्' पाठ के साथ काशिका के पूर्वोक्त पाठ की तुलना करने से विदित होता है कि वामन यहां दुर्ग के मत का प्रत्याख्यान कर रहा है। धातुवृत्तिकार सायण के मत में भी काशिकाकार ने यहां दुर्गवृत्ति का खण्डन किया है।[3] काशिका का वर्तमान स्वरूप सं० ७०० से पूर्ववर्ती है, यह हम काशिका के प्रकरण में लिख चुके। अतः यह दुर्गसिंह की उत्तर सीमा है।

पं० गुरुपद हालदार ने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' में लिखा है कि दुर्गसिंह काशिका के पाठ उद्धृत करता है।[4] हमने दुर्ग कातन्त्रवृत्ति की काशिका के साथ विशेष रूप से तुलना की परन्तु हमें एक भी ऐसा प्रमाण

---

१. कातन्त्र परिशिष्ट, पृष्ठ ५२२ ।   २. पूर्व पृष्ठ ४१४ ।

३. यत्तु कातन्त्रे मतान्तरेणोक्तम्—ह्रस्वदीर्घत्वयोः अजीजागरत् इति भवतीति तदप्येवं प्रत्युक्तम्, वृत्तिकारात्रेयवर्धमानादिभिरप्येतद् दूषितम् । पृष्ठ २६५ ।

४. पृष्ठ ।

नहीं मिला, जिस से यह सिद्ध हो सके कि दुर्ग काशिका को उद्धृत करता है। दोनों वृत्तियों के अनेक पाठ समान हैं परन्तु उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि कौन किसको उद्धृत करता है। ऐसी अवस्था में काशिका के पूर्व उद्धरण और सायण के साक्ष्य से यही मानना अधिक उचित है कि दुर्गसिंह की कातन्त्रवृत्ति काशिका से पूर्ववर्ती है।

दुर्गसिंहविरचित वृत्ति का उल्लेख प्रबन्धकोश पृष्ठ ११२ पर मिलता है।[1]

अनेक दुर्गसिंह

संस्कृत वाङ्मय में दुर्ग अथवा दुर्गसिंह विरचित अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें तीन ग्रन्थ प्रधान हैं। निरुक्तवृत्ति, कातन्त्रवृत्ति और कातन्त्रवृत्ति-टीका। कातन्त्रवृत्ति और उसकी टीका का रचयिता दोनों भिन्न भिन्न ग्रन्थकार हैं। पं० गुरुपद हालदार ने कातन्त्रवृत्ति-टीकाकार का नाम दुर्गगुप्तसिंह लिखा है। उन्होंने तीन दुर्गसिंह माने हैं। हमारा विचार है कातन्त्रवृत्तिकार और निरुक्तवृत्तिकार दोनों एक हैं। इसमें निम्न हेतु हैं—

१. दुर्गाचार्य विरचित निरुक्तवृत्ति के अनेक हस्तलेखों के अन्त में दुर्गसिंह अथवा दुर्गसिंह्म नाम उपलब्ध होता है।[2]

२. दोनों ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ को वृत्ति कहते हैं। इससे इन दोनों के एक होने की संभावना होती है।

३. दोनों ग्रन्थों के रचयिताओं के लिये 'भगवन्' शब्द का व्यवहार मिलता है।[3]

४. दोनों ग्रन्थकारों की एकता का उपोद्बलक निम्न प्रमाण उपलब्ध होता है—

निरुक्त १।१३ की वृत्ति में दुर्गाचार्य लिखता है—

पाणिनीया भूप्रकृतिमुपादाय लडित्येतं प्रत्ययमुपाददते ततः कृतानुबन्धलोपस्यानचकस्य लस्य स्थाने तिबादीनादिशन्ति।........

---

१. सूत्रे वृत्तिः कृता पूर्वं दुर्गसिंहेन धीमता। विसूत्रे तु कृता तेषां वास्तुपालेन मन्त्रिणा॥ २. डा० लक्ष्मणस्वरूप सम्पादित मूल निरुक्त की भूमिका पृष्ठ ३०।

३. निरुक्तवृत्तिकार—तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिः.......। निरुक्त स्कन्द टीका भाग १, पृष्ठ ४।......आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ........

शब्दानुशासने सा तन्त्रशैली।

इस उद्धरण में पाणिनीय प्रक्रिया की प्रतिद्वन्द्वता में जिस प्रक्रिया का उल्लेख किया है, वह कातन्त्र व्याकरणानुसारिणी है। कातन्त्र में धातु से लट् आदि प्रत्ययों का विधान न करके सीधे 'तिप्' आदि प्रत्ययों का विधान किया है। उससे स्पष्ट है कि निरुक्तवृत्तिकार कातन्त्र व्याकरण से भले प्रकार परिचित था।

५. कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंह का काल सं० ६००-६८० के मध्य में है, यह हम पूर्व लिख चुके। हरिस्वामी ने सं० ६९५ में शतपथ के प्रथमकाण्ड का भाष्य लिखा।[1] उसके गुरु स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्तटीका में दुर्गाचार्य का उल्लेख किया है।[2] अतः निरुक्तवृत्तिकार दुर्ग का काल भी ६००—६८० के मध्य सिद्ध होता है।

यदि हमारा उपर्युक्त विचार ठीक हो तो कातन्त्रवृत्तिकार के विषय में अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

दुर्गवृत्ति के टीकाकार

दुर्गवृत्ति पर अनेक विद्वानों ने टीकाएं लिखी हैं, उनमें से निम्न टीकाकार मुख्य हैं।

१—दुर्गसिंह (९ वीं शताब्दी ?)

कातन्त्रवृत्ति पर दुर्गसिंह ने एक टीका लिखी है।[3] पं० गुरुपद हालदार ने टीकाकार का नाम दुर्गगुप्तसिंह लिखा है। टीकाकार ग्रन्थ के आरम्भ में लिखता है—

भगवान् वृत्तिकारः श्लोकमेकं कृतवान् देवदेवमित्यादि।

इस से स्पष्ट है कि टीकाकार दुर्गसिंह वृत्तिकार दुर्गसिंह से भिन्न व्यक्ति है। अन्यथा वह अपने लिये परोक्षनिर्देश करता हुआ भी 'भगवान्' शब्द का व्यवहार न करता।

कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में लिखा है—दुर्गसिंह ने अपनी वृत्ति पर स्वयं टीका लिखी।[4] यह अयुक्त है। सम्भव है कीथ को दोनों के नामसादृश्य से भ्रम हुआ हो।

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ३४१। २. देखो पूर्व पृष्ठ ५१५ की टि० ३।

३. यह टीका बंगला अक्षरों में सम्पूर्ण छप चुकी है।

कीथ का अनुकरण करते हुए एस. पी. भट्टाचार्य ने भी वृत्तिकार दुर्ग और टीकाकार दुर्ग को एक माना है।[1]

दुर्गसिंह अपनी टीका में लिखता है—**नैयासिकास्तु ह्रस्वत्वं विदधतेऽविशेषात्**।[2]

टीकाकार ने यहां किस न्यास का स्मरण किया है, यह अज्ञात है। उग्रभूति ने कातन्त्रवृत्ति पर एक न्यास लिखा था (उस का उल्लेख आगे होगा)। उसका काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी है। अतः यहां उस का उल्लेख नहीं हो सकता।

दुर्गसिंह ने कृत्सूत्र ४१, ६८ की वृत्तिटीका में श्रुतपाल का उल्लेख किया है।[3] यह श्रुतपाल देवनन्दी विरचित धातुपाठ का व्याख्याता है। कातन्त्र २।४।१० की वृत्तिटीका में भट्टि ८।७३ का '**श्लाघमानः परस्त्रीभ्यस्तत्रागाद् राक्षसाधिपः**' चरण उद्धृत है।

टीकाकार दुर्गसिंह के काल का अभी निश्चय नहीं हो सका। सम्भव है, यह नवमी शताब्दी का ग्रन्थकार हो।

२—उग्रभूति (११ वीं शताब्दी)

उग्रभूति ने दुर्गवृत्ति पर '**शिष्यहितन्यास**'[4] नाम्नी टीका लिखी है। मुसलमान यात्री अल्बेरूनी इस का नाम 'शिष्यहिता वृत्ति' लिखता है। उसने इस ग्रन्थ के प्रचार की कथा का भी उल्लेख किया है।[5] इस कथा के अनुसार उग्रभूति का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी है।

३—त्रिलोचनदास (सं० ११०० ?)

त्रिलोचनदास ने दुर्गवृत्ति पर 'कातन्त्रपञ्जिका' नाम्नी बृहती व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या बंगलाक्षरों में मुद्रित हो चुकी है। वोपदेव ने इसे उद्धृत किया है। त्रिलोचनदास का निश्चित काल अज्ञात है। सम्भव है यह ११ वीं शताब्दी का ग्रन्थकार हो।

---

१. ओरियण्टल कान्फ्रेंस, सन् १९४३,४४ (बनारस), भागवृत्तिविषयक लेख।

२. ३।४।७१॥ परिशिष्ट पृष्ठ ५२८।

३. व्याकरण दर्शनेर इतिहास पृष्ठ ४९५।

त्रिविक्रम ने त्रिलोचनदासविरचित 'पञ्जिका' पर 'उद्योत' नाम्नी टीका लिखी है। त्रिविक्रम वर्धमान का शिष्य है। एक वर्धमान 'कातन्त्रविस्तर' नाम्नी टीका का लेखक है। इस का निर्देश आगे करेंगे। वर्धमान नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। अतः यह किस वर्धमान का शिष्य है, यह अज्ञात है। पट्टन के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र के पृष्ठ ३८३ पर त्रिविक्रमकृत पञ्जिका का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है, उसके अन्त में निम्न लेख है—

उक्तं यदालूनविशीर्णवाक्यैर्निरर्गलं किञ्चन फल्गु पूर्वैः।
उपेक्षितं सर्वमिदं मया तत् प्रायो विचारं सहते न येन॥

आसीदियं पञ्जरचित्रसालिकेव हि पञ्जिका।
उद्योतव्यपदेशेन त्वियं पूर्णोज्ज्वली कृता॥

इति श्री वर्धमानशिष्यत्रिविक्रमकृते पञ्जिकोऽद्योतेऽनुषङ्गपादः। सं० १२२१ ज्येष्ठ वदि ३ शुक्रे लिखितमिति।

इससे स्पष्ट है कि त्रिविक्रम विक्रम की १३ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है।

(ख) विश्वेश्वर तर्काचार्य
(ग) जिनप्रभ सूरि
(घ) कुशल
(ङ) रामचन्द्र

विश्वेश्वर तर्काचार्य कृत पञ्जिका-व्याख्या का हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में है। अगले तीन लेखकों का उल्लेख डा० बेल्वाल्कर ने किया है।[1]

४—वर्धमान (१२ वीं शती)

डा० बेल्वाल्कर ने वर्धमान की टीका का नाम कातन्त्रविस्तर लिखा है। गोल्डस्टुकर इस वर्धमान को गणरत्नमहोदधि का कर्ता मानता है। वोपदेव ने कविकामधेनु में इसे उद्धृत किया है।

व्याख्याकार—पृथ्वीधर

पृथ्वीधर ने वर्धमान की टीका पर एक व्याख्या लिखी है।

---

१. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा नं० ६६।

कातन्त्र व्याकरण का नागराक्षरों में जो संस्करण कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, उस के अन्त में निम्न टीकाकारों और टीकाओं के कुछ पाठ उद्धृत किये हैं—

५ काशीराज	७ हरिराम
६ लघुवृत्ति	८ चतुष्टयप्रदीप

इन टीकाकारों तथा टीकाओं के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं। इन के अतिरिक्त अन्य कई विद्वानों ने दुर्गवृत्ति पर टीकाएं लिखी हैं।

४—उमापति (सं० १२००)

उमापति ने भी कातन्त्र पर एक व्याख्या लिखी थी। यह उमापति लक्ष्मणसेन के सभ्यों में अन्यतम है। अतः इसका काल सामान्यतया विक्रम की १२ वीं शती का अन्तिम चरण है।[1] उमापति ने पारिजातहरण काव्य भी लिखा था। इसका उल्लेख ग्रियर्सन ने किया है।

५—जिनप्रभ सूरि (सं० १३५२)

आचार्य जिनप्रभ सूरि ने कायस्थ खेतल की अभ्यर्थना पर कातन्त्र की 'कातन्त्रविभ्रम' नाम्नी टीका लिखी थी। इस टीका की रचना सं० १३५२ में दिल्ली में हुई थी।[2] डा० बेल्वाल्कर ने इसे त्रिलोचनदास की पञ्जिका की टीका माना है।[3]

कातन्त्र विभ्रम-अवचूर्णि—चारित्रसिंह

चारित्रसिंह ने कातन्त्रविभ्रम के कुछ दुर्ज्ञेय भाग पर 'अवचूर्णि' नाम्नी एक टीका लिखी है। ग्रन्थकार ने अन्त में निम्न पद्य लिखे हैं—

बाणाब्धिषडिन्दु (१६४५) मितिसंवति धवलकपुरवरे समहे।
श्रीखरतगणपुष्करसुदिवापुण्प्रकाशकाणाम् ॥ १ ॥
श्रीजिनमाणिक्याभिधसूरीणां सकलसार्वभौमानाम्।
पट्टे वरे विजयिषु श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिराजेषु ॥ २ ॥

---

१. विशेष द्र० सं० व्या० इतिहास भाग २, पृष्ठ १८०, १८१।

गीतिः—वाचकमतिभद्रगणेः शिष्यस्तदुपास्त्यवाप्तपारमार्थः ।
चारित्रसिंहसाधुर्व्यदधाद् अवचूर्णिमिह सुगममाम् ॥३॥
यल्लिखितं मतिमान्द्यादनृतं प्रश्नोत्तरंऽत्र किञ्चिदपि ।
तत्सम्यक् प्राज्ञवरैः शोध्यं स्वपरोपकाराय ॥ ४ ॥

इस से स्पष्ट है कि कातन्त्र विभ्रम-अवचूर्णि सं० १६२५ में लिखी गई थी ।

६—जगद्धर भट्ट (सं० १३५० का समीपवर्ती)

जगद्धर ने अपने पुत्र यशोधर को पढ़ाने के लिये कातन्त्र की 'बालबोधिनी' वृत्ति लिखी है। जगद्धर कश्मीर का प्रसिद्ध पण्डित है। उसने स्तुतिकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ और मालतीमाधव आदि अनेक ग्रन्थों की टीकाएं लिखी हैं। जगद्धर के पितामह गौरधर ने यजुर्वेद की वेदविलासिनी नाम्नी व्याख्या लिखी।[1]

डा० बेल्वाल्कर ने जगद्धर का काल १० वीं शताब्दी माना है वह ठीक नहीं है क्योंकि जगद्धर ने वेणीसंहार नाटक की टीका में रूपावतार को उद्धृत किया है।[2] रूपावतार की रचना सं० ११५० के लगभग हुई है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं।[3] जगद्धर का काल सं० १३५० के लगभग है।

बम्बई विश्वविद्यालय के जर्नल में 'डेट आफ जगद्धर' लेख छपा है। उसके लेखक ने भी जगद्धर का काल सामान्यतमा ईसा की १४ वीं शती प्रमाणित किया है। द्रष्टव्य उक्त जर्नल सितम्बर १९४०, भाग ९, पृष्ठ २।

बालबोधिनी का टीकाकार—राजानक शितिकण्ठ

राजानक शितिकण्ठ ने जगद्धरविरचित बालबोधिनी वृत्ति की व्याख्या लिखी है। राजानक शितिकण्ठ जगद्धर का 'नप्तृकन्या-तनया-तनूज' अर्थात् पोते की कन्या का दौहित्र था। राजनक शितिकण्ठ का काल १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

---

१. वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृष्ठ ६०।

पुण्डरीकाक्ष विद्यासागर ने कातन्त्र व्याकरण की एक वृत्ति लिखी थी। इस का निर्देश पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति के सम्पादक श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने किया है।[1]

पुण्डरीकाक्ष विरचित न्यास टीका का उल्लेख हम पूर्व कर चुके हैं। इस ने भट्टि काव्य पर भी एक टीका लिखी थी। उसका वर्णन काव्यशास्त्र-कार वैयाकरण कवि प्रकरण में किया है।[2]

कातन्त्र सूत्रपाठ पर इनके अतिरिक्त अन्य अनेक वृत्तियां लिखी गई होंगी परन्तु हमें उनका ज्ञान नहीं है।

२—चन्द्रगोमी (सं० १००० वि० पू०)

आचार्य चन्द्रगोमी ने पाणिनीय व्याकरण के आधार पर एक नए व्याकरण की रचना की। इस ग्रन्थ की रचना में चन्द्रगोमी ने पातञ्जल महाभाष्य से भी महती सहायता ली है।

परिचय

वंश—चन्द्राचार्य के वंश का कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता।

मत—चान्द्र व्याकरण के प्रारम्भ में जो श्लोक उपलब्ध होता है, उससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगोमी बौद्धमतावलम्बी था।[3]

महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने अनुशासन पर्व १७।७८ की व्याख्या में महादेव के पर्याय 'निशाकर' की व्याख्या करते हुए लिखा है—

निशाकरश्चन्द्रः, चन्द्रव्याकरणप्रणेता।

यह लेख नीलकण्ठ की इतिहासानभिज्ञता का द्योतक है।

देश—कल्हण के लेख से विदित होता है कि चन्द्राचार्य ने कश्मीर के महाराज अभिमन्यु की आज्ञा से कश्मीर में महाभाष्य का प्रचार किया था[4], परन्तु उस के लेख से यह विदित नहीं होता कि चन्द्राचार्य ने भारत

---

१. भूमिका, पृष्ठ १८। २. सं० व्या० इति० भाग २, पृष्ठ ३६३।
३. सिद्धं प्रणम्य सर्वज्ञं सर्वीयं जगतो गुरुम्। ४. पूर्व पृष्ठ ३३१, टि० २।

के किस प्रान्त में जन्म लिया था। किसी अन्य प्रमाण से भी इस विषय पर साक्षात् प्रकाश नहीं पड़ता। चन्द्रगोमी के उणादिसूत्रों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने से प्रतीत होता है कि वह वङ्ग प्रान्त का निवासी था।

हम पुरुषोत्तमदेव के प्रकरण में लिख चुके हैं कि वंगवासी अन्तस्थ वकार और पवर्गीय बकार का उच्चारण एक जैसा करते हैं। उनका यह उच्चारण दोष अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है।[1]

चन्द्राचार्य ने अपने उणादि सूत्रों की रचना ककारादि अन्त्य अक्षर क्रम से की है। वह उणादि सूत्र २। ८८ तक पकारान्त शब्दों को समाप्त करके सूत्र ८९ में फकारान्त गुल्फ शब्द की सिद्धि दर्शाकर बकारान्तों के अनुक्रम में सूत्र ९०, ९१ में अन्तस्थान्त "गर्व, शर्व, अश्व, लट्वा, कण्व, खट्वा" और "विश्व" शब्दों का विधान करके सूत्र ९२ के शिवादिगण में "शिव, सर्व, उल्व, गुल्व, निम्ब, बिम्ब, शम्ब, स्तम्ब, जिह्वा, ग्रीवा" शब्दों का साधुत्व दर्शाता है। इन में अन्तस्थान्त और पवर्गीयान्त दोनों प्रकार के शब्दों का एक साथ सन्निवेश है। इस से प्रतीत होता है कि चन्द्राचार्य बंगदेशीय था। अत एव उसने प्रान्तीयोच्चारण दोष की भ्रान्ति से अन्तस्थ वकारान्त पदों को भी पवर्गीय बकारान्त के प्रकरण में पढ़ दिया।

काल

महान् ऐतिहासिक कल्हण के लेखानुसार चन्द्राचार्य कश्मीर के नृपति अभिमन्यु का समकालिक था। उस की आज्ञा से चन्द्राचार्य ने नष्ट हुए महाभाष्य का पुनः प्रचार किया और नये व्याकरण की रचना की।[2] महाराज अभिमन्यु का काल अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। पाश्चात्य विद्वान् अभिमन्यु को ४२३ ईसा पूर्व से लेकर ५०० ईसा पश्चात् तक विविध कालों में मानते हैं। कल्हण के मतानुसार अभिमन्यु का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून १००० वर्ष पूर्व है। हम भारतीय कालगणना के अनुसार इसी काल को ठीक मानते हैं। चन्द्राचार्य के काल के विषय में हम महाभाष्यकार पतञ्जलि के प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।[3]

---

३. पूर्व पृष्ठ ३..., टि० २।

चान्द्र व्याकरण की विशेषता

प्रत्येक ग्रन्थ में अपनी कुछ न कुछ विशेषता होती है। चान्द्रवृत्ति[1] और वामनीय लिङ्गानुशासन वृत्ति[2] में चान्द्र व्याकरण की विशेषता—"चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्" लिखी है। अर्थात् चान्द्र व्याकरण में किसी पारिभाषिक संज्ञा का विधान न करना उसकी विशेषता है। चन्द्राचार्य ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति के प्रारम्भ में अपने व्याकरण की विशेषता इस प्रकार दर्शाई है—

लघुविस्पष्टसम्पूर्णमुच्यते शब्दलक्षणम्।

अर्थात् यह व्याकरण पाणिनीय तन्त्र की अपेक्षा लघु, विस्पष्ट और कातन्त्र आदि की अपेक्षा सम्पूर्ण है। पाणिनीय व्याकरण में जिन शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन वार्तिकों और महाभाष्य की इष्टियों से किया है, चन्द्राचार्य ने उन पदों का सन्निवेश सूत्रपाठ में कर दिया है, अत एव उसने अपने ग्रन्थ का विशेषण "सम्पूर्ण" लिखा है।

चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण की रचना में पातञ्जल महाभाष्य से महान् लाभ उठाया है। पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों के जिस न्यासान्तर को निर्दोष बताया, चन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण में प्रायः उसे ही स्वीकार कर लिया।[3] इसी प्रकार जिन पाणिनीय सूत्रों वा सूत्रांशों का पतञ्जलि ने प्रत्याख्यान कर दिया, चन्द्राचार्य ने उन्हें अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया।[4] इतना होने पर भी अनेक स्थानों पर चन्द्राचार्य ने पतञ्जलि के व्याख्यान को प्रामाणिक न मान कर अन्य ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है।[5]

चान्द्र-तन्त्र और स्वर-वैदिक-प्रकरण

डा० बेल्वाल्कर और एस. के. दे का मत है कि चन्द्रगोमी ने बौद्ध होने के कारण स्वर तथा वेदविषयक सूत्रों को अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया।[6]

---

१. २ । २ । ८६ । २. पृष्ठ ७ ।

३. तुमो लुक् चेच्छायाम् । चान्द्र १ । १ । २२ । तुलना करो—महाभाष्य ३ । १ । ७—तुमुन्ताद्वा तस्य लुग्वचनम् । ४. यथा—एकशेष प्रकरण ।

५. रङ्कोः प्राणिनि वा । चान्द्र ३ । २६ की महाभाष्य ४ । २ । १०० से

बेल्वाल्कर और दे की भ्रान्ति—डा० बेल्वाल्कर और एस. के. दे का चान्द्र व्याकरण सम्बन्धी उपर्युक्त मत भ्रान्ति पूर्ण होने से सर्वथा मिथ्या है। प्रतीत होता है इन लोगों ने चान्द्र व्याकरण और उस की उपलब्ध वृत्ति का पूरा पारायण ही नहीं किया और षष्ठ अध्याय के अन्त में **समाप्तं चेदं चान्द्रव्याकरणं शुभम्** पाठ देख कर ही उक्त कल्पना कर ली।

पं० अम्बालाल प्रेमचन्द्र शाह की भूलें—पं० अम्बालाल प्रेमचन्द शाह का 'मध्यकालीन भारतना महावैयाकरण' शीर्षक एक लेख 'श्री जैन सत्यप्रकाश' के वर्ष ७ के दीपोत्सवी अंक में छपा है। उस में लिखा है—

तेने (चन्द्र ने) पाणिनीय प्रत्याहारो काढी ने नवा मूक्या छे. तेने वैदिक व्याकरण अने धातुपाठ काढनाख्यो छे.[1]

इस लेख में वैदिक प्रकरण के साथ धातुपाठ को निकालने और प्रत्याहारों के बदलने का भी उल्लेख किया है। यह सर्वथा मिथ्या है। चान्द्र का धातुपाठ जर्मन से छपा हुआ उपलब्ध है। वह उक्त लेख लिखने (सन् १९४१) से २९ वर्ष पूर्व छप चुका है। प्रत्याहारों में भी चान्द्र ने केवल एक सूत्र में परिवर्तन करने के अतिरिक्त सभी पाणिनीय प्रत्याहार ही स्वीकार किये हैं। प्रतीत होता है पं० अम्बालालजी ने वैयाकरण होते हुए भी २९ वर्ष पूर्व छपे चान्द्र व्याकरण को नहीं देखा और अन्य लेखकों के आधार पर लेख लिख डाला।

उपलब्ध चान्द्र तन्त्र असम्पूर्ण

इस समय जो चान्द्र व्याकरण जर्मन का छपा उपलब्ध है वह असम्पूर्ण है। यद्यपि उस के छठे अध्याय के अन्त में **समाप्तं चेदं चान्द्रव्याकरणं शुभम्** पाठ उपलब्ध होता है तथापि अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चान्द्र व्याकरण में स्वर प्रक्रिया-निदर्शक कोई भाग अवश्य था, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। जिन प्रमाणों से चान्द्र व्याकरण की असम्पूर्णता और उस में स्वरप्रक्रिया का सद्भाव ज्ञापित होता है, उन में से कुछ इस प्रकार हैं—

१—'**व्याप्यात् काम्यच्**'[2] सूत्र की वृत्ति में लिखा है—'**चकारः सतिशिष्टस्वरबाधनार्थः—पुत्रकाम्यतीति**'। सतिशिष्ट स्वर की बाधा

के लिये चकारानुबन्ध करना तभी युक्त हो सकता है जब कि उस व्याकरण में स्वरव्यवस्था का विधान हो।

२—'**तव्यानीयर्केलिमरः**'[1] सूत्र की वृत्ति में "**तव्यस्य वा स्वरितत्वं वक्ष्यामः**" पाठ उपलब्ध होता है। पाणिनीय शब्दानुशासन में विभिन्न स्वर की व्यवस्था के लिये '**तव्य**' और '**तव्यत्**' दो प्रत्यय पढ़े हैं। उन में यथाक्रम अष्टाध्यायी ३।१।३ और ६।१।१८५ से प्रत्ययाद्युदात्तत्व तथा अन्तस्वरितत्व का विधान किया है। चान्द्र व्याकरण में एक 'तव्य' प्रत्यय का विधान है, इस से विभिन्न स्वरों का विधान कैसे हो, इसके लिये वृत्ति में कहा है—'तव्य का विकल्प से स्वरितत्व कहेंगे'। यहां वृत्तिगत "**वक्ष्यामः**" पद का निर्देश तभी उपपन्न हो सकता है जब सूत्रपाठ में स्वरप्रक्रिया का निर्देश हो, अन्यथा उस की कोई आवश्यकता ही नहीं।

३—चान्द्रवृत्ति १।१।१०८ के "**जनिवधोरिगुपान्तानां च स्वरं वक्ष्यामः**" पाठ में स्वरविधान करने की प्रतिज्ञा की है।

४—'**ओदनाट् ठट्**' सूत्र की वृत्ति में लिखा है—**स्वरं तु वक्ष्यामः**।[2]

५—'**अमावसो वा**'[3] सूत्र की वृत्ति में "**अनो वसः इति प्रतिषेधान्नाद्युदात्तत्वम्**" पाठ उपलब्ध होता है। इस में 'अमावस्या' शब्द में ण्यत् के अभाव में यत् होने पर आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति होती है, पर इष्ट है अन्तस्वरितत्व। इस के लिये वृत्तिकार ने "**अनो वसः**" सूत्र को उद्धृत करके आद्युदात्त स्वर का प्रतिषेध दर्शाया है। इस से स्पष्ट है कि वृत्तिकार द्वारा उद्धृत '**अनो वसः**' सूत्र चान्द्र व्याकरण में कभी अवश्य विद्यमान था। पाणिनि ने अन्तस्वरितत्व की सिद्धि के लिये 'अमावस्या' और अमावास्या' दोनों पदों में एक ण्यत् प्रत्यय का विधान करके वृद्धि का विकल्प किया है।[4]

६—'**लिपो नेश्च**'[5] सूत्र की वृत्ति में "**स्वरविशेषमष्टमे वक्ष्यामः**" लिखा है। इस पाठ में स्पष्ट ही अष्टमाध्याय में स्वरप्रक्रिया का विधान स्वीकार किया है।

---

१. चान्द्रसूत्र १।१।१०५॥ २. चान्द्रसूत्र ३।४।६८॥

३. चान्द्रसूत्र १।१।१३४॥ ४. अमावसोरहं ण्यतोर्निपातयाम्य-

७— चान्द्रपरिभाषा पाठ में एक परिभाषा है— स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्य मानवत्।[1] इस परिभाषा की आवश्यकता ही तब पड़ती है जब चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रकरण हो, अन्यथा व्यर्थ है।

इन सात प्रमाणों से स्पष्ट है कि चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रक्रिया का विधान अवश्य था। षष्ठ प्रमाण से यह स्पष्ट है कि चान्द्र-तन्त्र में आठ अध्याय थे। स्वरप्रक्रिया की विशेष आवश्यकता वैदिक प्रयोगों में होती है। अतः प्रतीत होता है चान्द्र व्याकरण में वैदिक प्रक्रिया का विधान भी अवश्य था। उपर्युक्त षष्ठ प्रमाणानुसार स्वरप्रक्रिया का निर्देश अष्टमाध्याय में था।[2] अतः सम्भव है सप्तमाध्याय में वैदिक प्रक्रिया का उल्लेख हो। इस की पुष्टि उसके धातुपाठ से भी होती है। चन्द्र ने धातुपाठ में कई वैदिक धातुएं पढ़ी हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चान्द्र व्याकरण के वैदिक और स्वरप्रक्रिया विधायक सप्तम अष्टम दो अध्याय नष्ट हो चुके हैं।

विक्रम की १२ वीं शताब्दी में विद्यमान भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव से बहुत पूर्व चान्द्र व्याकरण के अन्तिम दो अध्याय नष्ट हो चुके थे। अत एव उस समय के वैयाकरण चान्द्र व्याकरण को लौकिक शब्दानुशासन ही समझते थे। इसीलिये पुरुषोत्तमदेव ने ७।३।९४ की भाषावृत्ति के **"चन्द्रगोमी भाषासूत्रकारो यज्वो वेति सूत्रितवान्"** पाठ में चन्द्रगोमी को भाषासूत्रकार लिखा है। डा० बेल्वाल्कर ने भी चान्द्र व्याकरण को केवल लौकिक भाषा का व्याकरण माना है।[3]

अन्तिम अध्यायों के नष्ट होने का कारण

हम "पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रियाग्रन्थकार" नामक १६ वें अध्याय में लिख चुके हैं कि सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों में स्वर वैदिक प्रक्रिया का अन्त में संकलन होने से उन ग्रन्थों के अध्येता स्वर वैदिक प्रक्रिया को अनावश्यक समझ कर प्रायः छोड़ देते हैं। इसी प्रकार सम्भव है चान्द्र व्याकरण के अध्येताओं द्वारा भी उसके स्वर वैदिक प्रक्रियात्मक अन्तिम

---

१. चान्द्रपरिभाषा ८६, परिभाषा संग्रह, पृष्ठ ४८।

२. भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण के आठवें अध्याय में ही पहिले वैदिक प्रकरण पढ़ा, तदनन्तर स्वरप्रकरण।

दो अध्यायों का परित्याग होने से वे शनैः शनैः नष्ट हो गये। पाणिनि ने स्वर वैदिक प्रक्रिया का लौकिक प्रकरण के साथ साथ ही विधान किया है, इसलिये उस के ग्रन्थ में वे भाग सुरक्षित रहे।

अन्य ग्रन्थ

१. **चान्द्रवृत्ति**—इस का वर्णन अनुपद होगा।

२. **धातुपाठ** ३. **गणपाठ**

४. **उणादिसूत्र** ५. **लिङ्गानुशासन**

इन ग्रन्थों का वर्णन इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में यथास्थन किया जायगा।

६. **उपसर्गवृत्ति**—इस में २० उपसर्गों के अर्थ और उदाहरण हैं। यह केवल तिब्बती भाषा में मिलता है।[1]

७. **शिक्षासूत्र**—इस में वर्णोच्चारणशिक्षा सम्बन्धी ४८ सूत्र हैं। इस का विशेष विवरण 'शिक्षा शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ में लिखेंगे। इस शिक्षा का एक नागरी संस्करण हमने गत वर्ष[2] प्रकाशित किया है।

८. **कोष**—कोष ग्रन्थों की विभिन्न टीकाओं तथा कतिपय व्याकरण ग्रन्थों में चन्द्रगोमी के ऐसे पाठ उद्धृत हैं, जिन से प्रतीत होता है कि चन्द्रगोमी ने कोई कोष ग्रन्थ भी रचा था।

उज्ज्वलदत्त ने उणादि वृत्ति में चान्द्र कोश के अनेक उद्धरण उद्धृत किए हैं। उणादि ४।१०७ की वृत्ति में चान्द्र कोश का एक वचन निम्न प्रकार उद्धृत किया है—

'काशाकाशदशाङ्कुशम्' इति तालव्यान्ते चन्द्रगोमी।

इस उल्लेख से ध्वनित होता है कि चान्द्र कोश का संकलन मातृकानुसार वर्णान्त्य क्रम से था। उणादि सूत्रों में भी इसी क्रम को स्वीकार किया है।[3]

डा० बेल्वालकर ने चन्द्रगोमी विरचित **'शिष्यलेखा'** नामक धार्मिक कविता तथा **'लोकानन्द'** नामक नाटक का भी उल्लेख किया है।[4]

---

१. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा, नं० ४५।

निश्चय ही चान्द्रसूत्रों पर अनेक विद्वानों ने वृत्तियाँ लिखी होंगी,[1] परन्तु सम्प्रति वे अप्राप्य हैं। इस समय केवल एक वृत्ति उपलब्ध है, जो जर्मन देश में रोमन अक्षरों में मुद्रित है।[2]

उपलब्ध वृत्ति का रचयिता

यद्यपि रोमनाक्षर मुद्रित वृत्ति के कुछ कोशों में "**श्रीमदाचार्यधर्मदासस्य कृतिरियम्**" पाठ उपलब्ध होता है,[3] तथापि हमारा विचार है कि उक्त वृत्ति धर्मदास की कृति नहीं है, वह आचार्य चन्द्रगोमी की स्वोपज्ञ-वृत्ति है। हमारे इस विचार के पोषक निम्न प्रमाण हैं—

१—विक्रम की १२ वीं शताब्दी का जैनग्रन्थकार वर्धमान सूरि लिखता है—

चन्द्रस्तु सौहृदमिति हृदयस्याणि हृदादेशो न हृदुत्तरपदम्, हृद्भगेत्युत्तरपदादेजभावमाह।[4]

चान्द्रवृत्ति ६। १। २९ में यह पाठ इस प्रकार है

सौहृदमिति हृदयस्याणि हृदादेशो, न हृदुत्तरपदम्।

२—वही पुनः लिखता है—

मन्तूञ्—मन्तूयति मन्तूयते इति चन्द्रः।[5]

यह पाठ चान्द्रव्याकरण १। १। २९ की टीका में उपलब्ध होता है।

३—सायणाचार्य ने भी उपर्युक्त पाठ को चन्द्र के नाम से उद्धृत किया है।[6] इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थानों में वर्धमान और सायण ने इस चान्द्रवृत्ति को चन्द्र के नाम से उद्धृत किया है।

अथवा यह सम्भव हो सकता है कि धर्मदास ने चान्द्रवृत्ति का ही उसी

---

१. पं० अम्बालाल प्रेमचन्द्र शाह ने इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग २५, पृष्ठ १०३ के आधार पर लिखा है कि चान्द्र व्याकरण पर लगभग १५ वृत्ति व्याख्यान आदि लिखे गए। सत्यप्रकाश, वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक (१९४१) पृष्ठ ८१।

२. डा० ब्रूनो ने तिब्बती से इसका अनुवाद किया है। उन्होंने उसे सन् १९०२ में लिपिजिग में छपवाया है। सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर पैरा नं० ४२।

३. चान्द्रवृत्ति जर्मन संस्करण पृष्ठ ५१३। ४. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २२७।

५. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २४२। ६. धातुवृत्ति पृष्ठ ४०४।

के शब्दों में संक्षेप किया हो। इस पक्ष में भी आचार्य चन्द्र भी स्वोपज्ञवृत्ति का प्रामाण्य तद्वत् ही रहता है।

कश्यप भिक्षु (सं० १२५७)

बौद्ध भिक्षु कश्यप ने सं० १२५७ के लगभग चान्द्र सूत्रों पर एक वृत्ति लिखी। इसका नाम बालबोधिनी है। यह वृत्ति लंका में बहुत प्रसिद्ध है।[1] डा० बेल्वाल्कर ने लिखा है कि कश्यप ने चान्द्र व्याकरण के अनुरूप बालावबोध नामक व्याकरण लिखा, वह वरदराज की लघुकौमुदी से मिलता जुलता है।[2] हम इन के विषय में कुछ नहीं जानते।

३—क्षपणक (वि० प्रथम शताब्दी)

व्याकरण के कतिपय ग्रन्थों में कुछ उद्धरण ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिन से क्षपणक का व्याकरण-प्रवक्तृत्व व्यक्त होता है। यथा—

अत एव नाधमात्मानं मन्यते इति विगृह्य परत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति नावंमन्ये इति क्षपणकव्याकरणे दर्शितम्।[3]

इसी प्रकार तन्त्रप्रदीप में भी **क्षपणकव्याकरणे महान्यासे**[4] उल्लेख मिलता है।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि किसी क्षपणक नामा वैयाकरण ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था।

परिचय तथा काल

कालिदासविरचित ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में विक्रम की सभा के नवरत्नों के नाम लिखे हैं, उन में एक अन्यतम नाम क्षपणक भी है।[5] कई ऐतिहासिकों का मत है कि जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

---

१. कीथविरचित संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४२१।

२. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर पैराग्राफ नं० ४६।

३. तन्त्रप्रदीप १।४।५५॥ भारतकौमुदी भाग २, पृष्ठ ८६३ पर उद्धृत। ४. तन्त्रप्रदीप, धातुप्रदीप की भूमिका में ४।१।१५५ संख्या निर्दिष्ट है, पुरुषोत्तम परिभाषावृत्ति की भूमिका में ४।१।१३५ संख्या दी है।

का ही दूसरा नाम क्षपणक है।[1] सिद्धसेन दिवाकर विक्रम का समकालिक है, यह जैन ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। सिद्धसेन अपने समय का महान् पण्डित था। जैन आचार्य देवनन्दी ने अपने जैनेन्द्र नामक व्याकरण में आचार्य सिद्धसेन का व्याकरण विषयक एक मत उद्धृत किया है।[2] उस से प्रतीत होता है कि सिद्धसेन दिवाकर ने कोई शब्दानुशासन अवश्य रचा था। अतः बहुत सम्भव है क्षपणक और सिद्धसेन दिवाकर दोनों नाम एक व्यक्ति के हों। यदि यह ठीक हो तो निश्चय ही क्षपणक महाराज विक्रम का समकालिक होगा।

प्राचीन वैयाकरणों के अनुकरण पर क्षपणक ने भी अपने शब्दानुशासन के धातुपाठ, उणादि सूत्र आदि अवश्य रचे होंगे, परन्तु उन का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उज्ज्वलदत्तविरचित उणादिवृत्ति में क्षपणक के नाम से एक ऐसा पाठ उद्धृत है,[3] जिस से प्रतीत होता है कि क्षपणक ने उणादि सूत्रों की कोई व्याख्या रची थी। वे सूत्र निश्चय ही उसके स्वप्रोक्त होंगे।

स्वोपज्ञवृत्ति

क्षपणकविरचित उणादिवृत्ति का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उस से सम्भावना होती है कि क्षपणक ने अपने शब्दानुशासन पर भी कोई वृत्ति अवश्य रची होगी। मैत्रेय रक्षित ने तन्त्रप्रदीप में लिखा है—

अत एव नात्रमात्मानं मन्यते इति विग्रहपरत्वादनेन ह्रस्वत्वं बाधित्वा अमागमे सति 'नावंमन्ये' इति क्षपणकव्याकरणे दर्शितम्।[4]

यह पाठ निश्चय ही किसी क्षपणक-वृत्ति से उद्धृत किया गया है।

क्षपणक महान्यास

मैत्रेय रक्षित ने तन्त्रप्रदीप ४।१।१५५ वा १३५[5] में 'क्षपणक महान्यास' को उद्धृत किया है। यह ग्रन्थ किस की रचना है, यह अज्ञात

---

१. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० २४४।

२. वेत्तेः सिद्धसेनस्य। ५।१।७॥

३. क्षपणकवृत्तौ अत्र 'इति' शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः। पृ० ६०।

है। 'महान्यास' में लगे हुए 'महा' विशेषण से व्यक्त है कि 'क्षपणक' व्याकरण पर कोई न्यास ग्रन्थ भी रचा गया था।

क्षपणक व्याकरण के सम्बन्ध में हमें इस से अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

४—देवनन्दी (सं० ५०० से पूर्व)

आचार्य देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद ने 'जैनेन्द्र' संज्ञक एक शब्दानुशासन रचा है। आचार्य देवनन्दी के काल आदि के विषय में हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।[1]

जैनेन्द्र नाम का कारण

अनुश्रुति—विनय विजय और लक्ष्मीवल्लभ आदि १८ वीं शती के जैन विद्वानों ने भगवान् महावीर द्वारा इन्द्र के लिए प्रोक्त होने से इसका नाम जैनेन्द्र हुआ ऐसा मानते हैं।[2] डा० कीलहार्न ने भी कल्पसूत्र की समयसुन्दर कृत टीका और लक्ष्मीवल्लभ कृत उपदेशमाला-कर्णिका के आधार पर इसे महावीर प्रोक्त स्वीकार किया है।[2]

हरिभद्र ने आवश्यकीय सूत्र वृत्ति में और हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश में महावीर द्वारा इन्द्र के लिए प्रोक्त व्याकरण का नाम ऐन्द्र है ऐसा लिखा है।[2]

हमारे विचार में ये सब लेख जैनेन्द्र में वर्तमान 'इन्द्र' पद की भ्रान्ति से प्रसूत हैं।

वास्तविक कारण—जैनेन्द्र का अर्थ है—**जिनेन्द्रेण प्रोक्तम्** अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा प्रोक्त। जैनेन्द्र व्याकरण देवनन्दी प्रोक्त है यह पूर्णतया प्रमाणित हो चुका है। इस से यह भी स्पष्ट होता है कि आचार्य देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद का एक नाम जिनेन्द्र भी था।

जैनेन्द्र व्याकरण के दो संस्करण

जैनेन्द्र व्याकरण के सम्प्रति दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। एक **औदीच्य**, दूसरा **दाक्षिणात्य**। औदीच्य संस्करण में लगभग तीन सहस्र सूत्र हैं, और दाक्षिणात्य संस्करण में तीन सहस्र सात सौ सूत्र उपलब्ध होते हैं। दाक्षिणात्य संस्करण में न केवल ७०० सूत्र ही अधिक हैं,

अपितु शतशः सूत्रों में परिवर्तन और परिवर्धन भी उपलब्ध होता है। औदीच्य संस्करण की अभयनन्दी कृत महावृत्ति में बहुत से वार्त्तिक मिलते हैं, परन्तु दाक्षिणात्य संस्करण में वे वार्त्तिक प्रायः सूत्रान्तर्गत हैं। अतः यह विचारणीय हो जाता है कि पूज्यपादविरिचित मूल सूत्रपाठ कौनसा है।

जैनेन्द्र का मूल सूत्रपाठ

जैनेन्द्र व्याकरण के दाक्षिणात्य संस्करण के संपादक पं० श्रीलाल शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपादविरचित है। उन्होंने इस विषय में जो हेतु दिये हैं उनमें मुख्य हेतु इस प्रकार है—

तत्त्वार्थसूत्र १।६ की स्वविरचित सर्वार्थसिद्धि नाम्नी व्याख्या में पूज्यपाद ने लिखा है कि **'प्रमाणनयैरधिगमः'** सूत्र में अल्पाच्तर होने से नय शब्द का पूर्व प्रयोग होना चाहिये, परन्तु अभ्यर्हित होने से बह्वच प्रमाण शब्द का पूर्व प्रयोग किया है। जैनेन्द्र व्याकरण के औदीच्य संस्करण में इस प्रकार का कोई लक्षण नहीं है, जिससे बह्वच् प्रमाण शब्द का पूर्व निपात हो सके। दाक्षिणात्य संस्करण में इस अर्थ का प्रतिपादक **'अर्च्यम्'**[1] सूत्र उपलब्ध होता है। अतः दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है।[2]

पं० श्रीलालजी का यह लेख प्रमाणशून्य है। यदि दाक्षिणात्य संस्करण ही पूज्यपादविरचित होता तो वे **'अभ्यर्हितत्वात्'** ऐसा न लिखकर **'अर्च्यत्वात्'** लिखते। पूज्यपाद का यह लेख ही बता रहा है कि उनकी दृष्टि में 'अर्च्यम्' सूत्र नहीं है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण के **'अभ्यर्हितं च'** वार्तिक को दृष्टि में रखकर 'अभ्यर्हितत्वात्' लिखा है सर्वार्थसिद्धि में अन्यत्र भी कई स्थानों में अन्य वैयाकरणों के लक्षण उद्धृत किये हैं। यथा—

१—तत्त्वार्थसूत्र ५।४ की सर्वार्थसिद्धि टीका में नित्य शब्द के निर्वचन में **'नेर्ध्रुवे त्यः'** वचन उद्धृत किया है। यह **'त्यब् नेर्ध्रुवे वक्तव्यम्'**[3] इस कात्यायन वार्त्तिक का अनुवाद है। जैनेन्द्र व्याकरण में इस प्रकरण में 'त्य' प्रत्यय ही नहीं है। इस लिये अभयनन्दी ने **'ङ्न्यस्तुट् च'**[4] सूत्र की

व्याख्या में 'नेध्रुवः' उपसंख्यान करके नित्य शब्द की सिद्धि दर्शाई है। दाक्षिणात्य संस्करण में नित्य शब्द की व्युत्पति ही उपलब्ध नहीं होती।

तत्त्वार्थसूत्र ४। २२ की सर्वार्थसिद्धि में **'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्'** वचन पढ़ा है। यह पाणिनि के **'तपरस्तत्कालस्य'**[1] सूत्र पर कात्यायन का वार्त्तिक है।

अतः दाक्षिणात्य संस्करण में केवल 'अभ्यर्हितं च' के समानार्थक 'अर्च्यम्' सूत्र की उपलब्धि होने से वह पूज्यपादविरचित नहीं हो सकता। अब हम एक ऐसा प्रमाण उपस्थित हैं, जिससे इस विवाद का सदा के लिये अन्त हो जाता है और स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि औदीच्य संस्करण ही पूज्यपाद विरचित है, न कि दाक्षिणात्य संस्करण। यथा—

'आदावुपज्ञोपक्रमम्'[2] सूत्र के दाक्षिणात्य संस्करण की शब्दार्णवचन्द्रिका टीका में **'देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्'** उदाहरण उपलब्ध होता है। यह उदाहरण औदीच्य संस्करण की अभयनन्दी की महावृत्ति में भी मिलता है। इस उदाहरण से व्यक्त है कि देवनन्दी विरचित व्याकरण में एकशेष प्रकरण नहीं था। दाक्षिणात्य संस्करण में **'चार्थे द्वन्द्वः'**[3] सूत्र के अनन्तर द्वादशसूत्रात्मक एकशेप प्रकरण उपलब्ध होता है। औदीच्य संस्करण में न केवल एकशेप प्रकरण का अभाव ही है, अपितु उसकी अनावश्यकता का द्योतक सूत्र भी पढ़ा है—**'स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः'**[4]। अर्थात् अर्थाभिधानशक्ति के स्वाभाविक होने से एकशेप प्रकरण नहीं पढ़ा।

इस प्रमाण से स्पष्ट है कि पूज्यपादविरचित मूल ग्रन्थ वही है, जिस में एकशेष प्रकरण नहीं है और वह औदीच्य संस्करण ही है, न कि दाक्षिणात्य संस्करण। वस्तुतः दाक्षिणात्य संस्करण जैनेन्द्र व्याकरण का परिष्कृत रूपान्तर है। इस का वास्तविक नाम शब्दार्णव व्याकरण है। पहले हम पूज्यपाद के मूल जैनेन्द्र व्याकरण अर्थात् औदीच्य संस्करण के विषय में लिखते हैं।

---

१. अष्टा० १।१।७०॥ २. औदीच्य सं० १।४।६७॥ दा० सं० १।४।११४॥

जैनेन्द्र व्याकरण की विशेषता

हम ऊपर लिख चुके हैं कि जैनेन्द्र के दोनों संस्करणों की टीकाओं में 'देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्'[1] उदाहरण मिलता है। इस उदाहरण से व्यक्त होता है कि एकशेष प्रकरण से रहित व्याकरण शास्त्र की रचना सब से पूर्व आचार्य देवनन्दी ने की है। अतः जैनेन्द्र व्याकरण की विशेषता 'एकशेष प्रकरण न रखना है'।[2] परन्तु यह विशेषता जैनेन्द्र व्याकरण की नहीं है, और ना ही आचार्य पूज्यपाद की स्वोपज्ञा है। जैनेन्द्र व्याकरण से कई शताब्दी पूर्व रचित **चान्द्र व्याकरण में भी एकशेष प्रकरण नहीं है।** चन्द्राचार्य को एकशेष की अनावश्यकता का ज्ञान महाभाष्य से हुआ। उस में लिखा है—**'अशिष्य एकशेष एकेनोक्तत्वात् अर्थाभिधानं पुनः स्वाभाविकम्'**।[3] अर्थात् शब्द की अर्थाभिधान शक्ति के स्वाभाविक होने से एक शब्द से भी अनेक अर्थों की प्रतीति हो जाती है, अतः एकशेष प्रकरण अनावश्यक है। महाभाष्य से प्राचीन अष्टाध्यायी की **माथुरी वृत्ति** के अनुसार भगवान् पाणिनि ने स्वयं एकशेष की अशिष्यता का प्रतिपादन किया था।[4] अतः एकशेष प्रकरण को न रखना जैनेन्द्र व्याकरण की विशेषता नहीं है, यह स्पष्ट है। प्रतीत होता है टीकाकारों ने प्राचीन चान्द्रव्याकरण और महाभाष्य आदि का सम्यग् अनुशीलन नहीं किया। अत एव उन्होंने जैनेन्द्र की यह विशेषता लिख दी।

जैनेन्द्र व्याकरण की दूसरी विशेषता अल्पाक्षर संज्ञाएं कही जा सकती है, परन्तु यह भी आचार्य देवनन्दी की स्वोपज्ञा नहीं है। पाणिनीय तन्त्र में भी 'घ घु टि' आदि अनेक एकाच् संज्ञाएं उपलब्ध होती हैं। शास्त्र में लाघव दो प्रकार का होता है, शब्दकृत और अर्थकृत। शब्दकृत लाघव की अपेक्षा अर्थकृत लाघव का महत्त्व विशेष है।[5] अतः परम्परा से लोक प्रसिद्ध बह्वक्षर संज्ञाओं के स्थान में नवीन अल्पाक्षर संज्ञाएं

---

१. औ० सं० १।४।९७॥ दा० स० १।४।११४॥ २. तुलना करो—पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्। काशिका २।४।२१॥ चन्द्रोपज्ञमसंज्ञकं व्याकरणम्। चान्द्रवृत्ति २।२।६८

३. महाभाष्य १।२।६४॥ ४. माथुर्यां तु वृत्तावशिष्यग्रहणमापादमनुवर्तते।

में किंचित् शब्दकृत लाघव होने पर भी अर्थकृत गौरव बहुत बढ़-
है, और शास्त्र क्लिष्ट हो जाता है। अत एव पाणिनीय तन्त्र की
जैनेन्द्र व्याकरण क्लिष्ट है।

जैनेन्द्र व्याकरण का आधार

नेन्द्र व्याकरण का मुख्य आधार पाणिनीय व्याकरण है, कहीं कहीं
ान्द्र व्याकरण से भी सहायता ली है। यह बात इनकी पारस्परिक
से स्पष्ट हो जाती है। जैनेन्द्र व्याकरण में पूज्यपाद ने **श्रीदत्त,**[1]
द्र,[2] **भूतबलि,**[3] **प्रभाचन्द्र,**[4] **सिद्धसेन**[5] और **समन्तभद्र**[6] इन
ीन जैन आचार्यों का उल्लेख किया है। 'जैन साहित्य और इतिहास'
खक पं० नाथूरामजी प्रेमी का मत है कि इन आचार्यों ने कोई
रण शास्त्र नहीं रचा था।[7] हमारा विचार है उक्त आचार्यों ने व्याकरण
अवश्य रचे थे।[7]

जैनेन्द्र व्याकरण के व्याख्याता

जैनेन्द्र व्याकरण पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं रचीं। आर्यश्रुत-
पञ्चवस्तुप्रक्रिया के अन्त में जैनेन्द्र व्याकरण की विशाल राजप्रसाद
मा देता है। उस के लेखानुसार इस व्याकरण पर न्यास, भाष्य,
और टीका आदि अनेक व्याख्याएं लिखी गईं।[8] उन में से सम्प्रति
४, ५ व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

१—देवनन्दी (सं० ५०० से पूर्व)

हम 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में लिख चुके हैं कि आचार्य
न्दी ने अपने व्याकरण पर जैनेन्द्र संज्ञक न्यास लिखा था।[9] यह
ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध है।

---

१. गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम्। १। ४। ३४॥ २. कृवृषिमृजां यशो-
२। १। ९९॥ ३. राद् भूतबलेः। ३। ४। ८३॥
४. रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य। ४। ३। १८०॥ ५. वेत्तेः सिद्धसेनस्य।
। ७॥ ६. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य। ५। ४। १४०॥
१ द० पूर्व पृष्ठ ५०० । ८. सत्रस्तम्भसमद्धृतं प्रविलसन् न्यासोरुरत्नक्षितिः

२—अभयनन्दी (९७५-१०३५)

अभयनन्दी ने जैनेन्द्र व्याकरण पर एक विस्तृत वृत्ति लिखी है। यह महावृत्ति के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय स्व-ग्रन्थ में नहीं दिया,। अतः अभयनन्दी का देश-काल अज्ञात है। पूर्वापर काल में निर्मित ग्रन्थों में निर्दिष्ट उद्धरणों के आधार पर अभयनन्दी का जो काल माना जासकता है उस की उपपत्ति नीचे दर्शाते हैं। यथा—

१—अभयनन्दी कृत महावृत्ति ३। २। ५५ में **'तत्त्वार्थवार्तिकमधीते'** उदाहरण मिलता है। तत्त्वार्थवार्तिक भट्ट अकलङ्क की रचना है। अकलङ्क का काल वि० सं० ७०० के लगभग है।[1] यह इस की पूर्व सीमा है।

२—वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि (काल ११९७ वि०) में अभयनन्दी स्वीकृत पाठ का निर्देश किया है।[2] अतः अभयनन्दी वि० सं० ११९७ से पूर्ववर्ती है। यह उस की उत्तर सीमा है।

३—प्रभाचन्द्राचार्य ने 'शब्दाम्भोजभास्कर-न्यास' के तृतीय अध्याय के अन्त में अभयनन्दी को नमस्कार किया है। शब्दाम्भोजभास्कर-न्यास का रचना काल सं० १११०—११२५ तक है, यह हम अनुपद लिखेंगे। अतः अभयनन्दी सं० १११० से पूर्ववर्ती है यह स्पष्ट है।

४—चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य के कर्ता वीरनन्दी का काल सं० १०३५ (शकाब्द ९००) के लगभग है।[3] वीरनन्दी की गुरु परम्परा इस प्रकार है—

श्रीगणनन्दी
|
विबुधनन्दी
|
अभयनन्दी
|
वीरनन्दी

---

१. अकलङ्क चरित में अकलङ्क का बौद्धों के साथ महान् वाद का काल विक्रमाब्द शताब्दीय ७०० दिया है। भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १, पृष्ठ १२४, द्वि० सं०। सं० साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १७३ में ई० सन् ७५०

उस का काल सं० १०३५ से पूर्व निश्चित है।

५—श्री अम्बालाल प्रेमचन्द शाह ने अभयनन्दी का काल ई० सन् ९६० (= वि० सं० १०१७) के लगभग माना है।[1]

६—डा० बेल्वालकर ने अभयनन्दी का काल ई० सन् ७५० (= वि० सं० ८०७) स्वीकार किया है।[2]

इन सब प्रमाणों के आधार पर हमारा विचार है कि अभयनन्दी का काल सामान्यतया वि० सं० ८००—१०३५ के मध्य है। बहुत सम्भव है वीरनन्दी का गुरु ही महावृत्तिकार अभयनन्दी हो, उस अवस्था में अभयनन्दी का काल वि० सं० ९७५—१०३५ के मध्य युक्त होगा।

३—प्रभाचन्द्राचार्य (सं० १०७५-११२५)

आचार्य प्रभाचन्द्र ने जैनेन्द्र व्याकरण पर 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास' नाम्नी महती व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या अभयनन्दी की महावृत्ति से भी विस्तृत है, परन्तु इस समय समग्र उपलब्ध नहीं होती।

प्रभाचन्द्र ने 'शब्दाम्भोजभास्कर न्यास' के तृतीय अध्याय के अन्त में अभयनन्दी को नमस्कार किया है। अतः यह अभयनन्दी से उत्तरवर्त्ती है, यह स्पष्ट है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का कर्त्ता भी यही प्रभाचन्द्र है, क्योंकि उस ने इन दोनों ग्रन्थों में निरूपित अनेकान्त चर्चा का उल्लेख शब्दाम्भोजभास्करन्यास के प्रारम्भ में किया है।[3] प्रमेयकमलमार्तण्ड के अन्तिम लेख से विदित होता है कि प्रभाचन्द्र ने यह ग्रन्थ महाराज भोज के काल में रचा है।[4] महाराज भोज का राज्यकाल सं० १०७८-१११० तक है।

---

१. जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक (१९४१) पृष्ठ ८३।

२. सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, पैरा ५०।

३. कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः अनेकान्तात्मक इत्यर्थः··········तथा प्रपंचतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिनिरूपितमिह द्रष्टव्यम्।

४. श्रीमद्भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्र-

अत एव सोमदेव सूरि ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में पूज्यपाद[1] के साथ गुणनन्दी को भी नमस्कार किया है। इसी प्रकार 'शब्दार्णव' के धातुपाठ में चुरादिगण के अन्त में गुणनन्दी का नामोल्लेख[2] भी तभी सुसम्बद्ध हो सकता है जब कि शब्दार्णव का सम्बन्ध गुणनन्दी के साथ हो।

काल

जैन सम्प्रदाय में गुणनन्दी नाम के कई आचार्य हुए हैं। अतः किस गुणनन्दी ने शब्दार्णव का सम्पादन किया, यह अज्ञात है। जैन शाकटायन व्याकरण जैनेन्द्र शब्दानुशासन की अपेक्षा अधिक पूर्ण है, उस में किसी प्रकार के उपसंख्यान आदि की आवश्यकता नहीं है।[3] प्रतीत होता है, गुणनन्दी ने जैन शाकटायन व्याकरण की पूर्णता को देख कर ही पूज्यपाद विरचित शब्दानुशासन को पूर्ण करने का विचार किया हो और उस में परिवर्तन तथा परिवर्धन करके उसे इस रूप में सम्पादित किया हो। शाकटायन व्याकरण अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल में लिखा गया है।[4] अमोघवर्ष का राज्यकाल सं० ८७१–९२४ तक है। अतः शब्दार्णव की रचना उस के अनन्तर की है।

श्रवणबेलगोल के ४२, ४३ और ४७ वें शिलालेख में किसी गुणनन्दी आचार्य का उल्लेख मिलता है। ये बलाकपिच्छ के शिष्य और गृध्रपिच्छ के प्रशिष्य थे। इन्हें न्याय, व्याकरण और साहित्य का महाविद्वान् लिखा है।[5] अतः सम्भव है ये ही शब्दार्णव व्याकरण के सम्पादक हों। कर्नाटककविचरित के कर्त्ता ने गुणनन्दी के प्रशिष्य और देवेन्द्र के शिष्य पम्प का जन्मकाल सं० ९५९ लिखा है। अतः गुणनन्दी का काल विक्रम की दशम शताब्दी का उत्तरार्ध है।

---

१. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमावरव्रतिपूजितपादयुग्मम्।

२. शब्दब्रह्मा स जीयाद् गुणनिधिगुणनन्दिव्रतीशः सुसौख्यः।

३. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्। संख्यातं नोपसंख्यानं यस्य शब्दानुशासने। चिन्तामणि टीका के प्रारम्भ में।

४. इस के विषय में विस्तार से आगे शाकटायन के प्रकरण में लिखेंगे।

(वि० सं० १०३५) के लगभग है। वीरनन्दी गुणनन्दी की शिष्य परम्परा में तृतीय पीढ़ी में है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।[1] प्रति पीढ़ी न्यूनातिन्यून २५ वर्ष का अन्तर मानकर गुणनन्दी का काल सं० ९६० के लगभग सिद्ध होता है। अतः स्थूलतया गुणनन्दी का काल सं० ९१०—९६० तक मानना अनुचित न होगा।

शब्दार्णव का व्याख्याता—सोमदेव सूरि (सं० १२६२)

सोमदेव सूरि ने शब्दार्णव व्याकरण की 'चन्द्रिका' नाम्नी अल्पाक्षर वृत्ति रची है। यह वृत्ति काशी की सनातन जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है।

शब्दार्णवचन्द्रिका के प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक से विदित होता है कि सोमदेवसूरि ने यह वृत्ति मूलसंघीय मेघचन्द्र के शिष्य नागचन्द्र (भुजङ्ग-सुधारक) और उनके शिष्य हरिश्चन्द्र यति के लिये बनाई है।[2]

काल—शब्दार्णवचन्द्रिका की मुद्रित प्रति के अन्त में जो प्रशस्ति छपी है उन से ज्ञात होता है कि सोमदेव सूरि ने शिलाहार वंशज भोजदेव (द्वितीय) के राज्यकाल में कोल्हापुर के 'अजुरिका' ग्राम के त्रिभुवन-तिलक नामक जैनमन्दिर में शकाब्द ११२७ (वि० सं० १२६२) में इस टीका को पूर्ण किया।[3]

शब्दार्णवप्रक्रियाकार

किसी अज्ञातनामा पण्डित ने शब्दार्णवचन्द्रिका के आधार पर शब्दार्णवप्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इस प्रक्रिया के प्रकाशक महोदय ने ग्रन्थ का नाम जैनेन्द्रप्रक्रिया और ग्रन्थकार का नाम गुणनन्दी लिखा

---

१. पूर्व पृष्ठ ५३६। २. श्रीमूलसंघजलजप्रतिबोधभानोर्मेघेन्दुदीक्षित-भुजङ्गसुधाकरस्य। राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्तिं रेभे हरीन्दुयतये वरदीक्षिताय॥

३. स्वस्ति श्रीकोल्हापुरदेशांतर्वर्त्यार्जुरिकामहास्थान···त्रिभुवनतिलकजिनालये··· श्रीमच्छिलाहारकुलकमलमार्तण्ड······श्रीवीरभोजदेवविजयराज्ये शकवर्षैकसहस्रैक-सप्तविंशति (११२७) तमक्रोधनवत्सरे······सोमदेवमुनीश्वरेण विरचितेयं

है, ये दोनों अशुद्ध हैं। प्रतीत होता है, ग्रन्थ के अन्त में 'संघागुणनान्नितवपुः' श्लोकांश देख कर प्रकाशक ने गुणनन्दी नाम की क की है।

५—वामन (सं० ३५० वा ६०० से पूर्व)

वामन ने 'विश्रान्तविद्याधर' नाम का व्याकरण रचा था। व्याकरण का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र और वर्धमान सूरि ने अपने में किया है। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में इस व्याकरण के सूत्र उद्धृत किये हैं, और वामन को 'सहृदयचक्रवर्ती' उपाधि से पित किया है।[1]

काल

संस्कृत वाङ्मय में वामन नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। अतः के अनुरोध से कालनिर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। पुनरपि कुशावलम्ब न्याय से इसके कालनिर्णय का प्रयत्न करते हैं—

१. विक्रम की १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान अ हेमचन्द्र ने हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञटीका में विश्रान्तविद्याध उल्लेख किया है।[2]

२. इसी काल का वर्धमान सूरि गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

दिग्वस्त्रभर्तृहरिवामनभोजमुख्या .... वामनो विश्र विद्याधरव्याकरणकर्त्ता।[3]

३. प्रभावकचरितान्तर्गत मल्लवादी प्रबन्ध में लिखा है—

शब्दशास्त्रे च विश्रान्तविद्याधरवराभिधे।
न्यासं चक्रेऽल्पधीवृन्दबोधनाय स्फुटार्थकम्॥[4]

इस से स्पष्ट है कि मल्लवादी ने वामनप्रोक्त विश्रान्तविद्याधर व्या पर 'न्यास' लिखा था। आचार्य हेमचन्द्र ने भी हैम व्याकरण की स्व टीका में इस न्यास को उद्धृत किया है।

---

१. सहृदयचक्रवर्त्तिना वामनेन तु हेम्नः इति सूत्रेण ......। पृष्ठ १६८।

इस प्रमाण के अनुसार वामन का काल निश्चय करने के लिये मल्लवादी का काल जानना आवश्यक है। अतः प्रथम मल्लवादी के काल का निर्णय करते हैं—

मल्लवादी का काल—आचार्य मल्लवादी का काल भी अनिश्चित है। अतः हम यहाँ उन सब प्रमाणों को उद्धृत करते हैं, जिन से मल्लवादी के काल पर प्रकाश पड़ता है।

१. हेमचन्द्र अपने व्याकरण की बृहती टीका में लिखता है—**अनुमल्लवादिनः तार्किकाः**।[1]

२. धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दु पर धर्मोत्तर नामक बौद्ध विद्वान् ने टीका लिखी है, उस पर आचार्य मल्लवादी ने धर्मोत्तरटिप्पण लिखा है। ऐतिहासिक व्यक्ति धर्मोत्तर का काल विक्रम की सातवीं शताब्दी मानते हैं।[2]

३. पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपने "जैन साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"आचार्य हरिभद्र ने अपने 'अनेकान्तजयपताका' नामक ग्रन्थ में वादिमुख्य मल्लवादी कृत 'सन्मतिटीका' के कई अवतरण दिये हैं और श्रद्धेय मुनि जिनविजयजी ने अनेकानेक प्रमाणों से हरिभद्र सूरि का समय वि० सं० ७५७—८२७ तक सिद्ध किया है। अतः आचार्य मल्लवादी विक्रम की आठवीं शताब्दी के पहले के विद्वान् हैं, यह निश्चय है।"[3]

हमारे विचार में हरिभद्रसूरि वि० सं० ७५७ से प्राचीन है।[4]

---

१. २।२।३६॥ २. मोहनलाल दलीचन्द देसाईकृत जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १३६। ३. प्र० सं० पृष्ठ १६४, द्वि० सं० पृष्ठ १६६।

४. हरिभद्रसूरि का वि० सं० ५८५ में स्वर्गवास हुआ था, ऐसी जैन संप्रदाय में श्रुतिपरम्परा है (जैन साहित्य नो सं० इतिहास पृष्ठ १६५) यही काल ठीक है। हरिभद्रसूरि को सं० ७५७-८२७ तक मानने में मुख्य आधार इत्सिंग के वचनानुसार भर्तृहरि और धर्मपाल को वि० सं० ७०० के आस पास मानना है। इत्सिंग का भर्तृहरि विषयक लेख भ्रान्तियुक्त है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ३४०—३५२ तक) लिख चुके हैं।

४. राजशेखर सूरि कृत प्रबन्धकोश के अनुसार मल्लवादी वलभी के राजा शीलादित्य का समकालिक है। प्रबन्धकोश में लिखा है—मल्लवादी ने बौद्धों से शास्त्रार्थ करके उन्हें वहां से निकाल दिया था। वि० सं० ३७५ में म्लेच्छों के आक्रमण से वलभी का नाश हुआ था और उसी में शीलादित्य की मृत्यु हुई थी।[1] पट्टावलीसमुच्चय के अनुसार वीरनिर्वाण से ८४५ वर्ष बीतने पर वलभीभंग हुआ।[2] कई विद्वानों के मतानुसार वीर संवत् का आरम्भ विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था।[3] तदनुसार भी वलभीभंग का काल वि० सं० ३७५ स्थिर होता है।[4] प्रबन्धकोश के सम्पादक श्री जिनविजयजी ने 'विक्रमादित्यभूपालात् पञ्चर्षित्रिकवत्सरे' का अर्थ ५७३ किया है, यह 'अङ्कानां वामतो गतिः' नियमानुसार ठीक नहीं है। प्रबन्धचिन्तामणि में एक प्राकृत गाथा इस प्रकार उद्धृत है—

पणसयरी वाससयं तिन्निसयाइं अइक्कमेऊण।
विक्कमकालाऊ तओ वलहिभंगो समुप्पन्नो ॥[5]

यही गाथा पुरातनप्रबन्धसंग्रह में भी पृष्ठ ८३ पर उद्धृत है।

इस गाथा में भी विक्रम से ३७५ वर्ष पीछे ही वलभीभंग का उल्लेख है।

५—अनेकान्त जयपताका (बड़ोदा, सन् १९४०) की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ १८ पर एक जैन गाथा उद्धृत है—

वीराओ वयरो वासाण पणसए दससएण हरिभद्दो।
तेरहिं बप्पभट्टी अट्ठहिं पणयाल वलहि खओ ॥

इस गाथा के अनुसार भी वलभीभंग वीर संवत् ८४५ (= वि० सं० ३७५) में हुआ था।

६. प्रभावकचरित में लिखा है—

---

१. पृष्ठ २१—२२। विक्रमादित्य भूपालात् पञ्चर्षित्रिक (३७५ वत्सरे) जातोऽयं वलभीभङ्गो ज्ञानिनः प्रथमं ययुः। २. अत्रान्तरे श्री वीरात् पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टशत ८४५ वर्षातिक्रमे वलभीभंगः। पृष्ठ ५०।

३. पट्टावलीसमुच्चय में लिखा है—"श्रीवीरात ५५० विक्रमारंभः ...

श्राचार्यवरसंवादय शताद्वन्दे चतुरशीतिसंयुक्ते ।
जिग्ये मल्लवादी बौद्धांस्तद् व्यन्तरांश्चापि ॥[1]

इस के अनुसार महावीर संवत् ८८४ में मल्लवादी ने बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। वीर संवत् के आरम्भ के विषय में जैन ग्रन्थों में अनेक मत हैं। 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' के लेखक ने विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व वीर संवत् का प्रारम्भ मानकर वि० सं० ४१४ में मल्लवादी के शास्त्रार्थ का उल्लेख किया है।

यह काल संख्या ४, ५ के प्रमाणों से विरुद्ध है। यदि प्रबन्धकोश प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातनप्रबन्धकोश में दिया हुआ ३७५ वर्षमान महाराज विक्रम की मृत्यु समय से गिना जाय (जिसकी श्लोक और गाथा के शब्दों से अधिक सम्भावना है) तो प्रभावकचरित का लेख उपपन्न हो जाता है। विक्रम का राजकाल लगभग ३९ वर्ष का था।[2]

प्राचीन जैन परम्परा के अनुसार मल्लवादी सूरि का काल वि० सं० ४०० के लगभग निश्चित है और विश्रान्तविद्याधर पर न्यास ग्रन्थ लिखने वाला भी यही व्यक्ति है। यदि प्रबन्धकोश के सम्पादक के मतानुसार संवत् ५७३ में वलभी भंग मानें[3] तब भी मल्लवादी सं० ६०० से अर्वाचीन नहीं है। तदनुसार विश्रान्तविद्याधर के कर्त्ता वामन का काल सं० ४०० और पक्षान्तर में ६०० से प्राचीन है, इतना निश्चित है।

एक कठिनाई—हमने विश्रान्तविद्याधर के रचयिता वामन का जो काल ऊपर निर्धारित किया है उस में एक कठिनाई भी है। उस का भी हम निर्देश कर देना उचित समझते हैं, जिस से भावी लेखकों को विचार करने में सुगमता हो। वह है—

वर्धमान गणरत्नमहोदधि में लिखता है—

---

१. निर्णयसागर संस्क० पृष्ठ ७४।

२. सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में विक्रम का राजकाल ९३ वर्ष लिखा है। सम्भव है, उस में वा उस के मूल में (जिसके आधार पर स० प्र० में लिखा है) लेखक प्रमाद से ३९ के अंकों का विपर्यय होकर ९३ बन गया होगा।

३. सम्पादक ने यह कल्पना पाश्चात्यों द्वारा कल्पित वलभी संवत् की अशुद्ध गणना के साथ सामञ्जस्य करने के लिए की है, जो सर्वथा चिन्त्य है

इस के अनुसार वामन सरस्वती-कण्ठाभरण से उत्तरकालिक प्रतीत होता है। परन्तु पूर्व निर्दिष्ट सुपुष्ट प्रमाणों के आधार पर विश्रान्तविद्याधर का कर्त्ता वि० सं० ६०० से उत्तरवर्ती किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः वर्धमान के लेख का भाव "वामनोक्त विभाग हमने भोज के मत को आश्रय करके स्वीकार नहीं किया" ऐसा समझना चाहिए।

विश्रान्तविद्याधर के व्याख्याता

१. वामन

वर्धमानविरचित गणरत्नमहोदधि से विदित होता है कि वामन ने अपने व्याकरण पर स्वयं दो टीकाएं लिखी थीं। वह लिखता है—

वामनस्तु बृहद्वृत्तौ यवमाषेति पठति।[२]

इस उद्धरण में 'बृहत्' विशेषण का प्रयोग करने से व्यक्त है कि वामन ने स्वयं लघ्वी और बृहती दो व्याख्याएं रची थीं, अन्यथा 'बृहत्' विशेषण व्यर्थ होता है। वामनकृत दोनों वृत्तियाँ तथा मूल सूत्र ग्रन्थ इस समय अप्राप्त हैं।

२. मल्लवादी

तार्किकशिरोमणि मल्लवादी ने वामनकृत विश्रान्तविद्याधर व्याकरण पर न्यास ग्रन्थ लिखा था, यह हम ऊपर लिख चुके हैं।[३] इस न्यास का उल्लेख वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में कई स्थानों पर किया है।[४] हैम शब्दानुशासन की बृहती टीका में भी यह असकृत् उद्धृत है।

६—भट्ट अकलङ्क (सं० ७००—८००)

भट्ट अकलङ्क ने किसी व्याकरण का प्रवचन किया था। उस के स्वोपज्ञ शब्दानुशासन की मञ्जरीमकरन्द टीका के प्रारम्भिक भाग का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में सुरक्षित है। उस में प्रथम पाद के अन्त में निम्न लेख है—

---

१. पृष्ठ १८२। २. पृष्ठ २३७। ३. पूर्व पृष्ठ में प्रभावकचरित का श्लोक। ४. विश्रान्तन्यासकृत्तु असमर्थत्वाद् दण्डपाणिरित्येव मन्यते। पृष्ठ ७१।

इति श्रीभट्टाकलङ्कदेवविरचितायां स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्ते-र्भाषामञ्जर्याख्टीकायां मञ्जरीमकरन्दसमाख्यायां प्रथमः पादः ।

द्र० सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ । इस हस्तलेख की संख्या लिखनी रह गई, परन्तु यह संख्या ५०७६ से कुछ आगे है ।

काल

अकलङ्क-चरित के अनुसार भट्ट अकलङ्क का बौद्धों के साथ जो महान् वाद हुआ था, उस का काल वि० सं० ७०० है ।[1] सीताराम जोशी ने संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास में अकलङ्क का काल ७५० ई० = ८०७ वि० स्वीकार किया है ।[1]

७—पाल्यकीर्ति (शाकटायन) (सं० ८७१—६२४)

व्याकरण के वाङ्मय में शाकटायन नाम से दो व्याकरण प्रसिद्ध हैं । एक प्राचीन आर्ष और दूसरा अर्वाचीन जैन व्याकरण । प्राचीन आर्ष शाकटायन व्याकरण का उल्लेख हम पूर्व कर चुके । अब अर्वाचीन जैन शाकटायन व्याकरण का वर्णन करते हैं ।

जैन शाकटायन तन्त्र का कर्त्ता

अभिनव शाकटायन व्याकरण के कर्त्ता का वास्तविक नाम 'पाल्य-कीर्त्ति' है । वादिराजसूरि ने 'पार्श्वनाथचरित' में लिखा है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्त्तेर्महौजसः ।

श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान् ॥

अर्थात्—उस महातेजस्वी पाल्यकीर्ति की शक्ति का क्या कहना जो उस के 'श्री' पद का श्रवण करते ही लोगों को वैयाकरण बना देती है ।

इस श्लोक में '**श्रीपदश्रवणं यस्य**' का संकेत शाकटायन व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति की ओर है । उस के मङ्गलाचरण का प्रारम्भ '**श्रीवीरममृतं ज्योतिः**' से होता है । पार्श्वनाथचरित की पञ्जिका टीका के रचयिता शुभचन्द्र ने पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

तस्य पाल्यकीर्त्तेर्महौजसः श्रीपदश्रवणं श्रिया उपलक्षितानि

इस से स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण के कर्त्ता का नाम पाल्यकीर्ति था। शाकटायनप्रक्रिया के मङ्गलाचरण में भी पाल्यकीर्ति को नमस्कार किया है।

परिचय

आचार्य पाल्यकीर्त्ति यापनीय सम्प्रदाय के थे। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों का अन्तरालवर्त्ती सम्प्रदाय था। यापनीय संप्रदाय के नष्ट हो जाने से दोनों सम्प्रदाय वाले इन्हें अपना आचार्य मानते हैं। पाल्यकीर्ति ने अमोघावृत्ति में छेदक सूत्र निर्युक्ति और कालिक सूत्र आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों का आदर पूर्वक उल्लेख किया है।

पाल्यकीर्ति के वंश और व्याकरण के शाकटायन नाम के विषय में द्वितीय भाग पृष्ठ १०७ पर नया प्रकाश डाला है।

काल

"**ख्याते दृश्ये**"[1] सूत्र का अमोघा वृत्ति में "**अरुणद्देवः पाण्ड्यम्**" और "**अदहदमोघवर्षोऽरातीन्**" उदाहरण दिये हैं। द्वितीय उदाहरण में अमोघवर्ष (प्रथम) द्वारा शत्रुओं को नष्ट करने की घटना का उल्लेख है। ठीक यही वर्णन राष्ट्रकूट के एक शिलालेख में "**भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह**" के रूप में किया है। शिलालेख अमोघवर्ष के बहुत पश्चात् लिखा गया है। अतः उस काल में उक्त घटना का प्रत्यक्ष न होने से '**अदहत्**' के स्थान पर '**ददाह**' क्रिया का प्रयोग किया है। अमोघा वृत्ति में लङ् लकार का प्रयोग होने से विदित होता है कि पाल्यकीर्ति अमोघवर्ष (प्रथम) के काल में वर्त्तमान था। इसका एक प्रमाण महाराज अमोघदेव के नाम पर स्वोपज्ञवृत्ति का 'अमोघा' नाम रखना भी है। सम्भव है पाल्यकीर्ति महाराज अमोघदेव का सभ्य रहा हो। महाराज अमोघदेव सं० ८७१ में सिंहासनारूढ़ हुए थे और उनका एक दानपत्र सं० ९२४ का उपलब्ध हुआ है, अतः यही समय पाल्यकीर्ति का भी है। तदनुसार निश्चय ही शाकटयन व्याकरण और उनकी अमोघा वृत्ति की रचना सं ८७१-९२४ के मध्य में हुई।

शाकटायन तन्त्र की विशेषता

शाकटायन व्याकरण में इष्टियाँ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, सूत्रों से पृथक् वक्तव्य कुछ नहीं है, उपसंख्यानों की भी आवश्यकता नहीं है। इन्द्र चन्द्र आदि आचार्यों ने जो शब्दलक्षण कहा है वह सब इस में है। और जो यहां नहीं है वह कहीं नहीं है। गणपाठ धातुपाठ लिङ्गानुशासन और उणादि इन चार के अतिरिक्त समस्त व्याकरण कार्य इस वृत्ति के अन्तर्गत है।[1]

इस व्याकरण में पाल्यकीर्ति ने लिङ्ग और समासान्त प्रकरण को समास प्रकरण में और एकशेष को द्वन्द्व प्रकरण में पढ़कर व्याकरण की प्रक्रियानुसारी रचना का बीज-वपन कर दिया था। उत्तर काल में इस ने परिवृद्ध होकर पाणिनीय व्याकरण पर भी ऐसा आघात किया कि समस्त पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थकर्तृ क्रम की उपेक्षा करके प्रक्रियानुसारी बना दिया गया। उस से व्याकरण शास्त्र अत्यन्त दुरूह हो गया।

इस व्याकरण में **आर्यवज्र** (१।२।१३) **सिद्धनन्दी** (२।१।२२९) और **इन्द्र** (१।२।३७) नामक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख है।

अन्य ग्रन्थ

१—**साहित्य-विषयक**—राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पाल्यकीर्ति का एक उद्धरण दिया है—

यथाकथा वास्तुवस्तुनो रूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्त इति पाल्यकीर्तिः।

उस से स्पष्ट है कि पाल्यकीर्ति ने कोई साहित्य विषयक ग्रन्थ रचा था।

२—**स्त्री-मुक्ति—केवलिभुक्ति**—यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस से विदित होता है कि पाल्यकीर्ति बड़े तार्किक और सिद्धान्तज्ञ थे।

शाकटायन व्याकरण के व्याख्याता

१. पाल्यकीर्ति

आचार्य पाल्यकीर्ति ने स्वयं अपने शब्दानुशासन की वृत्ति रची है।

---

१. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्। संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य

यह पाल्यकीर्ति के आश्रयदाता महाराज अमोघदेव के नाम पर 'अमोघा' नाम से प्रसिद्ध है। अमोघा वृत्ति अत्यन्त विस्तृत है। इसका परिमाण लगभग १८००० सहस्र श्लोक है। गणरत्नमहोदधि के रचयिता वर्धमान सूरि ने शाकटायन के नाम से अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं जो अमोघा वृत्ति में ही उपलब्ध होते हैं।[1] इसी प्रकार यक्षवर्मा विरचित चिन्तामणिवृत्ति के प्रारम्भ के ६ ठे और ७ वें श्लोक की परस्पर संगति लगाने से स्पष्ट होता है कि अमोघा वृत्ति सूत्रकार ने स्वयं रची है।[2] सर्वानन्द ने अमरटीका-सर्वस्व में अमोघा वृत्ति का पाठ पाल्यकीर्ति के नाम से उद्धृत किया है।[3]

जैन साहित्य और इतिहास के लेखक श्री नाथूरामजी प्रेमी ने अमोघा-वृत्ति का स्वोपज्ञत्व बड़े प्रपञ्च (= विस्तार) से सिद्ध किया है।[4]

अमोघा वृत्ति का टीकाकार—प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र ने अमोघा वृत्ति पर '**न्यास**' नाम्नी टीका रची है।[5] एक प्रभाचन्द्र आचार्य का वर्णन हम पूर्व जैनेन्द्र व्याकरण के प्रकरण में कर चुके।[6] उन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण पर '**शब्दाम्भोजभास्करन्यास**' की रचना की थी। ये दोनों ग्रन्थकार एक हैं वा पृथक् पृथक्, यह अज्ञात है।

१३ वीं शताब्दी के कृष्णलीलाशुक मुनि ने 'दैवम्' की पुरुषकार टीका में शाकटायन न्यास को उद्धृत किया है।[7] इससे स्पष्ट है कि शाकटायन न्यास की रचना १३ वीं शताब्दी से पूर्व की है।

---

१. शाकटायनस्तु कर्णेटिरिटिरिः कर्णेचुरुचुरुरित्याह। गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ८२, अमोघा वृत्ति २।१।५७॥ शाकटायनस्तु अद्य पञ्चमी अद्य द्वितीयेत्याह। गण० पृष्ठ ६०, अमोघा २।१।७६॥

२. इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्। संख्यातं नोपसंख्यानं यस्य शब्दानुशासने ॥ ६ ॥ तस्यातिमहतीं वृत्तिं संहृत्येयं लघीयसी। ········॥ ७ ॥ यस्य पाल्यकीर्तेः शब्दानुशासने इष्ट्यादयो नैवापेक्ष्यन्ते तस्य पाल्यकीर्तेः महतीं वृत्तिं संक्षिप्येयं लघ्वी वृत्तिर्विधीयते इति संगतिः॥

३. तथाहि तत्र पाल्यकीर्तेर्विवरणं पोटगलो बृहत्कोशः। भाग ४, पृष्ठ ७२।

४. द्वि० सं० पृष्ठ १६१—१६५।

५. शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः, प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः। सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते च यथामति, ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति क्रियते नाम नामतः। जैन साहित्य और

आचार्य प्रभाचन्द्रकृत कृत न्यास ग्रन्थ के संप्रति केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं।[१]

२—यक्षवर्मा

यक्षवर्मा ने अमोघा वृत्ति को ही संक्षिप्त कर शाकटायन की 'चिन्तामणि' नाम्नी लघ्वी वृत्ति रची है। यह वृत्ति काशी से प्रकाशित हो चुकी है। इस वृत्ति का ग्रन्थ परिमाण लगभग ६ सहस्र श्लोक है। यक्षवर्मा ने अपनी वृत्ति के विषय में लिखा है कि इस वृत्ति के अभ्यास से बालक और बालिकाएं भी निश्चय से **एक वर्ष में समस्त वाङ्मय को जान लेती हैं।**[२]

चिन्तामणि का टीकाकार—अजितसेनाचार्य

आचार्य अजितसेन ने यक्षवर्मविरचित चिन्तामणि वृत्ति पर **मणिप्रकाशिका** नाम्नी टीका लिखी है।

प्रक्रिया-ग्रन्थकार

१. अभयचन्द्राचार्य

अभयचन्द्राचार्य ने शाकटायन सूत्रों के आधार पर **'प्रक्रियासंग्रह'** ग्रन्थ रचा है। यह ग्रन्थ शाकटायन व्याकरण में प्रवेशार्थियों के लिये लिखा गया है। अतः इस में सम्पूर्ण सूत्र व्याख्यात नहीं हैं।

२—भावसेन त्रैविद्यदेव

इन्होंने भी प्रक्रियानुसारी 'शाकटायनटीका' ग्रन्थ लिखा है। इन्हें वादिपर्वतवज्र भी कहते हैं।

३—दयालपाल मुनि (सं० १०८२)

मुनि दयालपाल ने बालकों के लिये **'रूपसिद्धि'** नामक लघु प्रक्रिया ग्रन्थ बनाया है। ये पार्श्वनाथचरित के कर्त्ता वादिराजसूरि के सधर्मा माने जाते हैं। अतः इन का काल सं० १०८२ के लगभग है। यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, द्वि० सं० पृ० १६०।

८—शिवस्वामी (सं० ९१४—९४०)

शिवस्वामी महाकवि के रूप में संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं। इन का रचा हुआ कप्फणाभ्युदय महाकाव्य एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है। वैयाकरण के रूप में शिवस्वामी का उल्लेख क्षीरतरङ्गिणी,[1] गणरत्नमहोदधि, कातन्त्रगणधातुवृत्ति और माधवीया धातुवृत्ति[2] में मिलता है। वर्धमान पतञ्जलि और कात्यायन के साथ शिवस्वामी का प्रथम निर्देश करता है।[3] दूसरे स्थान पर 'परः पाणिनिः, अपरः शिवस्वामी' उदाहरण देता है।[4] इससे प्रतीत होता है कि वर्धमान की दृष्टि में शिवस्वामी पाणिनि के सदृश महावैयाकरण था।

काल

कल्हण ने राजतरङ्गिणी ५। ३४ में लिखा है कि शिवस्वामी कश्मीराधिपति अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में विद्यमान था।[5] अवन्तिवर्मा का राज्यकाल सं० ९१४—९४० तक है। अतः वही काल शिवस्वामी का है।

पं० गुरुपद हालदार ने अपने 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' में लिखा है—"शिवस्वामी शिवयोगी वलियाओ प्रसिद्ध। षड्गुरुशिष्य सम्भवतः इहाकेइ छयजन गुरुर मध्ये अन्यतम वलिया स्वीकार करिया छेन।"[6]

"कफ्फिणाभ्युदय लिखिलेओ शिवस्वामी बौद्ध न हेन, तिनि सनातनधर्मावलम्वी छिलेन। स्मार्तदेर मध्येओ तिनि एकथन प्रमाणपुरुष। मदनपारिजाते स्मृतिचन्द्रिकाय एवं पराशरमाधवीये ताहार मतवाद उद्धृत हईया छे।"[6]

---

१. ध्वान्तोऽयं (=सक्ष) इति शिवः। १। १२२, पृष्ठ ४१। धूञ् इति ह्रस्वमु शिवस्वामी दीर्घमाह। ५। १०, पृष्ठ २२६, २२७।

२. अत्र वृत्तिकारशिवस्वामिभ्यां भाष्योक्तमस्वस्य स्वत्वेन करणं प्रसिद्धिवशात् पाणिग्रहणविषय उपसंहृतम्। धातुवृत्ति पृष्ठ १६६। शिवस्वामिकश्यपौ तु दीर्घान्तमाहतुः। धातुवृत्ति पृष्ठ ३१६। शिवस्वामी वकारोपधं पपाठ। धातुवृत्ति पृष्ठ ३५७।

३. मुख्यशब्दस्यादिवचनत्वात् शिवस्वामिपतञ्जलिकात्यायनप्रभृतयो लभ्यन्ते।

हालदार महोदय की भूल—पं० गुरुपद हालदार का उपर्युक्त लेख ठीक नहीं है। शिवस्वामी और शिवयोगी भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। शिवस्वामी का काल दशम शताब्दी का पूर्वार्ध है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। शिवयोगी षड्गुरुशिष्य का अन्यतम गुरु है। षड्गुरुशिष्य ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी की वृत्ति सं० १२३४ में लिखी थी।[1] शिवस्वामी बौद्धमतावलम्बी था, और शिवयोगी वैदिक धर्मावलम्बी था। अतः शिवयोगी और शिवस्वामी को एक समझना महती भूल है। प्रतीत होता है कि पं० गुरुपद हालदार को षड्गुरुशिष्य के काल का ध्यान न रहा होगा और नामसादृश्य से उन्हें भ्रान्ति हुई होगी।

शिवस्वामी का व्याकरण

शिवस्वामी प्रोक्त व्याकरण ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। इस के जो उद्धरण पूर्व उद्धृत किए हैं[1] उन से विदित होता है कि शिवस्वामी ने अपने व्याकरण पर कोई वृत्ति भी लिखी थी और स्वतन्त्र-सम्बन्धी धातुपाठ का भी प्रवचन किया था।

६—महाराज भोजदेव (सं० १०७५—१११०)

महाराज भोजदेव ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नाम का एक बृहत् शब्दानुशासन रचा है। उन्हों ने योगसूत्रवृत्ति के प्रारम्भ में स्वयं लिखा है—

> **शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता,**
> **वृत्तिं, राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।**
> **वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृत-**
> **स्तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्ज्वलाः॥**

इस श्लोक के अनुसार सरस्वतीकण्ठाभरण, योगसूत्रवृत्ति और राजमृगाङ्क ग्रन्थों का रचयिता एक ही व्यक्ति है, यह स्पष्ट है।

परिचय और काल

भोजदेव नाम के अनेक राजा हुए हैं, किन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण आदि ग्रन्थों का रचयिता, विद्वानों का आश्रयदाता परमारवंशीय धारा-

---

१. खगोल्यान्मेषम येति कल्यहर्गणने सति। सर्वानुक्रमणीवृत्तिर्जाता वेदार्थ-

का पिता था।

महाराज भोज का एक दानपत्र सं० १०७८ का उपलब्ध हुआ है, और इन के उत्तराधिकारी जयसिंह का दानपत्र सं० २११२ का मिला है। अतः भोज का राज्यकाल सामान्यतया सं० १०७५—१११० तक माना जाता है।

संस्कृत भाषा का पुनरुद्धारक

महाराज भोजदेव स्वयं महाविद्वान्, विद्यारसिक और विद्वानों का आश्रयदाता था। उस ने लुप्तप्रायः संस्कृत भाषा का पुनः एक बार उद्धार किया। वल्लभदेवकृत भोजप्रबन्ध मे लिखा है—

चाण्डालोऽपि भवेद्विद्वान् यः स तिष्ठतु मे पुरि।
विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद् बहिरस्तु मे॥

महाराज भोज की इतनी महती उदारता के कारण इन के समय में तन्तुवाय (जुलाहे) तथा काष्ठभारवाहक (लकड़हारे) भी संस्कृत भाषा के अच्छे मर्मज्ञ बन गये थे। भोजप्रबन्ध में लिखा है—एक बार धारा नगरी में बाहर से कोई विद्वान् आया। उसके निवास के लिये नगरी में कोई गृह रिक्त नहीं मिला। अतः राज्यकर्मचारियों ने एक तन्तुवाय को जाकर कहा कि तू अपना घर खाली कर दे, इस में एक विद्वान् को ठहरावेंगे। तन्तुवाय ने राजा के पास जाकर जिन चमत्कारी शब्दों में अपना दुःख निवेदन किया, वे देखने योग्य हैं। तन्तुवाय ने कहा—

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि,
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ!
हे साहसाङ्क! कवयामि वयामि यामि॥

एक अन्य अवसर पर भोजराज ने एक वृद्ध लकड़हारे को कहा—

भूरिभारभराक्रान्त! बाधति स्कन्ध एष ते।

इस के उत्तर में उस वृद्ध लकड़हारे ने निम्न चमत्कारी उत्तरार्ध पढ़ा—

न तथा बाधते राजन्! यथा बाधति बाधते।

अर्थात्—हे राजन्! लकड़ियों का भार मुझे इतना कष्ट नहीं पहुँचा रहा है, जितना आप का 'बाधति' अशुद्ध प्रयोग कष्ट दे रहा है।

वस्तुतः महाराज विक्रमादित्य के अनन्तर भोजराज ने ही ऐसा प्रयत्न किया, जिस से संस्कृत भाषा पुनः उस समय की जनसाधारण की भाषा बन गई। ऐसे स्तुत्य प्रयत्नों के कारण ही संस्कृत भाषा अभी तक जीवित है। जो संस्कृत भाषा मुसलमानों के सुदीर्घ राज्यकाल में नष्ट न हो सकी वह ब्रिटिश राज्य के अल्प काल में मृतप्राय हो गई। इस का मुख्य कारण यह है कि मुसलमानों के राज्यकाल में आर्य राजनैतिक रूप में पराधीन हुए थे, वे मानसिक दास नहीं बने थे, उन्होंने अपनी संस्कृति को नहीं छोड़ा था, परन्तु ब्रिटिश शासन ने आर्यों में मानसिक दासता का ऐसा बीज बो दिया कि उन्हें योरोपियन विचार, योरोपियन भाषा तथा योरोपियन सभ्यता ही सर्वोच्च प्रतीत होती है तथा भारतीय भाषा और संस्कृति तुच्छ प्रतीत होती है। भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी वह मानसिक दासता से मुक्त नहीं हुआ, नेता माने जाने वाले लोग अभी भी अंग्रेज़ी भाषा, अंग्रेज़ी सभ्यता से उसी प्रकार चिपटे हुए हैं, जैसा पराधीनता के काल में थे। इसी कारण सब भाषाओं की आदि जननी, समस्त संसार को ज्ञान तथा सभ्यता का पाठ पढ़ानेहारी संस्कृत भाषा आज अन्तिम श्वास ले रही है।[1] वस्तुतः भारतीय संस्कृति की रक्षा तभी हो सकेगी, जब हम अपनी प्राचीन संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार करेंगे, क्योंकि भाषा और संस्कृति का परस्पर चोली-दामन का सम्बन्ध है। आर्यों की प्राचीन संस्कृति, ज्ञान और इतिहास के समस्त ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही हैं। अतः जब तक उन ग्रन्थों का अनुशीलन न होगा, भारतीय सभ्यता कभी जीवित नहीं रह सकती। इसलिये भारतीय सभ्यता की रक्षा का एकमात्र उपाय संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार है।

सरस्वतीकण्ठाभरण

महाराज भोजदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण नाम के दो ग्रन्थ रचे थे—एक व्याकरण का, दूसरा अलंकार का। सरस्वतीकण्ठाभरण नामक

---

१. स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर संस्कृत भाषा के अध्ययन अध्यापन और

शब्दानुशासन में ८ आठ बड़े बड़े अध्याय हैं।[1] प्रत्येक अध्याय ४ पादों में विभक्त है। इस की समस्त सूत्र संख्या ६४११ है।

हम इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में लिख चुके हैं कि प्राचीन काल से प्रत्येक शास्त्र के ग्रन्थ उत्तरोत्तर क्रमशः संक्षिप्त किये गये। इसी कारण शब्दानुशासन के अनेक महत्त्वपूर्ण भाग परिभाषापाठ, गणपाठ और उणादि सूत्र आदि शब्दानुशासन से पृथक् हो गये। इस का फल यह हुआ कि शब्दानुशासनमात्र का अध्ययन मुख्य हो गया और परिभाषापाठ, गणपाठ तथा उणादि सूत्र आदि महत्त्वपूर्ण भागों का अध्ययन गौण हो गया। अध्येता इन परिशिष्टरूप ग्रन्थों के अध्ययन में प्रमाद करने लगे। इस न्यूनता को दूर करने के लिये भोजराज ने अपना महत्त्वपूर्ण सरस्वतीकण्ठाभरण नामक शब्दानुशासन रचा। उसने शब्दानुशासन में परिभाषा, लिङ्गानुशासन, उणादि और गणपाठ का तत्तत् प्रकरणों में पुनः सन्निवेश कर दिया। इससे इस शब्दानुशासन के अध्ययन करने वाले को धातुपाठ के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती। गणपाठ आदि का सूत्रों में सन्निवेश हो जाने से उनका अध्ययन आवश्यक हो गया। इस प्रकार व्याकरण के वाङ्मय में सरस्वतीकण्ठाभरण अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रारम्भिक सात अध्यायों में लौकिक शब्दों का सन्निवेश है और आठवें अध्याय में स्वरप्रकरण तथा वैदिक शब्दों का अन्वाख्यान है।

सरस्वतीकण्ठाभरण का आधार

सरस्वतीकण्ठाभरण का मुख्य आधार पाणिनीय और चान्द्र व्याकरण है। सूत्ररचना और प्रकरणविच्छेद आदि में ग्रन्थकार ने पाणिनीय अष्टाध्यायी की अपेक्षा चान्द्र व्याकरण का आश्रय अधिक लिया है। यह इन तीनों ग्रन्थों की पारस्परिक तुलना से स्पष्ट है। पाणिनीय शब्दानुशासन के अध्ययन करने वालों को चान्द्र व्याकरण और सरस्वतीकण्ठाभरण का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करना चाहिये।

---

१. दण्डनाथवृत्ति सहित सरस्वतीकण्ठाभरण के सम्पादक पं० साम्ब शास्त्री ने लिखा है कि इस में सात ही अध्याय हैं। देखो ट्रिवेण्ड्रम् प्रकाशित स० कं०,

सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याता

१—भोजराज

भोजराज ने स्वयं अपने शब्दानुशासन की व्याख्या लिखी थी। इस में निम्न प्रमाण हैं—

१. गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान लिखता है—

भोजस्तु सुखादयो दश क्यज्विधौ निरूपिता इत्युक्तवान्।[1]

वर्धमान के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भोजराज ने स्वयं अपने ग्रन्थ की वृत्ति लिखी थी। वर्धमान ने यह उद्धरण '**जातिकालसुखादिभ्यश्च**'[2] सूत्र की वृत्ति से लिया है।

२. क्षीरस्वामी अमरकोष १। २। २४ की टीका में लिखता है—

इल्वलास्तारकाः। इल्वलोऽसुर इति उणादौ श्रीभोजदेवो व्याकरोत्।

क्षीरस्वामी ने यह उद्धरण सरस्वतीकण्ठाभरणान्तर्गत '**तुल्वलेल्वल-पल्वलादयः**'[3] उणादिसूत्र की वृत्ति से लिया है। यद्यपि यह पाठ दण्डनाथ की वृत्ति में भी उपलब्ध होता है, तथापि क्षीरस्वामी ने यह पाठ भोज के ग्रन्थ से ही लिया है, यह उसके "श्रीभोजदेवो व्याकरोत्" पदों में स्पष्ट है।

वर्धमान और क्षीरस्वामी ने भोज के नाम से अनेक ऐसे उद्धरण दिये हैं जो सरस्वतीकण्ठाभरण की व्याख्या से ही उद्धृत किये जा सकते हैं। अतः प्रतीत होता है, भोजराज ने स्वयं अपने शब्दानुशासन पर कोई वृत्ति लिखी थी।

इस की पुष्टि दण्डनाथविरचित हृदयहारिणी टीका के प्रत्येक पाद की अन्तिम पुष्पिका से भी होती है। उस का पाठ इस प्रकार है—

इति श्रीदण्डनाथनारायणभट्टसमुद्धृतायां सरस्वतीकण्ठाभरणस्य लघुवृत्तौ हृदयहारिण्यां.............।

इस पाठ में "**समुद्धृतायां** और "**लघुवृत्तौ**" पद विशेष महत्त्व के हैं। इन से सूचित होता है कि नारायणभट्ट ने किसी विस्तृतव्याख्या का

संक्षेपमात्र किया है अन्यथा वह 'समुद्धृतायां' न लिखकर "विरचितायां" आदि पद रखता। प्रतीत होता है उसने भोजदेव की स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति का उसी के शब्दों में संक्षेप किया है।[1] अत एव क्षीर वर्धमान आदि ग्रन्थकारों द्वारा भोज के नाम से उद्धृत वृत्ति के पाठ प्रायः नारायणभट्ट की वृत्ति में मिल जाते हैं।

भोज के अन्य ग्रन्थ—महाराज भोजदेव ने व्याकरण के अतिरिक्त योग-शास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, साहित्य और कोष आदि विषय के अनेक ग्रन्थ रचे हैं।

२. दण्डनाथ नारायण (१२ वीं शताब्दी)

दण्डनाथ नारायणभट्ट नाम के विद्वान् ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'हृदयहारिणी' नाम्नी व्याख्या लिखी है। दण्डनाथ ने अपने ग्रन्थ में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। अतः इस के देश काल आदि का वृत्त अज्ञात है।

दण्डनाथ का नाम निर्देशपूर्वक सब से प्राचीन उल्लेख देवराज की निघण्टु-व्याख्या में उपलब्ध होता है।[2] यह उसकी उत्तर सीमा है। देवराज सायण से पूर्ववर्ती है। सायण ने देवराज की निघण्टुटीका को उद्धृत किया है। देवराज का काल विक्रम की १४ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।[3] इसलिये दण्डनाथ उस से प्राचीन है, इतना ही निश्चित कहा जा सकता है।

हृदयहारिणी व्याख्या सहित सरस्वतीकण्ठाभरण के सम्पादक साम्ब-शास्त्री ने 'दण्डनाथ' शब्द से कल्पना की है कि नारायणभट्ट भोजराज का सेनापति वा न्यायाधीश था।[4]

---

१. त्रिवेन्द्रम प्रकाशित सरस्वतीकण्ठाभरण के सम्पादक ने इस अभिप्राय को न समझकर 'समुद्धृतायां' का संबन्ध काशिका वृत्ति के साथ जोड़ा है। द्र० चतुर्थ भाग की भूमिका पृष्ठ १२।

२. निघण्टु टीका पृष्ठ २१८, २६०, २६७ सामश्रमी संस्क०। त्रिवेन्द्रम संस्करण चतुर्थ भाग के भूमिका लेखक के. एस. महादेव शास्त्री ने दण्डनाथ के काल निर्णय पर लिखते हुए सायण का ही निर्देश किया है, देवराज का उल्लेख नहीं किया। द्र० भूमिका, भाग ४, पृष्ठ १७।

हृदयहारिणी टीका के चतुर्थ भाग के भूमिका लेखक के. एस. महादेव शास्त्री का मत है कि दण्डनाथ मुग्धबोधकार वोपदेव से उत्तरवर्ती है। इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कई पाठों की तुलना की है। उन के मत में दण्डनाथ का काल १३५०-१४५० ई० सन् के मध्य है।

हमें महादेवशास्त्री के निर्णय में सन्देह है, क्योंकि मुग्धबोध के साथ तुलना करते हुए जिन मतों का निर्देश किया है, वे मत मुग्धबोध से प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते हैं। यथा निष्ठा में स्फायी को विकल्प से स्फी भाव का विधान क्षीरस्वामी कृत क्षीरतरङ्गिणी में भी उपलब्ध होता है—

निष्ठायां स्फायः स्फी (६ । १ । १२) स्फीतः। ईदित्त्वं स्फाये-रादेशानित्यत्वे लिङ्गम्—स्फातः। १ । ३२६ ॥

२. कृष्णलीलाशुक मुनि (सं० १२२५-१३५० के मध्य)

कृष्णलीलाशुक मुनि ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस का एक हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम के हस्तलेख संग्रह में है। देखो सूचीपत्र भाग ६, ग्रन्थाङ्क ३५। पं० कृष्णामचार्य ने भी अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' ग्रन्थ में इस का उल्लेख किया है। इस टीका में ग्रन्थकार ने पाणिनीय जाम्बवतीकाव्य के अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।[1]

कृष्णलीलाशुक वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य है। इस का बनाया हुआ कृष्णकर्णामृत वा कृष्णलीलामृत नाम का स्तोत्र वैष्णवों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ने धातुपाठविषयक 'दैवम्' ग्रन्थ पर 'पुरुषकार' नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस से ग्रन्थकार का व्याकरण विषयक प्रौढ़ पाण्डित्य स्पष्ट विदित होता है।

कई विद्वान् कृष्णलीलाशुक को बंगदेशीय मानते हैं, परन्तु यह चिन्त्य है। पुरुषकार के अन्त में विद्यमान श्लोक से विदित होता है कि वह दाक्षिणात्य है, काञ्चीपुर का निवासी है। इसका निश्चित काल अज्ञात है। कृष्णलीलाशुक विरचित 'पुरुषकार' व्याख्या की कई

सं० १३५०-१४०० के मध्य माना जाता है । अतः कृष्णलीलाशुक सं० १३५० से पूर्ववर्ती है, यह इस की उत्तर सीमा है। पुरुषकार में आचार्य हेमचन्द्र का मत तीन बार उद्धृत है ।[1] हेमचन्द्र का ग्रन्थलेखन काल सं० ११६६-१२२० के लगभग है, यह कृष्णलीलाशुक की पूर्व सीमा है। पं० सीताराम जयराम जोशी ने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' में कृष्णलीलाशुक का काल सन् ११०० (वि० सं० ११५७) के लगभग माना है[2], वह चिन्त्य है।

पुरुषकार में कविकामधेनु नाम का ग्रन्थ कई बार उद्धृत है। यह अमरकोष की टीका है।[3] इस ग्रन्थ में पाणिनीय सूत्र उद्धृत हैं।[4]

कृष्णलीलाशुक के देश काल आदि के विषय में हमने स्वसम्पादित दैव-पुरुषकारवार्तिक के उपोद्घात में विस्तार से लिखा है। अतः इस विषय में वहीं (पृष्ठ ५-८) देखें। कृष्णलीलाशुक मुनि के अन्य ग्रन्थों का भी विवरण वहीं दिया है। पिष्टपेषणभय से यहां पुनः नहीं लिखते।

४. रामसिंहदेव

रामसिंहदेव ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'रत्नदर्पण' नाम्नी व्याख्या लिखी है। ग्रन्थकार का देश काल अज्ञात है।

प्रक्रियाग्रन्थकार (सं० १५०० से पूर्ववर्ती)

प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में लिखा है—

तथा च सरस्वतीकण्ठाभरणप्रक्रियायां पदसिन्धुसेतावित्युक्तम् ।[5]

इससे प्रतीत होता है कि सरस्वतीकण्ठाभरण पर 'पदसिन्धुसेतु' नाम का कोई प्रक्रिया ग्रन्थ रचा गया था। ग्रन्थकार का नाम तथा देशकाल

क्षपयेत् इति दैवम् । निघण्टु टीका पृष्ठ ४३ । देखो दैवम् पुरुषकार पृष्ठ ६५ ।

१. पृष्ठ २२, २४, ३७; हमारा संस्क० पृष्ठ १६, २१, २३ ।

२. पृष्ठ २५६ ।   ३. यथा—प्रसूनं कुसुमं सुमम् (अमर २ । ४ । १७) इत्यत्र कविकामधेनुः षूङ् प्राणिप्रसवे ।······पृष्ठ ३३, हमारा संस्क० पृष्ठ २६ ।

४. 'स्यादाच्छुरितकं हासः·········इत्यमरसिंहश्च (१ । ६ । ३५) तच्चैतत्

अज्ञात है। विट्ठल द्वारा उद्धृत होने से यह ग्रन्थकार सं० १५०० से पूर्व-वर्ती है, यह स्पष्ट है।

१०—बुद्धिसागरसूरि (सं० १०८०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने 'बुद्धिसागर' अपर नाम **'पञ्चग्रन्थी'** व्याकरण रचा था। आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन विवरण[1] और और हैम अभिधान चिन्तामणि[2] की व्याख्या में इस का निर्देश किया है।

परिचय

बुद्धिसागर[3] श्वेताम्बर सम्प्रदाय का आचार्य था। इन के सहोदर का नाम जिनेश्वर सूरि था। यह चन्द्र कुल के वर्धमान सूरि का शिष्य था।

काल

बुद्धिसागर व्याकरण के अन्त में एक श्लोक है—

श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालात् साशीतिके याति समासहस्रे।
सश्रीकजावालिपुरे तदाद्यं दृब्धं मया सप्तसहस्रकल्पम्॥[4]

तदनुसार बुद्धिसागर ने वि० सं० १०८० में उक्त व्याकरण की रचना की थी। अतः बुद्धिसागर का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है, यह स्पष्ट है।

व्याकरण का परिमाण

ऊपर जो श्लोक उद्धृत किया है उस में बुद्धिसागर व्याकरण का परिमाण सात सहस्र श्लोक लिखा है। प्रतीत होता है, यह परिमाण उक्त व्याकरण के खिलपाठ और उसकी वृत्ति के सहित है। प्रभावकचरित में इस व्याकरण का परिमाण आठ सहस्र श्लोक लिखा है। यथा—

---

१. उदरम् जाठरव्याधियुद्धानि। जठरे त्रिलिङ्गमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ १००। इसी प्रकार पृष्ठ ४, १०३, १३३ पर भी निर्देश मिलता है।

२. [उदरम्] त्रिलिङ्गोऽयमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ २४५।

३. बुद्धिसागर सूरि का उल्लेख पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृष्ठ ९५ के अभयदेव सूरि के प्रबन्ध में मिलता है। ४. पं० चन्द्रसागर सूरि सम्पादित सिद्धहेमशब्दानु-

सहस्राग्रकमान तद् श्रीबुद्धिसागराभिधम् ॥

मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हर्षवर्धनकृत लिङ्गानुशासन की भूमिका पृष्ठ ३४ पर सम्पादक ने बुद्धिसागरकृत लिङ्गानुशासन का निर्देश किया है। इस के उद्धरण हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन के विवरण और अभिधान चिन्तामणि की व्याख्या में दिए है।[1]

११—भद्रेश्वर सूरि (सं० १२०० से पूर्व)

भद्रेश्वर सूरि ने दीपक व्याकरण की रचना की थी। यह ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है। गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान ने लिखा है—

मेधाविनः प्रवरदीपककर्तृयुक्ताः।[2]

इस की व्याख्या में लिखता है—"दीपककर्त्ता **भद्रेश्वरसूरिः। प्रवरश्चासौ दीपककर्त्ता च प्रवरदीपककर्त्ता। प्राधान्यं चास्याधुनिक-वैयाकरणापेक्षया।**[3]

आगे पृष्ठ ९८ पर दीपक व्याकरण का निम्न अवतरण दिया है—

"भद्रेश्वराचार्यस्तु—

किञ्च स्वा दुर्भगा कान्ता रक्षान्ता निश्चिता समा।
सचिवा चपला भक्तिर्बाल्येति स्वादयो दश ॥

इति स्वादौ वेत्यनेन विकल्पेन पुंवद्भावं मन्यते।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भद्रेश्वर सूरि ने कोई शब्दानुशासन रचा था और उसका नाम "दीपक" था। सायणविरचित माधवीया धातुवृत्ति में श्रीभद्र के नाम से व्याकरणविषयक अनेक मत उद्धृत हैं। सम्भव है, वे मत भद्रेश्वर सूरि के दीपक व्याकरण के हों। धातुवृत्ति पृष्ठ ३७८, ३७६ से व्यक्त होता है कि श्रीभद्र ने अपने धातुपाठ पर भी कोई वृत्ति रची थी। इस का वर्णन इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में (पृष्ठ १११ पर) देखिए।

काल

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि की रचना वि० सं० ११९७ में की थी।[4]

---

१. पूर्व पृष्ठ ५६१, टि० १, २। २. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ १।

३. गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २। ४. सप्तनवत्याधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु। वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥ पृष्ठ २५१।

उस में भद्रेश्वर सूरि और उसके दीपक व्याकरण का उल्लेख होने से इतना स्पष्ट है कि भद्रेश्वर सूरि सं० ११९७ से पूर्ववर्ती है, परन्तु उस से कितना पूर्ववर्ती है, यह कहना कठिन है।

पं० गुरुपद हालदार ने भद्रेश्वर सूरि और उपाङ्गी भद्रबाहु सूरि की एकता का अनुमान किया है।[1] जैन विद्वान् भद्रबाहु सूरि को चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालिक मानते हैं।[2] अतः जब तक दोनों की एकता का बोधक सुदृढ़ प्रमाण न मिले, तब तक इनकी एकता का अनुमान व्यर्थ है।

१२—वर्धमान (११५०—१२२५)

गणरत्नमहोदधि संज्ञक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के द्वारा वर्धमान वैयाकरण निकाय में सुप्रसिद्ध है, परन्तु वर्धमान ने किसी स्वीय शब्दानुशासन का प्रवचन किया था, यह अज्ञात है।

संक्षिप्तसार की गोयीचन्द्र कृत टीका का में एक पाठ है—

चन्द्रोऽनित्यां वृद्धिमाह। भागवृत्तिकारस्तु नित्यं वृद्ध्यभावम्। 'वौ श्रमेर्वा' इति वर्धमानः।[3]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वर्धमान ने कोई शब्दानुशासन रचा था और उसी के अनुरूप उस ने गणपाठ को श्लोकबद्ध करके उसकी व्याख्या लिखी थी।

काल

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि के अन्त में उस का रचना काल वि० सं० ११९९ लिखा है। वर्धमान ने स्वविरचित 'सिद्धराज' वर्णन काव्य का उद्धरण गणरत्नमहोदधि (पृष्ठ ९७) में दिया है। आरम्भ में तृतीय श्लोक की व्याख्या के पाठान्तर **स्वशिष्यैः कुमारपालहरिपालमुनिचन्द्रप्रभृतिभिः**[4] में कुमारपाल का स्वशिष्य के रूप में वर्णन किया है। अतः वर्धमान का काल वि० सं० ११५०—१२२५ तक मानना युक्त है।

वर्धमान विरचित गणरत्नमहोदधि का वर्णन गणपाठ के प्रवक्ता और

१३—हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५—१२२९)

प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' नाम का एक सांगोपाङ्ग बृहद् व्याकरण लिखा है।

परिचय

वंश—हेमचन्द्र के पिता का नाम 'चाचिग' (अथवा 'चाच') और माता का नाम 'पाहिणी' (पाहिनी) था। पिता वैदिक मत का अनुयायी था, परन्तु माता का झुकाव जैन मत की ओर था। हेमचन्द्र का जन्म मोढवंशीय वैश्यकुल में हुआ था।

जन्म-काल—हेमचन्द्र का जन्म कार्तिक पूर्णिमा सं० ११४५ में हुआ था।

जन्म-नाम—हेमचन्द्र का जन्म नाम 'चांगदेव' (पाठा० 'चंगदेव') था।

जन्म-स्थान—ऐतिहासिक विद्वानों के मतानुसार हेमचन्द्र का जन्म 'धुन्धुक' ('धन्धुका') (जिला अहमदाबाद) में हुआ था।

गुरु—हेमचन्द्र के गुरु का नाम 'चन्द्रदेव सूरि' था। इन्हें देवचन्द्र सूरि भी कहते थे। ये श्वेताम्बर सम्प्रदायान्तर्गत वज्रशाखा के आचार्य थे।

दीक्षा—एक बार माता के साथ जैन मन्दिर जाते हुए चांगदेव (हेमचन्द्र) की चन्द्रदेव सूरि से भेंट हुई। चन्द्रदेव ने चांगदेव को विलक्षण प्रतिभाशाली होनहार बालक जान कर शिष्य बनाने के लिये उन्हें उन की माता से मांग लिया। माता ने भी अपने पुत्र को श्रद्धापूर्वक चन्द्रदेव मुनि को समर्पित कर दिया। इस समय चांगदेव के पिता परदेश गये हुए थे। साधु होने पर चांगदेव का नाम सोमचन्द्र रक्खा गया। प्रभावक-चरितकार के मतानुसार वि० सं० ११५० माघसुदी १४ शनिवार के ब्राह्ममुहूर्त में पांच वर्ष की वय में पार्श्वनाथ चैत्य में भागवती प्रव्रज्या दी गई।[१] मेरुतुंग सूरि के मतानुसार वि० सं० ११५४ माघसुदी ४ शनिवार को ९ वर्ष की आयु में प्रव्रज्या दी गई।[२] सं० ११६२ में मारवाड़ प्रदेशान्तर्गत 'नागौर' नगर में १७ वर्ष की वय में इन्हें सूरि पद मिला और इनका नाम हेमचन्द्र हुआ। कई विद्वान् सूरि पद की प्राप्ति सं० ११६६ वैशाखसुदी ३ (अक्षय तृतीया), मध्याह्न समय २१ वर्ष की वय में मानते हैं।[३]

---

१. जैन सत्य प्रकाश वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक (१९४१) [illegible]

पाण्डित्य—हेमचन्द्र जैन मत के श्वेताम्बर सम्प्रदाय का एक प्रामाणिक आचार्य है। इसे जैन ग्रन्थों में 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा है। जैन लेखकों में हेमचन्द्र का स्थान सर्वप्रधान है। इसने व्याकरण, न्याय छन्द, काव्य और धर्म आदि प्रायः समस्त विषयों पर ग्रन्थ रचना की है। इस के अनेक ग्रन्थ इस समय अप्राप्य हैं।

सहायक—गुजरात के महाराज सिद्धराज और कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र के महान् भक्त थे। उन के साहाय्य से हेमचन्द्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की और जैन मत का प्रचार किया।

निर्वाण—आचार्य हेमचन्द्र का निर्वाण सं० १२२९ में ८४ वर्ष की वय में हुआ। आचार्य हेमचन्द्र का उपर्युक्त परिचय हम ने प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ (पृष्ठ ८३—९५) और मुनिराज सुशीलविजयजी के 'कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य' लेख[1] के अनुसार दिया है।

शब्दानुशासन की रचना—हेमचन्द्र ने गुजरात के सम्राट् सिद्धराज के आदेश से शब्दानुशासन की रचना की।[2] सिद्धराज का जयसिंह भी नामान्तर था।[3] सिद्धराज का काल सं० ११५०—११९९ तक माना जाता है।

हैम शब्दानुशासन

हेमचन्द्रविरचित सिद्ध हैमशब्दानुशासन संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का व्याकरण है। प्रारम्भिक ७ अध्यायों के २८ पादों में संस्कृत भाषा का व्याकरण है। इसमें ३५६६ सूत्र हैं। आठवें अध्याय में प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश आदि का अनुशासन है। आठवें अध्याय में समस्त १११९ सूत्र हैं। जैन आगम की प्राकृतभाषा का अनुशासन पाणिनि के ढंग पर "आर्षम्" कह कर समाप्त कर दिया है। इस प्रकार अनेकविध प्राकृत भाषाओं का व्याकरण सर्व प्रथम हेमचन्द्र ने ही लिखा है। जैनप्रसिद्धि के अनुसार हैमशब्दानुशासन की रचना में केवल एक वर्ष का समय लगा था।[4] हैमबृहद्वृत्ति के व्याख्याकार

---

१. वही, सत्यप्रकाश पृष्ठ ६१—१०६। २. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ ६०।

३. सं० ११५० पूर्वं श्रीसिद्धराजजयसिंहदेवेन वर्षं ४९ राज्यं कृतम्। प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ७६। इस क पाठान्तर भी देखें।

श्री पं० चन्द्रसागर सूरि के मतानुसार हेमचन्द्रचार्य ने हैमव्याकरण की रचना संवत् ११९३, ११९४ में की थी ।[1] हमारा विचार है कि आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण की रचना सं० ११९६—११९९ के मध्य की है, क्योंकि वर्धमान ने ११९७ में गणरत्नमहोदधि लिखी है। यदि सं० ११९७ से पूर्व हेमचन्द्र ने व्याकरण लिखा होता तो वर्धमान उसका निर्देश अवश्य करता।

हैमव्याकरण का क्रम प्राचीन शब्दानुशासनों के सदृश नहीं है। इस की रचना कातन्त्र के समान प्रकरणानुसारी है। इस में यथाक्रम संज्ञा, स्वरसन्धि, व्यञ्जनसन्धि, नाम, कारक, षत्व, णत्व, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यात, कृदन्त और तद्धित प्रकरण हैं।

व्याकरण के अन्य ग्रन्थ

१—हैमशब्दानुशासन की स्वोपज्ञा लघ्वी वृत्ति (६००० श्लोक परिमाण)।

२—मध्य वृत्ति (१२००० श्लोक परिमाण)।

३—बृहती वृत्ति (१८००० श्लोक परिमाण)।

४—हैमशब्दानुशासन पर बृहन्न्यास।

इन चारों का वर्णन अनुपद किया जायगा।

५—धातुपाठ और उसकी धातुपारायण नाम्नी व्याख्या।

६—गणपाठ और उस की वृत्ति।[2]

७—उणादि सूत्र और उसकी स्वोपज्ञा वृत्ति।

८—लिङ्गानुशासन और उसकी वृत्ति।

इन ग्रन्थों का वर्णन यथास्थान तत्तत् प्रकरणों में किया जायगा।

हैमव्याकरण के व्याख्याता

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने समस्त मूल ग्रन्थों की स्वयं टीकाएं रची हैं। उसने अपने व्याकरण की तीन व्याख्याएं लिखी हैं। शास्त्र में प्रवेश करने वाले बालकों के लिये लघ्वी वृत्ति, मध्यम बुद्धिवालों के लिए मध्य

---

१. श्री पं० चन्द्रसागर सूरि प्रकाशित हैमबृहद्वृत्ति भाग १ की भूमिका

वृत्ति[1] और कुशाग्रमति प्रौढ़ व्यक्तियों के लिये बृहती वृत्ति की रचना की है। लघ्वी वृत्ति का परिमाण लगभग ६ सहस्र श्लोक है, मध्य का १२००० सहस्र श्लोक[1] और बृहती का १८ सहस्र श्लोक। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर ९० सहस्र श्लोक परिमाण का शब्दमहार्णव न्यास' अपर नाम "बृहन्न्यास" नाम का विवरण लिखा था। यह चिर काल से अप्राप्य था। श्रीविजयलावण्यसूरिजी के महान् प्रयत्न से यह आरम्भ से तृतीयाध्याय के प्रथम पाद तक ३ भागों में प्रकाशित हो चुका है।

हैमशब्दानुशासन में स्मृत ग्रन्थकार—इस व्याकरण तथा उसकी वृत्तियों में निम्नलिखित प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है—

आपिशलि, यास्क, शाकटायन, गार्ग्य, वेदमित्र, शाकल्य, इन्द्र, चन्द्र, शेषभट्टारक, पतञ्जलि, वार्त्तिककार, पाणिनि, देवनन्दी, जयादित्य, वामन, विश्रान्तविद्याधरकार, विश्रान्तन्यासकार (मल्लवादी सूरि), जैन शाकटायन, दुर्गसिंह, श्रुतपाल, भर्तृहरि, क्षीरस्वामी, भोज, नारायणकण्ठी, सारसंग्रहकार, द्रमिल, शिक्षाकार, उत्पल, उपाध्याय (कैयट),[2] क्षीरस्वामी, जयन्तीकार, न्यासकार और पारायणकार।

अन्य व्याख्याकार

हैमव्याकरण पर अनेक विद्वानों ने टीका टिप्पणी आदि लिखे। उनके ग्रन्थ प्रायः दुष्प्राप्य और अज्ञात हैं। डा० बेल्वाल्कर ने अपने 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' नामक ग्रन्थ में निम्न व्याख्याकारों का नाम निर्देश किया है—

१ (हेमचन्द्र ?)	बृहद् ढुण्ढिका
२ धनचन्द्र	....
३ जिनसागर	ढुण्ढिका
४ उदयसौभाग्य	,, (प्राकृतभाग पर)
५ देवेन्द्र सूरि	हैमलघुन्यास
६ विनयविजय गणी	हैमलघुप्रक्रिया
७ मेघविजय	हैमकौमुदी

डा० बेल्वाल्कर ने अज्ञातनामा व्यक्ति के 'शब्दमहार्णव न्यास' का

न्यायसंग्रह के न्यास में मिलता है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के साहित्यिक कार्य के परिचय के लिए 'जैन सत्य प्रकाश' वर्ष ७ दीपोत्सवी अंक (१९४१) में पृष्ठ ७५—९० तक श्रीअम्बालाल प्रेमचन्द्र शाह का 'मध्य कालीन भारतना महा वैयाकरण' लेख और पृष्ठ ९१—१०६ तक श्री मुनिराज सुशीलविजयजी का 'कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य अने तेमनुं साहित्य' लेख देखना चाहिए।

अत्यर्वाक् कालिक वैयाकरण

आचार्य हेमचन्द्र संस्कृत शब्दानुशासन के अन्तिम रचयिता हैं। इस के साथ ही उत्तर भारत में संस्कृत के उत्कृष्ट मौलिक ग्रन्थों का रचना काल समाप्त होजाता है। उसके अनन्तर विदेशी मुसलमानों के आक्रमण और आधिपत्य से भारत की प्राचीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में भारी उथल पुथल हुई। जनता को विविध असह्य यातनायें सहनी पड़ीं। ऐसे भयंकर काल में नये उत्कृष्ट वाङ्मय की रचना सर्वथा असम्भव थी। उस काल में भारतीय विद्वानों के सामने प्राचीन वाङ्मय की रक्षा की ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या उत्पन्न होगई थी। अधिकतर आर्य राज्यों के नष्ट हो जाने से विद्वानों को सदा से प्राप्त होने वाला राज्याश्रय प्राप्त होना भी दुर्लभ होगया। अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी तात्कालिक विद्वानों ने प्राचीन ग्रन्थों की रक्षार्थ उन पर टीका टिप्पणी लिखने का क्रम बराबर प्रचलित रक्खा। उसी काल में संस्कृत भाषा के प्रचार को जीवित जागृत रखने के लिये तत्कालीन वैयाकरणों ने अनेक नये छोटे छोटे व्याकरण ग्रन्थों की रचनायें कीं। इस काल के कई व्याकरण ग्रन्थों में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति भी परिलक्षित होती है। इस अर्वाचीन काल में जितने व्याकरण बनें उनमें निम्न चार व्याकरण कुछ महत्त्वपूर्ण हैं—

१—जौमर २—सारस्वत ३—मुग्धबोध ४—सुपद्म

अब हम इनका नामोद्देशमात्र से वर्णन करते हैं—

१४—क्रमदीश्वर (सं० १२०० से पूर्व)

क्रमदीश्वर ने संक्षिप्तसार नामक एक व्याकरण रचा है। यह सम्प्रति

१. काकलकायस्थकृतलक्षणलघुवृत्तिरथः······ (cut off)

उसके परिष्कर्त्ता जुमरनन्दी के नाम पर जौमर नाम से प्रसिद्ध है। क्रमदीश्वर ने स्वीय व्याकरण पर रसवती नाम्नी एक वृत्ति भी रची थी। उसी वृत्ति का जुमरनन्दी ने परिष्कार किया। इसीलिये अनेक हस्तलेखों के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

इति वादीन्द्रचक्रचूडामणिमहापण्डितश्रीक्रमदीश्वरकृतौ संक्षिप्तसारे महाराजाधिराजजुमरनन्दिशोधितायां वृत्तौ रसवत्यां......।

परिष्कर्त्ता-जुमरनन्दी

उपर्युक्त उद्धरण से व्यक्त है कि जुमरनन्दी किसी प्रदेश का राजा था। कई लोग जुमर शब्द का संबन्ध जुलाहा से लगाते हैं, वह चिन्त्य है।

परिशिष्टकार—गोयीचन्द्र

गोयीचन्द्र औत्थासनिक ने **सूत्रपाठ, उणादि** और **परिभाषापाठ** पर टीकाएं लिखीं और उसने जौमर व्याकरण के **परिशिष्टों** की रचना की। इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में ८३६ संख्या का एक हस्तलेख है, उस पर "गोयीचन्द कृत जौमर व्याकरण परिशिष्ट" लिखा है।

गोयीचन्द्र-टीका के व्याख्याकार

१—**न्याय पञ्चानन**—विद्याविनोद के पुत्र न्याय पञ्चानन ने सं० १७६९ में गोयीचन्द्र की टीका पर एक व्याख्या लिखी है।

२—**तारक पञ्चानन**—तारक पञ्चानन ने **दुर्घटोद्घाट** नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसके अन्त में लिखा है—

गोयीचन्द्रमतं सम्यगबुद्ध्वा दूषितं तु यत्।
अन्यथा विवृतं यद्वा तन्मया प्रकटीकृतम्॥

३—चन्द्रशेखर विद्यालंकार **४—वंशीवादन** **५—हरिराम**

इन का काल अज्ञात है।

६—**गोपाल चक्रवर्ती**—इसका उल्लेख कोलब्रुक ने किया है।

गोयीचन्द्र टीका के व्याख्याकारों का निर्देश हमने डा० बेल्वाल्कर के

१५—सारस्वत-व्याकरणकार (सं० १२५० के लगभग)

सारस्वत व्याकरण के विषय में प्रसिद्ध है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य को सरस्वती देवी से इन सूत्रों का आगम हुआ और इसी कारण इस का सारस्वत नाम हुआ। यद्यपि सारस्वत व्याकरण के अन्त में प्रायः "अनुभूतिस्वरूपाचार्यविरचिते" पाठ मिलता है, तथापि उसके प्रारम्भिक-

प्रणम्य परमात्मनं बालधीवृद्धिसिद्धये ।
सरस्वतीमृजुं कुर्वे प्रक्रियां नातिविस्तराम् ॥

श्लोक से विदित होता है कि अनुभूतिस्वरूपाचार्य इस व्याकरण का मूल लेखक नहीं है, वह तो उसकी प्रक्रिया को सरल करने वाला है।

सारस्वत सूत्रों का रचयिता

क्षेमेन्द्र अपनी सारस्वतप्रक्रिया के अन्त में लिखता है—

इति श्रीनरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्रटिप्पनं समाप्तम् ।

इससे प्रतीत होता है कि सारस्वत सूत्रों का मूल रचयिता नरेन्द्राचार्य नामक वैयाकरण है। अमरभारती नामक एक अन्य टीकाकार भी लिखता है—

यन्नरेन्द्रनगरिप्रभाषितं यच्च वैमलसरस्वतीरितम् ।
तन्मयात्र लिखितं तथाधिकं किञ्चिदेव कलितं स्वया धिया ॥

विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की टीका में नरेन्द्राचार्य को असकृत् उद्धृत किया है।

एक नरेन्द्रसेन वैयाकरण प्रमाणप्रमेयकलिका का कर्त्ता है। इस के गुरु का नाम कनकसेन और उसके गुरु का नाम अजितसेन था। नरेन्द्रसेन का चान्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र और पाणिनीय तन्त्र पर पूरा अधिकार था। इस का काल शकाब्द ९७५ अर्थात् वि० सं० १११० है। यद्यपि नरेन्द्राचार्य और नरेन्द्रसेन की एकता का कोई उपोद्बलक प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ, तथापि हमारा विचार है ये दोनों एक हैं

सारस्वत के टीकाकार

सारस्वत व्याकरण पर अनेक वैयाकरणों ने टीकाएं रचीं उन में से जिन की टीकाएं प्राप्य वा ज्ञात हैं उन के नाम इस प्रकार हैं—[1]

१—क्षेमेन्द्र (सं० १२६० ?)

क्षेमेन्द्र ने सारस्वत पर **'टिप्पण'** नाम से एक लघु व्याख्यान लिखा है। यह हरिभट्ट वा हरिभद्र के पुत्र कृष्णशर्मा का शिष्य था। अतः यह स्पष्ट है कि यह कश्मीर देशज महाकवि क्षेमेन्द्र से भिन्न है।

२—धनेश्वर (सं० १२७५ ?)

धनेश्वर ने सारस्वत पर **क्षेमेन्द्र टिप्पण-खण्डन** लिखा है। यह धनेश्वर प्रसिद्ध वैयाकरण वोपदेव का गुरु था। इसने तद्धित प्रकरण के अन्त में अपनी प्रशस्ति में पांच श्लोक लिखे हैं। उन से ज्ञात होता है कि धनेश्वर ने महाभाष्य पर चिन्तामणि नामक टीका, प्रक्रियामणि नामक नया व्याकरण और पद्मपुराण के एक स्तोत्र पर टीका लिखी थी। महाभाष्यटीका का वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं।[2]

३—अनुभूतिस्वरूप (सं० १३००)

अनुभूतिस्वरूप आचार्य ने **सारस्वत-प्रक्रिया** लिखी है।

४—अमृतभारती (सं० १५५० से पूर्व)

अमृतभारती ने सारस्वत पर **'सुबोधिनी'** नाम्नी टीका लिखी है। यह अमल सरस्वती का शिष्य था।

इस के हस्तलेखों में विविध पाठों के कारण लेखक और उस के गुरु के नामों में सन्देह उत्पन्न होता है। कुछ **अद्वय सरस्वती** के शिष्य-**विश्वेश्वराब्धि** का उल्लेख करते हैं, कुछ **ब्रह्मसागर मुनि** के शिष्य सत्य-प्रबोध भट्टारक का निर्देश करते हैं। इस टीका का सब से पुराना हस्तलेख सं० १५५४ का है। इस का निर्माण

क्षेत्रे व्यधायि पुरुषोत्तम संज्ञकेऽस्मिन्।

के अनुसार पुरुषोत्तम क्षेत्र में हुआ था।

---

१. अगला टीकाकारों का संक्षिप्त वर्णन हमने प्रधानतया डा० बेल्वाल्कर के 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' के आधार पर किया है, परन्तु क्रम और काल निर्देश

पुञ्जराज ने सारस्वत पर 'प्रक्रिया' नाम्नी व्याख्या लिखी है यह मालवा के श्रीमाल परिवार का था। इस ने जिस से शिक्षा ग्रहण की वह मालवा के बादशाह गयासुद्दीन खिलजी का मन्त्री था। गयासुद्दीन का काल वि० सं० १५२६—१५५७ तक है। पुञ्जराज ने अलंकार पर शिशुप्रबोध और ध्वनिप्रदीप दो ग्रन्थ लिखे हैं।

६—सत्यप्रबोध (सं० १५५६ से पूर्व)

सत्यप्रबोध ने सारस्वत पर एक दीपिका लिखी है। इस का सब से पुराना हस्तलेख सं० १५५६ का है। डा० बेल्वाल्कर ने इस का निर्देश नहीं किया है।

७—माधव (सं० १५९१ से पूर्व)

माधव ने **सिद्धान्तरत्नावली** नाम की टीका लिखी है। इस के पिता का नाम काह्नू और गुरु का नाम श्रीरङ्ग था। इस टीका का सब से पुराना हस्तलेख सं० १५९१ का है।

८—चन्द्रकीर्ति (सं० १६०० ?)

चन्द्रकीर्ति ने **सुबोधिका** वा **दीपिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। ग्रन्थ के अन्त में दी गई प्रशस्ति के अनुसार इस का लेखक जैन मतानुयायी था और नागपुर के बृहद्द गच्छ से सम्बन्ध रखता था। यह हर्षकीर्ति का शिष्य था। प्रशस्ति में लिखा है।

श्रीमत्साहिसलेमभूपतिना सम्मानितः सादरम्।
सूरिः सर्वकलिन्दि(का)कलितधीः श्रीचन्द्रकीर्तिः प्रभुः।

देहली के बादशाह शाही सलीम का राज्य काल सं० १६०२—१६१० (=सन् १५४५—१५५३) है। अतः चन्द्रकीर्ति ने इसी समय में सुबोधिका व्याख्या लिखी।

चन्द्रकीर्ति विरचित सारस्वत दीपिका का एक हस्तलेख कलकत्ता संस्कृत कालेज के पुस्तकालय में है। उस के अन्त में निम्न पाठ है—

इति **श्रीमन्नागपुरीयतपागच्छाधीशराजभट्टारकचन्द्रकीर्तिसूरिविरचितायां सारस्वतव्याकरणस्य दीपिकायां सम्पूर्णाः। श्रीरस्तु**

द्र० सूचीपत्र भाग ८, व्याकरण हस्तलेख संख्या १११ । १३९५ को शक संवत् मानने पर भी वि० सं० १५३० होता है, वह भी संभव नहीं है। अत: हमारे विचार में हस्तलेख में जो संवत् दिया है उस में लेखक प्रमाद से अशुद्धि हो गई है। यहां सम्भवत: सं० १५९५ देना चाहिए था। **दीपिकायां सम्पूर्णाः** पाठ से भी प्रतीत होता है कि लेखक विशेष पठित नहीं था।

चन्द्रकीर्ति नागपुरीय बृहद्द गच्छ के संस्थापक देवसूरि से १५ वीं पीढ़ी में थे। देवसूरि का काल संवत् ११७४ है। अत: चन्द्रकीर्ति का काल १६ वीं शती का अन्त और १७ वीं शती का आरम्भ मानना अधिक युक्त प्रतीत होता है।

९—रघुनाथ (सं० १६०० के लगभग)

रघुनाथ ने पातञ्जल महाभाष्य के अनुकरण पर सारस्वत सूत्रों पर **लघुभाष्य** रचा। इस के पिता का नाम विनायक था। यह प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित का शिष्य था। भट्टोजि दीक्षित का काल अधिक से अधिक सं० १५२५-१६०० माना जा सकता है (द्र० पूर्व पृष्ठ ४४७)। अत: रघुनाथ ने सं० १६०० के लगभग यह भाष्य लिखा होगा। डा० बेल्वाल्कर ने इस का काल ईसा की १७ वीं शती का मध्य माना है, वह चिन्त्य है।

१०—मेघरत्न (सं० १६१४ से पूर्व)

मेघरत्न ने **ढुंढिका** अथवा **दीपिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह जैन मत के बृहत् खरतरगच्छ से संबद्ध श्रीविनयसुन्दर का शिष्य था। इस व्याख्या का हस्तलेख सं० १६१४ का मिलता है।

११—मण्डन (सं० १६३२ से पूर्व)

मण्डन ने सारस्वत की एक टीका लिखी है। इस के पिता का नाम 'वाहद' था। 'वाहद' का एक भाई पदम था। वह मालवा के अलपशाही वा अलाम का मन्त्री था और वाहद एक संघेश्वर वा संघपति था। यह संकेत ग्रन्थकार ने स्वयं टीका में किया है। इस का सब से पुराना हस्तलेख सं० १६३२ का उपलब्ध है।

१२—वासुदेवभट्ट (सं० १६३४)

वासुदेवभट्ट ने **प्रसाद** नाम की एक व्याख्या लिखी थी। यह चण्डीश्वर का शिष्य था। [illegible]

इस श्लोक के अनुसार सं० १६३४ आषाढ़ कृष्णा द्वितीया को सारस्वत प्रसाद टीका समाप्त हुई।

१३—रामभट्ट (सं० १६५० के लगभग)

रामभट्ट ने **विद्वत्-प्रबोधिनी** नाम्नी टीका लिखी है। इस ने अपने ग्रन्थ में अपना और अपने परिवार का पर्याप्त वर्णन किया है। रामभट्ट के पिता का नाम 'नरसिंह' था और माता का 'कामा'। यह मूलतः तैलङ्ग देश का निवासी था, संभवतः वरङ्गल का। वहां से यह आंध्र में आकर बस गया था। उन दिनों वहां का शासक प्रतापरुद्र था। इस के दो पुत्र थे लक्ष्मीधर और जनार्दन। उन का विवाह करके ७७ वर्ष वय में वह तीर्थाटन को निकला। इस यात्रा में ही उस ने यह व्याख्या लिखी। इस कृति का मुख्य लक्ष्य है पवित्र तीर्थों का वर्णन। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में किसी न किसी तीर्थ का वर्णन मिलता है। यद्यपि यात्रा का पूर्ण वर्णन नहीं है, तथापि इस में आज से ३५० वर्ष पूर्व के समाज का चित्र अच्छे प्रकार चित्रित है। इस ने रत्नाकर नारायण भारती क्षेमंकर और महीधर आदि का उल्लेख किया है।

१४—काशीनाथ भट्ट (सं० १६७२ से पूर्व)

काशीनाथ भट्ट ने **भाष्य** नाम की एक टीका लिखी। परन्तु यह नाम के अनुरूप नहीं है। यह सम्भवतः सं० १६६७ से पूर्व विद्यमान था। इस संवत् में बुरहानपुर में इस टीका की एक प्रतिलिपि की गई थी। द्र० भण्डारकर इंस्टीटच्यूट पूना सन् १८८०—८१ के संग्रह का २९२ संख्या का हस्तलेख।

१५—भट्ट गोपाल (सं० १६७२ से पूर्व)

भट्ट गोपाल की सारस्वत व्याख्या का एक हस्तलेख सं० १६७२ का मिलता है। उस से ग्रन्थकार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

१६—सहजकीर्ति (सं० १६८१)

सहजकीर्ति ने **प्रक्रियावार्तिक** नाम्नी की एक व्याख्या लिखी है। यह जैन मतावलम्बी था और खरतर गच्छ के हेमनन्दनगणि का शिष्य था। लेखक ने ग्रन्थ लेखन काल स्वयं लिखा है—

१७—हंसविजयगणि (सं० १७०८)

हंसविजयगणि ने **शब्दार्थचन्द्रिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह जैन मतावलम्बी था और विजयानन्द का शिष्य था। यह सं० १७०८ में विद्यमान था। यह टीका अति साधारण है

१८—जगन्नाथ (?)

जगन्नाथ का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस का निर्देश धनेन्द्र नाम के टीकाकार ने किया है। इस टीका का नाम सारप्रदीपिका है।

इन टीकाओं के अतिरिक्त सारस्वत व्याकरण के साथ दूरतः सम्बन्ध रखने वाली कुछ व्याख्याएं और भी हैं। परन्तु वे वस्तुतः सारस्वत के रूपान्तर को उपस्थित करती हैं। और कुछ मे तो वह रूपान्तर इतना हो गया है कि वह स्वतन्त्र व्याकरण बन गया है यथा रामचन्द्राश्रम की **सिद्धान्तचन्द्रिका**।

सारस्वत के रूपान्तर

अब हम सारस्वत के रूपान्तरों को उपस्थित करने वाली व्याख्याओं का उल्लेख करते हैं—

१—तर्कतिलक भट्टाचार्य (सं० १६७२)

तर्कतिलक भट्टाचार्य ने सारस्वत का एक रूपान्तर किया और उस पर स्वयं व्याख्या लिखी। यह द्वारिका वा द्वारिकादास का पुत्र था। इस का बड़ा भाई मोहन मधुसूदन था। इस ने अपने रूपान्तर के लिए लिखा है—

इदं परमहंसश्रीमदनुभूतिलिखने क्षीरे नीरमिव प्रक्षिप्तम्।

अर्थात् मैं ने अनुभूति स्वरूप के क्षीर रूपी ग्रन्थ में नीर के समान प्रक्षेप किया है अर्थात् जैसे क्षीर नीर मिलकर एकाकार हो जाते हैं वैसे ही यह ग्रन्थ भी बन गया है।

ग्रन्थकार ने वृत्ति लेखन का काल इस प्रकार प्रकट किया है—

नयनमुनिक्षितिपांके (१६७२) वर्षे नगरे च होडाख्ये।

रामाश्रम ने भी सारस्वत का रूपान्तर कर के उस पर **सिद्धान्त-चन्द्रिका** नाम्नी व्याख्या लिखा है।

रामचन्द्र का इतिवृत्त अज्ञात है। कुछ विद्वानों के मत में भट्टोजि दीक्षित के पुत्र भानुजि दीक्षित का ही रामाश्रम वा रामचन्द्राश्रम नाम है। इस पर लोकेशकर ने सं० १७४१ में टीका लिखी है। अतः यह उस से पूर्व-भावी है इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इस ने अपनी टीका का एक संक्षेप **लघुसिद्धान्तचन्द्रिका** भी लिखी है।

सिद्धान्त-चन्द्रिका के टीकाकार

(१) **लोकेशकर**—लोकेशकर ने सिद्धान्तचन्द्रिका पर **तत्त्वदीपिका** नाम्नी टीका लिखी है। यह रामकर का पौत्र और क्षेमकर का पुत्र था। ग्रन्थ लेखन काल अन्त में इस प्रकार दिया है—

चन्द्रवेदहयभूमिसंयुते वत्सरे नभसि मासे शोभने।

शुक्लपक्षदशमीतिथावियं दीपिका बुधप्रदीपिका कृता॥

अर्थात् सं० १७४१ श्रावण शुक्ल पक्ष दशमी को दीपिका पूर्ण हुई।

(२) **सदानन्द**—सदानन्द ने सिद्धान्तचन्द्रिका पर **सुबोधिनी** टीका लिखी है। इसने इस टीका का रचना काल **निधिनन्दार्वभूवर्षे** (१७९९) लिखा है।

(३) **व्युत्पत्तिसारकार**—हमारे पास सिद्धान्तचन्द्रिका के उणादि प्रकरण पर लिखे गए व्युत्पत्तिसार नामक ग्रन्थ के हस्तलेख हैं। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। इसने सम्पूर्ण सिद्धान्तचन्द्रिका की टीका की वा उणादि भाग की ही यह अज्ञात है। इस का विशेष वर्णन हमने उणादि प्रकरण में (भाग २, पृष्ठ २२० पर) किया है।

३—जिनेन्द्र वा जिनरत्न

जिनेन्द्र वा जिनरत्न ने **सिद्धान्तरत्न** टीका लिखी है। यह बहुत अर्वाचीन है।

निबन्ध ग्रन्थ

डा० बेल्वाल्कर ने सारस्वत प्रकरण के अन्त में निम्न ग्रन्थकारों के ग्रन्थों का और निर्देश किया है—

१—हर्षकीर्तिकृत तरङ्गिणी—यह चन्द्रकीर्ति का शिष्य था। हर्षकीर्ति ने सं० १७१७ में तरङ्गिणी लिखी है।

२—ज्ञानतीर्थ—इसने कृत तद्धित और उणादि के उदाहरण दिए। इसका एक हस्तलेख सं० १७०४ का मिला है।

३—माधव—इसने सारस्वत के शब्दों के विषय में एक ग्रन्थ लिखा है, सम्भवतः सं० १६८० में।

डा० बेल्वाल्कर की भूल—डाक्टर बेल्वाल्कर ने इसी प्रकरण में लिखा है कि सारस्वत के उणादि परिभाषापाठ और धातुपाठ पर टीकाएं नहीं है। यह लेख चिन्त्य है। परिभाषा पाठ के अतिरिक्त धातुपाठ और उणादिपाठ की टीकाओं का वर्णन हम द्वितीय भाग में यथास्थान करेंगे।

१५—बोपदेव (सं० १३००-१३५०)

बोपदेव ने **मुग्धबोध** नामक लघु तन्त्र की रचना की है।

परिचय—बोपदेव के पिता का नाम केशव था। यह अपने समय का प्रसिद्ध भिषक् था। गुरु का नाम धनेश अथवा धनेश्वर था। यह वही धनेश्वर है जिसकी 'चिन्तामणि' नाम्नी महाभाष्य व्याख्या का उल्लेख हम पूर्व (पृष्ठ ३७६) कर चुके हैं।

बोपदेव की जन्मभूमि आधुनिक दौलताबाद (दक्षिण) के समीप थी। उस समय देवगिरि पर यादवों का राज्य था। बोपदेव हेमाद्रि का मन्त्री था।

मल्लिनाथ ने कुमारसम्भव की टीका में बोपदेव को उद्धृत किया है।[1] मल्लिनाथ का काल वि० सं० १४०० माना जाता है, परन्तु हमारा विचार है कि मल्लिनाथ सं० १३५० से उत्तरवर्ती नहीं है। क्योंकि सायण (सं० १३७२-१४४४) ने धातुवृत्ति में मल्लिनाथ कृत न्यासोद्योत के पाठ उद्धृत किए हैं।[2]

अन्य ग्रन्थ—बोपदेव ने कविकल्पद्रुम नाम से धातुपाठ का संग्रह किया और उस पर कामधेनु नाम्नी व्याख्या लिखी है। इस का वर्णन धातुपाठ के प्रकरण में किया जायगा। इ ति क काफल,

टीकाकार

वोपदेव के मुग्धबोध पर अनेक लेखकों ने व्याख्याएं लिखी हैं, उनमें से जिनका नाम विज्ञात है अथवा जिनके ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनका निर्देश हम नीचे करते हैं—

१—नन्दकिशोर भट्ट (सं० १४५५)

नन्दकिशोर भट्ट ने गगननयनकालक्ष्मामित शक संवत्सर (१३२०=वि० सं० १४५५) में मुग्धबोध के परिशिष्ट लिखे और मुग्धबोध पर व्याख्या भी लिखी।

२—प्रदीपकार (सं० १५२० से पूर्व)

विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी-प्रसाद (भाग २, पृष्ठ १०२) में **मुग्धबोध-प्रदीप** नाम्नी किसी व्याख्या को उद्धृत किया है। यह व्याख्या नन्दकिशोर कृत है अथवा अन्यकृत यह अज्ञात है। यदि अन्यकृत हो तो इसका काल सं० १५२० से पूर्व होगा। क्योंकि विट्ठल ने प्रक्रियाकौमुदी की प्रसाद टीका सं० १५२० के लगभग लिखी थी, यह हम पूर्व (पृष्ठ ४८६) लिख चुके हैं।

३—रामानन्द **४—देवीदास** **५—काशीश्वर**
६—विद्यावागीश **७—रामभद्र विद्यालङ्कार** **८—भोलानाथ**

इन टीकाकारों का उल्लेख दुर्गादास ने अपनी मुग्धबोध की टीका में किया है, ऐसा डा० बेल्वाल्कर ने 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' (पैरा ८४) में लिखा है।

इन में से **रामानन्द देवीदास रामभद्र** और **भोलानाथ** के व्याख्याओं के हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के हस्तलेख संग्रह में विद्यमान हैं। द्र० सूचीपत्र हस्तलेख संख्या क्रमशः ८५२, ८५१, ८६१, ८७०। उक्त सूचीपत्र में भोलानाथ की टीका का नाम **सन्दर्भामृततोषिणी** लिखा है।

९—विद्यानिवास

विद्यानिवास कृत मुग्धबोध टीका का उल्लेख दुर्गादास ने आरम्भ में ही नामोल्लेख पूर्वक किया है। डा० बेल्वाल्कर ने इस नाम का निर्देश क्यों नहीं किया, यह अज्ञात है।

दुर्गादास विद्यावागीश की टीका प्रसिद्ध है । दुर्गादास के पिता का नाम वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य है । डा० बेल्वाल्कर ने दुर्गादास का काल ई० सन् १६३९ (वि० सं० १६९६) लिखा है ।

इन के अतिरिक्त इण्डिया आफिस के सूचीपत्र में निम्न व्याख्याकारों के हस्तलेख और विद्यमान हैं ।

नाम टीकाकार	काल	टीका का नाम	हस्तलेख संख्या
११–श्रीरामशर्मा	"	"	८५३
१२–श्रीकाशीश	"	"	८५६
१३–गोविन्दशर्मा	"	शब्ददीपिका	८५७
१४–श्रीवल्लभ	"	"	८६१
१५–कार्तिकेय	"	सुबोधा	८६२
१६–मधुसूदन	"	"	८६९

इन में संख्या १२ का श्रीकाशीश पूर्व निर्दिष्ट काशीश्वर से (संख्या ५) भिन्न व्यक्ति है अथवा अभिन्न यह अज्ञात है ।

रूपान्तरकार

इन व्याख्याकारों ने मुग्धबोध के यथावस्थित पाठ पर ही व्याख्या की, अथवा उस में कुछ रूपान्तर भी किया यह अज्ञात है ।

डा० बेल्वाल्कर ने अपने सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर में लिखा है—

'इसने (रामतर्क वागीश ने) कुछ स्वतन्त्रता पूर्वक मुग्धबोध में परिवृद्धि और परित्याग किया ।' पैराग्राफ ८४ ।

परिशिष्टकार

डाक्टर बेल्वाल्कर के मतानुसार विभिन्न लेखकों ने मुग्धबोध के परिशिष्ट लिखे—

१—नन्दकिशोर २—काशीश्वर ३—रामतर्कवागीश

इन में से रामतर्कवागीश ने उणादि की वर्णानुक्रम सूची बनाई । इन के अतिरिक्त—

४—रामचन्द्र तर्कवागीश ने परिभाषा पाठ की वृत्ति लिखी। इस का काल सं० १७४५ (शक १६१०) है।

१६—पद्मनाभदत्त (सं० १४००)

पद्मनाभदत्त ने **सुपद्म** नाम का एक संक्षिप्त व्याकरण लिखा था। इस की उणादि वृत्ति में **सुपद्मनाभ** नाम मिलता है।[1]

पद्मनाभ के पिता का नाम दामोदरदत्त और पितामह का नाम श्रीदत्त था।

काल—पद्मनाभ ने पृषोदरादि-वृत्ति शक सं० १२९२ (वि० सं० १४२७) में लिखी है।[2]

अन्य ग्रन्थ

पद्मनाभदत्त ने स्वीय परिभाषावृत्ति में जिन स्वविरचित ग्रन्थों का उल्लेख किया है[3] वे निम्न हैं—

१—सुपद्मपञ्जिका	६—गोपालचरित
२—प्रयोगदीपिका	७—आनन्दलहरी टीका (माघ पर)
३—उणादिवृत्ति	८—छन्दोरत्न
४—धातुकौमुदी	९—आचारचन्द्रिका
५—यङ्लुग्वृत्ति	१०—भूरिप्रयोग कोश
	११—परिभाषावृत्ति

इन में व्याकरण विषयक ग्रन्थों का वर्णन यथास्थान किया जाएगा।

सुपद्म के टीकाकार

१—**पद्मनाभदत्त**—पद्मनाभ ने अपने व्याकरण पर स्वयं पञ्जिका नाम्नी टीका लिखी है।

---

१. सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं विधिः समग्रः सुगमं समस्यते। इण्डिया आफिस पुस्तकालय लन्दन का सूचीपत्र ग्रन्थांक ८६१। सं० व्या० इतिहास भाग २, पृष्ठ २२१ द्र०। २. सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर पैराग्राफ ६१। ३. द० इमी

२—विष्णुमिश्र　　४—श्रीधर चक्रवर्ती

३—रामचन्द्र　　५—काशीश्वर

इन विद्वानों ने भी सुपद्म पर टीकाएं लिखी हैं। इन में, विष्णुमिश्र की सुपद्ममकरन्द टीका सर्वश्रेष्ठ है।

इस व्याकरण का प्रचार बंगाल के कुछ जिलों तक ही सीमत है।

अन्य व्याकरणकार

पाणिनि से अर्वाचीन उपर्युक्त वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ और भी वैयाकरण हुए हैं, जिन्हों ने अपने अपने व्याकरणों की रचना की है। उनमें से निम्न वैयाकरणों के व्याकरण सम्प्रति उपलब्ध हैं—

१—**शुभचन्द्र**	चिन्तामणि[1]	व्याकरण	९—..........	चैतन्यामृत	व्याकरण
२—**भरतसेन**	द्रुतबोध	,,	१०—**बालराम पञ्चानन**	प्रबोधप्रकाश	,,
३—**रामकिंकर**	आशुबोध	,,	११—**विज्जलभूपति**	प्रबोधचन्द्रिका	,,
४—**रामेश्वर**	शुद्धाशुबोध	,,	१२—**विनय सुन्दर**	**भोज**	,,
५—**शिवप्रसाद**	शीघ्रबोध	,,	१३—**विनायक**	भावसिंहप्रक्रिया	,,
६—**काशीश्वर**	ज्ञानामृत	,,	१४—**चिद्रूपाश्रम**	दीप	,,
७—**रूपगोस्वामी**	हरिनामामृत	,,	१५—**नारायण सुरनन्द**	कारिकावली	,,
८—**जीवगोस्वामी**	हरिनामामृत	,,	१६—**नरहरि**	बालबोध	,,

ये ग्रन्थ नाममात्र के व्याकरण हैं और इनका प्रचार भी नहीं है। इसलिये हमने इनका वर्णन इस ग्रन्थ में नहीं किया।

हमने "संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" के इस प्रथम भाग में पाणिनि से प्राचीन २६ और अर्वाचीन १६ व्याकरणकार आचार्यों तथा उनके शब्दानुशासनों पर विविध व्याख्याएं रचने वाले लगभग २६० वैयाकरणों का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसके दूसरे भाग[2] में व्याकरण शास्त्र के खिलपाठ (अर्थात् धातुपाठ, गणपाठ, उणादि, लिङ्गानुशासन), फिट्-सूत्र और प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता तथा व्याख्याताओं का वर्णन होगा। ग्रन्थ के

रचयिताओं का भी उल्लेख किया जायगा ।

इत्यजयमेरु (अजमेर) मण्डलान्तर्गत विरञ्च्यावासाभिजनेन
श्रीयमुनादेवी-गौरीलालाचार्ययोर् आत्मजेन
पद-वाक्य–प्रमाणज्ञ महावैयाकरणानां
श्रीब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना
भारद्वाजगोत्रेण त्रिप्रवरेण
माध्यन्दिनिना
युधिष्ठिर-मीमांसकेन
विरचिते
संस्कृत-व्याकरणशास्त्रेतिहासे
प्रथमो भागः
पूर्तिमगात्

शुभं भवतु लेखकपाठकयोः

लेखन-काल	पुनः शोधन-काल	पुनः परिवर्धन-काल
सं० २००३.[1]	सं० २००६[2]	सं० २०१६[3]



---

१. इसके अनुसार संवत् २००३ के अन्त में लाहोर में ग्रन्थ का छपना आरम्भ हुआ था, १५२ पृष्ठ तक छप पाया था कि देश-विभाजन के कारण छपा हुआ ग्रन्थ वहीं नष्ट हो गया । २. यह संवत् २००७ में प्रकाशित हुआ ।

३. सं० २०३० में प्रकाशित हुआ ।

इस भाग के मुद्रण काल में ही अपने स्वाध्याय तथा मित्रों के भेजे हुए संकेतों और निर्देशों से परिवर्तन-परिवर्धन और संशोधन इतना हो गया है कि हम उसे यहां संपूर्ण रूप में उपस्थित नहीं कर सकते। इसी प्रकार द्वितीय भाग जो गत वर्ष प्रकाशित हुआ था, के भी अनेक प्रकरणों में परिवर्तन परिवर्धन संशोधन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। उन सब को उपस्थित करने के लिए हम इस ग्रन्थ का एक परिशिष्टात्मक तृतीय भाग पृथक् प्रकशित कर रहे हैं। यहां हम दो विषयों में संकेतमात्र करना उचित समझते हैं। इन विषयों पर विस्तृत विचार यथास्थान तृतीय भाग में किया जाएगा।

१—**माध्यन्दिन पदपाठ**—पृष्ठ १२५—१२६ पर हम ने लिखा है कि माध्यन्दिनी संहिता के पदपाठ का प्रवचन माध्यन्दिनि के पिता मध्यन्दिन ने किया था।

नए हस्तलेख की उपलब्धि—अभी तीन चार मास हुए केकड़ी (राजस्थान) के मित्रवर पं० मदनमोहनजी व्यास ने हमें माध्यन्दिनी संहिता के पदपाठ का सम्पूर्ण हस्तलेख दिया। उस का लेखन काल २० वें और ४० वें अध्याय के अन्त में सं० १४७१ शाक १३३६ अङ्कित है। इस के अन्तिम १० अध्यायों के अन्त में **शाकल्यकृते** पदे ऐसा स्पष्ट लेख है।

शाकल्यकृत पदपाठ का जिस में निर्देश है, ऐसा एक हस्तलेख एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के संग्रह में चिरकाल से विद्यमान है। गवेषकों को उस का ज्ञान भी है। परन्तु एकमात्र हस्तलेख पर शाकल्यकृतत्व का निर्देश मिलने से गवेषक उसे प्रामाणिक नहीं मानते थे। परन्तु अब उस से भी पुराने हस्तलेख पर 'शाकल्यकृत' का निर्देश होने से माध्यदिन-पदपाठ के शाकल्य-प्रवक्तृत्व में कोई संदेह नहीं रहा। अतः हमारा पूर्व अनुमान ठीक नहीं।'

एशियाटिक सोसाइटी का हस्तलेख अन्तिम २० अध्यायों का है। पुस्तकाध्यक्ष ने मेरे ७ जनवरी ६३ के पत्र के उत्तर में ८ फरवरी ६३ के पत्र में लिखा है कि 'यह नागराक्षरों में है और अक्षरों की बनावट से १८ वीं शती का विदित होता है।'

२—**हरदत्त के सम्बन्ध में**—हमने पृष्ठ ४७२—४७३ पर हरदत्त के देश काल आदि के विषय में लिखा है। उस के सम्बन्ध में हमारे मित्र यन्. सी. यस्. वेङ्कटाचार्य शतावधानी [illegible] (आन्ध्र) ने अपने

क—हरदत्त मिश्र का अभिजन आन्ध्र था। उसने पदमञ्जरी में देशभाषा का अप्रामाण्य दर्शाते हुए 'कूच्चिमञ्चीत्यादयः' का निर्देश किया है। 'कूचिमञ्चि' यह आन्ध्र प्रदेश के एक ग्राम का नाम है और वह ग्राम आज भी विद्यमान है। द्रविड़देशवासी के लिए आन्ध्र प्रदेश के ग्राम का निर्देश करना असंभव है।

ख—'तातं पद्मकुमाराख्यम्' श्लोक में 'पद्मकुमार' नाम 'ब्रह्मय्य' नाम संस्कृत रूपान्तर है। इसी प्रकार 'श्रीः' 'लक्ष्मय्य' नाम का, 'अग्निकुमार' कोमरय्य' का। नामों के संस्कृतीकरण की ऐसी रीति आन्ध्र प्रदेश में प्रचुरता से विद्यमान है।

ग—पदमञ्जरी में निर्दिष्ट यथाऽत्र द्रविड़देशे निविशब्दः' उक्ति आन्ध्र प्रदेश से द्रविड़ देश में चले जाने पर ही उपपन्न हो सकती है। अन्यथा वह 'यथास्मद्देशे निविशब्दः' इस प्रकार निर्देश करता।

घ—हरदत्त ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२। ११। १६) की व्याख्या में भी 'तत्र द्रविडाः कन्यामेपस्थे सवितरि……' आदि निर्देश किया है।

तात्पर्य यह है कि हरदत्त आन्ध्र प्रदेश के कूच्चिमञ्चि-अग्रहार का रहने वाला था। पदमञ्जरी के उत्तरार्ध की रचना काल में वह द्रविड़ देश में चला गया और शेष जीवन उसने चोल देश में कावेरी नदी के तीर पर बिताया।

इन दोनों निर्देशों के विस्तार के लिए तथा दोनों भागों के परिवर्तन-परिवर्धन-संशोधनों के लिए परिशिष्टात्मक तृतीय भाग देखिए। यह भाग ६—७ मास में तैयार हो जाएगा।

तृतीय भाग की संक्षिप्त विषय सूची

१—प्रथम भाग के परिवर्तन परिवर्धन और संशोधन।

२—द्वितीय भाग के परिवर्तन परिवर्धन और संशोधन।

३—सूत्रात्मक मूल पाणिनीय शिक्षा के लघु और बृहत् पाठ।

४—पाणिनि के जाम्बवती विजय के अद्ययावत् उपलब्ध उद्धरण।

५—काशकृत्स्न तन्त्र के उपलब्ध १४० सूत्र विस्तृत व्याख्या सहित।

६—प्रथम भाग में निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की नामानुक्रमणी।

२८	२४	प्रकरण पृष्ठ	प्रकरण मद्रास संस्क० पृष्ठ
६६	२३	गौतम और व्याडि इन पन्द्रह आचार्यों	गौतम, शन्तनु और व्याडि इन सोलह आचार्यों
७२	१६, १७	५. वामन······ ६. पाल्यकीर्ति	५. वामन···६. अकलङ्क···७. पाल्यकीर्ति······ [इसी प्रकार उत्तरोत्तर एक संख्या बढ़ाने से १६ आचार्य होंगे।]
१०६	२१	त्रस्त	वस्त्र
१०६	टिप्पणी में	१. अष्टौ अनु०··· २. तत्त्वरत्नाकराख्ये···	१. तत्त्वरत्नाकराख्ये··· २. अष्टौ अनुवाकाः··· } इस क्रम से पढ़ें
१२२	१६, २४	६—शन्तनु १०—वैयाघ्रपद्य	१०-शन्तनु ११-वैयाघ्रपद्य } इसी प्रकार उत्तरोत्तर पृष्ठ १३० तक संख्या ठीक करें-१२, १३, १४, १५, १६।
१२६	२७	ज्यतिषो	ज्योतिष
१३०	२५	२। २३। २८॥	२। २३, २८॥
१७३	६	२५ पच्चीस	२६ छब्बीस
२२५	१३	के परिज्ञान	के यथार्थ परिज्ञान
३०२	१५, १६	गोनर्दीय	(टि०) गोनर्द शिव का नाम है। द्र० शिवसहस्र नाम महाभारत। अतः गोनर्दीय का एक अर्थ शैव भी है। इस प्रकार पतञ्जलि कश्मीरदेशज होते हुए भी गोनर्दीय हो सकता है।
३५०	१६	शतकत्रय—	शतकचतुष्टय—(यहां 'विज्ञान-शतक' का नाम भी जोड़ें)।
३७४	७	काकचक्र	कारक चक्र
४८०	२६	प्रामाणविश'	प्रमाणविश'
४४०	७, ८	पल्लव न्यायमञ्जरी है	पल्लव न्यायमञ्जरी ग्रन्थ ही है।
४५३	७	यह वृत्ति सम्प्रति	यह पाणिनीय-दीपिका वृत्ति सम्प्रति
४५८	६	यत्र क्वचित्	यत्र तत्र क्वचित्
४८३	२२	१४० से	१४०० से

प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित तथा प्रसारित वाङ्मय

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास भाग १	(युधिष्ठिर मीमांसक)	१२-००
२. ,, ,, ,, ,, भाग २	,, ,,	१०-००
३. वैदिक-स्वर-मीमांसा	,, ,,	४-५०
४. वैदिक-छन्दोमीमांसा	,, ,,	४-५०
५. ऋग्वेद की ऋक्संख्या	,, ,,	०-५०
६. दुष्कृताय चरकाचार्यम्—मन्त्र पर विचार	,, ,,	०-२५
७. आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय	,, ,,	१-००
८. ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास	,, ,,	६-००
९. ऋषि दयानन्द की पद-प्रयोग शैली	,, ,,	१-५०
१०. यजुर्वेदभाष्य-संग्रह (पंजाब-शास्त्री परीक्षा में नियत)	सं० यु० मी०	४-००
११ क्षीरतरङ्गिणी (धातुपाठ की क्षीरस्वामी कृत व्याख्या)	,,	१२-००
१२. दैवम् पुरुषकारवार्तिकोपेतम् (धातुपाठ विषयक)	,, ,,	६-००
१३. सं० व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि	-कपिलदेव	८-००
१४ ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, परिशिष्ट सहित		७-७५
१५. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग)	(श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु)	१६-००
१६. वेदविद्या-निदर्शन	(श्री पं० भगवद्दत्त)	१२-५०
१७. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग)	,, ,,	१८-००
१८. ,, ,, ,, ,, (द्वितीय भाग)	,, ,,	२०-००
१९. आयुर्वेद का इतिहास (श्री पं० सूरमचन्द कविराज बी० ए०)		८ ००
२०. अष्टाध्यायी-प्रकाशिका (श्री पं० देवप्रकाश पातञ्जल)		८-००
२१. भागवत-खण्डनम्—स्वामी दयानन्द सरस्वती		०-५०
२२. दयानन्द जीवनी-साहित्य—श्री पं० विश्वनाथ शास्त्री एम० ए०		०-४०
२३. विरजानन्द-प्रकाश—श्री पं० भीमसेन शास्त्री एम० ए०		२-००
२४. म० दयानन्द सरस्वती का भ्रातृवंश तथा स्वसृवंश		०-४०
२५. सांख्य-सिद्धान्त (श्री पं० उदयवीर शास्त्री)		१६-००
२६. सांख्य-दर्शन-भाष्य ,, ,,		८-००
२७. सांख्यशास्त्र का इतिहास ,,		३०-००
२८. संस्कृत सुभाषित सौरभ (श्री पं० मुनिदेव उपाध्याय)		२-५०

विस्तृत सूचीपत्र बिना मूल्य मंगवाइये ।